स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा निर्गत अधिनियम संख्या 10, 1999 द्वारा स्थापित)

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-08
हिन्दी उपन्यास
I-प्रेमचन्द का विशेष अध्ययन

प्रथम खण्ड : प्रेमचन्द : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
द्वितीय खण्ड : सेवासदन
तृतीय खण्ड : प्रेमाश्रम
चतुर्थ खण्ड : रंगभूमि
पंचम खण्ड : गबन

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद - 211013

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-08
हिन्दी उपन्यास
I- प्रेमचन्द का विशेष अध्ययन

खंड

1

प्रेमचन्द : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

इकाई 1
प्रेमचन्द का व्यक्तित्व एवं जीवन दृष्टि 5

इकाई 2
प्रेमचन्द का साहित्य 19

इकाई 3
प्रेमचन्द की साहित्यिक मान्यताएँ 36

इकाई 4
प्रेमचन्द के उपन्यास और हिन्दी आलोचना 49

पाठ्यक्रम परिचय

प्रस्तुत पाठ्यक्रम 'हिन्दी उपन्यास-1' (प्रेमचन्द का विशेष अध्ययन) है। इस पाठ्यक्रम में कुल पाँच खंड है। यह पाठ्यक्रम चार क्रेडिट का है। इस पाठ्यक्रम में आप प्रेमचन्द के चार विशिष्ट उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन करेंगे। प्रेमचन्द के उपन्यासों पर चर्चा करने से पहले हमने पाठ्यक्रम के प्रथम खंड में प्रेमचंद के व्यक्तित्व एवं उनके समस्त साहित्य का परिचय दिया है। साथ ही प्रेमचन्द के साहित्य पर प्राप्त उनके समकालीन तथा परवर्ती आलोचकों की आलोचना का विवेचन भी किया है।

प्रेमचंद के कथा संसार में मानवीय अनुभव की विविधता ठोस यथार्थ के धरातल पर अवस्थित है। इस अनुभव को प्रेमचन्द ने वैचारिक संघर्ष और सामाजिक संदर्भों से अर्जित किया था। इसी का नतीजा है कि प्रेमचन्द के साहित्य में सामान्य मनुष्य को पृष्ठभूमि में न रखकर केंद्र में रखा गया है तथा उसकी संवेदना, पीड़ा और संकट को साहित्य में उठाया गया है। जब आप उनके उपन्यासों का अध्ययन करेंगे तो पाएँगे कि उनके साहित्य में ऐसे पात्र भी हैं जो रूढ़ि जर्जर संस्कारों से संघर्ष ही नहीं करते अपितु उन औपनिवेशिक शक्तियों के खिलाफ भी खड़े होते हैं, जो उनका शोषण कर रहे हैं।

प्रेमचन्द जिस समय लिख रहे थे, वह समय भारतीय समाज में पूँजीवाद का प्रारंभिक दौर था। पूँजीवाद ने उन संपूर्ण रिश्तों को खोखला बना दिया था, जिन पर हमारी सामाजिक संरचना टिकी हुई थी। प्रेमचन्द का महत्व इस बात में भी है कि वे जीवनानुभव के संदर्भ में पूँजीवाद के अमानवीय पहलू को उभारते हुए, सामाजिक मान्यताओं के अंधविश्वासों और कुरीतियों की आलोचना करते हैं। आज के दौर में, जब सामाजिक विषमता में बढ़ोतरी हुई है, प्रेमचंद का मूल्य और अधिक बढ़ जाता है।

प्रस्तुत पाठ्यक्रम में मुंशी प्रेमचन्द के निम्नलिखित उपन्यासों को विस्तृत अध्ययन के लिए शामिल किया गया है:

सेवासदन
प्रेमाश्रम
रंग भूमि
गबन

ये चारों उपन्यास पुस्तकाकार रूप में उपलब्ध हैं। आपसे अपेक्षा की जाती है कि आप पाठ्यक्रम के समुचित अध्ययन के लिए इन उपन्यासों को अवश्य पढ़ें। आपके अध्ययन की सुविधा के लिए प्रत्येक खंड के अन्त में उपन्यास के कठिन शब्दों के अर्थ तथा कुछ महत्वपूर्ण व्याख्यांशों की सूची दी गई है। साथ ही यह भी बताया गया है कि आप इन उपन्यासों का अध्ययन कैसे करें।

पाठ्यक्रम में कुल पाँच खंड है जिनमें कुल 18 इकाइयाँ हैं। इनका विभाजन इस प्रकार है।

खंड - 1 प्रेमचन्द : व्यक्तित्व और कृतित्व

इस खंड में कुल चार इकाइयाँ हैं जो प्रेमचन्द के व्यक्तित्व, जीवन दृष्टि, समग्र साहित्य और उनके साहित्य की आलोचना से संबद्ध है।

खंड - 2 : सेवासदन

इस खंड में तीन इकाइयाँ हैं ये इकाइयाँ सेवासदन उपन्यास के कथ्य और शिल्प से संबंधित है।

खंड - 3 : प्रेमाश्रम

इस खंड में चार इकाइयाँ हैं, जिनमें प्रेमाश्रम उपन्यास के विषय, पात्र योजना और शिल्प पर विचार किया गया है।

खंड - 4 : रंगभूमि

इस खंड में चार इकाइयाँ हैं। इन इकाइयों में रंगभूमि उपन्यास की मूल समस्या, प्रमुख चरित्र और शिल्प आदि की चर्चा की गई है।

खंड - 5 : गबन

इस खंड में तीन इकाइयाँ हैं। जिनमें गबन के मूल विषय एवं उसके शिल्प का परिचय दिया गया है।

इन इकाइयों के अध्ययन से आप प्रेमचन्द के उपन्यासों को समझ कर उनका मूल्यांकन करने की दृष्टि विकसित कर सकेंगे। चूंकि प्रेमचंद के उपन्यासों से संबंधित 14 इकाइयों में उनके उपन्यासों के सभी पक्षों पर चर्चा नहीं की जा सकती । अतः हमने इन रचनाओं से संबद्ध कुछ विशेष आलेखों को जो पहले से ही पत्र - पत्रिकाओं या पुस्तकों में उपलब्ध हैं, संकलित करने का निर्णय लिया है, जो विश्वविद्यालय से आपको 'आलेख संग्रह' के रूप में प्राप्त होगा। साथ ही, आपसे अपेक्षा की जाती है, कि आप प्रेमचंद तथा उनके उपन्यासों पर विशेष अध्ययन के लिए उन संदर्भ ग्रंथों का भी अध्ययन करें जिनकी प्रत्येक खंड के अंत में 'उपयोगी पुस्तकें' के अंतर्गत दी गई है।

खंड परिचय

एम. ए. हिन्दी के पाठ्यक्रम-14 'हिन्दी उपन्यास-1' (प्रेमचन्द का विशेष अध्ययन) का यह प्रथम खंड है। प्रस्तुत खंड में कुल चार इकाइयाँ हैं। ये चारों इकाइयाँ प्रेमचंद के व्यक्तित्व, कृतित्व और उनके साहित्य की आलोचनाओं से संबद्ध हैं। इसके साथ ही हमने साहित्य संबंधी प्रेमचन्द के विचारों पर भी एक पूरी इकाई में चर्चा की है। चूँकि यह पूरा पाठ्यक्रम प्रेमचंद और उनकी औपन्यासिक कृतियों पर आधारित है तथा आपको पाठ्यक्रम के खंड-2, खंड-3, खंड-4 एवं खंड-5 में प्रेमचंद के कुछ विशिष्ट उपन्यासों का अध्ययन कराया जा रहा है अत: हमने यह आवश्यक समझा कि पाठ्यक्रम के प्रथम खंड में आपको प्रेमचंद के व्यक्तित्व एवं संपूर्ण कृतित्व की जानकारी के साथ साहित्य संबंधी उनके विचारों से अवगत कराया जाए।

खंड की पहली इकाई 'प्रेमचंद का व्यक्तित्व एवं जीवन दृष्टि' है। इस इकाई में प्रेमचन्द की जीवन-कथा, व्यक्तित्व एवं उनकी जीवन दृष्टि से परिचित कराया गया है। जन्म से लेकर देहावसान तक प्रेमचंद ने अपना जीवन किन परिस्थितियों में व्यतीत किया, उनकी शिक्षा-दीक्षा किन हालात में संपन्न हुई, वयस्क होने पर जीविका के साधन के रूप में उन्होंने कौन से मार्ग अपनाए, इन दृष्टियों से उनका जीवन कितना संघर्षमय रहा, साहित्य रचना में उनका प्रवेश किस प्रकार हुआ, पहले उर्दू और फिर हिन्दी में लेखन में उन्हें किस तरह के संघर्ष का सामना करना पड़ा और किन विशिष्ट परिस्थितियों में उनकी जीवन दृष्टि विकसित हुई, इन सभी बातों की चर्चा इस इकाई में की गई है।

खंड की इकाई सं.-2 'प्रेमचन्द का साहित्य' में प्रेमचन्द के समग्र साहित्य का परिचय दिया गया है। इसमें प्रेमचन्द द्वारा रचित उपन्यासों, कहानी, नाटक, बाल-साहित्य, अनूदित साहित्य संबंधी चर्चा की गई है।

तीसरी इकाई 'प्रेमचन्द की साहित्यिक मान्यताएँ' हैं। प्रेमचन्द ने उपन्यास-कहानी आदि सर्जनात्मक साहित्य की रचना के साथ-साथ अपने कई निबन्धों में साहित्य, उपन्यास, कहानी, यथार्थवाद, आदर्शवाद संबंधी विचार प्रस्तुत किए थे। इस इकाई में हमने इन्हीं विमर्शों का विवेचन किया है।

चौथी इकाई 'प्रेमचन्द के उपन्यास और हिन्दी आलोचना' है। प्रेमचंद के तथा उनकी कृतियों के महत्व को जानने और समझने के लिए यह आवश्यक है कि आप उनके समकालीन तथा परवर्ती आलोचकों द्वारा किए गए उनके साहित्य के मूल्यांकन को जानें और समझें। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए यह इकाई लिखी गई है।

खंड के अन्त में कुछ उपयोगी पुस्तकों की सूची दी गई है जो विषय के विशेष अध्ययन में आपकी सहायक होंगी।

इकाई 1 प्रेमचन्द का व्यक्तित्व एवं जीवन दृष्टि

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 प्रेमचन्द का व्यक्तित्व

- 1.2.1 पारिवारिक और सामाजिक परिवेश
- 1.2.2 व्यक्तित्व का निर्माण
- 1.2.3 उर्दू में लेखन का आरम्भ
- 1.2.4 उर्दू से हिन्दी में आगमन
- 1.2.5 प्रेस और निजी प्रकाशन

1.3 प्रेमचन्द की जीवनदृष्टि

- 1.3.1 राष्ट्रीय चेतना
- 1.3.2 विचारधाराओं का प्रभाव
- 1.3.3 किसानों से लगाव
- 1.3.4 नारी दृष्टि
- 1.3.5 साम्प्रदायिक सोच
- 1.3.6 दलित चेतना

1.4 सारांश

1.5 अभ्यास प्रश्न

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई इस पाठ्यक्रम की प्रथम इकाई है। इस इकाई में हमने प्रेमचन्द के जीवन व्यक्तित्व एवं उनकी जीवन दृष्टि की चर्चा की है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- प्रेमचन्द के जीवन के बारे में जान सकेंगे;
- उनके व्यक्तित्व से परिचित हो सकेंगे;
- उनकी जीवनदृष्टि का अवलोकन कर सकेंगे; और
- उनके आरम्भिक लेखन की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई से हम इस पाठ्यक्रम की शुरुआत करने जा रहे हैं। किसी भी साहित्यकार की रचना को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए उसके व्यक्तित्व और जीवनदृष्टि को जानना अहम होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर यह इकाई लिखी गयी है। इकाई के पहले भाग और अनुभागों में प्रेमचन्द के व्यक्तित्व-निर्माण और उनकी जीवन-धारा का उल्लेख किया गया है। उनके जीवन-संघर्ष से परिचित कराने के बाद हमने उनके आरम्भिक लेखन की जानकारी दी है। प्रेमचन्द का जीवन संघर्षमय था। उन्हें खुद कुआँ खोद कर पानी पीना पड़ा था। अपनी किताबों को छापने और विचारों को आम पाठकों तक पहुँचाने के लिए प्रेमचन्द ने प्रेस और प्रकाशन संस्था खोली। इकाई के अन्त में, संक्षेप में, प्रेमचन्द की राष्ट्रीय चेतना, उन पर विभिन्न विचारधाराओं के प्रभाव, किसानों से उनके लगाव, नारी विषयक दृष्टि, साम्प्रदायिक सोच और दलित चेतना का उल्लेख किया गया है।

1.2 प्रेमचन्द का व्यक्तित्व

प्रेमचन्द का व्यक्तित्व सहज, सरल परन्तु असाधारण था। उनके व्यक्तित्व की यह सहजता और असाधारणता उनके साहित्य में भी परिलक्षित होती है। उन्होंने एक जगह लिखा है : "मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खंडहरों का स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौकीन हैं उन्हें तो यहाँ निराशा ही होगी।" इस रूपक से प्रेमचन्द अपने जीवन की 'साधारणता' को रेखांकित करना चाहते हैं, और इससे इनकार नहीं किया जा सकता। प्रेमचन्द का पूरा बाहरी व्यक्तित्व औपनिवेशिक शासन के एक आम भारतीय आदमी का व्यक्तित्व है ; उस काल के अन्य साधारण जनों से जरा भी अलग नहीं। अमृत राय के शब्दों में, 'प्रेमचन्द की सरलता सहज है। उसमें कुछ तो इस देश की पुरानी मिट्टी का संस्कार है, कुछ उसका नैसर्गिक शील है, संकोच है, कुछ उसकी गहरी जीवन दृष्टि है और कुछ उसका सच्चा आत्मगौरव है, जो किसी तरह के आत्मप्रदर्शन या विज्ञापन को उसके नजदीक घटिया बना देता है।" नितान्त साधारण वेशभूषा, उटँगी हुई धोती और साधारण कुर्ता, अचानक सामने पड़ जाने पर कोई विश्वास ही न करे कि ये हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक 'प्रेमचन्द' हैं, साधारण जनसमूह के बीच आ पड़ने पर सबका हालचाल, नाम-गाँव पूछने वाला, कोई हँसी की बात उठने पर ज़ोरदार ठहाका लगाने वाला, कभी-कभी बच्चों जैसी शरारत करने और मुस्कुराने वाला, नितान्त साधारण, बँधी-टँकी दिनचर्या से जुड़ा, अपने को कलम का मजदूर मानने वाला यह आदमी हिन्दी का महान उपन्यासकार प्रेमचन्द था जिसका जन्म 31 जुलाई, 1880 को वाराणसी से लगभग पाँच किलोमीटर दूर लमही नामक गाँव में, एक खाते-पीते, साधारण मध्यवर्गीय कायस्थ परिवार में हुआ था।

आइए, देखें कि प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का निर्माण किस परिवेश में हुआ। इसके लिए उनके पारिवारिक परिवेश का अध्ययन प्रासंगिक होगा।"

1.2.1 पारिवारिक और सामाजिक परिवेश

जिन्हें आज हम 'प्रेमचन्द' के नाम से जानते हैं, उनका बचपन का पुकारू नाम 'नवाब' और औपचारिक नाम 'धनपत राय' था। 'धनपत राय' ने बचपन में लगभग आठ साल तक फारसी पढ़ी, उसके बाद अँगरेजी शुरू की और बनारस (वाराणसी) के कालेजिएट स्कूल से एक साधारण छात्र के रूप में एन्ट्रेन्स (आज की दसवीं कक्षा) की परीक्षा पास की। 'धनपत राय' नाम तो शिक्षा सम्बन्धी प्रमाणपत्रों और नौकरी की फाइलों तक सीमित रहा, पर उर्दू में कहानी और उपन्यास लेखक के रूप में 'नवाब राय' नाम खूब प्रसिद्ध हुआ।

प्रेमचन्द के पिता मुंशी अजायब लाल डाकखाने में डाकमुंशी थे जिनकी नौकरी दस रुपये माहवार से शुरू हुई थी और अवकाश-प्राप्ति के समय चालीस रुपए तक पहुँची थी। उस जमाने में जबकि चावल एक रुपया मन (चालीस किलो के लगभग), मिठाई पाँच आने सेर (किलोग्राम से कुछ कम), धोती आठ आने (पचास पैसे) में मिलती थी, जीविका चलाने के लिए यह आय पर्याप्त, पर एक संयुक्त परिवार के लिए बहुत अधिक भी नहीं थी। धनपत या नवाब का बचपन वैसे ही बीता जैसे मध्यवर्गीय ग्रामीण किसान के बच्चों का बीतता है। तरह-तरह की शरारतें करना, किसी के खेत में घुस कर ऊख तोड़ लाना, ढेले मार कर आम के टिकोले गिराना, गुल्ली-डंडा खेलना, इमली के चियों (गुठली) और महुए के कोइनों (गुठली) के खेल खेलना, डाकिया कजाकी के कन्धों पर सवारी करना, मौलवी साहब के यहाँ फारसी पढ़ने जाना और तरह-तरह की शरारतें करना, उनकी छोटी मोटी सेवाएँ करना, चुहलबाजियाँ और मटरगश्ती करना, कभीकभार घर से पैसों या किसी खाने पीने के सामान की चोरी कर लेना, इसके लिए पिटना और भूल जाना, इस तरह के कारनामों के बीच कभी कोई हास्य-रचना भी कर लेना, यह धनपत के बचपन का रोजनामचा है। धनपत (नवाब) की शिक्षा फारसी से शुरू हुई थी। तेरह वर्ष की उम्र तक वह हिन्दी बिलकुल ही नहीं जानता था। 1890 ई. के पूर्व उसकी माँ का स्वर्गवास हो चुका था और सौतेली माँ का आगमन हो चुका था। 1893 ई. में वह गोरखपुर के मिशन स्कूल में तीसरे दर्जे का विद्यार्थी था। जैसा एक उपेक्षित बालक के लिए स्वाभाविक था, वह एक स्थानीय बुकसेलर के यहाँ से मौलाना शाह, पं रतननाथ सरशार, मिर्जा रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली आदि की उर्दू कथापुस्तकें, रेनॉल्ड के उपन्यासों के अनुवाद, नवल किशोर प्रेस से निकले पुराणों के उर्दू अनुवाद और *तिलिस्मे होशरुबा* के कई खंड दो-तीन सालों के भीतर पढ़ गया था। इस तरह धनपत को अपने वास्तविक

जीवन की कटुता से मुक्ति पाने की राह भी मिल गयी। कथा की काल्पनिक दुनिया ने उसकी वास्तविक जिन्दगी की कटुता को दूर करने का काम किया। प्रेमचन्द के कथा-लेखन की बुनियाद यही पढ़ाई थी।

गोरखपुर के मिशन स्कूल से आठवाँ दर्जा पास करने के बाद धनपत का दाखिला बनारस के क्वीन्स कॉलेज में नवें दर्जे में हुआ। प्रेमचन्द' ने अपने इस जीवन के बारे में लिखा है : "पाँव में जूते न थे। देह पर साबित कपड़े न थे। हेडमास्टर ने फीस माफ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था और मैं बाँस के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाता था। पढ़ा कर छः बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच मील पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच सकता था।" (कलम का सिपाही) यद्यपि आज की दृष्टि से यह स्थिति अत्यन्त 'दयनीय' मानी जा सकती है, पर उस समय निम्न मध्यवर्गीय छात्रों की यह 'सामान्य' स्थिति थी। इसी समय, लगभग 15 वर्ष की उम्र में, नवाब का ब्याह भी कर दिया गया। पर पत्नी को देखकर नवाब का दिल टूट गया, उसके सपनों का संसार चूर चूर हो गया। पत्नी कुरूप तो थी ही, स्वभाव की भी कुछ कटु रही होगीं। सास और बहू के आए दिन होने वाले झगड़ों ने भी नवाब को क्षुब्ध कर दिया। लाचार, नवाब ने पत्नी से नाता तोड़ लिया। जब उसने 1898 ई. में नौकरी शुरू की तो पत्नी को साथ न ले गया।

1897 ई. में, जबकि नवाब (धनपत) की उम्र सत्रह वर्ष की थी, पिता का देहान्त हो गया। 1898 ई. में उसने मैट्रिक का इम्तहान दिया और द्वितीय श्रेणी में पास हुआ। गणित में कमजोर होने के कारण उसे किसी कॉलेज में 'इन्टर' क्लास में प्रवेश न मिल पाया। पुनः ट्यूशन, उधार आदि का सिलसिला चला। इस दौरान उसने *फसाना ए आज़ाद, चन्द्रकान्ता सन्तति* और बंकिम बाबू के उपन्यासों के उर्दू अनुवाद पढ़े। परिवार में उसकी विधवा सौतेली माँ, छोटा सौतेला भाई और पत्नी थी। आमदनी का कोई जरिया न था। संयोगवश ही 1898 ई. में उसे चुनार के एक मिशन स्कूल में 'मास्टर' की नौकरी मिल गयी। वेतन प्रति माह अट्ठारह रुपए था। यह रकम समय के हिसाब से सन्तोषजनक ही थी, पर इसी में पूरे परिवार की परवरिश होनी थी, जो कठिन थी। परिवार का खर्च चलाने के लिए वह ट्यूशन करता था और कभी-कभी कर्ज भी लेना पड़ता था।

प्रेमचन्द्र के स्वाभिमानी व्यक्तित्व की पहली झलक मिलिटरी के गोरों की टीम से उनके स्कूल की टीम के बीच फुटबॉल मैच के प्रसंग से मिलती है, जिसमें उन्होंने अन्य छात्रों के साथ गोरों की पिटाई कर दी थी। अपने इस स्वाभिमान की कीमत उन्हें अपनी नौकरी से चुकानी पड़ी। साल भर के भीतर ही उन्हें इस नौकरी से हाथ धोना पड़ गया। पर 1900 ई. में उनकी नियुक्ति बहराइच के जिला स्कूल में हो गयी और वहाँ से उनका तबादला प्रताप गढ़ हो गया। आर्थिक दृष्टि से कोई विशेष फर्क नहीं पड़ा। खर्च की तंगी ज्यों की त्यों बरकरार रही। ट्यूशन से छुटकारा अब भी नहीं मिला। पर जिन्दगी इत्मीनान से गुजरने लगी। पढ़ने के साथ-साथ लिखने का भी सिलसिला जारी हो गया।

इस समय उत्तर भारत में आर्य समाज का आन्दोलन जोरों पर था। बाल विवाह, अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह, विधवा विवाह, जाति प्रथा, शादी-ब्याह और श्राद्ध आदि के अवसरों पर होने वाले अपव्यय, तिलक-दहेज की कुप्रथा आदि पर आर्य समाज के विचार पुनर्जागरण की विचारधारा के अनुरूप थे, जिसका प्रभाव धनपत राय पर भी पड़ा। वे आर्य समाज के जलसों में तो जाते ही थे, क़दाचित् उसके सदस्य भी बन गये थे। साथ में टीचर्स ट्रेनिंग और बी. ए. करने की लालसा भी मन में सुगबुगाती रही। उन्होंने दो वर्ष की छुट्टी लेकर ट्रेनिंग लेने का निश्चय किया और 1902 ई. में इलाहाबाद ट्रेनिंग कॉलेज में दाखिला ले लिया। 1904 ई. में उन्होंने ट्रेनिंग का इम्तहान पास कर लिया। इसके साथ ही उन्होंने उर्दू और हिन्दी की स्पेशल वर्नाकुलर परीक्षा भी पास कर ली।

शिक्षक के रूप में धनपत राय का तबादला एक स्थान से दूसरे स्थान पर होता रहा। 1905 ई. में वे कानपुर पहुँचे। इसी समय कानपुर से 'जमाना' नामक उर्दू पत्रिका निकलनी शुरू हुई जिसके सम्पादक मुंशी दयानरायन निगम थे। कानपुर पहुँच कर लिखना नवाब राय की जिन्दगी का मकसद और नियम बन गया। वे नवाब राय के नाम से 'जमाना में कहानियाँ और साहित्यिक टिप्पणियाँ आदि लिखने लगे। आर्य समाज के प्रभाव ने उन्हें हिन्दू समाज की समस्याओं पर लिखने के लिए विषयों का पिटारा ही खोल दिया। प्रेमचन्द एक खुशमिजाज, दोस्तबाज, दोस्तों की महफिल में ठहाका लगाने वाले, अजनबियों के बीच संकोची, पर दोस्तों के बीच हँसने-हँसाने वाले, उर्दू-फारसी के लतीफे सुनाने वाले और लोगों पर फिकरे कसने वाले जिन्दादिल इनसान थे। कानपुर की उनकी जिन्दगी ऐसी ही खुशगवार थी, जबकि गर्मी की छुट्टियों में लमही आने पर उन्हें एक नरक जिन्दगी का

सामना करना पड़ता। अमृत राय के शब्दों में " कानपुर की जिन्दगी अगर स्वर्ग थी तो घर की वह जिन्दगी नरक। वहाँ बस स्कूल का काम था और उससे छुट्टी पायी तो दोस्तों की महफिल थी, हँसी मजाक था, साहित्य-चर्चा थी, न कोई फिक्र थी न परेशानी। और घर जो आये तो जैसे भिड़ के छत्ते में हाथ मार दिया, सारी परेशानियाँ जिनसे दूर रहने के कारण नजात मिली हुई थी अकबारगी उनके ऊपर टूट पड़ी।''

1905 में धनपत राय की उम्र पच्चीस वर्ष से ऊपर चल रही थी, पर वे विवाहित होकर भी दाम्पत्य जीवन से वंचित थे। अन्ततः उन्होंने दूसरा विवाह करने का निश्चय किया, पर किसी विधवा युवती से। 1906 ई. में महाशिवरात्रि के दिन उनका दूसरा विवाह मुंशी देवी प्रसाद की बालविधवा कन्या शिवरानी देवी से सम्पन्न हो गया। अमृत राय के अनुसार "नवाब के साथ बारात में, एक उनके छोटे भाई महताब को छोड़ कर और कोई रिश्तेदार न था, बस दो चार दोस्त और हमजोली जिनमें मुंशी दयानरायन खास थे।''

इस प्रकार धनपत राय उर्फ नवाब राय की जिन्दगी का एक नया दौर शुरू हुआ । लिखने का सिलसिला और भी तेजी से चला। वे 'जमाना' में 'रफ्तारे जमाना' नामक स्तम्भ लिखते थे जिसमें देश में होने वाले परिवर्तनों की झलक प्रस्तुत की जाती थी। 1885 ई. में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। देश की बन्दी, किन्तु अपराजेय आत्मा अपने को वाणी देने के लिए छटपटा रही थी। प्रेमचन्द की कलम उसकी वाहक बनी। मई, 1905 से जून, 1909 तक प्रेमचन्द कानपुर में रहे। यह समय भारतीय राजनीति में घोर सक्रियता का युग था। काँग्रेस 'गरम' दल और 'नरम' दल में विभक्त थी। 'गरम' दल के नेता बाल गंगाधर तिलक और 'नरम' दल के नेता गोपाल कृष्ण गोखले थे। धनपत राय विचारों से तिलक के साथ थे। अपनी राजनीतिक टिप्पणियों में उन्होंने तिलक का ही समर्थन किया।

जून, 1909 में धनपत राय का तबादला कानपुर से हमीरपुर हो गया; स्कूलों के सब-डिपुटी इन्सपेक्टर के रूप में। इस नौकरी में घूमने की बहुत गुंजायश थी और उन्होंने इसका फायदा उठाया जो अनुभव उनके लेखन के लिए बहुत मूल्यवान सिद्ध हुआ। इस बहाने उन्होंने देश की जिन्दगी को नजदीक से देखा। हमीरपुर की पद-स्थापना में ही वह प्रसिद्ध घटना हुई, जिसने नवाब राय को प्रेमचन्द' में बदल दिया। सन् 1908 ई. में उनका सोज़े वतन प्रकाशित हो चुका था। किसी प्रकार सरकार को पता चल गया कि *सोज़े वतन* के लेखक 'नवाब राय' वास्तव में धनपत राय ही हैं। *सोज़े वतन* की कहानियों में सरकार को 'राजद्रोह' की झलक मिली, जिसके लिए धनपत राय को तलब किया गया। किसी तरह उनकी नौकरी तो बच गयी, पर उनके लिखने पर पाबन्दी लगा दी गयी। लेकिन उनका लिखना भला कैसे छूट सकता था ! अन्ततः उन्होंने खतरा मोल लेकर भी प्रेमचन्द' नाम से लिखते रहने का फैसला किया।

हमीरपुर में ही प्रेमचन्द को पेचिश का रोग लगा, जिससे वे जीवन भर मुक्त नहीं हो पाये। उसका असर उनके व्यक्तित्व पर भी पड़े बिना न रहा। 1914 ई. में उनका तबादला हमीरपुर से बस्ती हो गया। बीमारी और बढ़ गयी। छह महीने तक इलाहाबाद, कानपुर, लखनऊ और बनारस में इलाज चला, पर बीमारी जड़ से न गयी। सरकारी नौकरी छोड़ कर प्राइवेट स्कूल में नौकरी करने और पत्र निकालने की बात भी मन में पैदा हुई, पर सम्भव न हुआ। हाँ, वे निरीक्षण का काम छोड़ कर, कम वेतन पर, स्कूल में शिक्षक के रूप में जरूर आ गये। कमजोर सेहत, स्कूल की नौकरी और साहित्य रचना के बावजूद उन्होंने 1916 ई. में एफ. ए. की परीक्षा पास कर ली।

1916 में ही प्रेमचन्द का तबादला गोरखपुर हुआ। सेहत में भी सुधार हुआ। सुखद पारिवारिक वातावरण में लिखने का सिलसिला भी जारी रहा। यहीं उन्होंने उर्दू में *बाजारे हुस्न* की रचना की। यहीं वे महावीर प्रसाद पोद्दार के सम्पर्क में आये, जिनकी कलकत्ता में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी नामक प्रकाशन-संस्था थी। इससे उन्हें उर्दू से हिन्दी में आने में बहुत सहायता मिली। उनका पहला हिन्दी कहानी-संग्रह *'सप्त सरोज'* और *'बाजारे हुस्न'* का हिन्दी रूप *सेवासदन* इसी अवधि में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से प्रकाशित हुआ। 1919 ई. में प्रेमचन्द ने बी. ए. की परीक्षा पास की। इसी अवधि में उन्होंने *'गोशाए आफियत'* की भी रचना की, जो बाद में *प्रेमाश्रम* के नाम से प्रकाशित हुआ।

फरवरी, 1921 ई. में गाँधी जी ने गोरखपुर में एक बड़ी जनसभा को सम्बोधित किया। गाँधी जी के असहयोग के सन्देश ने प्रेमचन्द को झकझोर दिया। सरकारी नौकरी छोड़ने का मन तो बहुत दिनों

से बना रहे थे। अब एक बड़ा कारण मिल गया। उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। 16 फरवरी, 1921 को वे कार्यमुक्त हो गये। उस प्रकार इक्कीस वर्ष की गुलामी का अन्त हो गया। इसके साथ ही आवास और जीविकोपार्जन के नये सवाल भी पैदा हुए। कुछ दिन महावीर प्रसाद पोद्दार के गाँव मानीराम में रहे। प्रेस खोलने का विचार मन में आया, पर पहले कपड़े का कारख़ाना खोला जिसमें आठ करघे चलते थे। चर्खे की भी एक दूकान खोली गयी। पर यह प्रेमचन्द का मार्ग नहीं था। कारखाना नहीं चला। सरकारी नौकरी से इस्तीफा देने के चार ही महीने बाद उन्होंने कानपुर के मारवाड़ी विद्यालय में प्रधानाध्यापक का कार्यभार सँभाला पर यह नौकरी ज्यादा दिन नहीं चल पायी। 15 अगस्त, 1921 को उनके दूसरे पुत्र अमृत राय का जन्म हुआ। 22 फरवरी, 1922 को विद्यालय के मैनेजर से अनबन हो जाने पर उन्होंने इस्तीफा दे दिया। मारवाड़ी विद्यालय से इस्तीफा देने के बाद 22 मार्च को वे 'मर्यादा' (बनारस) में सम्पूर्णानन्द के बाद स्थानापन्न सम्पादक नियुक्त हुए, जहाँ वे 22 जून तक रहे। इसके बाद वे काशी विद्यापीठ में हेडमास्टर के पद पर नियुक्त हुए। जुलाई, 1922 में यह नौकरी भी समाप्त हो गयी। लमही में घर बनाने का काम शुरू किया। अपना प्रेस खोलने का विचार वे काफी पहले से कर रहे थे। अन्ततः 1923 ई. में उन्होंने बनारस में सरस्वती प्रेस की स्थापना की, पर प्रेस ठीक से चला नहीं। उसमें निरन्तर नुकसान ही होता रहा। इस प्रकार किसी तरह जिन्दगी चलती रही। अगस्त, 1924 में वे गंगा पुस्तकमाला के साहित्यिक सलाहकार की हैसियत से लखनऊ पहुँचे। इस अवधि में वे *'चौगाने हस्ती'* की रचना में लगे रहे, जो 1925 में गंगा पुस्तक माला, लखनऊ से प्रकाशित हुआ। 29 अगस्त, 1925 को उन्होंने गंगा पुस्तक माला की नौकरी छोड़ दी और बनारस वापस आ गये। लगभग दो वर्ष बनारस रहने के बाद 15 फरवरी, 1927 को वे 'माधुरी' के सहकारी सम्पादक के रूप में पुनः लखनऊ पहुँचे। 15 मई को बनारस से पत्नी और बच्चे भी लखनऊ आ गये। 10 जनवरी, 1931 को नवलकिशोर प्रेस के मालिक विष्णुनारायण भार्गव का स्वर्गवास हो गया और एक आन्तरिक साजिश के तहत प्रेमचन्द का तबादला सम्पादक पद से प्रेस के बुकडिपो में कर दिया गया। अक्टूबर, 1931 में वे नवलकिशोर प्रेस की नौकरी से अलग हो गये। नवम्बर के आरम्भ में वे पहली बार दिल्ली घूमने गये। फरवरी, 1932 में वे लखनऊ से बनारस लौट आये। लगभग डेढ़ वर्ष तक वे बनारस में ही रह कर हंस, जागरण और सरस्वती प्रेस की व्यवस्था में लगे रहे और साथ ही साहित्य साधना भी करते रहे। 1 जून, 1934 को वे अजन्ता सिनेटोन कम्पनी के प्रोप्राइटर एम. भवनानी के निमन्त्रण पर बम्बई पहुँचे और 3 अप्रैल, 1935 तक वहाँ उनकी कम्पनी में रहे। इस अवधि में उन्होंने मद्रास, मैसूर, बँगलोर, पूना आदि की यात्रा की। सिनेटोन कम्पनी के बन्द हो जाने के कारण वे बम्बई से खंडवा, सागर, इलाहाबाद होते हुए बनारस लौटे। बम्बई में ही उन्होंने *गोदान* लिखना शुरू कर दिया था जो बनारस आने पर पूरा हुआ। इस समय तक प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य के शिखर व्यक्तित्वों में शामिल हो चुके थे। 10 अप्रैल, 1936 को प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसकी अध्यक्षता प्रेमचन्द ने की। *गोदान* प्रकाशित हुआ। पर स्वास्थ्य ने साथ नहीं दिया। उनका स्वास्थ्य निरन्तर गिरता गया। 21 जून को 'आज' कार्यालय में गोर्की के निधन पर शोकसभा हुई, पर वे लिखा हुआ भाषण भी पढ़ नहीं पाए। अन्ततः 8 अक्टूबर, 1936 को बनारस में उनका स्वर्गवास हो गया।

अपने गाँव लमही से प्रेमचन्द का सम्बन्ध बराबर बना रहा। उनका बचपन तो अपने गाँव में बीता ही, नौकरी के सिलसिले में बाहर जाने पर भी वे हमेशा, खास कर गर्मी की छुट्टी में, गाँव जरूर आते थे। गाँव में उन्होंने नया घर भी बनवाया था। मई, 1932 में लखनऊ की नौकरी समाप्त होने पर उन्होंने कुछ लम्बा समय गाँव में व्यतीत किया था। अमृत राय के अनुसार इस बार उन्हें गाँव के लोगों से मिलने जुलने, उनके बीच रहने का अनुभव हुआ। उन्हीं के शब्दों में, "गाँव से बाहर खेतों को जाने का रास्ता मुंशी जी के घर के बगल से गया है और अक्सर सुबह-शाम वहीं पत्थर की बेन्च पर बैठे-बैठे मुंशी जी की मुलाकात सबसे हो जाती। जो उधर से गुजरता थोड़ी देर के लिए बैठ जाता, कुछ अपनी कहता, कुछ उनकी सुनता। किसकी कहाँ जोत है, किसके यहाँ कब कौन बीमार है, किसके यहाँ भाइयों में अनबन चल रही है--सबकुछ उनको पता रहता, और जो पता न रहता उसकी पूछताछ करके अपनी जानकारी अपटुडेट कर लेते।" गाँव के प्रति इस गहरी संलग्नता ने ही प्रेमचन्द को *गोदान* का लेखक बनाया। लगभग इसी समय गोदान का लेखन भी आरम्भ हुआ था। यहीं से प्रेमचन्द बम्बई गये थे और बम्बई से लौट कर यहीं आये थे। यद्यपि उनकी मृत्यु बनारस में हुई थी, पर लमही और बनारस में दूरी ही कितनी थी।

1.2.2 व्यक्तित्व का निर्माण

यद्यपि बाहर से प्रेमचन्द का व्यक्तित्व बहुत सादा था, पर अन्दर से क्रान्तिकारिता उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। चुनार के मिशन स्कूल में फुटबॉल मैच में गोरों की पिटाई, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, इसका प्रमाण है। 1906 में विधवा विवाह की पहल करना भी एक क्रान्तिकारी कदम था। 1905 में 'जमाना' में उन्होंने 'रफ्तारे जमाना' स्तम्भ में लिखना आरम्भ किया जिसमें देश में होने वाले परिवर्तनों और राष्ट्रीय चेतना की झलक प्रस्तुत करने वाली टिप्पणियाँ होती थीं। सरकारी नौकरी करने वाले आदमी के लिए यह भी एक दुस्साहस का काम था। मई 1905 से जून, 1909 तक वे कानपुर में रहे। यह समय भारतीय राजनीति में घोर सक्रियता का समय था। काँग्रेस 'गरम दल' और 'नरम दल' में विभक्त थी। धनपत राय विचारों से 'गरम दल' के नेता बाल गंगाधर तिलक के साथ थे। अपनी राजनीतिक टिप्पणियों में उन्होंने तिलक का ही समर्थन किया। यह वह समय था जबकि राष्ट्रीय चेतना के खिलाफ ब्रिटिश शासन का दमन अपनी चरम सीमा पर था और धनपत राय सरकारी नौकर थे। माना कि वे लिखते 'नवाब राय' के नाम से थे, पर उनकी हिम्मत की दाद तो देनी ही पड़ेगी। खुदीराम बोस की फाँसी होने पर उन्होंने उनकी तसवीर अपने कमरे में लगायी। जुलाई, 1907 में उन्होंने 'ज़माना' में गेराबाल्डी का छोटा सा जीवन-चरित लिखा, जिसमें उन्हें 'महापुरुष' के रूप में स्मरण किया गया। विवेकानन्द पर भी उन्होंने लिखा और उनके विचारों से सहमति व्यक्त करते हुए उन्होंने अपनी राष्ट्रीय चेतना को वाणी दी। इन सब बातों की एक छोटी सी खुफिया रपट उनकी नौकरी ले सकती थी, पर इसकी परवाह उन्होंने न की।

1909 में उनका *सोजेवतन* शीर्षक कहानी-संग्रह सरकार द्वारा जब्त हुआ। किसी प्रकार नौकरी तो बच गयी, पर यह जबरदस्त चेतावनी थी। पर लिखना नवाब राय की जिन्दगी थी। इसे छोड़ना उनके लिए मुश्किल था। कुछ दिनों तक उनकी रचनाएँ बिना नाम के या किसी फर्जी नाम से भी छपीं। पर इससे काम चलने वाला नहीं था। अन्ततः उन्होंने प्रेमचन्द नाम धारण किया और नौकरी छूटने तथा जेल जाने का खतरा उठा कर भी लिखना जारी रखा। कभी-कभी सरकारी नौकरी छोड़ देने का विचार भी मन में आता रहा, पर परिवार चलाने की मजबूरी था। सरकारी नौकरी त्याग कर पत्रकारिता शुरू करने का संघर्ष भी मन में जारी रहा।

प्रेमचन्द एक पारिवारिक आदमी थे। अपने परिवार से उन्हें बहुत गहरा लगाव था। परिवार को छोड़ कर कहीं बाहर घूमने जाना उन्हें बिलकुल ही पसन्द न था। अमृत राय के अनुसार "मुंशी जी के प्राण अपने लड़कों में बसते थे।..... इसी प्रेम की डोर से उन्होंने हर लड़के को अपने संग बाँध लिया था। पढ़ना-पढ़ाना और अपना लिखना, यही उनकी सारी जिन्दगी थी, एक दम बँधी-टँकी, पूर्ण संयत। खेलकूद से उन्हें मतलब न था, हाँ, मैच देखना अच्छा लगता, खासकर फुटबॉल का। डिबेट और ड्रामा वगैरह में दिलचस्पी लेते, मगर बहुत पेश-पेश न रहते।..... पढ़ने-पढ़ाने से जो वक्त बचता वह उनके कलम का था। इसीलिए मास्टरों के आपसी रगड़ों-झगड़ों से उन्हें सरोकार न रहता और न तरक्की-तनज़्ज़ुली की अनन्त चर्चाओं में कुछ खास रस मिलता।"

प्रेमचन्द की समकालीन राजनीति में गहरी दिलचस्पी थी। उनके मित्र दयानरायन निगम सरकार से सहयोग करने की नीति अपना चुके थे और सरकार द्वारा 'वार जर्नल' जारी किए जाने पर उन्होंने प्रेमचन्द को उसके उर्दू संस्करण की जिम्मेवारी सँभालने का अनुरोध किया, पर प्रेमचन्द ने उसे अस्वीकार कर दिया। उन्होंने 6 जुलाई, 1918 को निगम साहब को लिखा था : ".....अब मैं सरकारी अख़बारनवीस क्या बनूँगा। अगर अख़बारनसीव बनना तक़दीर में है तो गैर-सरकारी, आज़ाद अख़बारनवीस होऊँगा। जंग के मुताल्लिक़ मज़मीन लिखने की भी इस वक़्त मुझे फ़ुर्सत नहीं है। बस इसी अपनी रफ़्तारे-क़दीम पर चलूँगा। बी. ए. करके किसी प्राइवेट स्कूल की मास्टरी और एक अच्छे अख़बार की एडीटरी और कुछ पब्लिक काम। यही मेराजे-ज़िन्दगी है। अख़बार मज़दूरों किसानों का हामी और मुआविन होगा।" इसी समय निगम साहब ने अपनी बेटी की शादी में कुछ अँगरेज दोस्तों को भी दावत दी। केवल इसी कारण प्रेमचन्द इस दावत में शामिल नहीं हुए। नवम्बर, 1918 में द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर सरकार की तरफ से विजयोत्सव मनाया गया, पर प्रेमचन्द ने सरकारी मुलाजिम होते हुए भी उसमें भाग नहीं लिया। इससे प्रेमचन्द की आजाद मानसिकता, स्वाभिमान, देशप्रेम, स्वाधीनता की चेतना और किसानों-मजदूरों के प्रति सहानुभूति का पता चलता है। सम्भव है कि यदि पारिवारिक दायित्व के कारण नौकरी करने की विवशता न होती तो वे सक्रिय राजनीति में भी कूद पड़ते। पर उनकी सीमाएँ थीं। अतः वे काँग्रेस की मीटिंगों में चले जाते, काँग्रेस के दफ्तर भी हो आते, पर इससे ज्यादा नहीं। उनकी राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम

उनका साहित्य था। गाँधी जी के राजनीति दर्शन में उनकी गहरी आस्था थी। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि की शिक्षा वे तोल्सतोय से पहले ही प्राप्त कर चुके थे। कर्मठता उनके स्वभाव का हिस्सा बन गयी थी। वे सच्चे कर्मयोगी थे। अपने एक पत्र में उन्होंने इन्द्रनाथ मदान को लिखा था : "ज़िन्दगी का मतलब मेरे लिए हमेशा एक ही रहा है--काम, काम, काम।..... मुझे काम करने में मजा आता है।'' अमृत राय के शब्दों में, " मुँह अँधेरे ही वह उठ जाता है और फारिग होकर घंटे भर के लिए घूमने चला जाता है। नौकर से ज्यादा काम लेना उसे पसन्द नहीं है। अपना बिस्तर वह खुद उठा लेता है। अपनी धोती वह खुद छाँट लेता है।..... रत्ती भर शर्म नहीं है उसे कोई काम करने में। पत्ती तोड़ कर बकरी के सामने डाल देता है। गाय की सानी बोर देता है। अपने कमरे में, बाहर के बरामदे में झाड़ू भी लगा लेता है। चूल्हा जला देता है, क्योंकि पत्नी बीमार है और चाची को यह काम पसन्द नहीं है।.....'' प्रेमचन्द के जीवन के बारे में अमृत राय लिखते हैं: "उनका जीवन 'कलाकार' का नहीं, किसान का था, जिसके हाथ में कुदाल की जगह कलम थी।''

वस्तुत: प्रेमचन्द कोई फरिश्ता नहीं थे, पर शैतान भी नहीं थे; दाने-दाने को मुहताज न थे, पर अमीर भी न थे; बहुत से मामलों में दकियानूस भी थे, पर एक औसत आदमी से ज्यादा प्रगतिशील और जागरूक थे; अन्तर्विरोध उनके चरित्र में था, पर मनोवैज्ञानिक कुंठाओं से ग्रस्त नहीं थे; दुनिया के दस महान् साहित्यकारों में उनकी गणना कदाचित् न हो, पर हजारों साहित्यकारों से ऊपर उनका स्थान अवश्य है। प्रेमचन्द एक साधारण इनसान, पर बड़े लेखक हैं। भारतीय कथा साहित्य में उनका स्थान प्रथम पंक्ति में सुरक्षित है। हिन्दी कथा साहित्य के सम्राट् वे अपने समय में भी थे और आज भी हैं।

1.2.3 उर्दू में लेखन का आरम्भ

प्रेमचन्द (धनपत ; नवाब) की शिक्षा फारसी से शुरू हुई थी। तेरह वर्ष की उम्र तक वह हिन्दी बिलकुल ही नहीं जानता था। वह एक स्थानीय बुकसेलर के यहाँ से मौलाना शाह, पं. रतननाथ सरशार, मिर्जा रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली आदि की उर्दू कथा पुस्तकें, रेनॉल्ड के उपन्यासों के अनुवाद, नवल किशोर प्रेस से निकले पुराणों के उर्दू अनुवाद और तिलिस्मे होशरुबा के कई खंड दो-तीन सालों के भीतर पढ़ गया था। प्रेमचन्द के कथा-लेखन की बुनियाद यही पढ़ाई थी।

लगभग इसी समय धनपत ने खेल-खेल में एक नाटक लिख डाला था। उसके एक नाते के मामू थे, जो उसके परिवार के साथ ही रहते थे। उनकी आशनाई एक दलित जाति की स्त्री से हो गयी थी, जिसके चलते उन्हें उसके परिवार वालों से पिटना पड़ा था। उसी घटना को आधार बनाकर उन्होंने नाटक की रचना कर डाली, जो मामू के साथ ही गुमनामी के अन्धकार में विलीन हो गयी।

कायदे से प्रेमचन्द की पहली उर्दू रचना 'ओलिवर क्रॉमवेल' नामक लेख था जो 1903 ई. में 'धनपत राय' के नाम से बनारस से प्रकाशित होने वाले पत्र 'आवाज-ए-खल्क' में प्रकाशित हुआ था। 'आवाज-ए-खल्क' में ही उनका ('धनपत राय' के नाम से ही) पहला उर्दू उपन्यास *असरारे मआबिद उर्फ देवस्थान रहस्य* धारावाहिक रूप में 1903-04 में प्रकाशित हुआ। 1905 ई. में उनका तबादला कानपुर हो गया। इसी समय कानपुर से 'जमाना' नाम की उर्दू पत्रिका निकलनी शुरू हुई जिसके सम्पादक मुंशी दयानरायन निगम थे। कानपुर पहुँच कर लिखना नवाब राय की ज़िन्दगी का मकसद और नियम बन गया। लगभग इसी समय उन्होंने 'नवाब राय' के नाम से लिखना आरम्भ किया। वे नवाब राय के नाम से 'जमाना' में कहानियाँ और साहित्यिक टिप्पणियाँ आदि लिखने लगे। 'ज़माना' के साथ-साथ 'आवाज-ए-खल्क', 'उर्दू-ए-मुअल्ला', आदि पत्रिकाओं में भी उनके छिटफुट लेख प्रकाशित होते रहे। लगभग इसी समय उन्होंने अपना दूसरा उपन्यास *हम खुर्मा व हम शवाब* लिखा जो 1906 ई. में उर्दू में और 1907 ई. में *प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह* शीर्षक से हिन्दी में प्रकाशित हुआ। 1906 ई. में ही उनका *किशना* नाम का उपन्यास भी प्रकाशित हुआ था, जो अब उपलब्ध नहीं है। अमृत राय के अनुसार 1907 ई. में उनकी पहली कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' छपी जिसमें उन्होंने लिखा कि "खून की वह आखिरी बूँद जो देश की आजादी के लिए गिरे, वही दुनिया का अनमोल रतन है।'' उनकी एक अन्य कहानी 'इश्के दुनिया और हुब्बे वतन'1908 में 'जमाना' में प्रकाशित हुई, जो कतिपय विद्वानों के अनुसार प्रेमचन्द की पहली उर्दू कहानी है। यह देश की आजादी के लिए अपने को कुरबान करने की कहानी है। इसमें अपने देश की दशा पर गुस्सा भरा दु:ख व्यक्त हुआ है। 'ज़माना' के ही अप्रैल से अगस्त, 1907 के अंकों में उनका उर्दू उपन्यास *रूठी रानी* धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ।

जून, 1908 ई. में उनका प्रथम उर्दू कहानी-संग्रह *सोज़े वतन* प्रकाशित हुआ, जिसमें 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन', 'शेख मख़मूर' ,'यही मेरा वतन है', 'सिल-ए-मातम', 'इश्के दुनिया और हुब्बे वतन' शीर्षक पाँच कहानियाँ संकलित थीं। किसी प्रकार सरकार को पता चल गया कि *सोज़े वतन* के लेखक 'नवाब राय' वास्तव में धनपत राय ही हैं। *सोज़े वतन* की कहानियों में सरकार को 'राजद्रोह' की झलक मिली, जिसके लिए धनपत राय को तलब किया गया। किसी तरह उनकी नौकरी तो बच गयी, पर उनके लिखने पर पाबन्दी लगा दी गयी। पर उनका लिखना भला कैसे छूट सकता था ! अन्ततः उन्होंने खतरा मोल लेकर भी नाम बदल कर 'प्रेमचन्द' नाम से लिखते रहने का फैसला किया। प्रेमचन्द के नाम से छपने वाली उनकी पहली कहानी 'बड़े घर की बेटी' थी, जो दिसम्बर, 1910 ई. में 'ज़माना' में प्रकाशित हुई थी। 1915 ई. तक वे प्रेमचन्द नाम से केवल उर्दू में कहानियाँ लिखते रहे। इस बीच 1912 ई. में उनका *जलवए-ईसार* नामक उर्दू उपन्यास प्रकाशित हुआ।

1.2.4 उर्दू से हिन्दी में आगमन

1913 ई. के आसपास प्रेमचन्द का ध्यान हिन्दी में लिखने की तरफ आकृष्ट हुआ। उर्दू अखबारों से आमदनी कुछ खास न थी। किताबों का भी बुरा हाल था। आजमाइश के तौर पर उन्होंने भारतेन्दु, केशव, बिहारी, कालिदास आदि पर लेख और *मेघदूत* और *विक्रमोर्वशी* के उर्दू पद्यानुवादों की समीक्षाएँ हिन्दी में लिखीं। लगभग इसी समय उनका परिचय मन्नन द्विवेदी गजपुरी से हुआ, जो धीरे-धीरे गहरी आत्मीयता में बदल गया। सम्भव है, प्रेमचन्द को हिन्दी की ओर लाने में गजपुरी जी की भी भूमिका हो। 1 सितम्बर, 1915 को उन्होंने दयानरायन निगम को लिखा : "अब हिन्दी में लिखने की मश्क भी कर रहा हूँ। उर्दू में अब गुजर नहीं है। उर्दूनवीसी में किस हिन्दू को फैज हुआ है जो मुझे हो जाएगा।'' हिन्दी में लिखित प्रेमचन्द की पहली कहानी 'सौत' थी, जो 'सरस्वती' के दिसम्बर, 1915 अंक में प्रकाशित हुई थी। इसके साथ प्रेमचन्द की हिन्दी कहानियों का जो सिलसिला शुरू हुआ, वह उनके जीवन पर्यन्त जारी रहा। पर इसका यह अर्थ नहीं कि प्रेमचन्द ने उर्दू में लिखना ही छोड़ दिया। वे अब उर्दू और हिन्दी में साथ-साथ लिखने लगे। अनेक उर्दू कहानियों के हिन्दी रूपान्तर और हिन्दी कहानियों के उर्दू रूपान्तर भी साथ-साथ होते रहे। 1917 ई. में उन्होंने उर्दू में *'बाजारे हुस्न'* नाम का उपन्यास लिखना शुरू किया, जो पूरा होने पर जनवरी, 1918 ई. में, हिन्दी में *सेवा सदन* शीर्षक से हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इसका हिन्दीकरण प्रेमचन्द ने खुद ही किया था। यह प्रेमचन्द का पहला हिन्दी उपन्यास कहा जा सकता है।

1918 ई. में ही प्रेमचन्द ने *गोशाए आफियत* नामक उपन्यास लिखना शुरू किया, जो 1920 ई. में पूरा हुआ। आरम्भ में इसके 'नाकाम' और 'नेकनाम' नाम भी सोचे गये थे। पर यह पहले हिन्दी में *प्रेमाश्रम* शीर्षक से, 1922 ई. में, प्रकाशित हुआ। यह रूपान्तर भी स्वयं प्रेमचन्द का ही किया हुआ था। अक्टूबर, 1922 ई. में प्रेमचन्द ने *चौगाने हस्ती* नामक उपन्यास लिखना आरम्भ किया जो अप्रैल, 1924 में पूरा हुआ। अक्टूबर, 1924 में स्वयं प्रेमचन्द द्वारा इसका हिन्दी रूपान्तर हुआ, जो दो खंडों में *रंगभूमि* शीर्षक से 1925 ई. में प्रकाशित हुआ। प्रेमचन्द का पहला हिन्दी में लिखा हुआ उपन्यास *कायाकल्प* है, जो 1926 ई. में प्रकाशित हुआ। *कायाकल्प* के बाद प्रेमचन्द के *निर्मला* (1927), *प्रतिज्ञा* (1929), *गबन* (1931), *कर्मभूमि* (1932), *गोदान* (1936) आदि उपन्यास मूलतः हिन्दी में ही लिखे गये। *सेवा सदन* (बाजारे हुस्न) से लेकर *गोदान* तक सभी उपन्यास बाद में उर्दू में भी प्रकाशित हुए। इसी प्रकार *जलवए-ईसार* का हिन्दी अनुवाद *वरदान* 1920 में प्रकाशित हुआ। *प्रतिज्ञा* 1907 में प्रकाशित *प्रेमा* का ही संवर्द्धित रूप है। प्रेमचन्द का एक और अधूरा रह गया उपन्यास *मंगलसूत्र* है जो उनकी मृत्यु के बाद 1948 ई. में प्रकाशित हुआ।

1.2.5 प्रेस और निजी प्रकाशन

प्रेमचन्द का पत्रकारिता से सम्बन्ध उनके साहित्यिक जीवन के आरम्भ में ही जुड़ गया था। 1905 ई. में अपने प्रथम कानपुर प्रवास में वे दयानरायन निगम द्वारा सम्पादित-प्रकाशित 'ज़माना' के सम्पर्क में आये और 1906 ई. में उसके सम्पादकीय विभाग में शामिल हो गये। 1908 ई. में इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से एक उर्दू रिसाला निकालने की योजना बनी, जिसका सम्पादक बनने का अनुरोध नवाब राय से किया गया। पर उन्होंने नौकरी छोड़ कर सम्पादक बनना स्वीकार नहीं किया। लगभग इसी समय दयानरायन निगम ने उनके सामने 'अवध अखबार' में काम करने का प्रस्ताव रखा, पर इसे भी उन्होंने नकार दिया। 1912 में साप्ताहिक अखबार निकालने के निगम साहब के प्रस्ताव का उन्होंने

समर्थन किया और उसमें उनकी मदद करने का आश्वासन देते हुए उसका नाम 'रफ़्तारे जमाना' रखने का सुझाव दिया। 1913 ई. में उन्होंने उर्दू पत्र 'देश' का संवाददाता बनना भी स्वीकार कर लिया। इसके लगभग साल भर बाद उन्होंने दयानरायन निगम के नाम लिखे अपने 10 नवम्बर, 1914 के पत्र में एक 'माहवार रिसाला' निकालने की इच्छा व्यक्त की। यह सब प्रेमचन्द की पत्रकारिता और प्रेस से जुड़ने की इच्छा का परिचायक है। पर 1917 तक प्रेस खोलने का कोई इरादा उनके मन में नहीं था। अपने 29 जनवरी, 1918 के पत्र में उन्होंने निगम साहब को साफ लिखा था : "मैं खुद पब्लिशर बनने का दर्दे-सिर नहीं चाहता।" पर सम्भव है, यह उनकी अवचेतना में स्थित आकांक्षा की अभिव्यक्ति भी हो ! क्योंकि, अपने 6 जुलाई, 1918 को निगम साहब के नाम लिखे पत्र में उन्होंने 'एक अच्छे अखबार की एडीटरी' को अपना 'मेराजे-ज़िन्दगी' बताया। इसका उल्लेख हम पहले भी कर चुके हैं।

1920 ई. में प्रेमचन्द के सौतेले भाई महताब राय प्रेस का काम सीख कर महावीर प्रसाद पोद्दार के कलकत्ता स्थित प्रेस में मैनेजर नियुक्त हुए। अब तक प्रेमचन्द के मन में अपना प्रेस खोलने और उसका कार्य महताब राय को सौंपने की इच्छा जन्म ले चुकी थी। अपने 11 मार्च, 1920 के निगम साहब के नाम लिखे पत्र में उन्होंने कानपुर में प्रेस लगाने और अखबार निकालने का विचार व्यक्त किया। इसी समय महताब राय ने कलकत्ता में एक बिकाऊ प्रेस को खरीद कर उसे बनारस में लगाने का प्रस्ताव प्रेमचन्द के सामने रखा। पर साझेदारी के सवाल पर दोनों में गलतफहमियाँ पैदा हो गयीं और यह प्रस्ताव मंसूख हो गया। तत्पश्चात् प्रेमचन्द ने दयानरायन निगम के साथ मिल कर कानपुर के 'लाइट प्रेस' को खरीदने का विचार किया और उसके मैनेजर के रूप में महताब राय को बुलाने का निश्चय किया। पर यह योजना भी सफल नहीं हो पायी। फरवरी, 1921 ई. में सरकारी नौकरी से इस्तीफा देने के बाद उन्होंने गोरखपुर से ही एक 'हफ़्तेवार उर्दू अख़बार' निकालने और 'प्रेस की तलाश' करने का इरादा व्यक्त किया। अपने 23 नवम्बर, 1921 के पत्र में उन्होंने निगम साहब को लिखा : "मैं एक अच्छा प्रेस उर्दू, हिन्दी और अँग्रेजी का खोलना चाहता हूँ, जो फिलहाल महज जाब-वर्क पर चले।" उन्होंने प्रेस की पूरी योजना भी निगम साहब के सामने रखी। पर यह प्रयास भी नाकाम रहा। पुनः अपने 16 जून, 1922 के पत्र में उन्होंने अपना प्रेस खोलने का इरादा प्रकट करते हुए निगम साहब को 'प्रेस के तय' हो जाने की सूचना दी। पर यह प्रयास भी असफल सिद्ध हुआ। पर अब तक प्रेस खोलने का प्रेमचन्द का इरादा पक्का हो चुका था। उन्हें प्रेस खोलने पर उसकी कामयाबी का पूरा भरोसा था। अतः उन्होंने कलकत्ता से प्रेस का कुछ सामान मँगाया, टाइप का ऑर्डर दे दिया और वुडराफ़ ऐंड कम्पनी, जर्मनी को मशीन का ऑर्डर भी दे दिया। पूँजी का इन्तजाम उन्होंने अपने बड़े भाई मुंशी बलदेव प्रसाद, छोटे भाई महताब राय, रघुपति सहाय फिराक़ और दयानरायन निगम को साझेदार बना कर किया। 20 अप्रैल, 1923 तक मशीन आ गयी, मकान तय हो गया, टाइप, ब्लॉक, लकड़ी के केस आदि भी पहुँच गये। प्रेमचन्द ने महताब राय को इसका मैनेजर बनने के लिए प्रेरित किया और 2 जून के पत्र में उन्हें लिखा : "तुम इस प्रेस को बिलकुल अपना समझ कर चलाओ।" इसके साथ ही उन्होंने 'पब्लिशिंग' करने कर इरादा भी व्यक्त किया और लिखा : "उसमें जो नफा होगा, उसके एक चौथाई के हक़दार तुम होगे। प्रेस में एक चौथाई तुम्हारा है ही।" प्रेस का नाम रखा गया 'सरस्वती प्रेस' जिसका उद्घाटन 20 जुलाई, 1923 को पं. छविनाथ मिश्र ने चक्का घुमा कर किया। अपनी उर्दू पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए प्रेमचन्द एक लीथो प्रेस की तलाश भी करते रहे। इस प्रकार पूरे विश्वास और जोश के साथ प्रेमचन्द ने प्रेस और प्रकाशन का काम आरम्भ किया।

पर प्रेस और प्रकाशन से प्रेमचन्द ने जो उम्मीद की थी, वह पूरी नहीं हुई। प्रेस में घाटा होने लगा। 26 जून, 1924 के पत्र में उन्होंने निगम साहब को सूचना दी : "मेरे प्रेस की हालत अच्छी नहीं। साल भर हो गये, नफा और सूद तो दरकिनार, कोई 600 रुपये का घाटा है।" स्थिति यह हो गयी कि जिन लोगों ने पैसा लगाया था वे वापसी का तकाजा करने लगे। यहाँ तक कि प्रेस 'तोड़' देने की भी सलाह देने लगे। पर प्रेमचन्द को यह गवारा न था। वे उसे 'कम-अज-कम' दो साल और चलाना चाहते थे। यहाँ तक कि 'पुत्रों को थोड़ा सा पढ़ा कर' इस 'कारोबार' में लगाने का विचार भी कर रहे थे ! पर बात कुछ बनी नहीं। उन्होंने अपने 2 अगस्त के पत्र में निगम साहब को लिखा : 'प्रेस ने मुझे इस क़दर परेशान कर रखा हैं कि मैं तंग आ गया हूँ। वह बुरा वक़्त था, जब मेरे सर में यह सौदाए-ख़ाम समाया।" साल भर और बीत गया। पर प्रेस की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। इसे लेकर उनमें और महताब राय के सम्बन्धों में भी फाँक आ गयी। प्रेमचन्द ने नुकसान के लिए महताब राय को दोषी ठहराया और हिसाब करके प्रेस को बन्द कर देने का प्रस्ताव किया। पर प्रेस चलता

रहा। महताब राय सम्भवत: प्रबन्ध से अलग हो गये। 19 जुलाई, 1928 को प्रेमचन्द ने प्रवासीलाल वर्मा को प्रेस सँभालने का काम सौंपा। शर्तें तय हुईं। प्रेस की हालत में कुछ सुधार भी हुआ। 1930 के आरम्भ में सरस्वती प्रेस से 'हंस' के प्रकाशन की योजना बनी। 10 मार्च, 1930 को 'हंस' का पहला अंक निकला। 'हंस' में ही *कर्मभूमि* के धारावाहिक प्रकाशन का निश्चय किया गया। पर इससे भी प्रेस की हालत में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ। 24 जुलाई, 1930 को प्रेस ऑर्डिनेन्स के तहत सरस्वती प्रेस से एक हजार रुपये की जमानत माँगी गयी। अगस्त से अक्टूबर तक 'हंस' और प्रेस दोनों बन्द रहे। नवम्बर में जब जमानत का प्रतिबन्ध उठा तब सरस्वती प्रेस पुन: खुला और 'हंस' के प्रकाशन की भी तैयारियाँ शुरू हुईं। पर प्रेस की समस्या ज्यों की त्यों बनी रही। अन्य कारणों के अलावा प्रेस को काम देने के खयाल से प्रेमचन्द ने 'जागरण' को भी अपने हाथ में ले लिया। अगस्त, 1932 में जमानत की आज्ञा वापस हुई और 22 अगस्त को 'जागरण' का पहला अंक निकला। 1 दिसम्बर को फिर 'जागरण' और सरस्वती प्रेस पर जमानत की गाज गिरी, पर जल्दी ही मंसूख भी हो गयी। अन्तत: प्रेस और उससे सम्बद्ध व्यापार को बेच देने का विचार हुआ और इस सम्बन्ध में लीडर प्रेस, इलाहाबाद से पत्राचार आरम्भ हुआ। पर लीडर प्रेस का उत्तर नकारात्मक रहा और प्रेस की समस्या ज्यों की त्यों बनी रही। प्रेमचन्द को यह बोध बराबर बना रहा कि प्रेस ही सारी विपत्तियों की जड़ है। उन्होंने जैनेन्द्र को लिखा : "सारी विपत्ति की जड़ तो यह प्रेस है। न जाने किस बुरी साइत में उसकी बुनियाद पड़ी थी। दस हजार रुपये और ग्यारह साल की मेहनत और परेशानियाँ अकारथ हो गयीं।" जैनेन्द्र स्वयं भी प्रेमचन्द की इस समस्या को गम्भीरता से ले रहे थे। उन्होंने 8 मई के अपने पत्र में अज्ञेय को सरस्वती प्रेस, 'हंस', 'जागरण' आदि में संयुक्त रूप से कार्य करने का प्रस्ताव भेजा। इस पत्र के उत्तर में प्रेमचन्द ने लिखा : "अगर पाँच हजार रुपये और वात्स्यायन जी और तुम आ मिलो, तो बहुत बड़ा काम हो जाय। मैं हर तरह से तैयार हूँ।" पर लगता है, यह बात भी बहुत आगे नहीं बढ़ी। उनके बम्बई जाने के पूर्व 'जागरण' बन्द हो गया। अंतत: 23 अप्रैल, 1935 को श्रीपत राय ने प्रेस को इलाहाबाद ले जाने का प्रस्ताव किया और प्रेमचन्द ने इसे भी स्वीकार कर लिया। पर प्रेमचन्द के जीवन काल में प्रेस इलाहाबाद नहीं जा सका।

सरस्वती प्रेस और प्रकाशन से प्रेमचन्द ने जो उम्मीद की थी, वह मृगमरीचिका सिद्ध हुई। प्रेमचन्द को प्रकाशन-कार्य में सफलता नहीं मिली, इसमें किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। हर लेखक प्रकाशक का लगभग यही हश्र होता है।

सरस्वती प्रेस और प्रकाशन की असफलता का कारण पूँजी और प्रबन्धन का अभाव था। इस व्यवसाय का अनुभव न प्रेमचन्द को था न उनके सहयोगियों को। सहयोगी आनन-फानन में नफा चाहते थे, जो व्यवसाय में सम्भव नहीं होता। महताब राय में वह प्रबन्ध-क्षमता न थी जो एक व्यवसाय के लिए अपेक्षित होती है। स्वयं प्रेमचन्द इस कला में कोरे और स्वप्नदर्शी थे। वे अपने लेखन और नौकरी को अधिक समय देते थे, प्रेस और प्रकाशन को कम। इसका फल यह हुआ कि प्रेस को अपेक्षित काम नहीं मिलता था और काम भी अच्छा नहीं होता था। बम्बई-प्रवास से लौटने के बाद उन्होंने प्रेस पर कुछ अधिक ध्यान देना आरम्भ किया। *गोदान* सरस्वती प्रेस से छपा। इन्द्र बसावड़ा और उषा देवी मित्रा की पुस्तकें भी सरस्वती प्रेस से प्रकाशित हुईं। पर तब तक बहुत देर हो चुकी थी। प्रेस और प्रकाशन को लगभग उसी हालत में छोड़ कर उनका स्वर्गवास हो गया। उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र श्रीपत राय ने उसे सँभाला और वह उनके लिए कामधेनु सिद्ध हुआ, यह हम जानते हैं।

1.3 प्रेमचन्द की जीवनदृष्टि

रचनाकार के व्यक्तित्व का निर्माण और जीवनदृष्टि का विकास समकालीन परिवेश की देन होता है। इस परिवेश का परिचय हम पहले ही दे चुके हैं। अब हम विभिन्न मुद्दों पर प्रेमचन्द की राय और जीवनदृष्टि की चर्चा करेंगे।

1.3.1 राष्ट्रीय चेतना

प्रेमचन्द की राष्ट्रीय चेतना का परिचय उनके शुरुआती चरित्र और लेखन से ही मिलने लगता है। मिशन स्कूल में आयोजित फुटबॉल मैच में गोरों की टीम से भिड़ जाना, खुदीराम बोस की फाँसी होने पर अपने कमरे में उनका चित्र टाँगना, काँग्रेस अधिवेशन में भाग लेना, 'ज़माना' में राजनीतिक टिप्पणियाँ और देशप्रेम की कहानियाँ लिखना आदि उनकी राष्ट्रीय चेतना के ही परिचायक हैं। 'सोज़े

वतन' की जब्ती के बाद यद्यपि उन्होंने कुछ दिनों तक सरकार-विरोधी टिप्पणियाँ और कहानियाँ लिखने में संयम बरता, पर इसकी कसक उनके मन में बराबर बनी रही और सरकारी नौकरी छोड़ देने की बात उनके मन में उठती रही। अन्ततः 15 फरवरी, 1921 को उन्होंने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे ही दिया। सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे देने के बाद प्रेमचन्द की राष्ट्रीय भावनाएँ और उनसे सम्बद्ध अन्य विचार उनकी कहानियों और उपन्यासों में व्यक्त होने लगे। जो राष्ट्रीय भावनाएँ अब तक सरकारी नौकरी के कारण मन में घुमड़ रही थीं वे कहानियों में बोलने लगीं। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, स्वदेशी का प्रचार, सरकारी स्कूलों का विरोध, मद्य-निषेध, सरकार-विरोधी सत्याग्रह, स्वयंसेवकों की गिरफ्तारी, पुलिस के अत्याचार आदि विषयों का चित्रण उनकी कहानियों में होने लगा। स्त्रियों के सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने और जेल जाने का चित्रण भी कहानियों में होने लगा। उपन्यासों में भी ये विषय प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में आने लगे। फरवरी, 1922 में चौरीचौरा की घटना के बाद गाँधी जी द्वारा सत्याग्रह-आन्दोलन वापस लेने की बात प्रेमचन्द को पसन्द नहीं आयी थी। अपने इस समय के लेखों में उन्होंने समकालीन राजनीति का जो विश्लेषण किया है, वह उनकी प्रखर राजनीतिक चेतना और विवेक का परिचायक है।

10 मार्च, 1930 को 'हंस' का पहला अंक निकला। 'हंस' की सम्पादकीय टिप्पणियों में प्रेमचन्द ने नमक सत्याग्रह की खुल कर प्रशंसा और ब्रिटिश सरकार की आलोचना की। इतना ही नहीं, अमृत राय के अनुसार लखनऊ के अमीनुद्दौला पार्क में सरकार की आज्ञा के विरुद्ध नमक बनता था। वहीं पर विदेशी कपड़ों की होली जलती थी। "कितनों को ही मुंशी जी ने अपने हाथ से खद्दर का कुर्ता-टोपी पहना कर, पान का बीड़ा देकर और उनकी पत्नी ने माथे पर तिलक लगा कर सामने पार्क में नमक बनाने के लिए भेजा।"

इन्हीं दिनों प्रेमचन्द ने बनारसीदास चतुर्वेदी को अपने पत्र में लिखा : " इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य-संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बँगले की मुझे हवस नहीं। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार ऊँची कोटि की पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही है।" (कलम का सिपाही)

1.3.2 विचारधाराओं का प्रभाव

लेखकीय जीवन के आरम्भ में प्रेमचन्द पर आर्य समाज के विचारों का बहुत गहरा असर पड़ा। नारी-उद्धार और सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति सम्बन्धी विचार प्रेमचन्द ने आर्य समाज से ही ग्रहण किये। इसका प्रभाव उनके जीवन साहित्य दोनों पर दिखाई पड़ता है। पर बाद में, जब आर्य समाज मुसलमानों की शुद्धि का प्रश्न उठाकर हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों में दरार पैदा करने लगा तो प्रेमचन्द ने अपने को उससे अलग कर लिया। 1914 ई. के आसपास प्रेमचन्द तोल्सतोय के साहित्य के सम्पर्क में आये और उनके विचारों से बहुत प्रभावित हुए। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, मानव-प्रेम, कर्मठता आदि का पहला पाठ उन्होंने तोल्सतोय से ही सीखा। इसी समय गाँधी जी का भी प्रवेश भारतीय राजनीति में हुआ और उन्होंने तोल्सतोय के सिद्धान्तों को भारतीय सन्दर्भ में व्यावहारिक रूप दे दिया। प्रेमचन्द 1914-18 की अवधि में गाँधी जी से बेहद प्रभावित हुए। 1918-19 में प्रेमचन्द रूस की क्रान्ति से प्रभावित होते दिखाई देते हैं। यह प्रभाव उनके उपन्यास *प्रेमाश्रम* में भी दिखाई पड़ता है। 'जमाना' के फरवरी, 1919 अंक में उनका एक लेख 'दौरे-कदीम : दौरे जदीद' (पुराना जमाना : नया जमाना) प्रकाशित हुआ। इस लेख में उन्होंने लिखा : "हमारे समाज के नेताओं में वकील और जमीन्दार ही सबसे ज्यादा हैं। मगर कितने शर्म और अफ़सोस की बात है कि उन दोनों में से एक भी जनता का हमदर्द नहीं। जो रैयत अपने अत्याचारी और लालची जमीन्दार के मुँह में दबी हुई है, जिन अधिकार-सम्पन्न लोगों के अत्याचार और बेगार से उनका हृदय छलनी हो रहा है, उनको हाकिम के रूप में देखने की कोई इच्छा उसे नहीं हो सकती। आने वाला जमाना अब किसानों और मजदूरों का है। दुनिया की रफ़्तार इसका साफ़ सबूत दे रही है।" पुनः 21 दिसम्बर, 1919 को निगम साहब को लिखे अपने पत्र में उन्होंने समकालीन 'नरम दल' की राजनीति का विरोध करते हुए लिखा : " मैं अब क़रीब-क़रीब बोलसेविस्ट उसूलों का कायल हो चुका हूँ।" इससे प्रेमचन्द का साम्यवादी विचारों की ओर झुकना साफ दिखाई पड़ता है। पर प्रेमचन्द पर गाँधी जी का प्रभाव भी कम नहीं था। इसका कारण था गाँधी जी की कर्मठता और जनता की सेवा। रूसी क्रान्ति दूर का ढोल थी। गाँधी का चरित्र उनके सामने था। गाँधी जी के अहिंसा के प्रयोग में भी उनकी आस्था थी। हिंसा के मार्ग पर चल कर देश को स्वतन्त्र करने या उसकी सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का समाधान करने का स्वप्न वे नहीं

देखते थे। इसी मानसिकता में प्रेमचन्द ने *प्रेमाश्रम* लिखना शुरू किया जिसमें मुख्यत: किसानों की ही समस्याएँ उठायी गयी हैं। पर प्रेमचन्द के सजग कलाकार ने *प्रेमाश्रम* में किसानों की समस्याओं का समाधान साम्यवादी मॉडल पर नहीं, बल्कि गाँधीवादी मॉडल पर प्रस्तुत किया है। उन्हें इस बात का बोध था कि समकालीन परिस्थितियों में किसानों की, और देश की भी, समस्याओं का गाँधीवादी समाधान ही सम्भव था, साम्यवादी समाधान नहीं। जमीन और किसान के सम्बन्ध के बारे में प्रेमचन्द के विचार *प्रेमाश्रम* के माया शंकर के शब्दों में व्यक्त हुए हैं : "भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है इसलिए उसे किसानों से कर लेने का अधिकार है चाहे प्रत्यक्ष रूप में ले या कोई इससे कम आपत्तिजनक व्यवस्था करे। अगर किसी अन्य वर्ग या श्रेणी को मीरास , मिल्कियत, जायदाद, अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्य पदार्थ बनाने की स्वच्छन्दता दी जाती है तो इस प्रथा को वर्तमान व्यवस्था का कलंक चिन्ह समझना चाहिए।''

प्रेमचन्द राजनीति में दिलचस्पी तो रखते थे, पर किसी राजनीतिक दल के सदस्य न थे। 1924 में उन्होंने दयानरायन निगम के नाम अपने पत्र में लिखा था : "आपने मुझसे पूछा, मैं किस पार्टी में हूँ। मैं किसी पार्टी में भी नहीं हूँ।..... मैं तो उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हूँ जो कोतहुन्नास (छोटे आदमियों) की सियासी तालीम को अपना दस्तूर-उल-अमल बनाए।'' इससे आम आदमी के प्रति प्रेमचन्द की प्रतिबद्धता का पता चलता है। सितम्बर, 1936 के 'हंस' में प्रेमचन्द का प्रसिद्ध लेख 'महाजनी सभ्यता' प्रकाशित हुआ। इस लेख में प्रेमचन्द ने पूँजीवादी सभ्यता की कटु आलोचना करते हुए लिखा : "इस महाजनी सभ्यता में सारे कामों की गरज़ महज़ पैसा है। किसी देश पर राज्य किया जाता है, तो इसलिए कि महाजनों-पूँजीपतियों को ज्यादा से ज्यादा नफा हो। इस दृष्टि से मानों आज दुनिया में महाजनों का ही राज्य है। मनुष्य समाज दो भागों में बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का है, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किये हुए हैं।'' इसी निबन्ध में उन्होंने आगे लिखा : " जिसके पास पैसा है, वह देवता स्वरूप है, उसका अन्त:करण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य, संगीत और कला सभी धन की देहली पर माथा टेकने वालों में हैं। यह हवा इतनी जहरीली हो गयी है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है।'' उन्होंने नयी जन्म लेने वाली साम्यवादी सभ्यता का स्वागत करते हुए लिखा : " परन्तु अब एक नयी सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोद कर फेंक दी है, जिसका मूल सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है ; और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है।'' इससे ऐसा प्रतीत होता है कि 1936 तक प्रेमचन्द का गाँधीवाद से मोहभंग हो चुका था। पर उनके अन्तिम दिनों के कथा साहित्य के सूक्ष्म अवलोकन से यह तथ्य भी सामने आता है कि गाँधीवाद उनके लिए पूरी तरह से अप्रासंगिक नहीं हो गया था। फिर भी प्रेमचन्द का यह लेख मार्क्सवाद के प्रति उनका विश्वास व्यक्त करता है। यद्यपि आज के बदले हुए परिवेश में प्रेमचन्द का समाज के प्रति यह दृष्टिकोण पुनर्विचार की अपेक्षा रख सकता है, पर इसमें दो मत नहीं हो सकते कि इसके पीछे समकालीन परिस्थितियों में भारत की जनता के लिए इससे बेहतर नहीं सोचा जा सकता था।

1.3.3 किसानों से लगाव

किसानों के प्रति प्रेमचन्द का गहरा लगाव था। वे स्वराज्य-प्राप्ति को किसानों-मजदूरों की शोषण और दमन से मुक्ति से जोड़ कर देखते थे; इसी में उसकी सार्थकता मानते थे। 'हंस' के दूसरे अंक में 'स्वराज्य से किसका अहित होगा' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने लिखा : " इसमें सन्देह नहीं कि स्वराज्य का आन्दोलन गरीबों का आन्दोलन है। अँग्रेजी राज्य में गरीबों, मजदूरों और किसानों की दशा जितनी खराब है, और होती जा रही है, उतनी समाज के और किसी अंग की नहीं। काँग्रेस के मेम्बर या और लोग भी कभी-कभी न्याय और नीति के नाते भले ही किसानों की वकालत करें, लेकिन किसानों के नाना प्रकार के दुखों और वेदनाओं की उन्हें वह असर नहीं हो सकती जो एक किसान को हो सकती है। सब छोटे-बड़े उसी को नोचते हैं, सब उसी का रक्त और मांस खा-खा कर मोटे होते हैं पर कोई उसकी खबर नहीं लेता। उसकी शक्ति बिखरी हुई है। अगर उन्हें संगठित करने की कोशिश की जाती है तो सरकार, जमीन्दार, सरकारी मुलाजिम और महाजन सभी भन्ना उठते हैं, चारों ओर से हाय-हाय

मच जाती है, बोलसेविज्म का हौवा बता कर उस आन्दोलन को जड़ से खोद कर फेंक दिया जाता है। इसलिए यह कहना गलत नहीं है कि स्वराज्य किसानों की माँग है, उन्हें जिन्दा रखने के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है।''

1.3.4 नारी दृष्टि

प्रेमचन्द की नारी दृष्टि नवजागरण की चेतना से अनुप्राणित और प्रगतिशील थी। वे विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा, पारिवारिक सम्पत्ति में स्त्री के अधिकार आदि के समर्थक और बालविवाह, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह, परदा प्रथा आदि के विरोधी थे। इसे जानने के लिए उनके 'औरतों का क्रय-विक्रय', 'कराची महिला-सम्मेलन', 'कायस्थ काफ्रेन्स', 'कुमारी शिक्षा का आदर्श', 'नारियों के साथ अन्याय क्यों?' 'नारी-जाति के अधिकार', 'प्रयाग में महिला व्यायाम-मन्दिर', 'भारतीय महिलाओं में नवीन जागृति', 'मिस्टर हरविलास शारदा का नया कानून', 'सर हरिसिंह गौड़ का तलाक बिल' आदि सम्पादकीय टिप्पणियाँ पठनीय हैं। अपनी कहानियों और उपन्यासों में भी प्रेमचन्द ने समाज में स्त्री पर होने वाले अन्यायों का विरोध किया है और उनके अधिकारों की वकालत की है। पर प्रेमचंन्द की नारी-दृष्टि पूर्णत: यथार्थवादी न होकर भावुकतापूर्ण और आदर्शवादी है। वे स्त्री को देवी, माता, त्याग की मूर्ति, नेह की प्रतिमा, मानवीय मूल्यों की प्रतीक आदि रूपों में देखने के आग्रही हैं और अपनी कहानियों तथा उपन्यासों में नारी पात्रों को इसी रूप में प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि कहीं- कहीं उनके नारी पात्र परम्परागत नारी-संहिता से विद्रोह करते भी दिखाई देते हैं, पर प्रेमचन्द अपने नारी विषयक आदर्शवादी संस्कारों से पूर्णत: मुक्त नहीं हो पाते।

1.3.5 साम्प्रदायिक सोच

प्रेमचन्द हिन्दू-मुस्लिम एकता के घोर समर्थक थे। अपने लेखों, कहानियों, उपन्यासों और *कर्बला* नाटक में उन्होंने इसकी जबरदस्त हिमायत की है। 'काशी का कलंक', 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं?', 'स्वामी विवेकानन्द', हिन्दू तहज़ीब और रहाफ़े आम', 'हिन्दू-मुस्लिम इत्तहाद की कहानी', 'हिन्दू-मुस्लिम एकता', 'हिन्दू सोशल लीग का फतवा', 'हिन्दी-उर्दू की एकता', 'अच्छी और बुरी साम्प्रदायिकता', 'अन्धा एतकाद और खुफिया ज़िहाद', 'अब हमें क्या करना है?', 'उर्दू में फ़िरऔनियत', 'एकता के विरुद्ध सम्प्रदायवादियों का शोरगुल', 'कुरान में धार्मिक ऐक्य का भाव', 'कौमी इत्तेहाद क्योंकर हो सकता है', 'पंजाब में हिन्दू-मुसलमानों का समझौता', 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति', 'साम्प्रदायिक मताधिकार की घोषणा', 'साम्प्रदायिक समस्या का राष्ट्रीय समन्वय' आदि अपनी दर्जनों टिप्पणियों में प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक समस्या पर अपने तर्कसंगत और मानवीय विवेक से सम्पन्न विचार प्रस्तुत किये हैं। साम्प्रदायिकता और संस्कृति के जटिल सम्बन्ध पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा : "अब न कहीं मुसलिम संस्कृति है न कहीं हिन्दू संस्कृति, न कोई अन्य संस्कृति, अब संसार में केवल एक ही संस्कृति है, और वह है आर्थिक संस्कृति।''

1.3.6 दलित चेतना

प्रेमचन्द सामाजिक भेद भाव को पूर्णत: नकारने वाले व्यक्ति और लेखक थे। समाज में छुआछूत की स्थिति को वे कोढ़ समझते थे और दलितों के प्रति उनके मन में गहरी मानवीय संवेदना थी। अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में प्रेमचन्द ने छुआछूत का जम कर, तीव्र आक्रोश और चुनौती के स्वर में विरोध किया है। 'अछूतपन मिटता जा रहा है', 'अछूतों को मन्दिर में जाने देना पाप है', 'अस्पृश्यों की महत्त्वाकांक्षा', 'इस हिमाक़त की भी कोई हद है', 'काशी का कलंक', 'काशी में मन्दिर-प्रवेश-बिल का समर्थन', 'क्या हरिजन आन्दोलन राजनीतिक है?', 'दिल्ली में म्युनिसिपल चुनाव में अछूत मेम्बर', 'बरेली में हरिजन सभा', 'मन्दिर प्रवेश और सरकार', 'महात्मा जी का उपवास', 'सनातन धर्म का प्रचार', 'हरिजनों के मन्दिर प्रवेश का प्रश्न' आदि टिप्पणियों में उन्होंने हरिजनों की समस्याओं के प्रति अपनी गहरी सम्वेदना का परिचय दिया है। इसी प्रकार 'घासवाली', 'ठाकुर का कुआँ', 'दूध का दाम', 'मुक्तिमार्ग', 'सद्गति' आदि कहानियों में भी उन्होंने अपनी दलित संवेदना को रचनात्मक उपलब्धि में बदलने में सफलता प्राप्त की है।

1.4 सारांश

प्रेमचन्द हिन्दी के मूर्धन्य रचनाकार हैं। हिन्दी साहित्य में उनके जैसा कथाकार आज तक पैदा नहीं हुआ। इस अभूतपूर्व साहित्यकार का जीवन संघर्षों से भरा है। कठिनाइयों के बीच से गुजर कर उनके

व्यक्तित्व में निखार आया। इससे उनके व्यक्तित्व में जुझारूपन और निर्भीकता पैदा हुई। यह जुझारूपन और निर्भीकता उनके कथा-साहित्य में भी प्रतिफलित हुई है।

प्रेमचन्द ने अपना लेखन उर्दू से आरम्भ किया था। 1903 ई. में उन्होंने लेखन की शुरूआत की। हिन्दी में उनकी पहली कहानी 1915 में 'सौत' नाम से 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इसके बाद हिन्दी को ही उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बना लिया।

अपने लेखन के आरम्भ से ही प्रेमचन्द पत्रकारिता से जुड़े थे। 1907 में ही वे 'ज़माना' से जुड़ गये थे। कई पत्रिकाओं का सम्पादन-कार्य सँभालने के बाद उन्होंने 1923 में अपना 'सरस्वती प्रेस' कायम किया। 1930 में 'हंस' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ। परन्तु इस प्रयास में उन्हें कभी सफलता न मिली तथा प्रेस और पत्रिका दोनों घाटे में चलीं। 'हंस' में प्रेमचन्द ने विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट किये। उनके सम्पादकीय निर्भीक और धारदार हुआ करते थे। 'महाजनी सभ्यता' नामक उनका प्रसिद्ध लेख भी 'हंस' में ही प्रकाशित हुआ था। अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में प्रेमचन्द ने अपनी राष्ट्रशक्ति, किसानों के प्रति लगाव तथा स्त्रियों और दलितों पर होने वाले अत्याचारों का विरोधकर अपनी प्रगतिशील चेतना का परिचय दिया है।

1.5 अभ्यास प्रश्न

1. "मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कही गढ़े तो हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खँडहरों का स्थान नहीं है।" इस कथन के आलोक में प्रेमचन्द के जीवन और व्यक्तित्व पर टिप्पणी कीजिए।

2. "यद्यपि बाहर से प्रेमचन्द का व्यक्तित्व बहुत सादा था, पर स्वाभिमान, देशप्रेम और क्रान्तिकारिता उनमें कूट-कूट कर भरी थी।" इस कथन का प्रेमचन्द के जीवन के आधार पर परीक्षण कीजिए।

3. " 'विचारधारा' से प्रेमचन्द को परहेज न था, पर वे किसी विचारधारा के अन्ध समर्थक नहीं थे।" इस कथन का तर्कपूर्ण परीक्षण कीजिए।

4. 'प्रेमचन्द अपने विचारों में अत्यन्त प्रगतिशील और मानवधर्मी थे।" इस कथन का विश्लेषण कीजिए।

इकाई 2 प्रेमचन्द का साहित्य

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 प्रेमचन्द का कथा साहित्य

2.2.1 उपन्यास

2.2.2 कहानी

2.3 प्रेमचन्द के नाटक

2.4 विविध साहित्य

2.4.1 जीवनी

2.4.2 बाल साहित्य

2.4.3 पत्र-साहित्य

2.4.4 अनूदित साहित्य

2.5 वैचारिक साहित्य

2.5.1 साहित्य विषयक निबन्ध और टिप्पणियाँ

2.5.2 साहित्येतर विषयक निबन्ध और टिप्पणियाँ

2.5.3 पत्रकारिता

2.6 सारांश

2.7 अभ्यास प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य छात्रों को प्रेमचन्द के समग्र साहित्य से परिचित कराना है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- प्रेमचन्द के उपन्यासों का परिचय दे सकेंगे;
- उनकी कहानियों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- उनके मौलिक और अनूदित नाटकों की चर्चा कर सकेंगे;
- उनके साहित्यिक लेखों और सम्पादकीय टिप्पणियों से अवगत हो सकेंगे;
- उनके साहित्येतर विषयक निबन्धों और टिप्पणियों के ज्ञान से समृद्ध होंगे; और
- उनके पत्रकार रूप से परिचित हो सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई इस पाठ्यक्रम की दूसरी इकाई है। किसी भी रचनाकार की साहित्यक उपलब्धियों के बोध और मूल्यांकन के लिए उसके समग्र साहित्य का सामाजिक सर्वेक्षण और विवेचन आवश्यक होता है। इसी उद्देश्य से यह इकाई लिखी गयी है। प्रेमचन्द ने सर्जनात्मक और विचारात्मक दोनों प्रकार के साहित्य का सृजन किया था। उन्होंने मुख्य रूप से उपन्यास और कहानी तथा गौण से घाटकों और

बाल-कथाओं की रचना की थी। अपने अनेक लेखों और सम्पादकीय टिप्पणियों में उन्होंने साहित्य विषयक प्रश्नों पर विचार किया था तथा लगभग सवा सौ पुस्तकों की समीक्षाएँ लिखी थीं। इसी प्रकार अपने अनेक लेखों और सम्पादकीय टिप्पणियों में उन्होंने तत्कालीन समाज, अर्थ-व्यवस्था, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और भारतीय संस्कृति से जुड़े प्रश्नों पर विचार किया था। उनका पत्र और जीवनी साहित्य भी उल्लेखनीय है तथा उन्होंने बाल-साहित्य की भी रचना की थी। उन्होंने दो पत्रों का सम्पादन भी किया था। इस प्रकार प्रेमचन्द का साहित्य बहुमुखी और वैविध्यपूर्ण है। इकाई के दूसरे भाग और अनुभागों में प्रेमचन्द के कथा साहित्य का परिचय और विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम उनके उपन्यास साहित्य का विवेचन किया गया है। प्रेमचन्द ने अपने आरम्भिक उपन्यास उर्दू में लिखे थे। बाद में उन्होंने हिन्दी में लिखना शुरू किया। कहानी-लेखन का आरम्भ भी उन्होंने उर्दू से ही किया था, पर बाद में हिन्दी में आ गये। कथा साहित्य के साथ-साथ प्रेमचन्द ने कुछ नाटक भी लिखे थे। इनका परिचय भी हमने इकाई में प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही प्रेमचन्द के विविध साहित्य तथा उनके वैचारिक साहित्य का परिचय भी दिया गया है।

2.2. प्रेमचन्द का कथा साहित्य

प्रेमचन्द के कथा साहित्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : उपन्यास और कहानी। पहले हम उपन्यास का विवरण प्रस्तुत करने जा रहे हैं।

2.2.1 उपन्यास

प्रेमचन्द ने उपन्यास उर्दू में भी लिखे हैं और हिन्दी में भी। आइए इनका अलग-अलग विवेचन करते हैं।

उर्दू उपन्यास

उपन्यासकार के रूप में प्रेमचन्द का हिन्दी में प्रवेश सेवासदन (1918) के साथ हुआ। इसके पूर्व वे उर्दू के प्रसिद्ध मआविद उर्फ देवस्थान रहस्य (1903-05), हमखुर्मा व हमसवाब (1906), किसना (1909) व रूबाइ-ए-ईसार (1912) आदि उपन्यास लिख चुके थे। हमखुर्मा व हमसवाब का स्वयं उन्हीं के द्वारा केया गया था। युगान्तर 1907 में प्रेमा अर्थात दो सखियों का विवाह शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। जलवए ईसार प्रेमचन्द का तीसरा उपन्यास था जो 1921 में हिन्दी में वरदान शीर्षक से प्रकाशित हुआ। प्रेमचन्द को हिन्दी में प्रतिष्ठित करने वाला पहला उपन्यास सेवासदन (1918) भी पहले उर्दू में ही, बाजारे हुस्न शीर्षक रखा गया था, पर उसका उर्दू रूप हिन्दी रूपान्तरण के बाद प्रकाशित हुआ। इसी आधार पर सेवासदन प्रेमचन्द का पहला 'हिन्दी' उपन्यास माना जाता है। प्रेमचन्द के प्रेमाश्रम (1922) और रंगभूमि (1925) में आने वाले बड़े आकार के उपन्यास भी पहले उर्दू में ही क्रमशः नाकाम/ नेकनाम/गोशए आफियत और पैमाने हस्ती नाम से लिखे गये थे, पर साथ-साथ उनके हिन्दी रूपान्तर भी स्वयं प्रेमचन्द के द्वारा ही उनके और उनके हिन्दी रूपों का ही पहले प्रकाशन हुआ। उर्दू रूप बाद में प्रकाशित हुए। प्रेमचन्द का हिन्दी में मूल रूप से लिखा पहला उपन्यास कायाकल्प (1926) था। उसके बाद उनके सारे उपन्यास पहले हिन्दी में ही रखे गये। इनके उर्दू अनुवाद भी हिन्दी संस्करणों के तुरन्त बाद प्रकाशित हुए थे।

प्रेमचन्द को इस बात का आभास था कि उन्हें हिन्दी पाठकों के बीच लोकप्रियता और उपन्यासकार/कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठा मिल सकती है। उनके मानस में उपन्यास के एक नये रूप की परिकल्पना थी, जो मुख्यत: यूरोपीय उपन्यासों पर आधारित थी। देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी आदि ने हिन्दी पाठकों का जो विशाल वर्ग तैयार किया था, वह अब ऐयारी-तिलिस्म, अपराध और विरह-मिलन की कथाओं की दुनिया से बाहर निकलना चाहता था। प्रेमचन्द ने अपने रचनात्मक कौशल से इस पाठक वर्ग को अपना पाठक बना लिया।

अपने प्रथम उपन्यास *सेवासदन* (1918) में प्रेमचन्द ने वेश्या जीवन से सम्बद्ध समस्याओं के चित्रण का प्रयास किया। हिन्दी-उर्दू में इसके पूर्व वेश्या जीवन पर कई उपन्यास लिखे जा चुके थे। उर्दू में मिर्जा हादी रुस्वा ने *उमराव जान अदा* (1899) नामक प्रसिद्ध उपन्यास लिखा था, जो वेश्या जीवन पर ही आधारित था। सम्भव है, प्रेमचन्द को वेश्या जीवन पर उपन्यास लिखने की प्रेरणा इससे मिली हो। हिन्दी में भी किशोरीलाल गोस्वामी, कुँवर हनुमन्त सिंह रघुवंशी, गिरिजानन्दन तिवारी, जयरामदास गुप्त, चन्द्रशेखर पाठक आदि ने वेश्या जीवन को अपने उपन्यासों का आधार बनाया था। सम्भव है, प्रेमचन्द ने गोस्वामी जी का उपन्यास *स्वर्गीय कुसुम* पढ़ा भी हो, क्योंकि उसमें और *सेवासदन* में यत्रतत्र अद्‌भुत साम्य दिखाई देता है, चाहे वह आकस्मिक ही क्यों न हो। पर प्रेमचन्द ने *सेवासदन* में वेश्या समस्या को रुस्वा और किशोरीलाल गोस्वामी दोनों से भिन्न कोण से प्रस्तुत किया है। उसके उर्दू शीर्षक *बाजारे हुस्न* को छोड़ कर *सेवासदन* शीर्षक का चुनाव भी संकेतपूर्ण है। *सेवासदन* में स्त्रियों के वेश्यावृत्ति अपनाने के मूल में तिलक-दहेज की प्रथा, पति द्वारा पत्नी की उपेक्षा, उसके प्रति अविश्वास और क्रूर व्यवहार तथा समाज की उपेक्षा और असहानुभूति को कारण माना गया है।

प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी उपन्यास में मध्यवर्ग का अंकन प्रमुख विषय के रूप में नहीं मिलता। यथार्थवादी/आदर्शवादी उपन्यास धारा में या तो जमीन्दार वर्ग या समृद्ध ब्राह्मण/व्यवसायी वर्ग का चित्रण ही प्रमुख है। इनके साथ मध्य वर्ग के गौण पात्र जरूर आते हैं, पर उपन्यासों में उनकी समस्याएँ भी गौण ही हैं। कृष्णचन्द्र, गजाधर, पद्‌म सिंह और मदन सिंह के परिवारों के चित्रण द्वारा प्रेमचन्द ने समकालीन मध्य वर्ग की आर्थिक स्थिति, मूल्य संकट, नैतिक दुर्बलता, वैचारिक ढुलमुलपन आदि का अपेक्षाकृत विस्तार पूर्वक और विश्वसनीय अंकन किया है।

सेवासदन के साथ हिन्दी उपन्यास के कथासंसार में एक जबरदस्त बदलाव आया। इसके पहले के उपन्यासों में, *बलवन्त भूमिहार* जैसे कुछेक अपवादों को छोड़ कर, या तो घटनाओं की बहुलता होती थी या प्रकृति, नारी सौन्दर्य, विरह, धार्मिक-नैतिक उपदेश आदि से सम्बन्धित वर्णनों की। *सेवासदन* से ऐसे उपन्यासों की परम्परा का आरम्भ होता है जिनमें घटनाओं का स्थान कार्यव्यापार ले लेते हैं। जब तक सामान्य प्रतीत होने वाले कार्यव्यापारों को उनके प्रेरक भावों से सम्बद्ध नहीं किया जाता उनमें रोचकता पैदा नहीं होती। भावनाओं से जुड़ जाने पर कार्यव्यापारों के मूल में निहित भावनाएँ ही पाठक की जिज्ञासा का विषय बन जाती हैं। *सेवासदन* में भावनाओं से परिचालित कार्यव्यापार ही उसके स्थापत्य की सामग्री हैं। 'घटनाएँ' *सेवासदन* में बिलकुल नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, पर अपने आगामी उपन्यासों में प्रेमचन्द की सतत कोशिश 'घटनाओं' से मुक्ति की रही है।

शिल्प की दृष्टि से *सेवासदन* में कोई नवीनता नहीं है। किस्सागोई और नाटकीयता, कथाओं का यौगपदिक संक्रमण और उनमें तर्कसंगत सम्बन्ध आदि *परीक्षा गुरु, चन्द्रकान्ता, बलवन्त भूमिहार* आदि की ही तरह *सेवासदन* में भी विद्यमान हैं। पूर्ववर्ती उपन्यासों से *सेवासदन* का एक अन्तर यह है कि किस्सागो अब पहले की तुलना में अप्रत्यक्ष हो गया है। प्रेमचन्द अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की तरह पाठकों को 'प्रिय पाठक', सहृदय पाठक', रसिक पाठक' आदि कह कर सम्बोधित नहीं करते। सेवासदन के शिल्प की दूसरी विशेषता यह है कि पाठक पहले की तुलना में पात्रों के मनोजगत में प्रवेश करने के अधिक अवसर प्राप्त करता है। अब कहानी के लिए उसे किस्सागो की सहायता की आवश्यकता नहीं रह जाती, बल्कि वह स्वयं ही कथा के साथ आगे-पीछे की यात्रा करता रहता है।

भाषा की दृष्टि से प्रेमचन्द के लेखन में अद्‌भुत परिवर्तन दिखाई पड़ता है। *असरारे मआबिद* में उनकी उर्दू फारसी गद्य से प्रभावित है, जिसमें तुकबन्दी के साथ-साथ अनावश्यक फैलाव भाषा को कृत्रिम बनाता है। पर *हमखुर्मा और हमसवाब* में वे सहज और स्वाभाविक गद्य पर उतर आते हैं। उसके

हिन्दी रूपान्तर *प्रेमा* की भाषा बिलकुल देवकीनन्दन खत्री की भाषा के निकट आ गयी है। *सेवासदन* की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें संस्कृत गद्यकाव्य परम्परा की अलंकृति का कोई भी अवशेष नहीं है। प्रेमचन्द की कथा-भाषा का आधारभूत आदर्श देवकीनन्दन खत्री की कथा-भाषा है, जिसे सर्जनात्मक स्तर प्रदान कर प्रेमचन्द ने औपन्यासिक भाषा में परिणत कर दिया है। प्रेमचन्द की औपन्यासिक भाषा देवकीनन्दन खत्री की भाषा का संस्कारित और सर्जनात्मक रूप है। यह गुण उन्हें विरासत के तौर पर उर्दू से मिला था। उर्दू के साहित्यिक संस्कार ने प्रेमचन्द को औपन्यासिक भाषा के आविष्कार का विवेक प्रदान किया था।

सेवासदन के बाद प्रेमचन्द ने *प्रेमाश्रम* (1922), *रंगभूमि* (1925), *कायाकल्प* (1926), *निर्मला* (1927), *गबन* (1931), *कर्मभूमि* (1932), *गोदान* (1936) आदि उपन्यासों की रचना की। इसी अवधि में उन्होंने अपने उर्दू उपन्यास *जलवए ईसार* का *वरदान* (1921) शीर्षक से अनुवाद और *प्रतिज्ञा* (1929) शीर्षक से *प्रेमा* (1907) का रूपान्तर भी प्रस्तुत किया। उनका अधूरा उपन्यास *मंगलसूत्र* भी उनके निधन के बाद (1948) प्रकाशित हुआ।

प्रेमाश्रम में प्रेमचन्द ने ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत किसानों और जमीन्दारों के सम्बन्धों का चित्रण किया है। इस काल की सबसे तीखी सच्चाई यह थी कि भारत एक विदेशी पूँजीवादी ताकत का उपनिवेश था जिसका एकमात्र लक्ष्य देश का आर्थिक शोषण करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्रिटिश सरकार को किसी भी हद तक मानवीय मूल्यों और अधिकारों की उपेक्षा तथा दमन और अत्याचार के किसी भी माध्यम का उपयोग करने में कोई हिचक न थी। इस आर्थिक शोषण में देश के प्राकृतिक साधनों और यहाँ की जनता के श्रम का शोषण प्रमुख था, जिसके लिए ब्रिटिश शासन ने प्रशासन तन्त्र, जमीन्दार वर्ग और साहूकार-महाजन समुदाय को अपना सहायक बना रखा था।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती और समकालीन उपन्यासकारों में देश की पराधीनता के यथार्थ का सही और तीखा बोध नहीं था। अधिकतर पूर्ववर्ती उपन्यासकार तो ब्रिटिश शासन का गुणगान ही कर रहे थे; और जिन्हें ब्रिटिश शासन की वास्तविकता का बोध हो चुका था, वे भी उसके आतंक और दमन से त्रस्त थे। वे अधिक से अधिक अपने उपन्यासों में ब्रिटिश शासन के द्वारा होने वाले आर्थिक शोषण, देशोन्नति, शिक्षा के प्रसार, उद्योग धन्धों और कृषि के विकास, सामाजिक सुधार, स्त्रियों की स्थिति में बदलाव आदि की बातें ही करते थे। जमीन्दारों द्वारा किसानों के शोषण और दमन, पुलिस विभाग की रिश्वतखोरी और अत्याचार, सरकारी अमलों में फैले भ्रष्टाचार आदि का चित्रण और यत्किंचित् आलोचना तो वे करते थे पर शासन का विरोध करने का साहस उनमें न था। प्रेमचन्द ने अपनी उर्दू कहानियों में, (*सोजे वतन*, 1908) राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्त करने की कोशिश की थी, जिसके लिए उन्हें सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा था। पर प्रेमचन्द के मानस में ब्रिटिश शासन के प्रति विरोध का भाव था जो अभिव्यक्त होने के लिए उपयुक्त समय की तलाश कर रहा था। *जलवए ईसार* में उन्होंने देशभक्ति को विषय के रूप में चुना, पर कथा में उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं हो पायी। *प्रेमाश्रम* और उसके बाद के उपन्यासों में प्रेमचन्द देश की पराधीनता के यथार्थ को उसके व्यापक आयामों और जटिलताओं के साथ प्रस्तुत करते हैं। देश की आजादी की समस्या प्रेमचन्द के लिए मात्र भावनात्मक अथवा राष्ट्रप्रेम की समस्या नहीं थी, वरन् वह देश के आर्थिक शोषण और दमन से जुड़ी हुई थी। प्रेमचन्द के उपन्यासों में समानान्तर चल रहे स्वाधीनता संग्राम का सीधा चित्रण बहुत कम मिलता है। इसका कारण प्रेमचन्द का जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण भी हो सकता है, पर औपनिवेशिक शासन के प्रति अपने विरोध भाव को व्यक्त करने में उन्होंने कोई समझौता नहीं किया है। ब्रिटिश शासन की शोषण-नीति से पैदा हुई किसानों की निर्धनता, उनकी दयनीय जीवन-स्थिति तथा अमानवीय परिस्थितियों का चित्रण वे *प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, कर्मभूमि, गोदान* आदि उपन्यासों में करते हैं। आर्थिक शोषण का एक, और सर्वप्रमुख, रूप यह था कि भूमिकर बहुत अधिक निर्धारित था और जमीन्दारों तथा सरकारी अमलों की सहायता से उसे निर्दयतापूर्वक वसूला जाता था। इसके फलस्वरूप किसान कर्ज में डूबे रहते थे और उनकी स्थायी सम्पत्ति धीरे-धीरे महाजनों और बड़े किसानों के कब्जे में होती जाती थी, जिससे वे किसान से कृषि-मजदूर तथा मिल मजदूर में बदलते जाते थे। जमीन्दारों और महाजनों को किसानों को लूटने की सारी सुविधाएँ सरकार से प्राप्त थीं। जमीन्दार केवल अपने कमीशन से ही सन्तोष नहीं करते थे, वरन् बेगारी, चन्दा, सगुन, डाँड़ आदि के रूप में अतिरिक्त भूमिकर वसूलते थे और सरकार उन पर कोई अंकुश नहीं लगाती थी। महाजनी के सम्बन्ध में भी सरकारी कानून महाजनों के अनुकूल थे। इस प्रकार जमीन्दार और महाजन तथा उनके माध्यम

से ब्रिटिश सरकार अबाध रूप से किसानों तथा किसान-मजदूरों का शोषण करती थी। प्रेमचन्द ने *प्रेमाश्रम, कायाकल्प, कर्मभूमि* और *गोदान* में इस शोषण का अत्यन्त यथार्थ, सजीव और रोमांचकारी अंकन किया है।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी इस तथ्य से अवगत है कि लगानबन्दी-आन्दोलन स्वाधीनता संग्राम का महत्वपूर्ण अंग था। प्रेमचन्द के उपन्यासों में किसानों के इस संघर्ष का चित्रण मिलता है। *प्रेमाश्रम, कायाकल्प* और *कर्मभूमि* के छोटे किसान और किसान-मजदूर, जमीन्दार द्वारा की गयी लगान-वृद्धि, बेगारी तथा फसल न होने पर भी लगान-वसूली का विरोध करते हैं और एकजुट होकर लड़ते हैं। जमीन्दारों से किसानों के इस संघर्ष में सरकार जमीन्दारों का साथ देती है। इन किसानों और कृषक मजदूरों के नेता गाँधीवादी हैं, पर किसान बीच-बीच में हिंसा पर उतारू हो जाते हैं। यह स्वाधीनता आन्दोलन की ऐतिहासिक सच्चाई है जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में विश्वसनीयता के साथ सुरक्षित है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध स्वाधीनता की लड़ाई का खुला चित्रण नहीं मिलता। उनकी कुछ कहानियों में स्वदेशी आन्दोलन, असहयोग, सविनय अवज्ञा, शराबबन्दी आदि आन्दोलनों का चित्रण अधिक प्रखर है, पर उनके उपन्यासों में इनका चित्रण अप्रत्यक्ष रूप में ही हो पाया है। *रंगभूमि, कायाकल्प* और *कर्मभूमि* में जो सेवा समितियाँ हैं उनका उद्देश्य सरकार का तख्ता पलटना नहीं, वरन् सामाजिक सुधार करना और जमीन्दारों तथा सरकारी कर्मचारियों से अनुनय विनय द्वारा किसानों की तकलीफों को दूर कराने का प्रयास करना है। सरकार इसे भी बर्दाश्त नहीं करती और अपना दमनचक्र चलाती है। प्रेमचन्द ने इस सरकारी दमन का प्रभावकारी चित्रण किया है। उन्होंने उन सभी लोगों की, विशेषकर शिक्षित वर्ग की, आलोचना की है जो अपने स्वार्थ के लिए सरकार का समर्थन और जनता का शोषण करते हैं। सरकार की जितनी भी संस्थाएँ हैं--शिक्षण संस्थाएँ, अदालतें, पुलिस-- सभी प्रेमचन्द की आलोचना का विषय बनी हैं। *कर्मभूमि* में अछूतों के मन्दिर-प्रवेश और निम्न वर्ग के लोगों के आवास की समस्या को तत्कालीन जनान्दोलन के चित्रण का बहाना बनाया गया है। अपने अन्तिम उपन्यास *गोदान* में प्रेमचन्द ने यह भी अनुभव किया है कि जब तक किसान संगठित नहीं होंगे तब तक वे सरकारी शोषण और दमन का प्रतिरोध नहीं कर सकेंगे। लेकिन इस अहसास को प्रेमचन्द अपने किसी भी उपन्यास में व्यापक, तर्कपूर्ण रचना-संसार में परिणत करने का प्रयास करते नहीं दीखते। प्रेमचन्द का सारा उपन्यास साहित्य ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के विरोध में खड़ा है। देशी राजाओं, ताल्लुकेदारों, महाजनों, पूँजीपतियों, सरकारी अमलों, अँगरेज-भक्त बुद्धिजीवियों, अँगरेजी शिक्षापद्धति, न्यायपालिका आदि का विरोध अन्ततः औपनिवेशिक शासन का ही विरोध था। इसके साथ ही किसानों, मजदूरों, दलितों, स्त्रियों, वेश्याओं, साम्प्रदायिकता के शिकार साधारणजनों आदि के प्रति गहरी सहानुभूति भी मुक्ति आन्दोलन का ही विस्तार था। प्रेमचन्द आजादी की समस्या के प्रति उदासीन न थे। बनारसी दास चतुर्वेदी को लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने स्पष्टतः अपने 'जीवन के बचे खुचे वर्षों' में ऐसे साहित्यसृजन की मंशा व्यक्त की थी जिसका 'उद्देश्य देश की आजादी हो'। 1921 ई. तक वे सरकारी नौकरी में थे, जिसकी अपनी सीमाएँ थीं। सरकारी नौकरी छोड़ने के तुरंत बाद उन्होंने जो उपन्यास (*रंगभूमि*) लिखा उसमें स्वाधीनता आन्दोलन का ही चित्रण है। यह सच है कि यह चित्रण अप्रत्यक्ष है, पर साहित्य के लिए समस्याओं का अप्रत्यक्ष अंकन दोष नहीं होता। *कायाकल्प, गबन,* और *कर्मभूमि* में कई प्रसंग हैं जो स्वाधीनता आन्दोलन से सीधे जुड़े हुए हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द ने सरकारी कोप से बचाव करते हुए भी आजादी की लड़ाई का, जो उस समय की सबसे बड़ी और तीखी सच्चाई थी, चित्रण अत्यन्त ईमानदारी के साथ किया है।

प्रेमचन्द ने समकालीन मध्यवर्गीय समाज को, जो अनेक प्रकार के अन्तर्विरोधों, तर्कहीन सामाजिक मान्यताओं तथा परम्परागत, रूढ़ नैतिक धारणाओं से ग्रस्त था, आलोचनात्मक दृष्टि से देखा, उसका अध्ययन- विश्लेषण किया तथा उसे अपने कथासंसार के माध्यम से प्रस्तुत किया। *सेवासदन* में ही प्रेमचन्द ने मध्य वर्ग के जीवन को अपने कथ्य में शामिल करना आरम्भ कर दिया था और *रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, गबन* आदि में इसका पर्याप्त विस्तार और गहराई के साथ अंकन किया। *सेवासदन* के कृष्णचन्द्र और पद्मसिंह शर्मा, *रंगभूमि* के ताहिर अली, *निर्मला* के उदयभानु लाल और मुंशी तोताराम, *गबन* के मुंशी दयानाथ और इन्दुभूषण आदि की समस्याएँ मध्यवर्गीय अन्तर्विरोधों की ही समस्याएँ हैं। *सेवासदन* के कृष्णचन्द्र ईमानदार दरोगा हैं और खा पी कर अपनी आमदनी बराबर कर देते हैं। पर बेटी का विवाह करने के लिए उन्हें अपनी ईमानदारी छोड़नी पड़ती है; एक मुकदमे

में वे रिश्वत लेते हैं और पकड़े जाते हैं। इस प्रकार उनकी समस्याएँ शुरू होती हैं। *निर्मला* के वकील साहब भी अपनी आय से ज्यादा खर्च करते हैं जिसके फलस्वरूप निर्मला के विवाह की समस्या पैदा होती है और अन्ततः उसका विवाह अधेड़ तोताराम से हो जाता है। मुंशी तोताराम भी मध्यवर्गीय नैतिक मूल्यों की असंगतियों से ग्रस्त हैं। *गबन* की तो पूरी समस्या मध्यवर्गीय अन्तर्विरोधों की समस्या है। इस तरह प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में मध्यवर्गीय यथार्थ का अत्यन्त प्रामाणिक अंकन किया है। उनके उपन्यासों के अधिकतर मध्यवर्गीय पात्र चारित्रिक दृष्टि से कमजोर हैं। यह भी मध्यवर्गीय वास्तविकता का द्योतक है। *सेवासदन* में पं. उमानाथ की पत्नी द्वारा कृष्णचन्द्र और उनके परिवार की उपेक्षा, *रंगभूमि* में ताहिर अली के परिवार में उनकी विमाताओं की कपट लीला, *कायाकल्प* में मुंशी वज्रधर की स्वार्थपरता और खुशामद, *निर्मला* में मुंशी तोताराम का अपने ही पुत्रों के प्रति टुच्चा रवैया और *कर्मभूमि* में अमरकान्त का चारित्रिक ढुलमुलपन तथा इस तरह के ढेरों प्रसंग और अनेक छोटी छोटी बातें तत्कालीन मध्य वर्ग की जिन्दगी की सच्ची तसवीरें हैं। यह सही है कि-प्रेमचन्द ग्रामीण जीवन-यथार्थ के चित्रण में अद्वितीय हैं, पर तत्कालीन मध्य वर्ग का भी वे उतनी ही सजीवता के साथ अंकन करते हैं।

भारतीय जीवन के यथार्थ का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष समाज और परिवार में नारी की स्थिति से सम्बन्धित है। भारतीय नवजागरण नारी की परम्परागत स्थिति में सुधार से अभिन्न रूप में जुड़ा हुआ था। प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती प्रबुद्ध उपन्यासकारों ने नारी-सुधार के प्रति अपनी प्रतिबद्धता का भरपूर परिचय दिया था। बल्कि यह कहना भी असंगत न होगा कि पूर्ववर्ती समाज-सम्बद्ध उपन्यासों में स्त्री-समस्या केन्द्रीय कथ्य, या उसके बहुत निकट, बना रहा। पर प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासकार नारी-सम्बन्धी परम्परागत दृष्टिकोण में किसी क्रान्तिकारी बदलाव के पक्षधर नहीं थे। अधिकतर कथाकार नारी विषयक परम्परागत आचार संहिता के समर्थक थे।

प्रेमचन्द के समय में भी नारी, विशेष कर मध्य और उच्च वर्ग की नारी, दोहरी दासता की शिकार थी। उसे न तो पारिवारिक सम्पत्ति में कोई हक था और न वह स्वतन्त्र रूप से अपनी जीविका अर्जित करने में समर्थ थी। प्रायः लड़कियाँ शिक्षा से वंचित थीं। स्त्री की जगह केवल गृहिणी के रूप में, घर में, थी या घर के बाहर वेश्या के कोठे पर। लड़कियों के विवाह के लिए तिलक-दहेज जुटाना अनिवार्य था और उनका विवाह होना भी जरूरी था। विवाह के पश्चात् समाज स्त्रियों के प्रति अत्यन्त कठोर रूप अपना लेता था। सामाजिक बन्धनों और स्वीकृत प्रथाओं के कारण स्त्री की जिन्दगी गुलामी का पर्याय थी। मातापिता अपनी कन्याओं का विवाह, तिलक-दहेज देने में असमर्थ होने के कारण, अयोग्य, निर्धन या बूढ़े व्यक्तियों से कर देते थे और लड़कियों की जिन्दगी नरक बन जाती थी। *सेवासदन* और *निर्मला* में प्रेमचन्द ने इस यथार्थ का अंकन मार्मिक और तल्ख रूप में किया है। *गबन* में, पति की मृत्यु के बाद रतन की दुर्दशा तत्कालीन समाज में विधवा की असहाय स्थिति का रोमांचकारी उदाहरण है। रंगभूमि में अभिजातवर्गीय इन्दु की विवश स्थिति यह सिद्ध करती है कि स्त्री, चाहे वह सम्पन्न वर्ग की ही क्यों न हो, दासता की जंजीरों में जकड़ी हुई थी।

प्रेमचन्द के नारी पात्र अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति बेचैन तो हैं, पर वे विद्रोह की दिशा में बहुत दूर तक नहीं जा पाते। वस्तुतः प्रेमचन्द अपने नारी विषयक विजन में अन्तर्विरोध के शिकार हैं। एक तरफ वे समाज में स्त्री की स्थिति के प्रति अत्यन्त संवेदनशील हैं, पर दूसरी तरफ नारी विषयक पुराने आदर्शों के प्रति उनका मोह भी कम नहीं है। सेवासदन की सुमन आरम्भ में कितनी तेजवान है, उसके मन में पुरुष समाज के प्रति विद्रोह की भावना भरी हुई है, पर अन्त में वह परम्परागत आदर्शों की बलि हो जाती है। सेवा *सदन* की शान्ता, *प्रेमाश्रम* की श्रद्धा और विद्या, *रंगभूमि* की इन्दु, *निर्मला* की निर्मला, *कर्मभूमि* की नैना आदि प्रेमचन्द के नारी-आदर्श की प्रतिमा मात्र हैं। *रंगभूमि* की सोफिया, *गबन* की जालपा, *कर्मभूमि* की सुखदा और *गोदान* की मालती जैसी सतेज और विद्रोहिणी स्त्रियाँ भी अन्ततः परम्परागत आदर्शों की शिकार हो जाती हैं। वैचारिक रूप में प्रेमचन्द नारी की सामाजिक स्थिति से नितान्त असन्तुष्ट थे। वे समाज में नारी की सम्मानपूर्ण स्थिति के पक्षधर थे। विधवा विवाह के प्रबल समर्थक ही नहीं थे, बल्कि स्वयं भी उन्होंने एक विधवा से विवाह किया था। आश्चर्य हो सकता है कि *प्रेमा* में (1907) विधवा विवाह का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण करने के बाद अपने परवर्ती उपन्यासों में वे प्रायः इससे बचते रहे। यहाँ तक कि *प्रेमा* के रूपान्तरण *प्रतिज्ञा* में उन्होंने विधवा विवाह वाले प्रसंग को निकाल दिया। पर *गोदान* में गोबर और झुनिया तथा सिलिया और मातादीन के विवाह के रूप में उन्होंने विधवा विवाह का ही नहीं, अन्तरजातीय विवाह का भी

चित्रण किया। इसमें गोबर और झुनिया के विवाह में तो कोई क्रान्तिकारिता नहीं है, पर सिलिया और मातादीन के विवाह में प्रेमचन्द एक सामाजिक क्रान्ति की ओर बढ़ते अवश्य दिखाई देते हैं।

1930 ई. में गाँधी जी ने स्त्रियों को विदेशी वस्तुओं की दूकानों, शराबघरों और सरकारी संस्थानों पर धरना देने के लिए सन्देश दिया। इस आह्वान पर हज़ारों स्त्रियों ने स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लिया और जेल गयीं। खुद प्रेमचन्द की पत्नी शिवरानी देवी भी जेल गयीं। इसका असर प्रेमचन्द के उपन्यासों के नारी पात्रों पर भी दिखाई देता है। *गबन* की जालपा के चरित्र का उत्तरार्ध इस नारी जागरण का संकेत देता है। *कर्मभूमि* में सुखदा हरिजनों के 'मन्दिर प्रवेश आन्दोलन' का नेतृत्व करती और जेल जाती है। सुखदा के अलावा सकीना, बुढ़िया पठानिन, रेणुका देवी, मुन्नी आदि ब्रिटिश सरकार का विरोध करती हुई जेल जाती हैं। नैना तो जुलूस का नेतृत्व करती हुई शहीद ही हो जाती है। इस तरह प्रेमचन्द के उपन्यासों में नारी त्याग और बलिदान की एक और मंजिल पार करती हुई दिखाई पड़ती है। *गोदान* की मालती देशसेवा और समाज सेवा के लिए विवाह न करने का व्रत लेती है। हिन्दी के किसी अन्य उपन्यासकार की रचना में भारतीय नारी का यह जाग्रत रूप नहीं दिखाई पड़ा था।

प्रेमचन्द के समय का एक दूसरा यथार्थ दलितों की सामाजिक स्थिति से सम्बद्ध था। महात्मा गाँधी ने मानवीय संवेदना की दृष्टि से ही नहीं, राजनीतिक व्यावहारिकता के तहत भी अछूतोद्धार आन्दोलन आरम्भ किया था। उन्होंने समाज व्यवस्था द्वारा अछूत करार दी गयी जातियों के लोगों को 'हरिजन' की संज्ञा देकर, उनके प्रति उच्च वर्ग की मानवीय सहानुभूति जगा कर और आन्दोलन छेड़ उनकी सामाजिक स्थिति को बदलने का प्रयास किया। उनके नेतृत्व में हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश का आन्दोलन भी सफल हुआ था। इस आन्दोलन का *कर्मभूमि* में चित्रण हुआ है। कर्मभूमि में सुखदा और शान्ति कुमार के नेतृत्व में हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश का आन्दोलन सफल होता है। इसी उपन्यास में अमरकान्त हरिजनों के गाँव में बस कर उनके सुधार के कार्यक्रम जारी करता है। उसके प्रयत्न से हरिजन अपने बच्चों को स्कूल भेजने में रुचि लेने लगते हैं, मृत पशुओं का मांस खाना तथा ताड़ी-शराब पीना छोड़ देते हैं। अपने अधिकारों के प्रति भी उनमें जागरूकता पैदा होती है। *गोदान* के हरिजन तो सिलिया के ब्राह्मण प्रेमी मातादीन को जबरदस्ती चमार बना कर अपनी विद्रोह भावना का साहसपूर्ण परिचय देते हैं।

प्रेमचन्द के समय का एक ज्वलन्त यथार्थ साम्प्रदायिक तनाव से जुड़ा हुआ था। अँगरेज शासक स्वाधीनता आन्दोलन को कमजोर करने के लिए हिन्दुओं-मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारने और उन्हें एक-दूसरे का विरोधी बनाए रखने की किसी प्रकार की भी कोशिश से बाज नहीं आते थे। कट्टरपन्थी धार्मिक नेताओं और अपना स्वार्थ साधने वाले बुर्जुआ वर्ग का हित भी इसी बात में था कि नासमझ हिन्दू और मुसलमान साम्प्रदायिक झगड़ों में उलझ कर अपनी वास्तविक समस्याओं को भूले रहें। इस मिलीभगत के फलस्वरूप 1925 के बाद भारत के विभिन्न भागों में अनेक साम्प्रदायिक दंगे हुए थे जिनमें हत्या, आगजनी, बलात्कार आदि की अमानवीय घटनाएँ घटीं। प्रेमचन्द ने समकालीन जीवन की इस सच्चाई का चित्रण अपने उपन्यासों में, विशेष रूप से, *कायाकल्प* में किया।

प्रेमचन्द साम्प्रदायिकता के कट्टर विरोधी थे। वे उस साम्प्रदायिक मानसिकता से बिलकुल मुक्त थे जो मुसलमानों को विदेशी और हिन्दूविरोधी समझती थी। उन्होंने हिन्दी उपन्यास को उस संकीर्ण विचारधारा से मुक्त करने का प्रयास किया जिसके तहत मुसलमान पात्रों को काले और हिन्दू पात्रों को सफेद रंगों में चित्रित किया जाता था। प्रेमचन्द समाज के जिस वर्ग में भी साम्प्रदायिकता, धार्मिक उन्माद और पाखंड देखते हैं उस पर निर्मम प्रहार करते हैं। इस प्रसंग में वे हिन्दू, मुसलमान या ईसाई, किसी के प्रति कोई रियायत नहीं करते। वे अपने लेखों और सम्पादकीय टिप्पणियों में उन सभी तत्वों की निन्दा करते हैं जो साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारने की कोशिश करते हैं। साम्प्रदायिक दंगों की वीभत्सता और वहशीपन का चित्र प्रस्तुत करने के साथ-साथ प्रेमचन्द उनके मूल कारणों का विश्लेषण भी करते हैं। वे दिखाते हैं कि इनके मूल में विशेष रूप से कट्टरपन्थी धार्मिक नेताओं, व्यवसायियों और शासन का हाथ होता है। प्रेमचन्द ऐसे लोगों को बेनकाब कर उनकी कुत्सित स्वार्थ वृत्ति का उद्घाटन करते हैं। इसके साथ ही उनके उपन्यासों के पात्र हिन्दू और मुसलमान होने के पहले मनुष्य होते हैं और संघर्ष को रोकने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देते हैं। *कायाकल्प* का चक्रधर ऐसा ही पात्र है। *कायाकल्प* का दूसरा पात्र ख्वाजा महमूद अपने हिन्दू मित्र की बेटी के लिए अपने बेटे तक को माफ नहीं करता। इस प्रकार के पात्रों की सृष्टि करके प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिक सच्चाई के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है।

प्रेमचन्द की आलोचना इस बात के लिए की गयी है कि उन्होंने अपने उपन्यासों में समस्याओं के आदर्शवादी और कृत्रिम समाधान प्रस्तुत किए हैं। यह आरोप कुछ दूर तक सही है। पर इसका कारण यह है कि उस समय उससे बेहतर विकल्प था ही नहीं। देश परतन्त्र था। जमीन्दार, महाजन, पूँजीपति और शिक्षित समुदाय शासन का सहायक था। आरम्भ में मार्क्सवादी दर्शन पर निर्मित समाज व्यवस्था का स्पष्ट स्वरूप प्रेमचन्द के सामने नहीं था। महात्मा गाँधी सत्याग्रह, हृदय परिवर्तन, आश्रमों की स्थापना आदि के द्वारा तत्कालीन समस्याओं का समाधान ढूँढ़ रहे थे। यदि इन सबका असर प्रेमचन्द के उपन्यासों पर है तो इसे अप्रत्याशित नहीं माना जा सकता। उल्लेखनीय है कि वे अपने अन्तिम उपन्यास *गोदान* में किसानों की समस्या का कोई अव्यावहारिक समाधान प्रस्तुत नहीं करते। वे यह तो मानते हैं कि किसान संघटित होकर ही अपने को शोषण से बचा सकते हैं, पर इस संघटन का कोई ठोस रूप सामने नहीं रखते। वे केवल किसानों का अन्तरंग यथार्थ चित्र प्रस्तुत करके, स्थान-स्थान पर उनकी समस्याओं का विश्लेषण करके अपने 'आलोचनात्मक यथार्थवादी' होने का परिचय देते हैं। *गोदान* के पूर्व के उपन्यासों में प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तुत समस्याओं के समाधान उनके युग के अन्तर्विरोधों की देन हैं।

यद्यपि प्रेमचन्द का प्रमुख लक्ष्य समकालीन जीवन को, उसकी समस्याओं और संघर्षों के साथ प्रस्तुत करना है, पर जिस मानव समूह को वे अपने कथ्य का माध्यम बनाते हैं, उसे उसकी पूरी वास्तविकता और अन्तरंगता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास भी करते हैं। प्रेमचन्द के कथासंसार में नाना प्रकार के सैकड़ों पात्र हैं जो वास्तविक व्यक्तियों की तरह जीते, अनुभव करते, सोचते और आचरण करते हैं। 'असाधारण' शक्तिसम्पन्न पात्रों का प्रेमचन्द के कथासंसार में एकदम अभाव नहीं है, पर उनकी संख्या अधिक नहीं है और वे अधिकतर उनके आरम्भिक उपन्यासों में हैं। प्रेमचन्द के कथासंसार की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उसमें से 'नायक' निरन्तर अपदस्थ होता गया है। *रंगभूमि* और *गोदान* इसके उदाहरण हैं। *रंगभूमि* का केन्द्रीय पात्र सूरदास अन्धा, अनपढ़, भिखारी और दलित वर्ग का है। उसमें परम्परागत नायक की छवि नहीं तलाशी जा सकती। *गोदान* का होरी तो एक कदम और आगे बढ़ जाता है। सूरदास जन्मना नहीं तो कर्मणा अवश्य 'महान्' है, पर होरी तो जन्मना और कर्मणा दोनों दृष्टियों से अति 'साधारण' है। उपन्यास में नायक के टूटने या उसे तोड़ने का आरम्भ प्रेमचन्द से ही होता है।

प्रेमचन्द स्वयं अपने उपन्यासों को 'चरित्र प्रधान' नहीं मानते थे, क्योंकि उन्होंने आशा व्यक्त की थी कि भावी उपन्यास 'चरित्र प्रधान' होगा। पर चरित्रों के निर्माण में प्रेमचन्द ने जिस संवेदनशीलता और मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है वह उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों में अपवाद स्वरूप ही दिखाई पड़ता है। प्रेमचन्द के अनेक पात्र भी, पूर्ववर्ती उपन्यासों की तरह, आदर्शों की बलि चढ़ जाते हैं, पर होरी के रूप में उन्होंने कम से कम एक पात्र ऐसा अवश्य गढ़ा है, जो यथार्थ है। होरी के अतिरिक्त प्रेमचन्द के उपन्यासों में दर्जनों ऐसे पात्र हैं जो पाठक को चकित-विस्मित और आकृष्ट करते हैं। वस्तुत: प्रेमचन्द हिन्दी के पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने विश्वसनीय और पाठकों को आत्मीय लगने वाले पात्रों का संसार खड़ा कर दिया।

हिन्दी उपन्यास के इतिहास में प्रेमचन्द की **शिल्पविषयक** उल्लेखनीय उपलब्धि यह है कि उन्होंने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की तरह पाठकों को सम्बोधित करने की परम्परा का परित्याग कर दिया। वे अपने उपन्यासों में पाठकों के साथ विद्यमान तो अवश्य रहते हैं, पर उनकी उपस्थिति अप्रत्यक्ष हो जाती है। अपने पूरे उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द दो एक स्थानों पर ही प्रत्यक्ष रूप में अपनी उपस्थिति जाहिर करते दिखाई देते हैं। पाठक किस्सागो, वर्णनकर्ता और सलाहकार के रूप में उनकी उपस्थिति का अनुभव तो करता है पर पूर्ववर्ती कथाकारों की तरह बार-बार अपने को सम्बोधित होते नहीं पाता। यह उपन्यास से किस्सागो की विदाई का आरम्भ था।

प्रेमचन्द ने **कथाप्रस्तुति की दृश्यात्मक-परिदृश्यात्मक प्रविधि को** अपने उपन्यासों में, विशेष कर *गोदान* में, शिखर पर पहुँचा दिया। पूर्ववर्ती उपन्यासों में दृश्यात्मक प्रविधि पात्रों के वार्तालाप तक सीमित थी। प्रेमचन्द ने *गोदान* में उसे घने नाटकीय प्रभाव से युक्त कर दिया। परिदृश्यात्मक प्रविधि यों तो किस्सागोई का ही विकसित रूप है, पर इसमें किस्सागो अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है और कथा 'कही' न जाकर 'प्रस्तुत' की जाती है। पाठक अनुभव करता है कि वह किसी ऊँचे स्थान पर अवस्थित होकर पात्रों के साथ घटित होने वाले कार्यव्यापार को देख' और अनुभव कर रहा है। उपन्यास में व्यक्त किए गए विचार भी वह सीधे पात्रों के मस्तिष्क से प्राप्त करता है। संवेदनाएँ पात्रों के हृदय से सीधे पाठक के

हृदय में संचारित होती हैं। इस प्रकार कथासंसार और पाठक के बीच उपन्यासकार की उपस्थिति नितान्त अप्रत्यक्ष हो जाती है। लिखित शब्द किस्सागो को पूरी तरह से अपदस्थ कर देता है। कहा जा सकता है कि इस अभ्यास में प्रेमचन्द को पूरी सफलता नहीं मिली है; उनका किस्सागो, वर्णनकर्ता और विचारक बार-बार सामने आ ही जाता है। पर अपने अन्तिम उपन्यास *गोदान* में प्रेमचन्द काफी दूर तक किस्सागो से पिंड छुड़ा लेते हैं।

हिन्दी उपन्यास में प्रेमचन्द के आगमन तक कथानक का सुगठित होना उसकी श्रेष्ठता की कसौटी थी। *सेवासदन* में भी प्रेमचन्द के सामने यह कसौटी थी। पर प्रेमचन्द ने जल्द ही यह अनुभव कर लिया कि सुगठित कथानक उपन्यास का एकमात्र या सबसे बड़ा लक्ष्य नहीं हो सकता। मनोरंजन प्रधान कथापुस्तकों के लिए सुगठित कथानक अनिवार्य हो सकता है, पर उपन्यास की संरचना के लिए, जिसमें जीवन का वैविध्य और व्यापकता अपेक्षित है, सुगठित कथानक अपरिहार्य नहीं होता। इसके उदाहरण तोल्सतोय के उपन्यास हैं। प्रेमचन्द भी *सेवासदन* के बाद से ही कथानक को ढीला करने का प्रयोग आरम्भ कर देते हैं। *प्रेमाश्रम* में इसकी झलक देखी जा सकती है, पर *रंगभूमि, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि* और *गोदान* में कथानक को शिथिल करने का प्रयास स्पष्ट लक्षित होता है। *गोदान* में तो ग्राम और नगर कथाएँ एक दूसरे से प्राय: असम्बद्ध ही नहीं, समानान्तर रूप से अग्रसर होती हैं और प्रेमचन्द उन्हें जोड़ने का प्रयास नहीं करते। वस्तुत: शिल्प विषय का अनुवर्ती होता है और उसकी सार्थकता उपन्यास के विजन के अनुरूप होने में है। प्रेमचन्द ने इस रचना-व्याकरण को समझा था और इस दिशा में प्रयोग किए थे। इसीलिए *गोदान* में कथानक की पूर्णता और गठन के लिए न तो विषय या पात्रों को विकृत किया गया है, न ही, उपन्यास की संरचना की उपेक्षा की गयी है। *गोदान* में प्रेमचन्द ने दृश्यात्मक और परिदृश्यात्मक प्रविधियों को उनके उत्कर्ष पर पहुँचाते हुए उन्हें नाटकीय प्रविधियों से--पात्रों के स्वगतालाप, अतीत का स्मरण, दृश्यों की पात्रों के मन:प्रभाव के रूप में प्रस्तुति, उपचेतन के छायादृश्य-- संवर्द्धित कर अत्यन्त प्रभावशाली बना दिया है।

प्रेमचन्द की कथा-भाषा हिन्दी उपन्यास की भाषिक परम्परा का सहज, पर सर्जनात्मक विकास है। जैसा हम देख चुके हैं, प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी उपन्यास में दो तरह की भाषिक शैलियाँ प्रचलित थीं। इनमें से एक भाषा शैली संस्कृत गद्यकाव्य का अनुकरण करती थी और दूसरी बोलचाल की भाषा का। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के लिए बोलचाल की गद्य शैली ग्रहण की। यह भाषा जनता के बीच से सीधे उठा ली गयी थी, जिसे तराश कर उन्होंने हीरे की तरह चमकदार बना दिया। जनभाषा के शब्द, मुहावरे, लहजे आदि प्रेमचन्द की कथाभाषा में एक नये तरह की चमक पैदा करते हैं। यह भाषा सरल होने पर भी देवकीनन्दन खत्री की भाषा से इस अर्थ में भिन्न है कि यह सहज स्वाभाविक है, जबकि खत्री जी की भाषा सायास सहज बनायी हुई भाषा है। उर्दू में कहानियाँ और उपन्यास लिखने के अभ्यास ने उन्हें भाषिक सर्जनात्मकता की दिशा में अग्रसर कर दिया था। प्रेमचन्द ने देवकीनन्दन खत्री से बोलचाल की भाषा और उर्दू से सर्जनात्मक भाषा लेकर अपनी कथा-भाषा का निर्माण किया था। पर उनकी भाषिक सर्जनशीलता की जड़ें आम जनता की सजीव भाषिक परम्परा में ही हैं, इसीलिए उनमें हद दर्जे की मौलिकता और ताजगी है।

प्रेमचन्द अपने कथासंसार को सजीव बनाने के लिए भाषा का प्रयोग बहुत सावधानी से करते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों का अध्ययन करते समय आप यह अनुभव करेंगे कि शिक्षा-दीक्षा, आर्थिक-सामाजिक स्थिति या मन:स्थिति के अनुसार जिस पात्र को जैसी भाषा बोलनी चाहिए उससे वे वैसी ही भाषा का प्रयोग कराते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रेमचन्द के पात्र औसत ग्रामीणों या नगरभाषियों की भाषा बोलते हैं। वस्तुत: प्रेमचन्द के ग्रामीण या नागरिक पात्र औसत नहीं, बल्कि प्रारूपिक भाषा का--अर्थात् वे पात्र जो सर्वोत्तम भाषा बोल सकते हैं-- प्रयोग करते हैं। यह भाषा सर्जनात्मक सम्भावनाओं से भरी होती है, केवल उसका बाहरी कलेवर यथार्थवादी होता है। इस भाषा में शब्द और अर्थ का सर्वोत्तम सामंजस्य, अर्थों की सांकेतिक सम्भावनाएँ, लक्षणा और व्यंजना की समृद्धि, शैलीय उपकरणों का सार्थक प्रयोग, बिम्बनिर्माण की क्षमता आदि मिल कर एक अद्भुत प्रभाव पैदा कर देते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कथ्य-वैविध्य, विजन, चरित्रसृष्टि, शिल्प और भाषा सभी दृष्टियों से प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को एक ऐसी ऊँचाई पर पहुँचा दिया जो आज भी एक मंजिल और मानदंड के रूप में स्वीकृत है।

2.2.2 कहानी

प्रेमचन्द की प्रकाशित कहानियों की संख्या तीन सौ से ऊपर है। डा. कमलकिशोर गोयनका ने प्रेमचन्द की 292 हिन्दी कहानियों की एक सूची *प्रेमचन्द विश्वकोश*, खंड-2 में दी है। इसके साथ ही उन्होंने 228 उर्दू कहानियों की एक सूची भी दी है। इन दोनों सूचियों की बहुत सी कहानियाँ समान हैं। आइए, सबसे पहले हम प्रेमचन्द की उर्दू कहानियों की चर्चा करें।

उर्दू कहानियाँ

1908 से 1915 के बीच प्रेमचन्द की लगभग चालीस कहानियाँ उर्दू में प्रकाशित हुईं। इन कहानियों के तीन संकलन, *सोज़े वतन* (1908) तथा *प्रेमपचीसी, भाग-1* (1914) और *भाग-2* (1918) भी प्रकाशित हुए। कथ्य की दृष्टि से ये कहानियाँ दो प्रकार की हैं। *सोज़े वतन* की कहानियों में देशप्रेम का भाव प्रमुख है, जिसके चलते सरकार ने उसे जब्त कर लिया था। 'विक्रमादित्य का तेगा', 'रानी सारन्धा', 'राजा हरदौल', 'आल्हा' 'राजहठ', बाँका जमीन्दार' आदि कहानियाँ भी देशप्रेम के भाव को ही परोक्ष रूप में अभिव्यक्त करती हैं। इनमें अतीत भारत के राजपुरुषों की वीरता, त्याग, आत्मबलिदान, सत्यनिष्ठा आदि का गुणगान किया गया है, जिसका उद्देश्य भारतीयों में इन भावों को जगाना है। दूसरी कोटि की कहानियाँ वे हैं जिनमें मध्यवर्गीय संयुक्त परिवारों की परिस्थितियों और समस्याओं, पति-पत्नी सम्बन्धों, मानवीय मूल्यों, समाज में प्रचलित पूजा-अर्चना के पाखंडों, धार्मिक संकीर्णताओं आदि का अंकन किया गया है। इन कहानियों में 'ममता', 'बड़े घर की बेटी', 'नमक का दारोगा', 'अमावस की रात', 'मनावन', 'अन्धेर', 'खून सफेद', आदि उल्लेखनीय हैं। 'सिर्फ एक आवाज' अछूतोद्धार विषयक कहानी है, जिसमें प्रेमचन्द की दलित-संवेदना व्यक्त हुई है। 'शिकारी राजकुमार' में समाज के अत्याचारियों, धार्मिक पाखंडियों और रिश्वतखोर अमलों के प्रति लेखक का आक्रोश भाव व्यक्त हुआ है। इन कहानियों में प्राय: ही अत्याचारी और मार्गभ्रष्ट पात्रों का हृदयपरिवर्तन दिखाया गया है अथवा उन्हें दैवी न्याय दिलाया गया है, जो प्रेमचन्द की मानवीय मूल्यों में आस्था का परिचायक है। कथा तत्व की प्रमुखता और संयोगाधृत घटनाओं की बहुलता इन कहानियों में प्राय: दिखाई पड़ती है, जो लेखक की अपरिपक्वता का परिचायक है। पर, इसके साथ ही, पात्रों के कार्यकलापों को उनकी मानसिक प्रेरणा से सम्पृत कर प्रेमचन्द कहानी में मनोविज्ञान का प्रवेश कराने में भी सफल हुए हैं।

हिन्दी कहानियाँ

दिसम्बर, 1915 में प्रेमचन्द की पहली हिन्दी कहानी 'सौत' प्रकाशित हुई। इस कहानी के साथ प्रेमचन्द की कहानी-कला में एक गुणात्मक परिवर्तन भी होता दिखाई पड़ता है। यों प्रेमचन्द की इसके पहले की कहानियों में भी पात्रों के मनोभावों का अंकन हुआ है, पर 'सौत' में बदलती हुई परिस्थितियों में सपत्नियों के ईर्ष्या-द्वेष का मनोवैज्ञानिक अंकन बेजोड़ है। प्रेमचन्द की रचना-यात्रा में 1916-1929 का काल विषय-वैविध्य, सामाजिक चेतना, मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और कहानी-कला के विकास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। इस अवधि में उन्होंने लगभग 200 कहानियाँ लिखीं, जिनमें समकालीन सामाजिक और राजनीतिक जीवन के अनेक पक्ष उद्घाटित हुए हैं। 15 फरवरी, 1921 ई. का दिन उनके जीवन का ही नहीं, साहित्य-रचना का भी एक महत्त्वपूर्ण दिन है। इसी दिन उन्होंने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दिया था। औपनिवेशिक शासन की सेवा में रहकर प्रेमचन्द के लिए अपने भावों और विचारों को खुल कर अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं था। 1921 के पूर्व लिखित कहानियों में यह बात साफ तौर पर दिखाई देती है। 1916-1920 अवधि में प्रकाशित उनकी कहानियों में राजनीतिक स्वर बहुत मन्द है। अधिकतर कहानियाँ ग्रामीण जीवन के पारिवारिक सम्बन्धों, मूल्य-बोध और आदर्श प्रस्तुत करने की भावना से जुड़ी हुई हैं। **ईश्वरीय न्याय, सज्जनता का दंड, पंच परमेश्वर, घमंड का पुतला, दो भाई, महातीर्थ, दुर्गा का मन्दिर, बेटी का धन, बैंक का दिवाला, आत्माराम, गृहदाह, बूढ़ी काकी, विध्वंस** आदि कहानियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इन कहानियों में औपनिवेशिक ग्रामीण जीवन के बहुत यथार्थ चित्र उपलब्ध होते हैं। भारतीय मूल्यों में लेखक की आस्था के प्रमाण इन कहानियों में सर्वत्र मिलते हैं। यह आस्था प्रेमचन्द के समकालीन ग्रामीण जीवन से अन्तरंग जुड़ाव के कारण है। इसी कारण इनमें पात्रों के हृदय-परिवर्तन के प्रसंग बार-बार आते हैं, जिसे कुछ आलोचक प्रेमचन्द की कहानी-कला की दुर्बलता मानते हैं।

यद्यपि 1921 के पहलें की कुछ कहानियों में भी प्रेमचन्द का देशप्रेम का भाव अभिव्यक्त हुआ है, पर वह बहुत दबा-दबा सा है और प्राय: इतर प्रसंगों के नीचे दबा दिया गया है। उदाहरण के लिए **'उपदेश' (1917), सेवामार्ग (1919), मृत्यु के पीछे (1920), पशु से मनुष्य (1920)** आदि कहानियों को देखा जा सकता है। पर 1921 ई. में और उसके बाद प्रकाशित कहानियों में प्रेमचन्द के देशप्रेम का ही नहीं, उस समय चल रहे स्वाधीनता आन्दोलन का भी बहुत खुल कर चित्रण हुआ है। इस दृष्टि से **अजीब होली, लागडाट, दुस्साहस, आदर्श विरोध, त्यागी का प्रेम, लाल फीता, सुहाग की साड़ी, हार की जीत, स्वत्व-रक्षा, अधिकार-चिन्ता, चकमा, बौड़म, सत्याग्रह, इस्तीफा, माँ** आदि कहानियाँ द्रष्टव्य हैं।

भारतीय नारी की दुर्भाग्यपूर्ण नियति से प्रेमचन्द आरम्भ से ही आन्दोलित थे। इसकी बड़ी सशक्त अभिव्यक्ति उनके *सेवासदन* उपन्यास में हो चुकी थी। 1923-25 में महिला-पत्रिका चाँद में प्रकाशित उनकी लगभग डेढ़ दर्जन कहानियों में, जो *प्रेम प्रमोद* शीर्षक संग्रह (1926) में भी प्रकाशित हुई थीं, समकालीन नारी की दयनीय स्थिति के बड़े सजीव चित्र उपलब्ध होते हैं। **परीक्षा, तेंतर, नैराश्य, निर्वासन, उद्धार, स्त्री और पुरुष, नरक का मार्ग, एक आँच की कसर, स्वर्ग की देवी, धिक्कार, शूद्रा** आदि कहानियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। पर इन कहानियों में नारी के प्रति प्रेमचन्द की करुणा ही व्यक्त हुई है, विद्रोह नहीं। वस्तुत: प्रेमचन्द नारी की दशा से व्यथित तो थे, पर परम्परागत नारी संहिता के प्रति उनका मोहभंग नहीं हुआ था।

साम्प्रदायिक भेदभाव मुक्त सह-जीवन प्रेमचन्द की मूल्य-चेतना का अभिन्न अंग था। उनकी अनेक कहानियों में मुस्लिम समाज के पात्र सहज रूप में हिन्दू पात्रों के साथ अन्तरक्रिया करते हैं। **नमक का दारोगा, पंचपरमेश्वर वर, दफ्तरी, डिक्री के रुपये, तांगेवाले की बड़** आदि इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द शुद्धि आन्दोलन के कट्टर विरोधी थे, चाहे वह हिन्दू कट्टरपन्थियों की तरफ से हो या मुस्लिम कट्टरपन्थियों की तरफ से। उनकी **मन्त्र, हिंसा परमोधर्म: और जिहाद** शीर्षक कहानियों में धार्मिक उन्माद के तहत किए जाने वाले धर्म-परिवर्तन का चित्रण और विरोध किया गया है।

इस अवधि में प्रेमचन्द ने ऐतिहासिक परिवेश, घटनाओं और किंवदन्तियों पर आधारित कुछ कहानियाँ भी लिखीं, जिनमें **परीक्षा** (1923) और **शतरंज के खिलाड़ी** (1924) बहुत अच्छी कहानियाँ हैं। इनमें कथा रोचक होते हुए भी गौण और उसके भीतर निहित संदेश और संवेदना प्रधान है। **धोखा, जुगनू की चमक, वफा का खंजर, राज्य-भक्त, परीक्षा, फातिहा** आदि ऐतिहासिक प्रसंगों पर आधारित साधारण कहानियाँ हैं।

समकालीन जीवन पर आधारित 1921-29 ई. की अवधि की कहानियों में **विध्वंस, गुप्त धन, मूठ, लोकमत का सम्मान, गृहदाह, बैर का अन्त, मुक्ति मार्ग, शंखनाद, निमन्त्रण, कजाकी, बाबाजी का भोग, रामलीला, मन्दिर, सुजान भगत, मन्त्र, प्रेम की होली, सवा सेर गेहूँ, अलग्योझा, घासवाली** आदि कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। इन कहानियों में प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना का प्रखर रूप दिखाई पड़ता है। 'मन्दिर' (1927) और 'घासवाली' (1929) दलितों के शोषण पर आधारित बहुत अच्छी कहानियाँ हैं। 'बाबाजी का भोग' और 'सवा सेर गेहूँ' में धार्मिक शोषण का तीखा बोध व्यक्त हुआ है। 'कजाकी' और 'सुजान भगत' उच्च कोटि की चरित्रप्रधान कहानियाँ हैं। 'प्रेम की होली' प्रेम संवेदना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से एक सफल कहानी है।

संवेदना और शिल्प की दृष्टि से 1930-36 की अवधि में प्रकाशित प्रेमचन्द की कहानियाँ हिन्दी कहानी-साहित्य में विशेष महत्त्व रखती हैं। पहले की कहानियों से इस काल की कहानियों का एक अन्तर यह है कि पहले की अच्छी कहानियाँ उँगलियों पर गिनी जा सकती हैं, जबकि इस काल की साधारण कहानियों को गिनने के लिए उँगुलियों की जरूरत पड़ेगी। कथ्य की दृष्टि से इस काल की कहानियाँ समकालीन जीवन के अनेक पक्षों से गहराई के साथ जुड़ी हुई हैं। यह वह दौर है, जब स्वाधीनता की लड़ाई अपने पूरे जोर पर थी। **जुलूस, पत्नी से पति, समर यात्रा, शराब की दूकान, मैकू, आहुति, कौम का खादिम, जेल, होली का उपहार, आखिरी तोहफा, तावान, कातिल** (सभी 1930-31 में प्रकाशित), **कुत्सा, अनुभव** (1932) आदि कहानियों में प्रेमचन्द ने देशप्रेम की चेतना को सर्जनात्मक उपलब्धि प्रदान करने में सफलता प्राप्त की है। इस काल की प्रेमचन्द की कहानियों की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता आदर्शवाद से मुक्ति है। **पूस की रात** (1930), **सद्गति** (1931),

ठाकुर का कुआँ (1932), ईदगाह (1933), नशा, दूध का दाम (1934), कफन (1935), लॉटरी (1935), जुरमाना (1936) आदि तो हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक महत्व की कहानियाँ हैं। इन कहानियों में आदर्श का स्थान यथार्थ ने, विचारों का स्थान संवेदनाओं ने और घटनाओं का स्थान रोजमर्रा के कार्यव्यापारों ने ले लिया है। कुछ कहानियों में मूल्यों के प्रति प्रेमचन्द की आस्था तो पहले की तरह ही दिखाई पड़ती है, पर उन पर कोई आदर्श चस्पाँ नहीं किया गया है। इनमें सामाजिक रूढ़ियों की आलोचना की गयी है, श्रम और चरित्र का महत्त्व दिखाया गया है, समाज में नारी की स्थिति और उसके शोषण पर प्रकाश डाला गया है, ग्रामीण मध्यवर्गीय जीवन का प्रामाणिक चित्रण किया गया है, मालिकों के साथ मजदूरों का संघर्ष दिखाया गया है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप में समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं किया गया है। **दो कब्रें, सुभागी, आखिरी हीला, प्रेम का उदय, स्वामिनी, मृतक भोज, नेउर, दो बैलों की कथा, लेखक, सौत, सती, बेटों वाली विधवा, झाँकी, कुसुम, गुल्ली डंडा, कायर, ज्योति, बड़े भाई साहब, तथ्य** आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं।

2.3 प्रेमचन्द के नाटक

उपन्यास और कहानी के अतिरिक्त प्रेमचन्द ने तीन नाटक भी लिखे। यह एक रोचक तथ्य है कि प्रेमचन्द के लेखन का आरम्भ एक नाटक से हुआ। तब प्रेमचन्द की उम्र लगभग 13 वर्ष की थी। उर्दू अफसाने पढ़ने का चस्का तो लग ही चुका था, रामलीला देखने का शौक भी कम न था।

प्रेमचन्द का पहला नाटक *संग्राम* था, जो 1923 ई. में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद उनके दो और नाटक प्रकाशित हुए : *कर्बला* (1924) और *प्रेम की बेदी* (1933)। *संग्राम* गाँव में किसान और जमीन्दार के सम्बन्धों पर आधारित एक सामान्य कोटि का नाटक है। जमीन्दार ठाकुर सबल सिंह गाँव के एक किसान हलधर की पत्नी राजेश्वरी को देखकर उस पर आसक्त हो जाता है और उसे हस्तगत करने के लिए उसके पति हलधर को एक षड्यन्त्र के जरिए जेल भिजवा देता है। इस पर राजेश्वरी प्रतिशोध की भावना से भर कर जमीन्दार को मटियामेट कर देने का संकल्प करती है। वह जमीन्दार का प्रस्ताव मान लेती है और उसके द्वारा उपलब्ध करायी गयी हवेली में रहने लगती है। पर यह रहस्य अधिक दिनों तक गोपनीय नहीं रह पाता और सबल सिंह का छोटा भाई भी राजेश्वरी का आशिक हो जाता है। इस पर सबल सिंह अपने भाई की हत्या का षड्यन्त्र रचता है। उधर अपने ग्रामीण भाइयों की सहायता से हलधर जेल से छूट कर आ जाता है और जमीन्दार तथा पत्नी दोनों से बदला लेने के लिए डाकू बन जाता है। कंचन सिंह अपराध-बोध से अशान्त होकर आत्महत्या का प्रयत्न करता है। सबल सिंह भी अपने भाई की मृत्यु का समाचार पाकर आत्महत्या करने की कोशिश करता है। हलधर दोनों की प्राणरक्षा करता है। सबल सिंह की पत्नी आत्महत्या कर लेती है और सबल सिंह जीवन से उदासीन होकर तीर्थयात्रा के लिए निकल जाता है। हलधर को भी अपनी पत्नी की सच्चरित्रता का प्रमाण मिल जाता है और दोनों साथ रहने लगते हैं। सबल सिंह के तीर्थयात्रा पर निकल जाने के बाद जमीन्दारी प्रथा की समाप्ति और जमीन पर किसानों के स्वामित्व की घोषणा से नाटक की सुखमय समाप्ति होती है।

संग्राम में घटनाओं की बहुलता, संयोगों की भरमार और कथा को मनमाना मोड़ देने की प्रवृत्ति बहुत प्रबल है। इस कारण इसमें 'नाटकीय तनाव' का अभाव है। औपनिवेशिक भारतीय किसान के उद्धार की अभिलक्षित सोच नाटक को अविश्वसनीय भी बनाती है। *प्रेमाश्रम* की तरह जमीन्दारों के हृदय-परिवर्तन पर प्रेमचन्द का विश्वास *संग्राम* में भी परिलक्षित होता है।

कर्बला इस्लाम के इतिहास की एक क्रूर और करुण घटना पर आधारित नाटक है। इस नाटक का उद्देश्य भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सद्भाव पैदा करना था। प्रेमचन्द ने इस नाटक को 'ऐतिहासिक' बताते हुए स्पष्ट किया था कि कर्बला के संग्राम में हिन्दू योद्धाओं ने भी हज़रत हुसैन के पक्ष में प्राणोत्सर्ग किये थे। प्रेमचन्द को विश्वास था कि हिन्दू पात्रों के समावेश से हिन्दुओं को भी प्रसन्नता होगी और मुसलमान भी तुष्ट होंगे। पर ऐसा नहीं हुआ। रामचन्द्र टंडन ने *कर्बला* की आलोचना करते हुए उसमें हिन्दू पात्रों के समावेश पर आपत्ति की और मुस्लिम आलोचकों ने भी *कर्बला* का विरोध किया। मुंशी दयानरायन निगम ने अपने 'मुस्लिम दोस्तों के सख्त एतराज' के कारण *कर्बला* को 'जमाना' में प्रकाशित करने से इनकार कर दिया। स्पष्टतः प्रेमचन्द को इससे गहरी चोट पहुँची थी। उन्होंने लिखा था : "अगर मुसलमानों को यह भी मंजूर नहीं है कि किसी हिन्दू की ज़बान से

क़लम से उनके किसी मज़हबी पेशवा या इमाम की मद्हसराई (स्तुति) भी हो, तो मैं इसके लिए मुसिर नहीं हूँ।'' पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह नाटक हिन्दू-मुस्लिम एकता के उद्देश्य से लिखा गया था।

कर्बला की भाषा, प्रेमचन्द के ही शब्दों में, 'सरासर उर्दू' थी, यद्यपि यह नागरी लिपि में लिखी गयी थी। परिणामत: इसे न तो हिन्दी पाठकों ने अधिक महत्त्व दिया न उर्दू पाठकों ने। *कर्बला* की रचना रंगमंच को ध्यान में रख कर नहीं की गयी थी और मुस्लिम समाज के नाटक के प्रति रवैये को देखते हुए इसके प्रदर्शन की सम्भावना भी नगण्य थी। प्रेमचन्द ने दयानरायन निगम के लिए पत्र में स्वयं ही स्वीकार किया था कि "यह ड्रामा महज़ पढ़ने के लिए लिखा गया था।''

प्रेम की वेदी (1933) का केन्द्रीय कथ्य प्रेम को संसार के सभी सम्बन्धों से श्रेष्ठ सिद्ध करना है। इसकी नायिका मिस जेनी नाटक के अन्त में कहती है : "आज मैं सारे ढकोसलों को, इन सारे बनावटी बन्धनों को प्रेम की वेदी पर अर्पण करती हूँ। यही ईश्वर का धर्म है। धन का धर्म, विद्या का धर्म, राष्ट्र का धर्म संघर्ष में हो सकता है। खुदा का धर्म प्रेम है और मैं इसी धर्म को स्वीकार करती हूँ। शेष धोखा है।''

इस-नाटक की कथा निम्नमध्यवर्गीय ईसाई परिवार से सम्बद्ध है। माँ-बेटी में विवाह सम्बन्धी मान्यताओं को लेकर गहरा मतभेद है। माँ परम्परागत मान्यताओं की समर्थक है जबकि पुत्री विवाह को पुरुष की गुलामी मानती है। वह अपनी स्वतन्त्रता को किसी भी मूल्य पर खोने के लिए तैयार नहीं है। मिस जेनी के माध्यम से प्रेमचन्द ने प्रबुद्ध समाज में उभरती आधुनिक नारी चेतना को वाणी देने की कोशिश की है। पर प्रेमचन्द इस आधुनिक दृष्टि के समर्थक नहीं हैं। उन्होंने जेनी को प्रेम के बन्धन में बँधते और प्रेमी की मृत्यु के बाद उसके शव से ही विवाह करने का संकल्प करते प्रस्तुत किया है। जेनी के चरित्र की यह परिणति विश्वसनीय नहीं है। इसमें प्रेमचन्द का वैचारिक पूर्वग्रह स्पष्टत: मुखरित है। *गोदान* में भी प्रेमचन्द ने अपने प्रेम सम्बन्धी इसी पूर्वग्रह को मालती-मेहता के माध्यम से व्यक्त किया है। नाटक के रूप में *प्रेम की वेदी* भी एक असफल रचना है।

प्रेमचन्द के नाटक उन्हें एक सफल नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित करने में असफल रहे हैं। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। इसका प्रथम कारण कदाचित् यह है कि उनकी प्रतिभा एक कथाकार की प्रतिभा थी। रंगमंच से उनका सम्बन्ध न के बराबर था। यद्यपि परम्परागत रामलीला में उनकी रुचि थी, पर रामलीला में सक्रिय भाग उन्होंने कभी नहीं लिया था। हिन्दी में रंगमंच की परम्परा न के बराबर थी। पारसी रंगमंच परिष्कृत रुचि के दर्शकों के लिए जुगुप्साजनक थे। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों की रचना भी पढ़ने के लिए ही की थी। पर पाठ्य रूप में नाटक उपन्यास-कहानी की बराबरी नहीं कर सकता था। अत: ये नाटक 'प्रयोग के रूप में लेखन' के ही उदाहरण बन कर रह गये।

2.4 विविध साहित्य

2.4.1 जीवनी

प्रेमचन्द ने सामान्य उर्दू पाठकों को ध्यान में रखकर अकबर, गेरीबाल्डी, गोपालकृष्ण गोखले, डा. सर रामकृष्ण भंडारकर, बद्रुद्दीन तैयब जी, मौ. अब्दुल हलीम शरर, रणजीत सिंह, राजा टोडरमल, राजा मान सिंह, राणा जंग बहादुर, राणा प्रताप, रेनॉल्ड्स, सर सैयद अहमद खाँ, स्वामी विवेकानन्द आदि की छोटी-छोटी जीवनियाँ भी लिखी थीं, जो ज़माना के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हुई थीं। ये जीवनियाँ 1940 में प्रकाशित *कलम, तलवार और त्याग* (दो भाग) शीर्षक संग्रह में भी शामिल की गयी थीं। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द की *महात्मा शेखसादी* (1917) और *दुर्गादास* (1938) शीर्षक जीवनी-पुस्तकें भी प्रकाशित हुई थीं।

2.4.2 बाल साहित्य

बाल-साहित्य की रचना में भी प्रेमचन्द की रुचि थी, जो विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था। गुब्बारे पर चीता, जुड़वाँ भाई, पागल हाथी, पालतू भालू, बनमानुष की दर्दनाक कहानी, बनमानुष खानसामा, बाघ की खाल, मगर का शिकार, मिट्ठू, शेर और लड़का, साँप की मणि आदि उनकी उल्लेखनीय बाल कथाएँ हैं जो संग्रह के रूप में *जंगल की कहानियाँ* (1936) में उपलब्ध हैं। *कुत्ते की*

कहानी नामक बालकथा भी स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में 1936 ई. में प्रकाशित हुई थी। प्रेमचन्द ने 1928 ई. में उर्दू पाठकों को ध्यान में रख कर *रामचर्चा* नामक पुस्तक भी लिखी थी जो पहले उर्दू में और 1938 ई. में हिन्दी में प्रकाशित हुई। इसमें रामकथा को बालोपयोगी बनाने की कोशिश की गयी है, साथ ही उसके अतिलौकिक प्रसंगों को विश्वसनीय बनाने के लिए उनमें आवश्यक परिवर्तन भी किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द ने मराठी से अनूदित बाल-कहानियों का एक संकलन *बाल नीतिकथा* (1925) भी सम्पादित किया था। बच्चों के लिए उन्होंने *कीड़े-मकोड़े* (1925) नामक पुस्तिका का भी सम्पादन किया था।

2.4.3 पत्र-साहित्य

प्रेमचन्द का पत्र साहित्य भी बहुत समृद्ध है। अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में ही वे पत्राचार द्वारा उर्दू पत्रिकाओं के सम्पादकों और लेखकों तथा बाद में हिन्दी लेखकों और सम्पादकों से जुड़ गये और अन्तिम समय तक यह सिलसिला जारी रहा। प्रेमचन्द के पत्रों के संकलनकर्ताओं में उनके सुपुत्र अमृत राय और मदन गोपाल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 1962 ई. में अमृत राय ने उनके पत्रों के दो संकलन *चिट्ठी-पत्री*--1 और *चिट्ठी-पत्री*--2 शीर्षक से प्रकाशित किए। *चिट्ठी-पत्री*--1 में प्रेमचन्द के मुख्यत: धनपत राय और गौणत: नवाब राय और प्रेमचन्द के नाम से उर्दू के प्रसिद्ध मासिक पत्र *ज़माना* के सम्पादक मुंशी दयानरायन निगम के नाम लिखे 282 पत्र संगृहीत हैं। ये पत्र 30 जनवरी, 1905 से 5 अगस्त, 1936 तक की अवधि में लिखे गये थे। *चिट्ठी-पत्री*--2 में भी पत्रों की संख्या 282 ही है, जिनमें 237 पत्र प्रेमचन्द द्वारा विभिन्न व्यक्तियों को लिखित हैं और शेष पत्र अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रेमचन्द को लिखे गये हैं। इन पत्रों का लेखन-काल 16 नवम्बर, 1907 से अगस्त, 1936 तक है।

इन पत्रों से, जो मुंशी दयानरायन निगम के अतिरिक्त अख्तर हुसैन रायपुरी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, इन्द्रनाथ मदान, इम्तियाज़ अली ताज़, उपेन्द्रनाथ अश्क, उषा देवी मित्रा, केशोराम सब्बरवाल, जैनेन्द्र कुमार, दशरथ प्रसाद द्विवेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, महताब राय, विनोदशंकर व्यास, विष्णु प्रभाकर, शिवपूजन सहाय, श्रीराम वर्मा आदि दर्जनों व्यक्तियों को सम्बोधित थे, प्रेमचन्द के जीवन और व्यक्तित्व के उन पक्षों का उद्घाटन होता है, जो अन्यथा अज्ञात ही रह जाते। प्रेमचन्द की लेखन-प्रक्रिया, उनके साहित्यिक विकास, उर्दू से हिन्दी में आगमन तथा उनकी पुस्तकों की रचना और प्रकाशन काल के निर्धारण में भी इन पत्रों से मूल्यवान सहायता प्राप्त होती है। यदि ये पत्र न मिले होते तो अमृत राय को *कलम का सिपाही* के रूप में प्रेमचन्द की इतनी सफल जीवनी लिखने में भी कामयाबी न मिली होती। प्रेमचन्द के साहित्यिक व्यक्तित्व को समझने में भी इन पत्रों से अभूतपूर्व सहायता मिलती है।

2.4.4 अनूदित साहित्य

मौलिक सर्जनात्मक लेखन के साथ साथ प्रेमचन्द की अनुवाद में भी सक्रिय रुचि थी। 4 मार्च, 1914 को मुंशी दयानरायन निगम के नाम लिखित अपने पत्र में उन्होंने उन्हें सूचित किया कि वे उन दिनों तोल्सतोय की कहानियाँ पढ़ रहे थे और उनसे बेहद प्रभावित थे। लगभग इसके बाद ही उन्होंने तोल्सतोय की कहानियों का अनुवाद और रूपान्तर करना शुरू किया, जिनका संकलन ***प्रेम प्रभाकर*** शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस संकलन में बीस कहानियाँ संकलित थीं। 1923 में यह संकलन *टाल्सटॉय की कहानियाँ* शीर्षक से प्रकाशित हुआ, जिसमें कहानियों की संख्या 22 थी। निगम साहब के नाम ही 2 फरवरी, 1920 को लिखे पत्र में प्रेमचन्द ने ऑस्कर वाइल्ड की 'एक कहानी' के अनुवाद करने की सूचना दी। सम्भवत: यह कहानी Canterville's Ghost थी, जिसे प्रकाशन के लिए भेजने की सूचना उन्होंने अपने 29 जून, 1920 के पत्र में दी थी।

1920 ई. में प्रेमचन्द ने जॉर्ज इलियट के प्रसिद्ध उपन्यास *साइलस मारनर* का *सुखदास* शीर्षक से रूपान्तर से किया, जो इसी वर्ष प्रकाशित भी हुआ। 1923 ई. में प्रेमचन्द का दूसरा अनूदित उपन्यास *अहंकार* प्रकाशित हुआ, जो अनातोले फ्रांस के प्रसिद्ध उपन्यास *थाया* का रूपान्तर था।

1925 ई. में प्रेमचन्द ने पं. रतननाथ सरसार की प्रसिद्ध कथाकृति *फसान-ए-आज़ाद* का *आज़ाद कथा* शीर्षक से संक्षिप्त रूपान्तर प्रस्तुत किया जो इसी वर्ष दो खंडों में प्रकाशित हुआ। बाद में सरस्वती प्रेस से इसका प्रकाशन एक जिल्द में हुआ।

1919 ई. में ही प्रेमचन्द ने बेल्जियम के प्रसिद्ध नाटककार मॉरिस मेटरलिंक के नाटक *साइटलेस* का उर्दू अनुवाद *शबेतार* शीर्षक से प्रस्तुत किया जो 1919 ई. में *ज़माना* में प्रकाशित हुआ। (इसका अमृत राय द्वारा प्रस्तुत हिन्दी लिप्यन्तरण 1962 ई. में हंस प्रकाशन से प्रकाशित हुआ।) 1930 ई. में प्रेमचन्द ने जॉन गॉल्सवर्दी के तीन नाटकों, *द सिल्वर बॉक्स, स्ट्राइफ* और *जस्टिस* के क्रमशः *चाँदी की डिबिया, हड़ताल* और *न्याय* शीर्षक से अनुवाद किये, जो इसी वर्ष प्रकाशित भी हुए। (1974 ई. में इनका संकलन *गॉल्सवर्दी के तीन नाटक* शीर्षक से सरस्वती प्रेस से प्रकाशित हुआ।) मृत्यु से कुछ ही समय पूर्व उन्होंने बर्नार्ड शॉ के नाटक *बैक टु मैथ्यूसेलह* के प्रथम भाग *इन द बिगिनिंग* का अनुवाद *सृष्टि का आरम्भ* शीर्षक से किया था जो हंस के मार्च-अप्रैल, 1937 के अंक में और पुस्तकाकार 1938 ई. में प्रकाशित हुआ। इन अनुवादों से प्रेमचन्द की नाटक में रुचि का पता चलता है।

1931 ई. में ही प्रेमचन्द ने पं. जवाहरलाल नेहरू की प्रसिद्ध पुस्तक *फादर्स लेटर्स टु अ डॉटर* का अनुवाद *पिता के पत्र पुत्री के नाम* शीर्षक से प्रस्तुत किया, जो इसी वर्ष प्रकाशित भी हुआ।

2.5 वैचारिक साहित्य

सर्जनात्मक साहित्य के साथ-साथ प्रेमचन्द का वैचारिक साहित्य भी बहुत समृद्ध है। उन्होंने विभिन्न पत्रिकाओं के लिए उर्दू-हिन्दी में दर्जनों लेख तो लिखे ही, *हंस* और *जागरण* के लिए सैकड़ों की संख्या में सम्पादकीय टिप्पणियाँ भी लिखीं, जो अमृत राय द्वारा सम्पादित *विविध प्रसंग, खंड-एक, दो और तीन* में संकलित हैं। पुस्तक रूप में उनके निबन्ध *कुछ विचार, साहित्य का उद्देश्य* और *विविध प्रसंग* में संकलित हैं। प्रेमचन्द की सम्पादकीय टिप्पणियों की संख्या साढ़े चार सौ से ऊपर है, जो *विविध प्रसंग* के तीन खंडों में उपलब्ध हैं।

विषय की दृष्टि से प्रेमचन्द के लेखों और टिप्पणियों को मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

1. साहित्य विषयक और 2. साहित्येतर विषयक।

2.5.1 साहित्य विषयक निबन्ध और टिप्पणियाँ

साहित्यविषयक लेखों में 'उपन्यास 1-2', 'उपन्यास का विषय', 'उपन्यास-रचना', 'कहानीकला-1,2,3', 'कहानी कैसे लिखनी चाहिए', 'भारत का कहानी साहित्य', 'साहित्य का उद्देश्य', 'साहित्य और मनोविज्ञान', 'साहित्य की नयी प्रवृत्ति', 'साहित्य की प्रगति', 'साहित्य में समालोचना', 'साहित्य-समीक्षा', 'साहित्यिक उदासीनता' आदि निबन्ध और कुछ टिप्पणियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भाषा विषयक निबन्धों और टिप्पणियों में 'उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी', 'दक्षिण में हिन्दी प्रचार', 'भारतीय साहित्य की एकता', 'राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ', 'हिन्दी उर्दू की एकता' आदि महत्वपूर्ण हैं। प्रेमचन्द ने लगभग सवा सौ पुस्तकों की समीक्षाएँ लिखी थीं, जिनमें सियाराम शरण गुप्त कृत *अन्तिम आकांक्षा*, जय शंकर प्रसाद कृत *आँधी, कंकाल, तितली*, और *स्कन्दगुप्त*, देवनारायण द्विवेदी कृत *कर्तव्याघात*, बी पट्टाभिरामैया कृत *कांग्रेस का इतिहास*, जैनेन्द्र कृत *परख*, बच्चन कृत *मधुबाला*, हरिकृष्ण प्रेमी कृत *रक्षाबन्धन*, बेचन शर्मा उग्र कृत *शराबी* आदि शामिल हैं। इन समीक्षाओं में प्रेमचन्द की समालोचनात्मक प्रतिभा के दर्शन होते हैं।

2.5.2 साहित्येतर विषयक निबन्ध और टिप्पणियाँ

साहित्येतर विषयक निबन्धों में *ज़माना* (फरवरी, 1919) में प्रकाशित उर्दू लेख 'दौरे-जदीदो कदीम' (हिन्दी में अमृत राय द्वारा स्वल्प रूपान्तर के साथ 'पुराना जमाना : नया जमाना' शीर्षक से विविध प्रसंग-1 में संकलित-प्रकाशित) और *हंस* के सितम्बर, 1936 अंक में प्रकाशित 'महाजनी सभ्यता' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन निबन्धों में समाज और दुनिया के बारे में प्रेमचन्द का प्रगतिशील और वैज्ञानिक दृष्टिकोण बहुत शक्त और तल्ख रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

प्रेमचन्द की साहित्येतर विषयक टिप्पणियों में विषय का वैविध्य आश्चर्यचकित करने वाला है। इन टिप्पणियों में ब्रिटेन की राजनीति, भारत में ब्रिटिश शासन, अँगरेजी भाषा, सभ्यता और संस्कृति, पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, निःशस्त्रीकरण, राष्ट्र और राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र, पूँजीवाद, प्रान्तीयता, रंगभेद, अछूत समस्या, आतंकवाद और हिंसक क्रान्ति, औद्योगीकरण,

बेकारी, कांग्रेस पार्टी, भारतीय किसान और उसकी संस्कृति, ग्रामीण जीवन, जाति-व्यवस्था, नारी समस्या, औपनिवेशिक न्याय-व्यवस्था, पुलिस विभाग, ब्रिटिश अफसरशाही और अमलों की धाँधली, स्थानीय प्रशासन, भारत में शिक्षा की स्थिति, पत्रकारिता, परिवार-नियोजन, प्राकृतिक विपदा, फिल्मी दुनिया, भारतीय अस्मिता, भारतीय जीवन, सभ्यता और संस्कृति, हिन्दू धर्म, मुस्लिम इतिहास, सभ्यता और संस्कृति, गाँधी और गाँधीवाद, स्वदेशी, स्वराज्य, स्वाधीनता आन्दोलन, देशी रियासतों की स्थिति, शराबबन्दी, साम्प्रदायिकता आदि विषयों पर प्रेमचन्द के विचार दर्शनीय हैं।

2.5.3 पत्रकारिता

हिन्दी पत्रकारिता को भी प्रेमचन्द की उल्लेखनीय देन है। मार्च, 1930 में उन्होंने *हंस* नामक मासिक पत्र का सम्पादन-प्रकाशन आरम्भ किया। इसका नामकरण हिन्दी के महान् कवि जय शंकर प्रसाद ने किया था। इसके प्रकाशन के अवसर पर प्रेमचन्द ने लिखा था : " 'हंस' का जन्म उस शुभ अवसर पर हो रहा है, जब भारत पराधीनता की बेड़ियों से निकलने के लिए तड़पने लगा है। स्वाधीनता मन की एक वृत्ति है और इस वृत्ति का जागना ही स्वाधीन हो जाना है। हम भी मिट्टी का दीपक लेकर खड़े होते हैं। हमारी चेष्टा होगी, स्वाधीनता का संघर्ष शीघ्र सफल हो। 'हंस' मानसरोवर की शान्ति छोड़ कर आजादी के जंग में योग देने आया है। 'हंस' की लगन कच्ची न होगी। हमें संघ शक्ति पर विश्वास है। साहित्य और समाज में वह उन गुणों का परिचय देगा, जो परम्परा से उसे प्रदान कर दिए गए हैं।"

'हंस' में प्रेमचन्द की लगभग तीन दर्जन कहानियाँ प्रकाशित हुई थीं। ये वे कहानियाँ हैं जिनमें उनकी कहानी कला अपने निखार पर है। प्रेमचन्द 'हंसवाणी' से सम्पादकीय लिखते थे, जिनकी संख्या लगभग 237 है। 'हंस' में प्रेमचन्द के 16 लेख तथा 'नीर-क्षीर' के अन्तर्गत लगभग सवा सौ पुस्तकों की समीक्षाएँ भी प्रकाशित हुईं। 'हंस' के तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषांक 'स्वदेशांक', 'अभिनन्दनांक' और 'काशी अंक' थे, जो क्रमशः अक्टूबर-नवम्बर, 1932, अप्रैल, 1933 और अक्टूबर-नवम्बर, 1933 में प्रकाशित हुए थे। 'हंस' से अँग्रेजी सरकार ने दो बार, 1932 और 1936 में, जमानत माँगी थी। महात्मा गाँधी की प्रेरणा से 'हंस' भारतीय साहित्य का मुखपत्र बनाया गया और कन्हैयालाल मुंशी और प्रेमचन्द दोनों 'हंस' के सम्पादक बने। भारतीय साहित्य परिषद् के मुखपत्र के रूप में 'हंस' का पहला अंक अक्टूबर, 1935 में निकला। जून, 1936 के अंक में सेठ गोविन्द दास के एक नाटक के प्रकाशित होने पर सरकार ने पुनः 'हंस' से जमानत माँग ली, पर गाँधी जी ने जमानत देने से अस्वीकार कर दिया। पर प्रेमचन्द ने जमानत दे दी और 'हंस' का प्रकाशन जारी रहा। अक्टूबर, 1936 में प्रेमचन्द का निधन हो जाने पर 'हंस' शिवरानी देवी के सम्पादकत्व में निकलता रहा। उसका मई, 1937 अंक 'प्रेमचन्द स्मृति अंक' के रूप में प्रकाशित हुआ, जिसके सम्पादक बाबू विष्णुराव पराड़कर थे। बाद में 'हंस' श्रीपत राय और अमृत राय के सम्पादन में भी निकला।

प्रेमचन्द ने 'जागरण' (साप्ताहिक) का भी सम्पादन-प्रकाशन किया था। 'जागरण' का आरम्भ विनोद शंकर व्यास ने किया था, जिसे उन्होंने आर्थिक हानि होने पर प्रेमचन्द को सौंप दिया था। प्रेमचन्द के सम्पादकत्व में 'जागरण' का पहला अंक 22 अगस्त, 1932 को निकला और 28 मई, 1934 तक लगातार प्रकाशित होता रहा। 4 जून, 1934 को सम्पूर्णानन्द ने 'जागरण' का सम्पादकत्व सँभाला और उन्होंने 13 अंकों तक उसका सम्पादन किया। उसके बाद 'जागरण' बन्द हो गया।

2.6 सारांश

प्रेमचन्द आज भी हिन्दी में सर्वश्रेष्ठ कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। ऐसा नहीं कि प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास का विकास हुआ ही नहीं है ; कथ्य की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास का विस्तार और वैविध्य आश्वस्त करने वाला है। शिल्प की दृष्टि से उसका विकास चमत्कारी है। उपन्यास की भाषा का विकास भी अपने ढंग से हुआ है। पर प्रेमचन्द जैसी अपने कथ्य के प्रति गहरी संवेदना उनके बाद के उपन्यासकारों में कम ही दिखाई देती है। संवेदनाओं के अंकन की दृष्टि से भी प्रेमचन्द के बाद के उपन्यास उनसे आगे नहीं जा पाए हैं। केवल शिल्प की दृष्टि से ही हिन्दी उपन्यास प्रेमचन्द से आगे

बढ़ा हुआ माना जा सकता है। व्यक्ति उपन्यासकार के रूप में अब तक हिन्दी का कोई लेखक उनका स्थान ले सका है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कहानीकार और उपन्यासकार दोनों रूपों में वे अब तक 'अप्रतिस्पर्द्धेय' माने जा सकते हैं।

हिन्दी उपन्यास और कहानी को कला के स्तर पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय तो प्रेमचन्द को है ही ; शिल्प और भाषा दोनों ही दृष्टियों से उन्होंने हिन्दी कथा साहित्य को विश्व स्तर पर पहुँचा दिया।

यद्यपि नाटककार के रूप में प्रेमचन्द का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान हिन्दी साहित्य में नहीं है, पर कई मौलिक नाटकों की रचना और अँग्रेजी नाटकों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर उन्होंने अपनी नाटकीय रुचि का परिचय तो दिया ही, बच्चों के लिए कुछ बहुत ही अच्छी कहानियाँ लिख कर उन्होंने हिन्दी बाल-साहित्य की समृद्धि में भी योगदान किया।

सर्जनात्मक साहित्य के साथ-साथ वैचारिक साहित्य की रचना कर प्रेमचन्द ने अपनी प्रखर चिन्तन क्षमता का भी परिचय दिया। उनके साहित्य विषयक निबन्ध मौलिक चिन्तन के अद्‌भुत प्रमाण हैं। अपने कुछ लेखों और सम्पादकीय टिप्पणियों में उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, समाज-व्यवस्था, राष्ट्रीय समस्याओं, विशेष कर साम्प्रदायिक सद्‌भाव, अछूत समस्या, जाति-समस्या, स्वराज्य, नारी-जागरण, किसान-जमीन्दार- महाजन सम्बन्ध, भाषा आदि पर गम्भीर चिन्तनयुक्त विचार व्यक्त किए हैं।

पत्रकारिता के क्षेत्र में भी प्रेमचन्द का महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने अत्यन्त विषम परिस्थितियों में 'हंस' और 'जागरण' जैसी पत्रिकाओं का सम्पादन-प्रकाशन किया था और साहित्यिक तथा राजनीतिक पत्रकारिता का स्तर ऊँचा उठाया था।

2.7 अभ्यास प्रश्न

1. 'प्रेमचन्द साहित्य के क्षेत्र में बहुमुखी प्रतिभा के रचनाकार थे।'' इस कथन की पुष्टि कीजिए।
2. 'सेवासदन' से हिन्दी उपन्यास की प्रकृति में आए बदलाव का तर्कपूर्ण विवेचन कीजिए।
3. 'प्रेमचन्द का सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के विरोध में खड़ा है।'' इस कथन का विवेचन कीजिए।
4. "यह सच है कि प्रेमचन्द ग्रामीण जीवन-यथार्थ के चित्रण में अद्वितीय हैं, पर तत्कालीन मध्य वर्ग का भी वे उतनी ही सजीवता के साथ अंकन करते हैं।'' इस कथन पर अपना मत दीजिए।
5. 'प्रेमचन्द अपने नारी विषयक चिन्तन में अन्तर्विरोध के शिकार हैं।'' इस कथन पर विचार कीजिए।
6. प्रेमचन्द की कहानी-कला के विकास के विभिन्न चरणों की समीक्षा कीजिए।
7. 'प्रेमचन्द की भाषा में शब्द और अर्थ का सर्वोत्तम सामंजस्य, अर्थों की सांकेतिक सम्भावनाएँ, लक्षणा और व्यंजना की समृद्धि, शैलीय उपकरणों का सार्थक प्रयोग, बिम्ब-निर्माण की क्षमता आदि मिलकर एक अद्‌भुत प्रभाव की सृष्टि करते हैं।'' इस कथन की पुष्टि कीजिए।

इकाई 3 प्रेमचन्द की साहित्यिक मान्यताएँ

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 प्रेमचन्द के साहित्य सम्बन्धी विचार

3.2.1 सामान्य साहित्य सम्बन्धी विचार

3.2.2 उपन्यास सम्बन्धी विचार

3.2.3 कहानी सम्बन्धी विचार

3.3 यथार्थवाद और आदर्शवाद सम्बन्धी विचार

3.4 सारांश

3.5 अभ्यास प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य छात्रों को प्रेमचन्द के साहित्य सम्बन्धी विचारों से परिचित कराना है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- प्रेमचन्द के सामान्य साहित्य सम्बन्धी विचारों से अवगत हो सकेंगे;
- उनके उपन्यास सम्बन्धी विचारों से परिचित हो सकेंगे;
- कहानी-कला सम्बन्धी उनके विचारों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे; और
- उनके 'यथार्थ' और 'आदर्श' विषयक विमर्श से परिचित हो सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई इस पाठ्यक्रम की तीसरी इकाई है। किसी भी रचनाकार को उसकी समग्रता में समझने के लिए उसके साहित्य सम्बन्धी विचारों से भी परिचित होना आवश्यक है। रचनाकार विशेष के सर्जनात्मक साहित्य के सम्यक् मूल्यांकन के लिए उसके साहित्य सम्बन्धी विमर्श का ज्ञान अपेक्षित होता है। प्रेमचन्द ने सर्जनात्मक साहित्य रचना के साथ-साथ साहित्य की विविध विधाओं और उसकी समस्याओं पर भी विमर्श किया था। उन्होंने अपने कई निबन्धों में साहित्य, उपन्यास और कहानी के स्वरूप तथा उसके अन्य पक्षों पर भी विचार किया। इसके साथ ही साथ उन्होंने आदर्शवाद और यथार्थवाद के स्वरूप और उसके संबंध पर भी चर्चा की। उनके ये विचार उनकी पुस्तकों एवं निबन्धों के माध्यम से उपलब्ध हैं। प्रस्तुत इकाई में उनके इन्हीं विचारों पर चर्चा की जाएगी।

3.2 प्रेमचन्द के साहित्य सम्बन्धी विचार

सर्जनात्मक साहित्य-लेखन के साथ-साथ प्रेमचन्द ने अपने साहित्य सम्बन्धी विचार भी अनेक लेखों, भाषणों और सम्पादकीय टिप्पणियों में व्यक्त किये। उनके साहित्य सम्बन्धी लेख मुख्यत: उनकी दो पुस्तकों - *कुछ विचार* (प्र. सं.1939) और *साहित्य का उद्देश्य* (प्र. सं. 1954) में तथा फुटकल विचार *विविध प्रसंग* (सं. अमृत राय) में संकलित हैं। आइए इस विषय पर विस्तार से चर्चा करें।

3.2.1 सामान्य साहित्य सम्बन्धी विचार

प्रेमचन्द ने साहित्य को अपने ढंग से परिभाषित करने की कोशिश की है। उनके अनुसार साहित्य 'सत्य' का वाहक होता है। प्रौढ़, परिमार्जित, सुन्दर और प्रभावोत्पादक भाषा में अभिव्यक्त 'सत्य' ही

साहित्य है : साहित्य में यह गुण तब आता है, जब उसमें जीवन की सच्चाइयाँ और संवेदनाएँ व्यक्त होती हैं। प्रेमचन्द के शब्दों में "साहित्य उसी रचना को कहेंगे, ।' को भी प्रेमचन्द साहित्य मानने के पक्ष में नहीं हैं। यदि इस प्रकार की कथाओं के सर्जनात्मक उपयोग से कोई लेखक 'जीवन की सच्चाइयों' को प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करता है तो प्रेमचन्द को उससे कोई आपत्ति नहीं है।

प्रेमचन्द साहित्य को 'जीवन की आलोचना' मानते हैं। इस दृष्टि से वे मैथ्यू ऑर्नल्ड के अनुयायी प्रतीत होते हैं। प्रेमचन्द की मान्यता है कि साहित्य का चाहे जो भी रूप या विधा हो, उसका उद्देश्य 'हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या' होना चाहिए। वे अपने पूर्ववर्ती युग की आलोचना करते हैं, जिसमें कथा-साहित्य का एकमात्र लक्ष्य 'केवल मनोरंजन' और 'अद्भुत रस-प्रेम' की तृप्ति था। कविता भी 'व्यक्तिवाद के रंग' से रंजित थी। शृंगारिक भावों को कल्पना के चमत्कार से जोड़ कर व्यक्त करना ही कविता का एक मात्र लक्ष्य हो गया था। नयी शब्द-योजना और कल्पना की अनोखी उड़ान ही इस कविता की पहचान थी। इसी के द्वारा रसिक समाज इन कविताओं को दाद देता था और मोहरें लुटाता था। विरह-दशा के वर्णन में निराशा और वेदना की विविध दशाओं से सम्बन्धित ऐसी चुभने वाली उक्तियाँ रची जाती थीं कि 'सुनने वाले दिल थाम लेते थे।'

प्रेमचन्द मानवीय संवेदनाओं की तीव्रता को व्यक्त करने वाले साहित्य के विरोधी नहीं हैं, पर उनका यह भी मानना है कि 'मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है।' फैज अहमद फैज के शब्दों में 'और भी ग़म हैं दुनिया में मुहब्बत के सिवा।' प्रेमचन्द के अनुसार जो साहित्य केवल शृंगारिक भावनाओं तक ही सीमित होता है, जिसमें जीवन की कठिनाइयों से पलायन ही काम्य होता है, वह पूर्ण रूप से 'हमारी विचार और भाव सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति' नहीं कर सकता। शृंगार का भाव मानव जीवन का एक अंग मात्र है। प्रेमचन्द के अनुसार जिस जाति के साहित्य में केवल शृंगार ही शृंगार हो, वह न तो गर्व की वस्तु है न उस जाति की सुरुचि का परिचायक है। प्रेमचन्द का इशारा स्पष्टत: हिन्दी साहित्य के रीतिकाल और उर्दू काव्य की ओर है, जिसमें शृंगारिकता ही प्रधान थी। पर प्रेमचन्द इसका दोष केवल कवियों के सिर नहीं मढ़ देना चाहते। उनके अनुसार 'साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है।' अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी का भारतीय सामन्ती जीवन भोग-विलास में डूबा हुआ था। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं' और जब साहित्य भी इन्हीं भावों में डूबा हो तो यह मान लेना चाहिए कि उस जाति का पतन हो चुका है और 'उसमें दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गयी है।' अपने समकालीन साहित्य के सम्बन्ध में प्रेमचन्द की धारणा सकारात्मक है। उनके अनुसार समकालीन 'साहित्यिक रुचि तेजी से बदल रही है और अब साहित्य केवल मनबहलाव की चीज नहीं है।' अब उसका लक्ष्य 'जीवन की समस्याओं' पर विचार करना और उनका हल प्रस्तुत करना हो गया है।

प्रेमचन्द उद्देश्य की दृष्टि से साहित्य और 'नीति-शास्त्र' को एक समान मानते हैं। उनके अनुसार नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के माध्यम से मानव मन और बुद्धि को प्रभावित करता है जबकि साहित्य संवेदनाओं को उभार कर मानव हृदय को आन्दोलित करता है। अनुभूति की तीव्रता ही साहित्यकार को विशिष्टता प्रदान करती है। प्रेमचन्द के अनुसार वही साहित्य 'साहित्य कहलाने का अधिकारी है' जो हमारी सुरुचि को जागृत करता है, हमें आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति प्रदान करता है तथा मनुष्य में शक्ति, गति, संकल्प, कठिनाइयों पर विजय पाने की दृढ़ता और सौन्दर्य-प्रेम पैदा करता है।

प्रेमचन्द के अनुसार साहित्य का उद्देश्य मनुष्य में सौन्दर्य-प्रेम जगाना है। सौन्दर्य का सच्चा और तीव्र बोध ही श्रेष्ठ साहित्यकार की पहचान है। वह 'असुन्दर, अभद्र और मनुष्यता से रहित' बातों को सहन नहीं कर पाता। वह मानवता, दिव्यता और भद्रता को सर्वोपरि मानता है और इनके लिए संघर्ष करता है। प्रेमचन्द के अनुसार "जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है--चाहे वह व्यक्ति हो या समूह--उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत के सामने वह अपना इस्तग़ासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्ति को जागृत करके अपना यत्न सफल समझता है।" (प्रेमचन्द, कुछ विचार) इसके लिए साहित्यकार 'सत्य' और 'वास्तविकता' के प्रति प्रतिबद्ध होता है; वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और अपने पात्रों को वास्तविक मनुष्यों की तरह आचरण करते दिखाता है। प्रेमचन्द के अनुसार "अपनी सहज सहानुभूति

और सौन्दर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुँचता है, जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण पहुँचने में असमर्थ होता है।'' प्रेमचन्द भी 'कुछ समालोचकों' की राय से सहमत होते हुए साहित्य को 'लेखक का मनोवैज्ञानिक जीवन-चरित्र' मानते हैं।

अपने 'जीवन में साहित्य का स्थान' शीर्षक निबन्ध में प्रेमचन्द आनन्द को जीवन का उद्देश्य बताते हुए यह स्पष्ट करते हैं "कि सुख भौतिक वस्तुओं से भी मिलता है, पर साहित्य का आनन्द इस सुख से बड़ी वस्तु है, क्योंकि उसका आधार 'सुन्दर' और 'सत्य' है। उनके अनुसार सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है। उसी आनन्द को दर्शाना, वही आनन्द उत्पन्न करना साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चाताप भी हो सकता है ; पर सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखंड है, अमर है।'' (प्रेमचन्द, कुछ विचार)

प्रेमचन्द सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन रूपों में मानते हैं : जिज्ञासा, प्रयोजन और आनन्द। इनमें "साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का सम्बन्ध विचार से है, प्रयोजन का सम्बन्ध स्वार्थ-बुद्धि से। आनन्द का सम्बन्ध मनोभावों से है।'' इसे प्रेमचन्द ने एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। हिम से ढँके हुए पर्वत पर उषा का दृश्य किसी दार्शनिक के लिए गहरे विचार की वस्तु होगा, किसी वैज्ञानिक के लिए अनुसन्धान की और साहित्यकार के लिए विह्वलता की। विह्वलता एक प्रकार का आत्मसमर्पण है जिसमें हम उस वस्तु से एकाकार हो जाते हैं, उससे तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद समाप्त हो जाता है; राम शबरी के जूठे बेर खाते हैं और कृष्ण विदुर के शाक को स्वादिष्ट व्यंजनों से श्रेष्ठ समझते हैं। यहाँ आत्मा का आत्मा से मिलन हो जाता है।

वास्तव में मनुष्य में सद् और असद् दोनों प्रकार की मनोवृत्तियाँ होती हैं। दूषित प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करना और सद्वृत्तियों को बढ़ावा देना सुखद मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक है। साहित्य इस काम को बहुत प्रभावी ढंग से सम्पन्न करता है। प्रेमचन्द के शब्दों में "साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोल कर सद्वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों द्वारा जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य आसानी से सफल हो जाता है। यही कारण है कि धर्माचार्य अपने श्रोताओं को प्रभावित करने के लिए साहित्य की सहायता लेते हैं। साहित्यकार के भावों में इतनी व्यापकता होती है, विश्व मात्र की आत्मा से उसका ऐसा तादात्म्य होता है कि प्रत्येक प्राणी अपने को उससे जुड़ा पाता है।''

साहित्यकार अपने देशकाल से प्रभावित होता है। युग की भावना उसकी भावना होती है। इसके साथ ही सच्चा साहित्य कभी पुराना नही होता, क्योंकि मनुष्य की भावनाएँ, हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय मनुष्य के शाश्वत और चिरन्तन भाव हैं। यही कारण है कि उच्च कोटि का प्राचीन साहित्य हमें आज भी प्रभावित करता है। इसीलिए प्रेमचन्द साहित्य को ही 'सच्चा इतिहास' मानते हैं, 'क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता।''

प्रेमचन्द ने भारतीय साहित्य का आधार 'त्याग और उदारता' को माना है, जबकि यूरोप के साहित्य में संघर्ष की प्रधानता है। इसीलिए वहाँ जीवन में वैयक्तिक स्वार्थपरायणता' और 'अर्थलोलुपता' का बोलबाला है। प्रेमचन्द को भारतीय साहित्य पर गर्व है। उनके अनुसार 'किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किये हुए है।'' उनके अनुसार "स्थाई साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है।'' उन्होंने माना है कि 'साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। उनकी साहित्यकार से अपेक्षा है कि "वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों की प्रस्तुति से हमें जागृत करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे--उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।'' इसके लिए प्रेमचन्द 'सच्चे सौन्दर्य-प्रेम' और प्रेम की विस्तृति' को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार "प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हममें सौन्दर्य की

अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। पर जब तक कलाकार खुद सौन्दर्य-प्रेम से छक कर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो, वह हमें यह प्रकाश क्यों कर दे सकता है?'' (वही)

प्रेमचन्द **सौन्दर्य** को भी अपने ढंग से परिभाषित करते हैं। सर्वप्रथम वे सूरज के उगने और डूबने, उषा और सन्ध्या की लालिमा, सुन्दर सुगन्ध भरे फूलों, मीठी बोलने वाले पक्षियों, कल कल निनादिनी नदियों आदि प्राकृतिक वस्तुओं में सौन्दर्य देखते हैं। इनमें सौन्दर्य होने का कारण है 'रंग या ध्वनि का सामंजस्य'। प्रेमचन्द के अनुसार "साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममें वफादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और समता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं, वहीं दृढ़ता है और जीवन है; जहाँ इनका अभाव है, वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है--द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। जहाँ प्रकृति से अनुकूलता और साम्य है, वहाँ संकीर्णता और स्वार्थ का अस्तित्व कैसे सम्भव होगा? प्रकृति से अलग होकर अपने को सीमित कर लेने से ही सारी मानसिक और भावगत बीमारियाँ पैदा होती हैं। साहित्य हमारे जीवन को — स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है; दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।'' (साहित्य का उद्देश्य, कुछ विचार)

प्रेमचन्द साहित्य को स्वभाव से ही 'प्रगतिशील' मानते हैं। साहित्यकार व्यक्ति और समाज को सुख और स्वतन्त्रता की स्थिति में देखना चाहता है। जहाँ यह नहीं होती, उसका वह अन्त देखना चाहता है, जिससे 'दुनिया के जीने और मरने के लिए' अच्छा स्थान बन सके। "उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बन्धन में पड़ कर कष्ट भोगता रहे। वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचना में जोर और सचाई पैदा होती है।'' प्रेमचन्द कविता के उन भावों को निरर्थक मानते हैं, जो हमारे मन पर संसार की नश्वरता का भाव दृढ़ करते हैं। उनके अनुसार वही कविता श्रेष्ठ है जो पाठकों में हरकत और गर्मी पैदा करती है। उनके शब्दों में "इस भावोत्तेजक कला का अब जमाना नहीं रहा। अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है, जिसमें कर्म का सन्देश हो।'' जो कला हमें 'जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती हो' उसकी आज कोई प्रासंगिकता नहीं है। प्रेमचन्द कला को 'उपयोगिता की तुला' पर तौलने के समर्थक हैं। उनके अनुसार कला का उद्देश्य सौन्दर्य-वृत्ति की पुष्टि करना तो है, और वह हमारे आध्यात्मिक विकास की कुंजी भी है, पर हर आध्यात्मिक आनन्द का एक उपयोगिता का पक्ष भी होता है। उनके अनुसार "फूलों को देख कर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है; प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर जीने से हमें इसीलिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। आनन्द स्वत: एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है।''

'साहित्य का आधार' शीर्षक निबन्ध में प्रेमचन्द ने 'भाव' को साहित्य का मुख्य आधार माना है। उनके अनुसार "बुद्धि के लिए दर्शन है, विज्ञान है, नीति है। भावों के लिए कविता है, उपन्यास है, गद्यकाव्य है।'' इस निबन्ध में भी प्रेमचन्द ने साहित्य में सद्भावों के अंकन पर जोर दिया है। वे सद्भावों के चित्रण को तीव्रता प्रदान करने के लिए असद् भावों का चित्रण अपेक्षित मानते हैं। प्रेमचन्द का विचार है कि "हमारे भावों को जगाने के लिए उनका बाहर की वस्तुओं से सामंजस्य होना चाहिए। साहित्यकार तो वही हो सकता है जो दुनिया के सुखदुख से सुखी या दुखी हो सके और दूसरों में सुख या दुख पैदा कर सके।''

इस निबन्ध में प्रेमचन्द ने प्रोपेगैंडा और साहित्य के सम्बन्ध पर भी विचार किया है। 'साहित्य' और 'प्रोपेगैंडा' का अन्तर बताते हुए उन्होंने कहा है कि 'प्रोपेगैंडा' प्राय: आत्मविज्ञापन होता है और ऐसा न भी हो तो उसमें बिना साधनों की कोई परवाह किए किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति की 'उत्सुकता' या प्रवृत्ति होती है। इसके विपरीत "साहित्य शीतल मन्द समीर है, जो सभी को शीतल और आनन्दित करती है। प्रोपेगैंडा आँधी है, जो आँखों में धूल झोंकती है, हरे-भरे वृक्षों को उखाड़ फेंकती है और झोपड़े तथा महल दोनों को ही हिला देती है। वह रसविहीन होने के कारण आनन्द की वस्तु नहीं। लेकिन यदि कोई चतुर कलाकार उसमें सौन्दर्य और रस भर सके, तो वह 'प्रोपेगैंडा' की चीज न होकर सत्-साहित्य की वस्तु बन जाती है।'' उन्होंने बर्नार्ड शॉ, मेरी कारोली, एच. जी. वेल्स, गॉल्सवर्दी, चार्ल्स डिकेन्स रोम्याँ रोलाँ, तोल्सतोय, दोस्तोएव्स्की, गोर्की, सिंक्लेयर लुइस आदि की रचनाओं का हवाला

देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि उनमें 'प्रोपेगैंडा' और 'साहित्य' का मिश्रण है। 'प्रोपेगैंडा' विषय का शुष्क प्रतिपादन होता है जबकि साहित्य सौन्दर्यानुभूति के रूप में विषय का प्रतिपादन करता है। इसीलिए हम साहित्यकार से यह जवाबतलब नहीं कर सकते कि वह किसी खास विषय को ही अपनी रचना का आधार क्यों बनाता है। उसकी एकमात्र कसौटी यह है कि वह हमें "सत्य और सुन्दर के समीप ले जाता है या नहीं ? यदि ले जाता है तो वह साहित्य है, नहीं ले जाता तो 'प्रोपेगैंडा' या उससे भी निकृष्ट है।"

प्रेमचन्द के अनुसार सत्साहित्य का 'रस-युक्त', 'भावोत्कर्ष से सम्पन्न' और 'सत्य की ओर ले जाने वाला' होना जरूरी है। केवल विचार और दर्शन का आधार लेकर वह दर्शन का शुष्क ग्रन्थ हो सकता है, सरस साहित्य नहीं हो सकता। जिस तरह किसी आन्दोलन या किसी सामाजिक अत्याचार के पक्ष या विपक्ष में लिखा गया साहित्य प्रोपेगैंडा है, उसी तरह किसी तात्विक विचार या अनुभूत दर्शन से भरी हुई रचना भी प्रोपेगैंडा है। उनके अनुसार साहित्य जहाँ रसों से पृथक् हुआ, वहीं वह साहित्य के पद से गिर जाता है और 'प्रोपेगैंडा' के क्षेत्र में जा पहुँचता है। एक लेखक की कलम से जो चीज प्रोपेगैंडा होकर निकलती है, वही दूसरे लेखक की कलम से सत्साहित्य बन जाती है। साहित्य का आधार भावों का सौन्दर्य है, इससे परे जो कुछ है वह साहित्य नहीं कहा जा सकता।

3.2.2 उपन्यास सम्बन्धी विचार

प्रेमचन्द ने उपन्यास को परिभाषित करने का प्रयास करते हुए कहा है :"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।" (उपन्यास, प्रेमचन्द कुछ विचार') मनुष्य का चरित्र बहुत सी बातों में समान होने पर भी अत्यन्त वैविध्यपूर्ण होता है। प्रेमचन्द के अनुसार 'चरित्र सम्बन्धी समानता और विभिन्नता--अभिन्नत्व में भिन्नत्व और भिन्नत्व में अभिन्नत्व--दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्तव्य है।" अपने कथन की पुष्टि के लिए प्रेमचन्द ने सन्तान प्रेम के विविध रूपों का उल्लेख किया है, यद्यपि वह मानव चरित्र का एक व्यापक गुण है। कोई पिता अपनी सन्तान के लिए मर मिटता है तथा उसे भावी कष्टों से मुक्त रखने के लिए स्वयं नाना प्रकार के कष्ट झेलता है; पर वह अनुचित रीति से धन-संचय इस भय से नहीं करता कि कहीं उसका परिणाम उसकी सन्तान के लिए बुरा न हो। इसके विपरीत ऐसे लोग होते हैं जो अपनी सन्तान को समृद्ध बनाने के लिए औचित्य की सारी सीमाओं का अतिक्रमण कर देते हैं, यहाँ तक कि अपनी आत्मा को भी बेच डालते हैं। सन्तान-प्रेम का एक रूप यह भी होता है कि सन्तान को कुमार्गगामी देख कर उसके भले के लिए पिता उसके लिए धन-संचय करना उचित नहीं समझता। कभी कभी तो उसका घातक शत्रु तक हो जाता है। कभी-कभी सन्तान पिता के लिए 'घी का लड्डू' होता है जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। एक सन्तान-प्रेम वह भी है जिसमें शराबी-जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर अपने सारे बुरे व्यसन त्याग देता है। इस प्रकार एक ही सम्बन्ध के अनेक रूप हो सकते हैं। प्रेमचन्द प्रश्न उठाते हैं कि उपन्यासकार को इन प्रश्नों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने यथावत् रख देना चाहिए या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए। यहीं 'यथार्थवाद' और 'आदर्शवाद' का द्वन्द्व उपस्थित होता है। प्रेमचन्द के अनुसार "यथार्थवादी, चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ, नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा--उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं।" इसके विपरीत "आदर्शवाद हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं।" प्रेमचन्द के अनुसार "यथार्थवाद हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठा कर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है।" इसका दोष यह होता है कि आदर्शवादी चरित्र प्रायः सिद्धान्तों की मूर्ति और निर्जीव प्रतिमा हो जाते हैं। इसलिए प्रेमचन्द उन उपन्यासों को 'उच्च कोटि' का मानते हैं जिनमें 'यथार्थ और आदर्श का समावेश हो।' इसे वे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहते हैं। उनके अनुसार "आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें।" जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं होता उसे प्रेमचन्द 'दो कौड़ी का' मानते हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए प्रेमचन्द उसकी कमजोरियों का चित्रण करना भी आवश्यक मानते हैं, क्योंकि ये कमजोरियाँ ही उस चरित्र को मनुष्य बनाती हैं। मनुष्य कमजोरियों से

बिलकुल रहित नहीं हो सकता। निर्दोष चरित्र देवता हो जाए... । पर साहित्य का उद्देश्य केवल मनुष्य की दुर्बलताओं का चित्रण करके पाठकों का मनोरंजन करना नहीं होता। प्रेमचन्द के अनुसार यह 'भाटों, मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार हमारा पथप्रदर्शक होता है। वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है।' प्रेमचन्द इसे ही साहित्य का उद्देश्य मानते हैं। इसके लिए कथा-पात्रों का, प्रेमचन्द के शब्दों में, 'पाजिटिव्ह' होना आवश्यक है। ऐसे पात्र प्रलोभनों के आगे सिर नहीं झुकाते, वासनाओं के गुलाम नहीं बनते। वे किसी विजयी सेनापति की तरह शत्रुओं का विनाश करके विजय-नाद करते हुए निकलते हैं।

प्रेमचन्द 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त पर आपत्ति नहीं करते। पर, उनके अनुसार यह सिद्धान्त 'मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित' होता है। वे स्वीकार करते हैं कि " जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो यह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है।'' प्रेमचन्द विचार के प्रचार को साहित्य के लिए बिलकुल वर्जित नहीं मानते। पर शर्त यह है कि साहित्यकार विचारप्रधान साहित्य की रचना इतनी 'सुन्दरता' से करे जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे। उनके अनुसार " 'कला के लिए कला' का समय वह होता है, जब देश सम्पन्न और सुखी हो।'' जब कोई देश राजनीतिक दृष्टि से परतन्त्र हो, आर्थिक दृष्टि से विपन्न हो, सर्वत्र दुख-दारिद्र्य भरा हो तो साहित्य में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पर साहित्यकार से यह अपेक्षा जरूर की जानी चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप में व्यक्त हों, कथा-संसार की स्वाभाविकता में वह बाधक न बने।

प्रेमचन्द के अनुसार उपन्यासकार को अपनी रचना के बीज आसपास की जिन्दगी से ही मिलते हैं। इसके लिए उन्होंने चार्ल्स डिकेन्स के 'पिकविक पेपर्स', जार्ज इलियट के 'साइलस मार्नर', हाथर्न के 'स्कारलेट वेटर' आदि के उदाहरण दिये हैं। अपनी प्रसिद्ध रचना 'रंगभूमि' के बारे में उन्होंने लिखा है कि उसका 'बीजांकुर' उन्हें अपने ही गाँव के एक अन्धे भिखारी से मिला था। इसके अतिरिक्त कुछ लेखकों को अपने उपन्यासों के लिए 'अंकुर' अन्य लेखकों की पुस्तकों से मिल जाते हैं। इस कथन के समर्थन में प्रेमचन्द ने हालकेन के 'एटर्नल सिटी' (हिन्दी अनुवाद-'अमरावती'), मेटरलिंक के 'मोमाबोन', देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' आदि का उदाहरण दिया है। प्राचीन कथाओं का आधार लेकर भी उपन्यास लिखे जाते हैं।

प्रेमचन्द की मान्यता है कि उपन्यासकार के लिए **निरीक्षण- शक्ति** का होना बहुत आवश्यक है। वे कथालेखकों के लिए 'नोटबुक' रखना बहुत जरूरी समझते हैं। "कोई नयी चीज, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक में दर्ज भर कर लेने से बड़ा काम निकलता है।'' यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हों, उसके वर्णन स्वाभाविक हों तो उसे अनिवार्यत: इससे काम लेना चाहिए। प्रेमचन्द ने 'वाल्टर बेसेन्ट' और हेनरी जेम्स' के विचारों का हवाला देते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि उपन्यासकारों को अपने उपन्यासों के लिए 'पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन से-ही लेना चाहिए।'

प्रेमचन्द के अनुसार 'उपन्यास-कला में यह बात भी बड़े महत्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे।' चयन और त्याग दोनों का विवेक उपन्यास-लेखन के लिए आवश्यक होता है। प्रेमचन्द के शब्दों में "कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी ही अधिक सामग्री हो, उतनी ही वह रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है, तो कहानी आशयहीन हो जाती है ; ज्यादा बतलाता है, तो कहानी में मजा नहीं आता।''

'उपन्यास का विषय' शीर्षक निबन्ध में प्रेमचन्द ने वाल्टर बेसेन्ट का विचार उद्धृत करते हुए उससे अपनी सहमति व्यक्त की है। बेसेन्ट के अनुसार "उपन्यास के विषय का विस्तार मानव-चरित्र से किसी कदर कम नहीं है। उसका सम्बन्ध अपने चरित्रों के कर्म और विचार, उनके देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है। मनोभाव के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओं में उनका विकास उपन्यास के मुख्य विषय हैं।'' इस विषय-विस्तार के कारण ही उपन्यास विश्व भर में साहित्य की प्रमुख विधा बन गया है। उपन्यास में इतिहास, दर्शन, कविता, समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्व सभी के लिए स्थान है। किसी अन्य विधा में विषय का इतना अधिक विस्तार सम्भव नहीं है।

प्रेमचन्द 'सृजन-शक्ति' को उपन्यासकार का 'प्रधान' गुण मानते हैं। कल्पना-शक्ति की प्रखरता उसके लिए आवश्यक होती है। यदि उसमें यह शक्ति मौजूद है तो वह ऐसे कितने ही दृश्यों, दशाओं और

मनोभावों का चित्रण कर सकता है, जिनका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। इसके अभाव में उसका देशाटन, विद्वत्ता, अनुभव सब अपर्याप्त होगा।

प्रेमचन्द के अनुसार उपन्यास की रचना-शैली 'सजीव और प्रभावोत्पादक' तो अवश्य होनी चाहिए, पर वे ' शब्दों का गोरखधन्धा' पसन्द नहीं करते। प्रेमचन्द के अनुसार ' शाब्दिक आडम्बर' पाठकों को केवल भ्रम में डालता है। उनके शब्दों में "सम्भव है ऐसे लेखक को थोड़ी देर के लिए यश मिल जाए ; किन्तु जनता उन्हीं उपन्यासों को आदर का स्थान देती है, जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।" प्रेमचन्द उपन्यास की संरचना के सुगठित होने को उसका आवश्यक गुण मानते हैं। वे 'घटना-वैचित्र्य' के विरोधी नहीं हैं पर अपेक्षा करते हैं कि 'प्रत्येक घटना असली ढाँचे से निकट सम्बन्ध रखती हो, वह कथा का आवश्यक अंग बन गयी हो।' उनके अनुसार "उपन्यास में वही घटनाएँ, वही विचार लाना चाहिए जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाए, जो प्लॉट के विकास में सहायक हों अथवा चरित्रों के गुप्त मनोभावों का प्रदर्शन करते हों।" वे मनोभावों और चरित्र के रहस्यों का उद्‌घाटन उपन्यास-लेखन का उद्देश्य मानते हैं।

प्रेमचन्द के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु उपन्यास का उपयुक्त विषय बन सकती है। विषय का महत्व और उसकी गहराई उपन्यास के सफल होने में सहायक होती है। कोई जरूरी नहीं कि चरित्र-नायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य मात्र में व्यापक हैं। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिए जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव हो। उनके अनुसार उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा, उतना ही पढ़ने वालों पर उसका असर पड़ेगा और यह लेखक की रचना-शक्ति पर निर्भर है। उनका विचार है कि अगर चरित्रों में किसी का विकास रुक जाए तो उसे उपन्यास से निकाल देना चाहिए, क्योंकि उपन्यास चरित्रों के विकास का विषय है। उनके अनुसार "कोई चरित्र अन्त में भी वैसा ही रहे, जैसा वह पहले था, तो वह असफल चरित्र है।" पात्रों के सम्बन्ध में प्रेमचन्द का यह विचार विवादास्पद माना जा सकता है। इस प्रकार के पात्र, ई. एम. फोर्स्टर के अनुसार, 'समतल' पात्र कहे जाते हैं और कोई जरूरी नहीं कि 'समतल' पात्र 'असफल चरित्र' हों। स्वयं प्रेमचन्द के 'गोदान' का अमर पात्र होरी एक 'समतल' पात्र है, पर उसे 'असफल चरित्र' नहीं कहा जा सकता।

प्रेमचन्द ने उपन्यास में 'वार्तालाप' के महत्व को स्वीकार किया है। स्वयं लेखक द्वारा किये जाने वाले वर्णन को वे अच्छा नहीं समझते। यद्यपि उनके उपन्यासों में भी कथाकार द्वारा किये गये वर्णन की ही प्रधानता है, पर पात्रों के वार्तालाप को उन्होंने अपेक्षित महत्व दिया है। 'वार्तालाप' के सम्बन्ध में उनका कहना है : "प्रत्येक वाक्य को--जो किसी चरित्र के मुख से निकले--उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत का पूर्णरूप से स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है।"

प्रेमचन्द के अनुसार जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अन्दर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसके सद्‌भाव जाग उठें, वही सफल उपन्यास है। कल्पना कुछ भी हो, कल्पना ही है। वह यथार्थ का स्थान नहीं ले सकती। भविष्य उन्हीं उपन्यासों का है, जो अनुभूति पर खड़े हों।" 'कल्पना' से प्रेमचन्द का आशय उस कल्पना से है जो यथार्थ से रहित होती है, जिसमें मनुष्य के अनुभवों से कटी हुई घटनाओं का जाल होता है और जो अनुभूति-सम्पन्न नहीं होतीं। उनके अनुसार "भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम, सत्य अधिक होगा, हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे। .....भावी उपन्यास जीवन-चरित होगा ; चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा जिन पर उसने विजय पायी है। हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जाएगा कि उपन्यास मालूम हो। अभी हम झूठ को सच बना कर दिखाना चाहते हैं, भविष्य में सच को झूठ बना कर दिखाना होगा। किसी किसान का चरित्र हो, या किसी बड़े आदमी का, पर उसका आधार यथार्थ पर होगा।"

प्रेमचन्द जितने बड़े कथाकार हैं उतने बड़े विचारक नहीं। इसलिए उनके उपन्यास विषयक विचारों में अपेक्षित गाम्भीर्य, व्यापकता और विशदता नहीं है। उनके रचना-विषयक अनुभव उनमें व्यक्त हुए हैं, पर उन्हें व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने में उन्हें सफलता नहीं मिली है। यदि कोई आज चाहे तो प्रेमचन्द के ही उपन्यासों को आधार बनाकर उपन्यास का एक सैद्धान्तिक ढाँचा तैयार कर सकता है, जिसे स्वयं प्रेमचन्द नहीं कर सके हैं।

3.2.3 कहानी सम्बन्धी विचार

प्रेमचन्द का कहानी सम्बन्धी विमर्श उनके तीन निबन्धों - **कहानी-कला-1, कहानी-कला-2** और **कहानी-कला-3** में उपलब्ध है। इनमें विचारों की पुनरावृत्ति तो है ही, यत्किंचित् अन्तर्विरोध और अपुष्ट कथन भी हैं। दरअसल ये कहानी-कला पर सुचिन्तित, गम्भीर अध्ययन और विश्लेषण युक्त निबन्ध नहीं, वरन् कहानीकार के रूप में अर्जित अनुभवों और विचारों पर आधारित टिप्पणियाँ हैं। इन टिप्पणियों में एक सजग कहानीकार कहानी की परिभाषा की तलाश करता दिखाई देता है।

'कहानी' शब्द अर्थ की दृष्टि से स्वयं में बड़ा भ्रामक है। 'कहानी' के लिए 'कथा', 'किस्सा', 'आख्यायिका', 'गल्प' आदि शब्द भी प्रचलित हैं और प्रेमचन्द ने इनका अलग-अलग, सुनिश्चित अर्थों में प्रयोग नहीं किया है। संस्कृत में 'कथा' और 'आख्यायिका' सुनिश्चित अर्थों में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्द हैं। 'गल्प' बँगला से और 'किस्सा' फ़ारसी से हिन्दी में आए शब्द हैं। प्रेमचन्द ने इन सबका घालमेल कर दिया है। आधुनिक विधा के रूप में 'कहानी' को परिभाषित करने के लिए इसके पर्यायवाची शब्दों को सुनिश्चित अर्थों से जोड़ना आवश्यक है। उदाहरण के लिए 'कथा' पद का प्रयोग उसके मूल रूप के लिए करें तो उसे 'घटनाओं का ऐतिहासिक कालक्रम में नियोजन' कहा जा सकता है। घटनाओं का ऐतिहासिक समयानुक्रम में विकास ही 'कथा' है और उसकी एकमात्र विशेषता है कौतूहल बनाए रखने की क्षमता। यदि हम इसे ही 'कथा' कहें तो आधुनिक विधा के रूप में 'कहानी' की पहचान सर्वथा भिन्न होगी। पर प्रेमचन्द ने इस पहचान को 'कहानी-कला-1' के प्रथम वाक्य में ही धुँधला दिया है। वे कहते हैं, "गल्प, आख्यायिका या छोटी कहानी लिखने की कला प्राचीन काल से चली आती है।" वस्तुत: उपनिषदों, पुराणों, जातकों, 'महाभारत', 'पंचतन्त्र' या 'कथासरित्सागर' में जो छोटी कथाएँ हैं, उनकी प्रकृति आधुनिक 'कहानी' की नहीं है। वे केवल आकार में छोटी हैं। उनमें घटनाएँ भी हैं और समयानुक्रम भी। उनका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन और मानवीय मूल्यों का प्रतिपादन है। कथाकार की प्रवृत्ति के अनुसार इनमें कहीं 'घटना' तत्त्व की और कहीं मूल्य-प्रतिपादन की प्रधानता हो जाती है, पर ये कथाएँ इनसे कहीं अलग नहीं होतीं। प्रेमचन्द इस तथ्य से अपरिचित नहीं हैं। वे बताते हैं कि "प्राचीन ऋषि इन दृष्टान्तों द्वारा केवल आध्यात्मिक और नैतिक तत्वों का निरूपण करते थे। उनका अभिप्राय केवल मनोरंजन न होता था।" प्रेमचन्द के अनुसार आज का क्षेत्र व्यापक हो गया है। प्रेम की कहानियाँ', 'जासूसी किस्से', 'भ्रमण-वृतान्त', 'अद्भुत घटना', विज्ञान की बातें', 'मित्रों की गप-शप' ये सारी बातें 'कथा' के अन्तर्गत आ गयी हैं। उन्होंने 'एक अँगरेजी समालोचक' का हवाला देते हुए यह भी कहा है कि 'कोई रचना, जो पन्द्रह मिनटों में पढ़ी जा सके, गल्प कही जा सकती है' तथा उसमें 'किसी प्रकार का उपदेश होना दूषण समझा जाने लगा है।' पर इन कथनों से आधुनिक 'कहानी' का कोई स्पष्ट रूप सामने नहीं आता।

प्रेमचन्द ने कहानी की पहचान स्पष्ट करने के लिए उसे उपन्यास के रू-ब-रू रखने का प्रयास भी किया है। उनके अनुसार " उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है ; आख्यायिका केवल एक घटना है--अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं।" 'कई सुविज्ञ जनों की सम्मति' का हवाला देकर उन्होंने यह भी कहा है कि "उसमें केवल एक ही घटना या चरित्र का उल्लेख होना चाहिए।" वे यह भी बताते हैं कि कहानी में "एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा न होना चाहिए जो गल्प के उद्देश्य को स्पष्ट न करता हो। इसके सिवा, कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिए।" एक रूपक का प्रयोग करते हुए प्रेमचन्द यह भी लिखते हैं कि "कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है जितना रात भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।"

अपने कहानी-कला विषयक प्रथम निबन्ध में प्रेमचन्द ने 'कहानी' की विभिन्न शिल्प-प्रविधियों का उल्लेख किया है ; जैसे दो मित्रों के संवाद या 'पुलिस कोर्ट' के किसी दृश्य अथवा पत्रों, डायरी आदि के रूप में कहानी की प्रस्तुति। इसे प्रेमचन्द ने 'अँगरेजी आख्यायिकाओं की नकल' बताते हुए अनावश्यक बताया है। अपने इसी निबन्ध में प्रेमचन्द ने कहानी के अन्त में किसी आदर्श का प्रतिपादन आवश्यक बताया है। वे उन यूरोपीय कहानियों के प्रशंसक नहीं हैं, जिनमें 'किसी अन्त' की जरूरत नहीं समझी जाती और केवल यथार्थ का अंकन कर दिया जाता है। वे आदर्शवाद का समर्थन करते हैं और मानते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण मात्र नहीं, बल्कि दीपक है जिसका काम प्रकाश फैलाना है।

'कहानी-कला' शीर्षक दूसरे निबन्ध में प्रेमचन्द 'सत्य' और 'सुन्दर' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "जो वस्तु आनन्द नहीं प्रदान कर सकती, वह सुन्दर नहीं हो सकती, और जो सुन्दर नहीं हो सकती,

पह सत्य भी नहीं हो सकती। जहाँ आनन्द है, वहीं सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है, पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना, और इसीलिए वह सत्य है।'' प्रेमचन्द कहानी में भी 'सत्य' और 'सुन्दर' के समन्वय की अपेक्षा करते हैं जिससे कि वह आनन्द देने वाली हो सके।

प्रेमचन्द के अनुसार साहित्य मनुष्य को समझने का एक प्रयास है। उनके अनुसार आधुनिक कहानी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना लक्ष्य मानती है। "उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है। इतना ही नहीं, बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।'' यहाँ कल्पना से प्रेमचन्द का तात्पर्य 'कल्पनाजन्य घटनाप्रधान कथासंसार' से है, जिसका आधुनिक कहानी में विशेष महत्त्व नहीं होता।

प्रेमचन्द कहानी को जीवन का यथार्थ चित्र नहीं मानते। वे प्रश्न करते हैं कि 'अगर हम यथार्थ को हू-ब-हू खींच कर रख दें तो उसमें कला कहाँ है?' वे इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है। कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो।'' प्रेमचन्द यह भी बताते हैं कि जीवन और साहित्य के 'माप-दंड' समान नहीं होते। जीवन में सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम; कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता। वह गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में 'विधि-हाथ' है। पर कथा संसार मनुष्य द्वारा रचित काल्पनिक दुनिया है, जो हमारी सामने 'सम्पूर्णतः' उपस्थित होती है। यहाँ 'स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हर एक कृति के लिए जवाब' देना होता है। उनके अनुसार 'कला का रहस्य भ्रान्ति है, पर वह भ्रान्ति, जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।'

अपने लेख में प्रेमचन्द ने यह भी स्वीकार किया है कि आधुनिक विधा के रूप में 'कहानी' पश्चिम की देन है। उनका कहना है कि "हिन्दी में पच्चीस-तीस साल पहले तक कहानी का जन्म न हुआ था। परन्तु आज तो कोई ऐसी पत्रिका नहीं, जिसमें दो-चार कहानियाँ न हों--यहाँ तक कि कई पत्रिकाओं में केवल कहानियाँ ही दी जाती हैं।'' इस कथन से हमें प्रेमचन्द के समय में कहानी की बढ़ती हुई लोकप्रियता का पता चलता है।

प्रेमचन्द ने भी बहुतों की तरह आधुनिक 'कहानी' के जन्म का कारण आधुनिक जीवन में आदमी की व्यस्तता और 'मनोरंजन के लिए समय का अभाव' बताया है। पर भारत में 'कहानी' के उदय का यह कारण विश्वसनीय नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय जीवन में ऐसी कोई व्यस्तता न थी जो 'कहानी' के जन्म की अनिवार्यता बनती। वस्तुतः पश्चिम से आयी इस विधा में कुछ ऐसा नयापन था, जिसने भारतीय लेखकों को भी इसकी ओर आकृष्ट किया। प्रेमचन्द ने यद्यपि कहानियों से ही अपना लेखन आरम्भ किया था, पर बाद में उन्होंने छोटे-बड़े आकार के लगभग एक दर्जन उपन्यास लिखे और उन्हें पाठकों की अपार लोकप्रियता भी मिली। हाँ, उनका यह कहना जरूर सत्य और अनुभव पर आधारित है कि "हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े से शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाए। उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किए रहे, और उनमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताजगी हो, और इसके साथ ही कुछ तत्व भी हो। तत्वहीन कहानी से मनोरंजन भले ही हो जाए, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावों को जागृत करने के लिए, कुछ न कुछ अवश्य चाहते हैं।'' इस कथन में प्रेमचन्द का आदर्शवाद के प्रति रुझान स्पष्ट है।

'उत्तम कहानी' के लिए प्रेमचन्द 'मनोवैज्ञानिक यथार्थ' को आवश्यक मानते हैं। उनके ही शब्दों में "सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।'' इसे स्पष्ट करते हुए वे आगे कहते हैं : "एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न भिन्न रूप से प्रभावित करती है। हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें तो वह कहानी अवश्य आकर्षक होगी।'' मानव जीवन में विभिन्न परिस्थितियों के टकराव, तनाव और द्वन्द्व को प्रेमचन्द कहानी के लिए आवश्यक मानते हैं।

प्रेमचन्द ने कहानियों के दो प्रकार माने हैं : 'घटना प्रधान' और 'चरित्र प्रधान'। इनमें पहला प्रकार तो 'पदीय अन्तर्विरोध' से ग्रस्त है क्योंकि कहानी में 'घटना' तो होती ही नहीं, फिर 'घटनाप्रधान कहानी' कहानी कहाँ से होगी। 'कहानी' में चरित्र का कोई बिन्दु हो सकता है, पर उसका विकास प्रस्तुत करना कहानी का लक्ष्य नहीं होता। प्रेमचन्द को इस बात का बोध है, इसलिए वे कहते हैं :

"यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है।" निष्कर्ष रूप में प्रेमचन्द कहते हैं कि " कहानी जीवनी के बहुत निकट आ गयी। उसकी जमीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का, सजीव हृदयस्पर्शी चित्रण है अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावों की व्याख्या करने नहीं बैठता, केवल उसकी तरफ इशारा कर देता है। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नहीं लगाते--हम चाहते हैं, पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे। घटनाओं का स्वतन्त्र कोई महत्व ही नहीं रहा। खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है।" इस निष्कर्ष से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द को कहानी के स्वरूप, उसकी आत्मा की सही पहचान हो गयी थी।

कहानी-कला विषयक अपने तीसरे निबन्ध में प्रेमचन्द ने 'कथा' के आदिम रूप की चर्चा करते हुए उसकी लोकप्रियता और कला-रूप में उसके विकास का उल्लेख किया है, जिसमें विचार सम्बन्धी कोई नवीनता नहीं है। इस विषय पर अनेक विद्वान् बहुत गहराई पूर्वक विचार कर चुके हैं। प्रेमचन्द कहते हैं कि "प्रकृति में जो कला है, वह प्रकृति की है, मनुष्य की नहीं। मनुष्य को तो वही कला मोहित करती है, जिस पर मनुष्य की आत्मा की छाप हो, जो गीली मिट्टी की भाँति मानव हृदय के साँचे में पड़ कर संस्कृत हो गयी हो। प्रकृति का सौन्दर्य हमें अपने विस्तार और वैभव से पराभूत कर देता है। उससे हमें आध्यात्मिक उल्लास मिलता है, पर वही दृश्य जब मनुष्य की तूलिका और रंगों और मनोभावों से रंजित होकर हमारे सामने आता है, तो वह जैसे हमारा अपना हो जाता है। उसमें हमें आत्मीयता का सन्देश मिलता है।"

पुरानी 'कथा' और आधुनिक 'उपन्यास-कहानी' के अन्तर के सम्बन्ध में प्रेमचन्द का विचार है कि 'पुरानी कथा-कहानियाँ' घटना-वैचित्र्य के कारण मनोरंजक तो हैं, पर उनमें उस रस की कमी है, जो शिक्षित रुचि साहित्य में खोजती है। "हम हर एक विषय की भाँति साहित्य में भी बौद्धिकता की तलाश करते हैं। आजकल के उपन्यासों और आख्यायिकाओं में अस्वाभाविक बातों के लिए गुंजाइश नहीं है। उनमें हम अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं।" वे यह भी कहते हैं कि घटना वर्तमान कहानी या उपन्यास का मुख्य अंग नहीं है। उपन्यासों में पात्रों का केवल बाह्य रूप देख कर हम सन्तुष्ट नहीं होते। हम उनके मनोगत भावों तक पहुँचना चाहते हैं। मानसिक द्वन्द्व वर्तमान उपन्यास या गल्प का खास अंग है।" उनके अनुसार "साहित्य में कहानी का स्थान इसलिए ऊँचा है कि वह एक क्षण में ही, बिना किसी घुमाव फिराव के, आत्मा के किसी न किसी भाव को प्रगट कर देती है।" इस निबन्ध में भी प्रेमचन्द मनोविज्ञान को वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार मानते हैं।

3.3 यथार्थवाद और आदर्शवाद सम्बन्धी विचार

'यथार्थवाद' और 'आदर्शवाद' की अवधारणा किसी वैज्ञानिक अवधारणा की तरह सुनिश्चित नहीं है। 'यथार्थ' के समानार्थी रूप में 'सत्य', 'वास्तविक', 'यथातथ्य' आदि पदों का भी प्रयोग किया जाता है। 'सत्य' या 'यथार्थ' क्या है, इसे लेकर दार्शनिक जगत् में बहुत ऊहापोह हुआ है। भारतीय दार्शनिकों का एक बहुत बड़ा समुदाय समस्त जगत् को, दृश्य पदार्थ मात्र को, मिथ्या, माया, प्रपंच, इन्द्रजाल आदि मानता है। इनके अनुसार सत्य केवल ब्रह्म है : 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। यूरोप के मध्ययुगीन स्कॉलेस्टिक यथार्थवादियों की धारणा थी कि केवल शाश्वत, अमूर्त और भाव जगत् की वस्तुएँ ही 'यथार्थ' हैं, स्थूल और विशिष्ट वस्तुएँ नहीं।

पर आधुनिक काल में 'यथार्थ' सम्बन्धी अवधारणा में परिवर्तन हो गया है। आधुनिक यथार्थवादी दर्शन का, जिसके प्रतिष्ठापक दकार्त, लॉक, टॉमस रीड आदि हैं, आरम्भ ही इस मान्यता से होता है कि व्यक्ति सत्य का उद्घाटन अपनी बोधेन्द्रियों के द्वारा कर सकता है। इस धारणा के अनुसार बाह्य संसार, जिसे हम अपनी बोधेन्द्रियों के द्वारा अनुभव करते हैं, यथार्थ है। मनुष्य और उसके चारों ओर फैला संसार, नाना प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध, मानवीय अनुभूतियाँ, संघर्ष और द्वन्द्व, अर्थात् मनुष्य के जीवन में वह सबकुछ, जिसे हम अपनी बोधेन्द्रियों, मन और बुद्धि द्वारा जानते हैं, यथार्थ की सीमा में आ जाता है।

उत्तर-आधुनिक विचारधारा पुनः यूरोपीय स्कॉलिस्टिक यथार्थवादियों की विचारधारा के निकट लौटती प्रतीत होती है, जिसमें शाश्वत, अमूर्त और भाव जगत् की वस्तुओं को ही 'यथार्थ' मानने की प्रवृत्ति

बढ़ रही है, स्थूल और विशिष्ट वस्तुओं को नहीं। उत्तर-आधुनिक साहित्य में 'जादुई यथार्थवाद' की अवधारणा इसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है।

'आदर्शवाद' 'यथार्थवाद' का विलोम नहीं, जैसा कुछ लोग समझ बैठते हैं : वस्तुत: जहाँ यथार्थवाद का आधार बोधेन्द्रियों द्वारा अनुभूत बाह्य यथार्थ है, वहाँ आदर्शवाद का आधार कोई 'भाव' या 'विचार' है, जिसके चारों ओर एक अभिलषित या कल्पित संसार निर्मित कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द के 'सेवा सदन' में आप देखेंगे कि वेश्या समस्या के समाधान के लिए वेश्याओं को नगर के बाहर बसाने और एक सेवा सदन की स्थापना की कल्पना की गयी है, जो समकालीन परिस्थितियों में तर्कसंगत नहीं है। इस कल्पना के पीछे लेखक का एक अभिलषित भाव या विचार है, जो कथा-प्रसंग के रूप में व्यक्त हुआ है। 'गोदान' के मालती-मेहता प्रसंग में भी प्रेमचन्द के नारी विषयक विचार उनके निजी आदर्श के ही परिचायक हैं।

उपन्यास का सम्बन्ध 'यथार्थ' और 'आदर्श' की इसी अवधारणा से है। साहित्य का कोई अन्य रूप 'यथार्थवाद' की इस अवधारणा से उतनी गहराई के साथ नहीं जुड़ा हुआ है जितना उपन्यास। संसार की किसी भाषा के उपन्यास साहित्य को देखें, वह 'यथार्थ' से अनिवार्यत: सम्बद्ध है। हिन्दी उपन्यास का भी 'यथार्थ' से अत्यंन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। परम्परागत भारतीय कथा-साहित्य से हिन्दी उपन्यास को अलग करने वाला, उसे एक विशिष्ट रूप प्रदान करने वाला प्रतिकारक यथार्थवाद ही है। यह यथार्थ बोध पहली बार, बीज रूप में, पं. गौरीदत्त लिखित 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870 ई.) में दिखाई पड़ा था, जिसका विकास पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी कृत 'भाग्यवती' (1877), राधाकृष्ण दास कृत 'निस्सहाय हिन्दू' (1881), लाला श्रीनिवास दास कृत 'परीक्षा गुरु' (1882) आदि रचनाओं में हुआ। पर इन कथाकारों की यथार्थ चेतना पूर्णत: विकसित नहीं थी। फलत: इनकी रचनाओं में समकालीन यथार्थ की सही और पूरी तस्वीर नहीं मिल पाती। इनमें उपदेश और आदर्श तत्व की प्रमुखता है। अधिकतर लेखक अपने विचारों को उदाहृत करने के लिए कथा-संसार की सृष्टि करते हैं। इस काल के कुछ कथाकारों, जैसे देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी आदि की रचनाओं में घटना-जाल से उत्पन्न 'मनोरंजन' की प्रमुखता है।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों द्वारा हिन्दी कथा-साहित्य को मनोरंजन और उपदेश की सीमित परिधि से मुक्त कर यथार्थ का व्यापक आयाम प्रदान किया। इस प्रसंग में यह देखना आवश्यक है कि प्रेमचन्द की 'यथार्थवाद' के सम्बन्ध में खुद की क्या अवधारणा है। अपने 'उपन्यास' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं : "उपन्यासकारों के दो गिरोह हो गये हैं, एक आइडियलिस्टि या आदर्शवादी ; दूसरा, रियलिस्ट या यथार्थवादी। 'रियलिस्ट' चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है, उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है, या कुच्चरित्रता का परिणाम अच्छा। 'रियलिज्म' हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। वास्तव में रियलिज्म हमको पेसिमिस्ट बना देता है, मानव चरित्रों पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है। इसी कमी को 'आइडियलिस्ट' पूरा करता है। 'आइडियलिज्म' हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। रियलिज्म यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो 'आइडियलिज्म' हमें उठा कर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है।''

इस निबन्ध में प्रेमचन्द स्पष्ट रूप से अपने को 'आइडियलिस्ट' (आदर्शवादी) कहते हैं। पर वे उस उपन्यास को उच्च कोटि का उपन्यास मानते हैं 'जहाँ यथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय हो गया हो।' उसे प्रेमचन्द के अनुसार 'आइडियलिस्टिक रियलिज्म' (आदर्शोन्मुख यथार्थवाद) की संज्ञा दी जा सकती है। अपने 'साहित्य का उद्देश्य' शीर्षक निबन्ध में वे साहित्य को 'जीवन की आलोचना' भी कहते हैं। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में उपन्यास और कहानी भी 'जीवन की आलोचना' ही है। 'जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है--चाहे वह व्यक्ति हो या समूह--उसकी हिमायत और वकालत करना' भी, प्रेमचन्द की दृष्टि में, साहित्य या उपन्यास का लक्ष्य होता है। 'वह कहानी लिखता है, पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए ; मूर्ति बनाता है, पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भाव-व्यंजकता भी ।' इसके साथ ही वे यह भी कहते हैं कि "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो--जो हममें गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं.।''

'यथार्थवाद' और 'आदर्शवाद' के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के ये विचार पर्याप्त उलझन में डालने वाले हैं। 'यथार्थवाद' सम्बन्धी प्रेमचन्द की अवधारणा और उनके उपन्यासों में चित्रित कथा-संसार में सामंजस्य नहीं है। इसके दो कारण सम्भव हैं। प्रथम यह कि प्रेमचन्द 'रियलिज्म' या 'यथार्थवाद' के सही स्वरूप से अवगत नहीं थे। जिस समय (जनवरी, 1925) प्रेमचन्द ने ये विचार व्यक्त किये थे यूरोपीय साहित्य में यथार्थवादी आन्दोलन कई अवस्थाओं से गुजर चुका था और 'यथार्थवाद' के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रचुर विचार-विमर्श हो चुका था। वस्तुत: प्रेमचन्द ने जिस 'यथार्थवाद' की बात की है और जिसे नकारा है वह पाश्चात्य साहित्य का 'प्राकृतिकवाद' (नेचुरलिज्म) है, जिसका विकास उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, विशेष रूप से फ्रान्स में, हुआ था। प्रेमचन्द का 'यथार्थवाद' या 'कोरा यथार्थवाद 'प्राकृतिक यथार्थवाद' से मिलता-जुलता है। 'प्राकृतिकवाद' जीवन की ऊपरी सतह पर दिखाई देने वाली वास्तविकता का ब्योरेवार, तथ्यात्मक, हू-ब-हू चित्रण करता है। वह समाज में व्याप्त गन्दगी, बीमारी, गरीबी, अत्याचार, शोषण, व्यभिचार, हर प्रकार के नैतिक पतन आदि का फोटोचित्र प्रस्तुत करता है। प्राकृतिकवादी जीवन का एकांगी चित्र प्रस्तुत करता है और सतह पर नंगी आँखों से दिखाई पड़ने वाली वास्तविकता का उसकी गहराई में जाकर विश्लेषण नहीं करता। वह उन सम्भावनाओं का संकेत भी नहीं देता जो वर्तमान यथार्थ को बदलने के लिए अनिवार्य हैं। प्रेमचन्द ने इसी 'प्राकृतिकवाद' को 'यथार्थवाद' का पर्याय मानकर उसकी आलोचना की है।

पर वास्तविकता यह है कि 'प्राकृतिकवाद' के उदय के काफी पहले, उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक में, फ्रान्स में ही, बलजाक और स्तेन्दल की कथाकृतियों में 'यथार्थवाद' का असली रूप स्पष्ट हो चुका था। 'यथार्थवाद' की प्रकृति आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक होती है। यथार्थवादी कथाकार जीवन की वास्तविकताओं का सूक्ष्म अवलोकन और हू-ब-हू अंकन ही नहीं करता, वरन् उसके भीतर कार्यरत शक्तियों और प्रतिकारकों का विश्लेषण भी करता है। वह जीवन को उसकी समग्रता में, आलोचनात्मक और वैज्ञानिक दृष्टि से, देखता है, उसकी गहराई में प्रवेश करता है और उसका समग्र चित्र प्रस्तुत करता है। इस यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास चार्ल्स डिकेन्स, जार्ज इलियट, लियो तोल्सतोय, मोपाँसा आदि की कृतियों के माध्यम से हुआ। इसे आलोचकों ने 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' की संज्ञा दी है।

'आलोचनात्मक यथार्थवाद' का एक और रूप 'समाजवादी यथार्थवाद' है, जिसके प्रवर्तक मैक्सिम गोर्की माने जाते हैं। इस अवधारणा का विकास शोलोकोव, अलेक्सी तोल्सतोय आदि रूसी उपन्यासकारों की रचनाओं में हुआ। 'समाजवादी यथार्थवाद' में 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' की सारी विशेषताएँ होती हैं, पर तथाकथित वैज्ञानिक समाजवादी परिप्रेक्ष्य से सन्दर्भित हो जाने के कारण वह, कुछ विद्वानों के अनुसार, परिपूर्ण और वैज्ञानिक हो जाता है। 'समाजवादी यथार्थवाद' केवल यथार्थ का अंकन नहीं करता, वरन् उसे सही दिशा भी प्रदान करता है ; वह रास्ता दिखाने वाले दीपक का काम करता है। 'समाजवादी यथार्थवाद' मार्क्सवादी आलोचना का मेरुदंड रहा है, इस कारण पश्चिमी आलोचक इसका प्राय: विरोध भी करते रहे हैं। प्रेमचन्द का 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' समाजवादी यथार्थवाद का भारतीय सन्दर्भ में रूपान्तरण है। प्रेमचन्द ने लिखा है : "आदर्शवाद साहित्य को समाज का दर्पण मात्र नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है।" पर इसके बावजूद प्रेमचन्द 'समाजवादी यथार्थवादी' नहीं हैं। इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द की परिस्थितियाँ 'समाजवादी यथार्थवाद' के अनुरूप नहीं थीं और वे 'मार्क्सवाद' के अन्धानुयायी नहीं थे। उनके 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' में 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' और 'आदर्शवाद' का समन्वय देखा जा सकता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में विचार और दृष्टिकोण का सतत विकास दिखाई पड़ता है। उनका यथार्थ सम्बन्धी दृष्टिकोण भी निरन्तर वैज्ञानिक होता गया है, जो उनके परवर्ती उपन्यासों में दिखाई पड़ता है।

3.4 सारांश

प्रेमचन्द ने सर्जनात्मक साहित्य-लेखन के साथ-साथ साहित्य के विविध पक्षों पर अपने विचार भी व्यक्त किये हैं। विशेष रूप से उन्होंने 'साहित्य', 'उपन्यास' और 'कहानी' के स्वरूप और प्रकृति का विवेचन एक सजग लेखक के रूप में किया है। उनके अनुसार साहित्य 'सत्य का वाहक', 'अपने काल का प्रतिनिधि' और 'जीवन की आलोचना' होता है। उनके अनुसार वही साहित्य 'साहित्य कहलाने का अधिकारी' होता है, जो हमारी सुरुचि को जागृत करता है, हमें मानसिक और आध्यात्मिक सुख प्रदान करता है तथा मनुष्य में शक्ति, गति, संकल्प, कठिनाइयों पर विजय पाने की दृढ़ता और सौन्दर्य-प्रेम पैदा करता है।

प्रेमचन्द 'सत्य' के साथ 'सुन्दर' को भी साहित्य का आधार मानते हैं। उनके अनुसार सच्चा आनन्द 'सुन्दर' और 'सत्य' से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ, अकृत्रिम रूप में है वहीं आनन्द है। प्रेमचन्द सौन्दर्य को अपने ढंग से परिभाषित करते हैं। वे सौन्दर्य को सापेक्ष मानते हैं। केवल अमीरी और विलासिता पर आधारित सौन्दर्य-भावना को वे महत्व नहीं देते। उन्हें उस निर्धन, बच्चों वाली गरीब स्त्री में भी सौन्दर्य दिखाई देता है जो 'बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाए पसीना बहा रही है।' वे मानते हैं कि साहित्य का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है, वह देश-शक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई' है।

उपन्यास को प्रेमचन्द 'मानव चरित्र का चित्र' मानते हैं। उनके अनुसार 'मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व' है। प्रेमचन्द उन उपन्यासों को 'उच्च कोटि' का मानते हैं जिनमें 'आदर्श और यथार्थ का समावेश' होता है। इसे ही वे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहते हैं। उनके अनुसार जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अन्दर उत्कर्ष का अनुभव करे, वही सफल उपन्यास है।

'कहानी' के लिए प्रेमचन्द 'कथा', 'आख्यायिका', 'गल्प' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार 'कहानी' की प्रकृति उपन्यास जैसी ही होती है ; अन्तर केवल यह है कि उपन्यास घटनाओं और पात्रों का समूह है जबकि कहानी केवल एक घटना है। उनके अनुसार कहानी में 'एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा न होना चाहिए जो गल्प के उद्देश्य को स्पष्ट न करता हो। इसके सिवा कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिए।' उत्तम कहानी के लिए प्रेमचन्द 'मनोवैज्ञानिक यथार्थ' को आवश्यक मानते हैं। वे 'घटना' को नहीं, बल्कि 'अनुभूति' को कहानी का आधार मानते हैं।

प्रेमचन्द ने 'यथार्थ' और 'आदर्श' के स्वरूप पर भी विचार किया है। उनके अनुसार यथार्थवाद 'हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र' होता है जो हमें निराशावादी बनाता है। इसकी कमी आदर्शवाद के द्वारा पूरी होती है, जो हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है 'जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं। यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है।' प्रेमचन्द अपने को 'आदर्शवादी' मानते हुए उस उपन्यास को 'उच्च कोटि' का मानते हैं, जहाँ यथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय होता है। इसे ही वे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की संज्ञा देते हैं।

3.5 अभ्यास प्रश्न

1. प्रेमचन्द की साहित्य विषयक अवधारणा का तर्कपूर्ण विवेचन कीजिए।
2. प्रेमचन्द के अनुसार 'साहित्य जीवन की आलोचना' है। इस कसौटी पर उनके कथा-साहित्य का मूल्यांकन कीजिए।
3. प्रेमचन्द के अनुसार साहित्य का उद्देश्य मनुष्य में सौन्दर्य-प्रेम जगाना है। इस कथन का तर्कपूर्ण विवेचन कीजिए।
4. " मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।'' इस कथन की पुष्टि प्रेमचन्द के उपन्यासों के आधार पर कीजिए।
5. प्रेमचन्द के अनुसार उपन्यास की रचना-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक तो अवश्य होनी चाहिए, पर वे ' शब्दों का गोरखधन्धा' पसन्द नहीं करते। प्रेमचन्द के उपन्यासों के आधार पर इस कथन की पुष्टि कीजिए।
6. प्रेमचन्द की कहानी विषयक अवधारणा का तर्कपूर्ण मूल्यांकन कीजिए।
7. 'सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।' प्रेमचन्द की कहानियों से उदाहरण देकर उनके इस कथन की पुष्टि कीजिए।
8. प्रेमचन्द की 'यथार्थवाद', 'आदर्शवाद' और 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' सम्बन्धी अवधारणाओं का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

इकाई 4 प्रेमचन्द के उपन्यास और हिन्दी आलोचना

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 प्रेमचन्द की समकालीन आलोचना

4.3 परवर्ती आलोचना (1936-60)

4.4 सन् साठ के बाद की आलोचना

4.5 सन् अस्सी के बाद की आलोचना

4.6 सारांश

4.7 अभ्यास प्रश्न

खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य छात्रों को हिन्दी आलोचकों द्वारा किये गये प्रेमचन्द के साहित्य, विशेषकर कथा-साहित्य के मूल्यांकन के इतिहास से परिचित कराना है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान सकेंगे कि :

- प्रेमचन्द के जीवन-काल में समकालीन आलोचकों ने उनका मूल्यांकन किस रूप में किया था;
- इन आलोचकों के मूल्यांकन का क्या आधार था;
- प्रेमचन्द पर पहली समालोचनात्मक पुस्तक कौन सी थी;
- किन आलोचकों ने प्रेमचन्द के कथाकार रूप की सही पहचान करायी थी;
- प्रेमचन्द की आलोचना को सही परिप्रेक्ष्य में परखने के लिए किन आलोचकों ने नयी आधार- सामग्री उपलब्ध करायी थी;
- 1980 के बाद प्रेमचन्द की आलोचना किस प्रकार खेमेबन्दी की शिकार हो गयी थी; और
- गैर-मार्क्सवादी आलोचकों ने प्रेमचन्द के कथा साहित्य का प्रशंसन या अवमूल्यन किन आधारों या तर्कों पर किया था।

4.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई इस पाठ्यक्रम की चौथी इकाई है। किसी रचनाकार के महत्व को जानने और समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि उसके समकालीन और परवर्ती आलोचकों ने उसके साहित्य का मूल्यांकन किस रूप में किया है। प्रेमचन्द के समकालीन आलोचकों ने प्रेमचन्द के कथा-साहित्य की प्रशंसा भी की थी और आलोचना भी। ये आलोचनाएँ लेखों के रूप में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। पर उनके जीवन-काल में उनके निन्दक आलोचकों का ही पलड़ा भारी रहा ; प्रशंसक गिने चुने ही थे। इसका प्रमुख कारण कदाचित् यह था कि वे उर्दू से हिन्दी में आये थे और आते ही हिन्दी पाठकों का मन मोह लिया था। पाठकों के बीच उनकी दिनोदिन बढ़ती आलोचना उनके विरोधियों के लिए सह्य न थी। विरोधी आलोचकों का जवाब देने के लिए प्रेमचन्द को खुद आलोचना के मैदान में उतरना पड़ा था। उनके कथा-साहित्य पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने वालों में अमरनाथ झा, रामदास गौड़, जनार्दन प्रसाद झा द्विज आदि मुख्य थे। पर प्रेमचन्द के निधन के बाद आलोचकों ने उनके महत्व को पहचाना और उनके कथा-साहित्य का सम्यक् मूल्यांकन किया। जिन आलोचकों ने प्रेमचन्द को सही

प्रकार से समझा और उनका तटस्थ मूल्यांकन किया। इनमें प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा और नलिनविलोचन शर्मा प्रमुख हैं। फिर भी कतिपय आलोचक किसी न किसी तर्क से उनके साहित्य का अवमूल्यन करने का प्रयास करते रहे। यह कहना गलत न होगा कि मार्क्सवादी विचारधारा के आलोचकों ने विशेष रूप से प्रेमचन्द को मान्यता प्रदान की। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य के सम्बन्ध में आलोचकों की बदलती दृष्टि और एतत्सम्बन्धी विवाद उसके महत्व का ही परिचायक है। इस विमर्श से प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का जो चरित्र उभर कर सामने आता है, वह केवल उज्ज्वल ही नहीं, प्रासंगिक भी है। इस इकाई में सबसे पहले हमने प्रेमचन्द की समकालीन आलोचना का विवेचन किया है, जो 1905 से लेकर 1936 तक फैली हुई है। इसके बाद में प्रेमचन्द के निधन (1936) के बाद से लेकर लगभग 1960 तक की प्रेमचन्द विषयक आलोचना का विवरण दिया है। साथ ही 1961-80 की अवधि में, विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रेमचन्द की जीवनी और उनके अनुपलब्ध साहित्य को उपलब्ध कराने के प्रयासों का विवेचन किया गया है। आगे चलकर प्रेमचन्द की जन्मशताब्दी के अवसर पर, और उसके बाद, मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी आलोचकों द्वारा प्रेमचन्द के विवेचन और नव-मूल्यांकन के प्रयासों पर दृष्टि डाली गयी है।

4.2 प्रेमचन्द की समकालीन आलोचना

यों तो प्रेमचन्द ने 1900 ई के आसपास उर्दू में लिखना आरम्भ कर दिया था पर उनका पहला उपन्यास *असरारे मआबिद उर्फ देवस्थान रहस्य* अक्तूबर, 1903 से फरवरी, 1905 ई. तक 'आवाज ए खल्क' में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। उनका दूसरा उर्दू उपन्यास *हमखुर्मा व हम सवाब* (प्र. का.1906) था जिसका हिन्दी रूपान्तर *प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह* शीर्षक से 1907 ई. में प्रकाशित हुआ था। लेखक के रूप में किताब पर नाम छपा था-बाबू नवांब राय बनारसी। इस उपन्यास की एक संक्षिप्त समीक्षा 'हिन्दी प्रदीप' के जुलाई 1907 के अंक में प्रकाशित हुई थी, जिसके लेखक सम्भवत: (समीक्षा के साथ उसके लेखक का नाम नहीं दिया हुआ है, अत: अनुमानत: पत्रिका का सम्पादक ही उसका लेखक भी होगा) पं. बालकृष्ण भट्ट थे। लेखक ने लिखा था : 'प्रेमा--एक उपन्यास..... दो विधवाओं के विवाह का प्रस्ताव इसमें है..... लिखने वाले ने तो अपने समय में विधवा विवाह के अनुमोदन में इसे लिखा है पर सो नहीं विधवा विवाह की जीट इससे भले ही उड़ती है। इंडियन प्रेस के मालिक को चाहिए कि ऐसी पुस्तक न छापा करें।'' यह प्रेमचन्द के किसी उपन्यास की पहली आलोचना थी, जो अपने समय की साहित्यिक रुचि का प्रतिनिधित्व करती है। यद्यपि पं. बालकृष्ण भट्ट अपने समय के प्रगतिशील विचारों के लेखक थे, पर हिन्दू समाज में विधवा विवाह को अभी मान्यता नहीं प्राप्त थी। प्रेमचन्द ने आर्यसमाजी विचारधारा से प्रेरित होकर न केवल इस उपन्यास की रचना की थी, बल्कि एक विधवा से विवाह किया भी था। यह उस जमाने के लिए बड़ा ही क्रान्तिकारी कदम था, जिसे समकालीन परिष्कृत रुचि पचाने में सक्षम नहीं थी। यों *प्रेमा* कलात्मक दृष्टि से भी एक कमजोर रचना थी, पर उसमें छिपा हुआ एक श्रेष्ठ रचनाकार झलक मारता दिखाई देता था। पर पं. बालकृष्ण भट्ट का ध्यान इस तरफ नहीं गया और उन्होंने इंडियन प्रेस के मालिक को 'ऐसी पुस्तक' न छापने की सलाह दे डाली।

प्रेमा के बाद 1918 ई. के पूर्व प्रेमचन्द का हिन्दी में कोई उपन्यास--अनूदित या मौलिक--नहीं प्रकाशित हुआ। यद्यपि 1916 में 'सौत' कहानी के प्रकाशन द्वारा उनका प्रवेश हिन्दी में हो चुका था, पर 1917 में उन्होंने उर्दू में ही *बाजारे हुस्न* नामक उपन्यास लिखा। पर इसके साथ ही उन्होंने *सेवा सदन* शीर्षक से इसका हिन्दी रूपान्तर भी, सम्भवत: खुद ही, किया जो दिसम्बर, 1918 ई. में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता से प्रकाशित हो गया। इस उपन्यास ने प्रेमचन्द को हिन्दी संसार में प्रतिष्ठित कर दिया। उन्होंने 24 अप्रैल, 1919 को दयानरायन निगम के नाम लिखे अपने पत्र में सूचित किया था : "आप यह जान कर खुश होंगे कि मेरे हिन्दी ज्ञाविल ने खूब शोहरत हासिल की और अक्सर नकादों ने उसे हिन्दी जबान का बेहतरीन नाविल कहा है। यह बाजारे हुस्न का तर्जुमा है।'' प्रकाशन के तुरंत बाद, फरवरी, 1919 की सरस्वती में *सेवा सदन* का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित हुआ था जिसमें कहा गया था : "सेवा सदन ; श्रीयुत् प्रेमचन्द ; प्रकाशक : महावीर प्रसाद पोद्दार, व्यवस्थापक : हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता ; पृ. 512. भाषा सरल और लिखने की शैली रोचक है। यह उपन्यास की पुस्तक वेश्या-नृत्यादि बहुतेरी सामाजिक कुरीतियों को दिखलाती है।'' 1922 में *बाजारे हुस्न* भी उर्दू में प्रकाशित हो गया। पर उर्दू के पाठकों और आलोचकों ने इस उपन्यास का कोई खास स्वागत नहीं

क्या। अमृत राय ने इसका कारण यह बताया है कि "उर्दूवालों के लिए कोठे की जिन्दगी और उसके सायलों में कोई नयापन नहीं था। नजीर अहमद, सरसार और मिर्जा रुसवा जैसे लोग उसके बारे में हुत लिख चुके थे और बहुत अच्छा लिख चुके थे।" सम्भव है, उर्दू पाठकों और आलोचकों ने 'बाजारे स्न' को विशेष तवज्जो न दी हो, पर उसका कारण उर्दू पाठक वर्ग की मानसिकता थी ; हिन्दी ाठकों और आलोचकों ने *सेवा सदन* का स्वागत करने में कोई कोर कसर नहीं रखी। वेश्याओं की न्दगी के बारे में, हिन्दी उपन्यास में, प्रेमचन्द के पहले भी काफी लिखा जा चुका था, पर प्रेमचन्द ने स यथार्थ को एक नया आयाम देने में सफलता प्राप्त की थी, जिसे उर्दू आलोचकों ने नहीं समझा। *वासदन* ने स्त्री की समस्या को एक नये विजन के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। इस प्रकार न्दी पाठकों को *सेवासदन* के रूप में एक ऐसा उपन्यास मिला जो समकालीन यथार्थ को आलोचनात्मक ौर कलात्मक ढंग से उद्घाटित करने में समर्थ था। पाठकों और आलोचकों ने *सेवा सदन* को मौलिक पन्यास के रूप में ही ग्रहण किया था, अनुवाद के रूप में नहीं। गोरखपुर से निकलने वाले 'स्वदेश' सितम्बर, 1919 अंक में पं. पद्म सिंह शर्मा और रामदास गौड़ के संयुक्त हस्ताक्षर से *सेवासदन* की क समीक्षा प्रकाशित हुई जिसमें उसे खूब सराहा गया था। कई अन्य पत्रिकाओं में भी *सेवासदन* की मीक्षाएँ प्रकाशित हुईं जिनमें उसे एक श्रेष्ठ उपन्यास के रूप में स्वीकार किया गया। *सेवा सदन* की ाकप्रियता का एक प्रमाण यह भी है कि साल भर में ही इसका पहला संस्करण बिक गया और इसी बीच जराती में इसका अनुवाद भी हो गया।

वासदन की सफलता से उत्साहित होकर प्रेमचन्द ने *प्रेमाश्रम* (1922) और *रंगभूमि* (1925) नामक बड़े आकार वाले उपन्यास लिखे, जिन्होंने उन्हें 'उपन्यास सम्राट्' पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। *माश्रम* के प्रथम संस्करण के 'अनुवचन' में रामदास गौड़ ने इसकी दो टूक शब्दों में प्रशंसा की थी। न, 1922 की 'सरस्वती' में इसका परिचय प्रकाशित हुआ था। प्रेमचन्द ने अपने 31 मई, 1922 के त्र में दयानरायन निगम को लिखा था कि *प्रेमाश्रम* के 'बड़े अच्छे रिव्यू हो रहे हैं।'

मृतराय ने 'कलम् का सिपाही' में लिखा है कि रंगभूमि के प्रकाशित होने पर अमरनाथ झा ने ेचन्द के पास अँगरेजी में एक पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने उसकी औपन्यासिक विशेषताओं पर दग्धतापूर्ण ढंग से प्रकाश डाला था। उसी समय 'माधुरी' में रामदास गौड़ और नरोत्तम व्यास के *रंगभूमि* पर प्रशंसात्मक लेख छपे थे। पर इसी समय आलोचकों का एक ऐसा वर्ग सामने आया से प्रेमचन्द की लोकप्रियता पसन्द नहीं थी। कारण चाहे जो रहे हों, पर यह तय है कि ा यथाकथित आलोचकों की विवेचन और मूल्यांकन दृष्टि पूर्वग्रहग्रस्त थी। इन आलोचकों में प्रमुख थे ग्ध उपाध्याय, जो गणित के अध्यापक थे। जुलाई, 1926 से दिसम्बर, 1926 तक उन्होंने 'सरस्वती' दो लेख यह सिद्ध करने के लिए लिखे कि *रंगभूमि* थैकरे के *वैनिटी फेयर* की और *प्रेमाश्रम* तोल्सतोय रिजरेक्शन की नकल हैं। साथ ही उन्होंने बनारस के 'समालोचक' में और कुछ अन्य पत्रों में कहीं ने नाम से और कहीं छद्म नाम से अपना यह अभियान जारी रखा और थोड़े दिन बाद *कायाकल्प* हालकेन के *एटर्नल सिटी* का रूपान्तर सिद्ध करने का प्रयास किया। अपने लेख में अवध उपाध्याय पहले रवीन्द्रनाथ ठाकुर की *आँख की किरकिरी* (*चोखेर बाली*) पर *वैनिटी फेयर* का प्रभाव दिखाने प्रयास किया और फिर *रंगभूमि* पर *वैनिटी फेयर* और *आँख की किरकिरी* दोनों का। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सूरदास *रंगभूमि* का नायक नहीं है। उन्होंने लिखा था : "रंगभूमि नायक चाहे जो हो, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि विनय और सोफिया ही रंगभूमि की जान हैं। ो इस बात का पूर्ण विश्वास है कि रंगभूमि के ऐसे भी कुछ पढ़ने वाले मिलेंगे जो इसके केवल विनय ा सोफिया के ही अंश पढ़ेंगे और शेष भाग छोड़ देंगे।"

छह महीने तक यह आलोचना 'सरस्वती' में छपती रही और व्यापक चर्चा का विषय बनी। इसी य 'समालोचक' के भाग-2, सं. 3 में भी किसी 'गुलाब' महोदय ने भी *रंगभूमि* पर *वैनिटी फेयर* का ावं सिद्ध करने का प्रयास किया। 'समालोचक' के इसी अंक में बाबू ब्रजरत्न दास ने प्रेमचन्द की भूषण' नामक कहानी का सादृश्य टॉमस हार्डी के एक गल्प से दिखाया था। इन्हीं दिनों 'सुधा' के श्वन, तुलसी संवत् 305 (ई. सन1927) अंक में किसी 'शिलीमुख' नामक सज्जन ने एक लेख लिख : यह दिखाने का प्रयास किया कि प्रेमचन्द की 'विश्वास' कहानी पर हालकेन के उपन्यास 'एटर्नल टी' का सीधा प्रभाव है। कोई आश्चर्य नहीं कि इस संगठित अभियान के पीछे कुछ लोगों का षड्यन्त्र हो। इससे प्रेमचन्द को बहुत मानसिक कष्ट पहुँचा था, जो स्वाभाविक था। उन्हें अधिक दुःख इस ा का था कि इस कीचड़उछाल आलोचना के विरोध में कोई प्रतिवाद का स्वर नहीं उठा। अन्ततः

उन्हें खुद ही मोर्चा सँभालना पड़ा। शरद, 1983 वि. (ई सन 1926 ई.) के 'समालोचक' में प्रेमचन्द ने इन आलोचनाओं का उत्तर दिया। *रंगभूमि* और *वैनिटी फेयर* का जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा : "जिसने वैनिटी फेयर और रंगभूमि दोनों की सैर की है, वह कभी ऐसी बेतुकी बात लिख ही नहीं सकता। वैनिटी फेयर आसमान पर हो, रंगभूमि जमीन पर, पर है वह रंगभूमि। रहा प्रेमाश्रम पर रिजरेक्शन का प्रभाव। इसके विषय में यही कहना है कि अभी मैंने रिजरेक्शन नहीं पढ़ा है और अगर बिना उसके पढ़े ही प्रेमाश्रम में रिजरेक्शन के प्रभाव आ गये हैं तो यह मेरे लिए गौरव की बात है।''

बाद में प्रेमचन्द के निधन पर अवध उपाध्याय ने अपनी इस भूल को धोने का प्रयास किया। उन्होंने लिखा : " हिन्दी भाषा का एक स्तम्भ टूट गया, हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक उठ गया, आज हमारे उपन्यास सम्राट् का देहावसान हो गया। मैं आज निःसंकोच भाव से कह रहा हूँ कि अपनी लेखनी के द्वारा आज तक हिन्दी का कोई भी दूसरा लेखक प्रेमचन्द की तरह प्रसिद्ध न हो सका। भाषा प्रेमचन्द की दासी-सी बन गयी थी। उसे वे जैसे चाहते थे नचाते थे। मानव हृदय का ज्ञान भी उन्हें बहुत था।'' अवध उपाध्याय के इन दोनों चेहरों से उनकी आलोचना की विश्वसनीयता की कलई खुल जाती है।

प्रेमचन्द के विरोध का सिलसिला इसके बाद भी जारी रहा। 1931 ई. में नन्द दुलारे वाजपेयी ने 'भारत' में प्रेमचन्द के विरुद्ध एक काफी तीखा लेख लिखा, जिसमें उन्होंने उनके यथार्थ बोध और लेखन-कला दोनों की आलोचना की। 1932 में उन्होंने पुनः प्रेमचन्द की आलोचना करते हुए लिखा कि " उनका सबसे बड़ा दोष जो उनकी साहित्य कला को कलुषित करने में समर्थ हुआ है, प्रोपेगैंडा है।'' प्रेमचन्द ने इस आलोचना का भी उत्तर दिया और कहा कि " अगर प्रोपेगैंडा न हो तो संसार में साहित्य की जरूरत ही न रहे। जो प्रोपेगैंडा नहीं कर सकता वह विचार -शून्य है और उसे कलम हाथ में उठाने का कोई अधिकार नहीं। मैं उस प्रोपेगैंडा को गर्व से स्वीकार करता हूँ।'' वाजपेयी जी के ये लेख उनकी दो पुस्तकों, *हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी* और *आधुनिक साहित्य* में भी थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ प्रकाशित हुए। आधुनिक साहित्य में वाजपेयी जी का *गोदान* पर भी एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें उनका प्रेमचन्द विरोधी स्वर बरकरार रहा।

इन आलोचनाओं से गुजरते हुए यह साफ दिखाई पड़ता है कि समकालीन आलोचना प्रेमचन्द के प्रति अनुदार ही नहीं, पूर्वग्रहग्रस्त और आक्रामक भी थी। पर अपने समय के सबसे बड़े आलोचक, और आज भी उतने ही सम्मान्य, रामचन्द्र शुक्ल ने प्रेमचन्द के महत्व को समझने में कोई गलती नहीं की। 1920 ई. में उन्होंने 'उपन्यास' शीर्षक एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने उपन्यास को जातीय अनुभव, जीवन के यथार्थ और समस्याओं का चित्रण बताया। इसी आधार पर उन्होंने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा : " इस तृतीय उत्थान का आरम्भ होते-होते हमारे हिन्दी साहित्य के उपन्यास का पूर्ण विकसित और परिष्कृत स्वरूप लेकर स्वर्गीय प्रेमचन्द जी आये। द्वितीय उत्थान के मौलिक उपन्यासकारों में शील-वैचित्र्य की मौलिक उद्भावना नहीं के बराबर थी। .....प्रेमचन्द जी के ही कुछ पात्रों में ऐसे स्वाभाविक ढाँचे की व्यक्तिगत विशेषताएँ मिलने लगीं जिन्हे सामने पाकर अधिकांश लोगों को यह भाषित हो कि कुछ इसी ढंग की विशेषता वाले व्यक्ति हमने कहीं न कहीं देखे हैं। प्रेमचन्द की सी चलती और पात्रों के अनुरूप रंग बदलने वाली भाषा भी पहले नहीं देखी गयी थी। अन्तःप्रकृति या शील के उत्तरोत्तर उद्घाटन का कौशल भी प्रेमचन्द के दो-एक उपन्यासों में, विशेषतः 'गबन' में देखने में आया।'' उन्होंने प्रेमचन्द को 'हिन्दी का गौरव' कहा।

प्रेमचन्द के उपन्यास-लेखन पर पहली किताब जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' द्वारा लिखित *प्रेमचन्द की उपन्यास-कला* थी, जो डा. रामविलास शर्मा के अनुसार दिसम्बर, 1933 में वाणी मन्दिर, छपरा से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में पहली बार एक युवा आलोचक ने प्रेमचन्द के उपन्यासों का यथा शक्ति सांगोपांग मूल्यांकन किया था। डा. शर्मा ने इसे 'प्रेमचन्द पर पहली प्रगतिशील आलोचना पुस्तक' कहा है। 'द्विज' जी की मान्यता थी कि 'अपने समय का सच्चा चित्र खींचे बिना कोई भी कलाकार अपनी कला के द्वारा लोकधर्म का पालन नहीं कर सकता।' इसी कसौटी पर उन्होंने प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूल्यांकन किया। इस किताब की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें प्रेमचन्द के उपन्यासों की विश्व साहित्य के श्रेष्ठ उपन्यासों से तुलना करते हुए उनके महत्व पर प्रकाश डाला गया है। 'द्विज' जी के अनुसार रवीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रेमचन्द दोनों 'लोकोपयोगी कलाकार' हैं, पर रवीन्द्रनाथ में 'भावुकता' और प्रेमचन्द में 'विविधता' की प्रधानता है। उनके अनुसार शरदचन्द्र में 'कोमलता' और 'हृदय-संग्राम' की

ुखता है, जबकि प्रेमचन्द में 'ओजस्विता' और 'जीवन-संग्राम' की। हार्डी के उपन्यासों में ग्रामीण वन और प्रकृति के मनोरम चित्र तो हैं, पर उनमें 'निराशावाद' हावी है। उनके अनुसार प्रेमचन्द वन की साधारण आवश्यकताओं के अभाव में तड़पते हुए, अन्न-वस्त्र के दुख से दुखी, दीन-हीन णेयों की व्यथा का मार्मिक विश्लेषण करते हैं' पर उनके पात्र अपने दुख से उबरने के लिए संघर्ष भी ते हैं। गोर्की से प्रेमचन्द की तुलना करते हुए वे लिखते हैं : "मैक्सिम गोर्की अपनी रचनाओं में ने देश की स्थिति का चित्रण उसी तरह करते हैं जिस तरह प्रेमचन्द जी। गोर्की वर्तमान रूस की ाजिक और राजनीतिक क्रान्ति के सबसे बड़े विश्लेषक हैं और प्रेमचन्द जी आधुनिक भारत की ाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं के। डिकेन्स की तरह गोर्की की रचनाओं में भी चोरों, डाकुओं, क्कड़ों आदि के बड़े आकर्षक चरित्र देखने को मिलते हैं। कर्मभूमि के काले खाँ जैसे दो-एक इसी वर्ग पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रेमचन्द जी ने भी अपनी रचनाओं में किया है, किन्तु ऐसा करते समय ोंने मार्मिकता से उतना काम नहीं लिया है जितना दार्शनिकता से। उनकी छिपी हुई मनुष्यता के र्मिक उपकरणों का उद्घाटन और विश्लेषण करना गोर्की की कला का उद्देश्य रहता है किन्तु चन्द जी की कला का उद्देश्य रहता है उन्हें बाहरी नैतिक दृष्टान्तों द्वारा मनुष्यता के आदर्श रूप बोध कराना।'' डा. रामविलास शर्मा के अनुसार इस पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण अध्याय 'देशकाल प्रतिबिम्ब' है, जिसमें उन्होंने समाज के विविध प्रकार के लोगों के आचार-विचार, रीति-रिवाज, न-सहन, जीवन-स्थिति तथा देश के 'सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को संचालित करने वाली भिन्न न संस्थाओं तथा उनकी कार्य-प्रणालियों की वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन कराया है। झा जी ने अपने चन के लिए 'वस्तु-विन्यास', 'चरित्र-चित्रण', 'कथोपकथन का प्रयोग', 'भाषाशैली और भाव-व्यंजना' 'उद्देश्य-पालन' जैसे शीर्षकों का उपयोग किया है, पर इन सबके केन्द्र में 'समाज का वैविध्य' धुरी में विद्यमान है। *प्रेमाश्रम* को वे 'किसानों और जमीन्दारों के अधिकार-युद्ध' की करुण-कथा के रूप खते हैं। *रंगभूमि*, उनके अनुसार, 'गरीबों और अमीरों के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली नाना र की समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है'.और *कर्मभूमि* में 'हमारे राष्ट्र के ाण-कार्य में दलितों, गरीब किसानों और मजदूरों की दुरवस्था के सुधार' के महत्वपूर्ण प्रश्न की लता को दूर करने के उपाय बताये गये हैं।

न्द के जीवन काल में, और उनके बाद भी, उनके विरोधियों का कहना था कि प्रेमचन्द में एक न् कलाकार के गुण हैं ही नहीं। 'द्विज' जी ने बड़ी दृढ़ता के साथ इसका उत्तर दिया : "अपनी यों में अपने समय का सर्वांगसुन्दर चित्र उतारना यदि साहित्यिक अक्षमता है तो इसी अक्षमता के प्रेमचन्द जी भारतीय कथा-संसार में आज अपने समय के सबसे विश्वस्त प्रतिनिधि कलाकार कहे ाकते हैं।''

न्द *की उपन्यास कला* प्रेमचन्द के उपन्यासों पर ध्यान केन्द्रित करने वाली और प्रगतिशील दृष्टि से के कथा साहित्य का विवेचन करने वाली पहली पुस्तक है। इसके साथ ही यह प्रेमचन्द के उपन्यास त्य को प्रेमचन्द की दृष्टि से समझने का भी एक अनोखा प्रयास है।

परवर्ती आलोचना (1936-60)

6 ई. के लगभग प्रकाशचन्द्र गुप्त ने प्रेमचन्द पर कुछ निबन्ध लिखे थे, जो 1939 ई. में प्रकाशित ी पहली पुस्तक *नया हिन्दी साहित्य : एक भूमिका* में संकलित हुए। इसका चौथा संशोधित-र्त संस्करण 1953 ई. में प्रकाशित हुआ था जिसमें उनके 1952 तक के लेख संगृहीत हैं। इसमें न्द के उपन्यासों पर दो लेख हैं : प्रेमचन्द की उपन्यास कला' और 'गोदान'। पहले लेख में गुप्त ने प्रेमचन्द के लगभग सभी उपन्यासों पर टिप्पणी की है और हिन्दी उपन्यास के विकास में प्रेमचन्द हत्व पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार 'प्रेमचन्द का साहित्य भारतीय गाँव का आधुनिक इतिहास नगर से उन्हें कभी वास्तविक सहानुभूति नहीं हुई। गाँधीवाद के प्रभाव में वह गाँव का सरल, निर्मल न अपना ध्येय मानते रहे। उनकी आशाएँ पांडेपुर पर केन्द्रित थीं, बनारस पर नहीं। *गोदान* को ने प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास स्वीकार किया। उन्होंने प्रेमचन्द की डिकेन्स, गॉल्सवर्दी, गोर्की, ा, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय से तुलना करते हुए उनके महत्व पर प्रकाश । उनके अनुसार 'प्रेमचन्द की कला में न तो रवि बाबू का काव्य-रस है, न शरत् बाबू का र्मन को कुरेदने वाला मर्मस्पर्शी चरिच-चित्रण। किन्तु उन्होंने अपनी कला में भारतीय जीवन के विशाल, विस्तृत स्तर को छुआ है, जो अब तक अदृश्य और अछूता था। उन्होंने भारत के मूक

जन-समाज को वाणी और अभूतपूर्व साहित्यिक स्वर दिया है।'' इस आलोचना से स्पष्ट है कि गुप्त जी ने प्रेमचन्द को कई बातों में रवीन्द्र और शरत् के समकक्ष न मानते हुए भी उनकी शक्ति को पहचानने में कोई गलती नहीं की थी। गुप्त जी ने अपनी *आधुनिक हिन्दी साहित्य--एक दृष्टि* (1952), *हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा* (1953), *साहित्य धारा* (1956) और *आज का हिन्दी साहित्य* (1966) आदि पुस्तकों में भी प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार किया और उनकी सराहना की। अपने 'उपन्यास' शीर्षक लेख में उन्होंने घोषित किया कि 'आज उपन्यास की भूमि में प्रेमचन्द की समता करने वाला कोई उन्नत कलाकार नहीं दिख रहा।' उनके अनुसार 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास लगभग प्रेमचन्द की कला का इतिहास है।' 'प्रेमचन्द : कहानीकार' शीर्षक लेख में उन्होंने प्रेमचन्द की कहानियों पर विचार करते हुए कहा कि "भारत के ग्राम, यहाँ का कृषक वर्ग, उच्च कुल की ललनाएँ, आम और करौंदे के पेड़, यहाँ के पशु-पक्षी स्मृति-पट पर घूम जाते हैं।''

प्रेमचन्द की आलोचना को एक नयी ऊँचाई पर पहुँचाने का काम रामविलास शर्मा की पुस्तक *प्रेमचन्द* ने किया जो 1939-40 ई. में लिखी गयी और 1941 ई. में प्रकाशित हुई। इस समय प्रगतिशील साहित्य को लेकर तरह-तरह के विवाद चल रहे थे। आलोचकों का एक दल प्रेमचन्द साहित्य के प्रगतिशील पक्ष को अस्वीकार कर रहा था। इन आलोचकों में अवध उपाध्याय, नन्ददुलारे वाजपेयी, श्रीनाथ सिंह आदि थे जो इन्हें समकालीन समस्याओं पर लिखने वाला 'प्रचारक' मानते थे। दूसरा दल उन लेखकों का था जो मानता था कि प्रेमचन्द प्रगतिशील विचारधारा के साथ चल पाने में असमर्थ रहे। रामविलास शर्मा के अनुसार 'ये लोग यूरोप की भाषाओं के बड़े-बड़े लेखकों का नाम लेते थे और उनकी तुलना में प्रेमचन्द को बहुत पिछड़ा हुआ पाते थे।'' इसके अपवाद केवल जनार्दन प्रसाद झा द्विज थे, जिन्होंने अद्भुत समझ और सहानुभूति के साथ प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूल्यांकन किया था। आश्चर्य की बात यह है कि प्रगतिशील लेखक संघ के प्रमुख संगठनकर्ता, मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर ने, लखनऊ में सम्पन्न प्रगतिशील लेखक सम्मेलन की अध्यक्षता प्रेमचन्द से कराने के बावजूद उनके साहित्य को कोई महत्व नहीं दिया। जैसा डा. रामविलास शर्मा ने बताया है, 'न्यू इंडियन लिटरेचर'(1939) में मुल्कराज आनन्द का 'ऑन द प्रोग्रेसिव राइटर्स मूवमेन्ट' शीर्षक लेख छपा था, जिसमें प्रगतिशील लेखकों में भारत की अन्य भाषाओं तथा इंग्लैंड के लेखकों के नाम गिनाये गये थे, पर उसमें प्रेमचन्द का नाम नहीं था। इसका मुख्य कारण तो, डा. शर्मा के अनुसार, प्रेमचन्द के प्रति मुल्कराज आनन्द का उनके चेतन- उपचेतन में वर्तमान स्पर्धा-भाव था, पर उस समय के प्रगतिशील लेखकों की आम धारणा यह थी कि *गोदान* लिखते समय प्रेमचन्द 'अच्छे प्रगतिशील लेखक' बन रहे थे, तभी दुर्भाग्य से उनका देहान्त हो गया। डा. शर्मा के अनुसार यह धारणा मार्च, 1937 के 'विशाल भारत' में प्रकाशित शिवदान सिंह चौहान के प्रसिद्ध लेख 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' में प्रतिबिम्बित है। रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द के कथा साहित्य के मूल्यांकन के लिए मार्क्सवादी कसौटियों का प्रयोग किया और प्रबल तर्कों से प्रेमचन्द को हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने स्वीकार किया है कि उनके सामने प्रेमचन्द के मार्क्सवादी दृष्टि से अध्ययन के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ थीं। भारत में उस समय दो तरह के यथार्थ विद्यमान थे : एक वर्गों का यथार्थ और दूसरा वर्णों और बिरादरियों का यथार्थ। डा. शर्मा ने 'आदर्श और यथार्थ', 'महाजनी सभ्यता', 'राजसत्ता के स्तम्भ', 'जागीरदारी सभ्यता के ध्वंसावशेष', 'हाकिम, जमीन्दार और किसान', 'महाजन', 'राजनीतिक आन्दोलन', 'समाज से बहिष्कृत', 'समाज की मर्यादा', 'प्रेमचन्द की कला' आदि अध्यायों में प्रेमचन्द के कथा साहित्य का 'वर्गों के आधार' पर विवेचन किया। 'आदर्श और यथार्थ' शीर्षक निबन्ध में इन दोनों परस्परविरोधी प्रवृत्तियों के द्वन्द्व का विवेचन करते हुए डा. शर्मा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रेमचन्द की 'आन्तरिक मनोवृत्ति यथार्थवाद की ओर थी।' 'महाजनी सभ्यता' में पूँजीवाद और पूँजीवादी संस्कृति के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के दृष्टिकोण का विवेचन किया गया है। बाद के चार अध्यायों में प्रेमचन्द के साहित्य में राजाओं, जमीन्दारों, हाकिमों और महाजनों द्वारा किसानों के शोषणा के अंकन का विवरण और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। 'राजनीतिक आन्दोलन' में प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में प्रस्तुत विभिन्न वर्गों की स्वाधीनता-आन्दोलन के प्रति अलग-अलग प्रकार की धारणाओं का विवेचन किया गया है। 'समाज से बहिष्कृत' में दलित समाज तथा आवारा, भिखारी, अनाथ बच्चे आदि हैं जिनका प्रेमचन्द ने गहरी मानवीय संवेदना के साथ चित्रण किया है। 'समाज की मर्यादा' में प्रेमचन्द के साहित्य में चित्रित परिवार के विघटन का विवेचन किया गया है, जो प्रायः मार्क्सवादी अध्ययन का विषय नहीं बनता। 'प्रेमचन्द की कला' शीर्षक अध्याय में डा. शर्मा ने प्रेमचन्द के

उपन्यासों और कहानियों की संरचना और भाषा का विवेचन किया है। उन्होंने संरचना की दृष्टि से *गोदान* की तुलना में *सेवासदन* को श्रेष्ठ ठहराया है, क्योंकि *सेवासदन* का कथानक 'सुगठित' है। स्पष्टत: डा. शर्मा उपन्यास की जटिल और बहुआयामी संरचना से उस समय सुपरिचित नहीं थे, जिसका आभास उनके इस विवेचन में मिलता है। पर प्रेमचन्द की 'कला' के विवेचन में भी डा. शर्मा की अन्वेषी प्रवृत्ति की सजगता का प्रमाण तो मिलता ही है।

प्रेमचन्द पर डा. शर्मा की दूसरी पुस्तक *प्रेमचन्द और उनका युग* 1952 ई. में प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने 'सेवा सदन', 'प्रेमाश्रम', 'निर्मला और ग़बन', 'कायाकल्प और रंगभूमि', 'कर्मभूमि और गोदान' शीर्षक अध्यायों में प्रेमचन्द के सभी महत्वपूर्ण उपन्यासों पर अलग-अलग विस्तार के साथ विचार किया। इस विवेचन में भी उनके औजार मार्क्सवादी ही रहे पर उन्होंने अपने को हिन्दी मार्क्सवादियों से अलग भी रखा। किताब की भूमिका में उन्होंने हिन्दी आलोचकों पर आरोप लगाया कि उन्होंने प्रेमचन्द की स्वस्थ लोकवादी परम्परा को नहीं पहचाना और हिन्दी साहित्य की मूल्यवान विरासत को नहीं समझा। उन्होंने यह भी कहा कि प्रेमचन्द के साहित्य की परख समालोचक की राजनीतिक सूझ-बूझ और उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण की परख है।' उन्होंने यह भी कहा कि 'प्रेमचन्द उन लेखकों में हैं जिनकी रचनाओं से बाहर के साहित्य-प्रेमी हिन्दुस्तान को पहचानते हैं। उन्होंने हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय सम्मान को बढ़ाया है ; हमारे देश को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गौरव दिया है। प्रेमचन्द पर सारा हिन्दुस्तान गर्व करता है, दुनिया की शान्तिप्रेमी जनता गर्व करती है, सोवियत संघ के आलोचक मुक्त कंठ से उनका महत्व घोषित करते हैं, हम हिन्दीभाषी प्रदेश के लोग उन पर खास तौर से गर्व करते हैं, क्योंकि वह सबसे पहले हमारे थे। जिन विशेषताओं को उन्होंने अपने कथा साहित्य में झलकाया है, वे हमारी जनता की जातीय विशेषताएँ थीं।'' यद्यपि इस वक्तव्य में निहित भावुकता प्रेमचन्द के विवेचन में बाधक भी बन सकती थी, पर रामविलास शर्मा ने ऐसा नहीं होने दिया है। उन्होंने प्रेमचन्द की कृतियों के सांगोपांग अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि 'प्रेमचन्द का साहित्य अपने जमाने के हिन्दुस्तान और उसके स्वाधीनता-आन्दोलन का प्रतिबिम्ब है। उसमें उस जमाने के सामाजिक जीवन और स्वाधीनता-आन्दोलन की असंगतियाँ भी झलकती हैं।''

सेवासदन को डा. रामविलास शर्मा हिन्दी कथा-साहित्य की परम्परा का विकास मानते हैं, जो सर्वथा युक्तिसंगत है। वे इस परम्परा को लाला श्रीनिवास दास के *परीक्षा गुरु* और बालकृष्ण भट्ट के *सौ अजान और एक सुजान* से जोड़ते हैं। हम चाहें तो इस परम्परा को और भी पीछे पं. गौरीदत्त की *देवरानी जेठानी की कहानी* (1870) तक ले जा सकते हैं। अनेक आलोचक *सेवासदन* को वेश्या जीवन की समस्या पर आधारित उपन्यास मानते हैं। पर रामविलास जी ने इसे अस्वीकार किया है और इसे, उचित ही, 'भारतीय नारी की पराधीनता' विषय पर लिखा उपन्यास माना है। उनके अनुसार प्रेमचन्द ने विस्तार से दिखलाया है कि इस समाज-व्यवस्था में सम्पत्ति के रक्षक सदाचार की आड़ में वेश्यावृत्ति को प्रश्रय ही नहीं देते, वेश्याओं को जन्म भी देते हैं।' सुमन के संघर्ष के प्रभावशाली अंकन के आधार पर शर्मा जी *सेवा सदन* को 'महान उपन्यास' की संज्ञा देते हैं, जो कदाचित् सर्वग्राह्य न हो। पर उनका यह निष्कर्ष गलत नहीं है कि 'प्रेमचन्द नारी को मनुष्य का दर्जा देने के लिए लड़ रहे थे--बत्तीस करोड़ में सोलह करोड़ को जानवर के बजाय इन्सान समझने के लिए। इस उपन्यास का और सुमन का यह ऐतिहासिक महत्व है।''

प्रेमाश्रम के बारे में डा. शर्मा का कहना है कि यह "उपन्यास-रचना के साधारण नियम तोड़ कर रचा गया है। जिन आलोचकों ने 'प्रेमाश्रम' में नायक न होने पर खेद प्रकट किया है, उसके कथानक की शिथिलता दिखाकर प्रेमचन्द को घटिया कलाकार माना है, उसमें मनोविज्ञान की गहराई या तलछट न पाकर प्रेमचन्द को विश्व-साहित्यकार के पद से वंचित कर दिया है, उन्हें प्रेमचन्द ने एक वाक्य में उत्तर दे दिया था--'आजाद-री आदमी हूँ, मसलेहतों का गुलाम नहीं'।'' डा. शर्मा आगे लिखते हैं : "हिन्दी में इस तरह का उपन्यास किसी ने पहले न लिखा था। एक तो किसानों पर लिखना ही रसराज का अपमान करना था। उस पर किसी खास आदमी को नायक न बनाना और भी अनोखा प्रयोग था। प्रेमचन्द ने पाप और पुण्य के राक्षस और देवता नहीं रचे। उन्होंने उस धड़कन को सुना जो करोड़ों किसानों के दिल में हो रही थी। उन्होंने उस अछूते यथार्थ को अपना कथा-विषय बनाया जिसे भरपूर निगाह देखने का हियाव ही बड़ों-बड़ों को न हुआ था। उन्होंने दिखलाया कि हिन्दुस्तान की साधारण जनता में साहस, धीरता और मनोबल के कौन-कौन से स्रोत छिपे पड़े हैं।'' प्रेमाश्रम को 'किसान-जीवन का महाकाव्य' बताते हुए डा. शर्मा ने लिखा : "वह एक विशाल नदी की तरह है जिसमें

मूल धारा के साथ-साथ आस-पास के नालों का पानी, जड़ से उखड़े हुए पुराने खोखले पेड़ और खेतों का घासपात भी बहता हुआ दिखाई देता है।'' इसके साथ ही डा. शर्मा ने प्रेमाश्रम के कमजोर अन्त की आलोचना की है, जो उनके सजग आलोचनात्मक विवेक का परिचायक है।

'निर्मला' और 'गबन' को नारी-समस्या सम्बन्धी उपन्यास बताते हुए डा. शर्मा इनके नारी पात्रों को शरच्चन्द्र के नारी पात्रों से भिन्न और विशिष्ट बताते हैं। उनके अनुसार "वे शरत् बाबू की देवियों से भिन्न हैं, जो अधिकतर अपने दुख में घुट-घुट कर मरना पसन्द करती हैं, लेकिन समाज का खुला विरोध नहीं करतीं। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में नये ढंग के नारी पात्रों को रच रहे थे जो अन्याय और दुख सहती हैं लेकिन उसका विरोध भी करती हैं।'' गबन के बारे में डा. शर्मा का मत है कि "वह हिन्दी साहित्य के यथार्थवाद में एक और आगे बढ़ा हुआ कदम है। वह जीवन की असलियत की छानबीन और गहराई से करता है, भ्रम के पर्दे उठाता है, नये रास्ते ढूँढ़ने के लिए वह जनता को नयी प्रेरणा देता है। प्रेमचन्द ने उसे नारी-समस्या का व्यापक चित्र बनाने के साथ-साथ इस समस्या को हिन्दी साहित्य में पहली बार देश की स्वाधीनता की समस्या से भी जोड़ दिया है।'' गबन के इस पक्ष की ओर इसके पहले किसी और आलोचक का ध्यान नही गया था।

इसी प्रकार *रंगभूमि*, *कर्मभूमि* और *गोदान* के विविध औपन्यासिक पक्षों के उद्घाटन में भी डा. शर्मा को अद्भुत सफलता मिली है। *रंगभूमि* के बारे में उनका मत है कि इसका 'सम्बन्ध ठेठ हिन्दुस्तानी जनता से है। उसे किसी विदेशी कृति की नकल या उससे अनुप्राणित समझना भ्रम है।' *कर्मभूमि* को वे 'हिन्दुस्तान के स्वाधीनता-आन्दोलन की गहराई और प्रसार का उपन्यास' मानते हैं। उनके अनुसार 'प्रेमचन्द की दृष्टि जनता के उन स्तरों की तरफ जाती है जो अपनी जिन्दगी और मौत की समस्या हल करने के लिए' आन्दोलन का रास्ता अपनाते हैं। डा. शर्मा 'ऋण की समस्या' को *गोदान* की 'मूल समस्या' मानते हैं और अपना निष्कर्ष देते हैं कि " 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' के साथ 'गोदान' हिन्दुस्तानी किसानों के जीवन की बृहत्त्रयी समाप्त करता है।''

इस पुस्तक में डा. रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द के उपन्यासों के साथ-साथ उनकी कहानियों का भी विवेचन किया है। इसके साथ ही प्रेमचन्द के जीवन, उनके सम्पादक, विचारक और समालोचक रूप, उनके सन्दर्भ में प्रगतिशील साहित्य और भाषा की समस्या आदि पर भी विचार किया है, जिससे यह प्रेमचन्द पर एक मुकम्मल किताब बन गयी है। इस पुस्तक का महत्त्व इस बात से सिद्ध है कि यह आज भी प्रेमचन्द के अध्ययन के लिए एक अनिवार्य पुस्तक मानी जाती है।

बीती सदी के छठे दशक में नलिनविलोचन शर्मा ने 'साहित्य' में प्रकाशित अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों तथा 'आलोचना'-5 में प्रकाशित 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' शीर्षक लेख में प्रेमचन्द विषयक आलोचना को नया आयाम प्रदान किया था। उन्होंने हिन्दी उपन्यास के विकास की सीमा-रेखाओं को प्रेमचन्द में ही 'निहित' बताते हुए लिखा था :" 'गोदान' के पहले तक के प्रेमचन्द, हिन्दी उपन्यास के अतीत की चरम परिणति के पथचिह्न हैं। 'गोदान' के रचयिता प्रेमचन्द ही हिन्दी के वर्तमान और भविष्य के निर्देशक हैं। प्रेमचन्द उस शिखर के समान हैं जिसके दोनों ओर पर्वत के दो भागों के उतार-चढ़ाव हैं।'' अपने कथन के समर्थन में उन्होंने तर्क दिया था कि अपने आरम्भिक दिनों में हिन्दी उपन्यास "मुख्यत: मनोरंजन का साधन था, यद्यपि वह नीति और उपदेश का स्वांग भी भरता था। किन्तु जब वह मनोरंजन का साधन बन कर लोकप्रिय हो रहा था, तभी वह सामाजिक जीवन के सत्य का वाहक बन सकने के लिए भी प्रयास कर रहा था।'' शर्मा जी के अनुसार हिन्दी उपन्यास की ये दोनों धाराएँ सम्मिलित होकर 'महानद' बनीं और प्रेमचन्द के जीवन-काल में ही अनेक मन्द-तीव्र धाराओं में विभक्त हो गयीं। श्री शर्मा के अनुसार 'प्रेमचन्द के उपन्यास आपातत: मनोरंजन के साधन भी हैं और सत्य के वाहक भी। स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी 'गोदान' इसका अपवाद है--वह मात्र सत्य का वाहक है।'' शर्मा जी का मत है कि गोदान में प्रेमचन्द 'एक सर्वथा नवीन दिशा की ओर मुड़े थे', जो उनका "सबसे महत्वपूर्ण, मौलिक और महान् प्रयास था, लेकिन उसके लिए ऐसे व्यापक अनुभव, मानवीयता और स्थापत्य कौशल की जरूरत थी कि इसमें प्रेमचन्द अकेले ही रह गये ; उनके इस प्रयोग का अनुकरण उस तरह अनगिनत उपन्यासकारों ने नहीं किया, जिस तरह उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों का किया था।'' आज इस कथन से असहमति व्यक्त की जा सकती है, पर जिस समय ये पंक्तियाँ लिखी गयी थीं, उस समय यह विचार पूर्णत: सच था। उन्होंने यह भी लिखा था कि " 'गोदान' हिन्दी की ही नहीं, स्वयं प्रेमचन्द की भी एक अकेली औपन्यासिक कृति है जिसके उच्चावच, विराट् विस्तार, निर्मम,

तटस्थ यथार्थता और सरलता की पराकाष्ठा तक पहुँच कर अत्यन्त विशिष्ट बन गयी शैली किसी एक भारतीय उपन्यास में एकत्र नहीं मिलती।''

इसके पूर्व अधिकतर हिन्दी आलोचक *गोदान* को 'ग्रामीण जीवन का चित्र', 'किसान-महाजन संघर्ष' या किसानों की 'ऋण समस्या' पर आधारित उपन्यास मानते थे। प्रकाशचन्द्र गुप्त, शान्तिप्रिय द्विवेदी, गुलाब राय आदि के मत से *गोदान* की ग्रामेतर कथा में चित्रित उच्च वर्ग या नगर के चित्र 'चरित्र की पूर्णता', 'क्षेपक' या 'प्रासंगिक' रूप में हैं। इसी आधार पर उन्होंने *गोदान* की कथावस्तु को 'असम्बद्ध' बता कर उसकी आलोचना भी की थी। यहाँ तक कि डा. रामविलास शर्मा ने भी अपनी पहली पुस्तक *प्रेमचन्द* में संरचना की दृष्टि से *सेवा सदन* को *गोदान* से श्रेष्ठ बताया था। नलिन जी ने *गोदान* की कथावस्तु की असम्बद्धता को ही उसके 'स्थापत्य' की विशेषता बताते हुए उसके फलस्वरूप उसमें 'महाकाव्यात्मक गरिमा' आने की बात कही। उन्होंने लिखा : "नदी के दो तट असम्बद्ध दीखते हैं, पर वे वस्तुत: असम्बद्ध नहीं रहते--उन्हीं के बीच से जल-धारा बहती है। इसी तरह 'गोदान' की असम्बद्ध सी दीख पड़ने वाली दोनों कहानियों के बीच से भारतीय जीवन की विशाल धारा बहती चली जाती है। भारतीय जन-जीवन का, जो एक ओर तो नागरिक है और दूसरी ओर ग्रामीण और जो एक साथ ही बहुत प्राचीन भी है और जागरण के लिए छटपटा भी रहा है, इतने बड़े पैमाने पर इतना यथार्थ चित्रण हिन्दी में ही क्यों, किसी भी भारतीय भाषा के किसी भी उपन्यास में नहीं हुआ है। यदि 'गोदान' का स्थापत्य कृत्रिम रूप से सुसंघटित रहता तो अवश्य ही वह भारतीय जीवन के वैविध्य और आँखों के सामने चलने वाली, अत: अस्पष्ट, परिवर्तन की प्रतिक्रियाओं का चित्रागार नहीं बन पाता। बहुत पहले 'प्रेमाश्रम' में, फिर 'रंगभूमि' में, प्रेमचन्द ने इन प्रक्रियाओं को पकड़ने की कोशिश की थी, किन्तु तब पात्रों के विलक्षण व्यक्तित्व के चित्रण और स्थापत्य के कृत्रिम बन्धन के कारण ऐसा नहीं कर पाये। प्रेमचन्द ने 'पुराण-नीति' का 'व्यतिक्रम' किया और हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए यदि हिन्दी के रूढ़िवादी विद्वान् इसे उनकी असफलता मान बैठें।''

थोड़े अतिकथन के बावजूद यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि नलिन विलोचन शर्मा ने पहली बार *गोदान* के शिल्प-विवेचन को सही दृष्टि और दिशा प्रदान की। शिल्प-विवेचन की प्रमुख समस्या प्रतिपाद्य विषय, अभिप्राय, केन्द्र या 'विजन' की पहचान की होती है। उपन्यास का उसके विजन के साथ अविच्छिन्न और अनिवार्य सम्बन्ध होता है। हिन्दी आलोचकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करने का श्रेय निश्चित रूप से नलिन विलोचन शर्मा को है। पर नलिन विलोचन शर्मा से-- और रामविलास शर्मा से भी-- *गोदान* के केन्द्रीय विषय के निर्धारण में भूल हो गयी सी दीखती है। नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार *गोदान* का विषय 'भारतीय जीवन' है। पर सच पूछें तो *गोदान* अधिक से अधिक ब्रिटिश शासनकालीन उत्तर भारत के जीवन का चित्र माना जा सकता है। ब्रिटिश शासन-काल में भारतीय जीवन गाँव और कृषि से अभिन्न हो गया था। उद्योग-धन्धों के विकास की गति धीमी होने के कारण नगर-जीवन पर्याप्त विकसित नहीं हो पाया था। *गोदान* में इस ग्रामीण जीवन का तो प्रातिनिधिक चित्रण हुआ है, पर नागरिक जीवन का चित्रण इसका लक्ष्य नहीं जान पड़ता। यद्यपि *गोदान* के कथा-संसार में लखनऊ नगर और मिस मालती, मिस्टर खन्ना, मिस्टर तंखा, मिर्जा आदि नागरिक पात्र हैं, पर प्रेमचन्द का नगर-बोध बहुत समृद्ध नहीं है। इन पात्रों से जुड़े प्रसंग और घटनाएँ नगर-जीवन के यथार्थ से आंशिक रूप से ही सम्बद्ध हैं। इनके आधार पर *गोदान* को ग्रामीण और नागरिक जीवन का समग्र चित्र नहीं कहा जा सकता।

प्रेमचन्द की भाषा के बारे में नलिन जी ने कहा कि उन्होंने देवकीनन्दन खत्री की 'भाषा की सादगी' को 'शैली की विशिष्टता' में रूपान्तरित और उन्नत किया था। और यह उनके लिए तब सम्भव हुआ जब उन्होंने 'उर्दू गद्य का आकर्षक दोष, जबानदराजी का मोह, कठिनता से, पर कठोरतापूर्वक, धीरे-धीरे बेलकुल छोड़ दिया।' उनके अनुसार " 'गोदान' की महत्ता का, स्थापत्य कौशल के अतिरिक्त, मुख्य कारण शैली है--वह शैली, जिसकी ओर ध्यान भी नहीं जाता, यहाँ तक कि विद्वानों ने उसका उल्लेख भी अनावश्यक समझा है, यों भाषा की सादगी के नाम पर चलते चलाते प्रशंसा के कुछ शब्द भले ही कह दिये हों।''

इस प्रकार, नलिनविलोचन शर्मा ने प्रेमचन्द के उपन्यासों, विशेष रूप से *गोदान* के कथ्य, शिल्प और भाषा के सम्बन्ध में विमर्श की नयी खिड़कियाँ खोलीं, पर दुर्भाग्यवश हिन्दी के कथा-आलोचकों ने इस विमर्श-परम्परा को आगे नहीं बढ़ाया और अधिकतर इसी विवाद में उलझे रहे कि प्रेमचन्द मार्क्सवादी हैं या गैर-मार्क्सवादी।

इस बीच प्रेमचन्द के विरोधी आलोचक भी, जिन्होंने उनके जीवन-काल में उनका अवमूल्यन करने की भरपूर कोशिश की थी, सक्रिय रहे। नन्ददुलारे वाजपेयी की एक किताब *प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन* का पहला संस्करण 1956 में प्रकाशित हुआ था। इसमें प्रेमचन्द के उपन्यासों के साथ-साथ उनकी कहानियों का अलग-अलग विवेचन किया गया था। इस विवेचन में भी प्रेमचन्द के प्रति वाजपेयी जी के दृष्टिकोण में कोई बदलाव नहीं दिखाई पड़ता। उन्होंने प्रेमचन्द के उपन्यासों में स्थूलता का बाहुल्य और अन्तरंगता की कमी बताते हुए उनके पात्रों को सपाट और आकर्षणरहित बताया। उनकी कहानियों को 'सब्जेक्टिव', 'सामयिक' और 'एक विशेष दृष्टिकोण' से रचित बताते हुए उन्होंने उन्हें 'सामयिक आँधी के साथ उड़ते' कहा। अपना पुराना राग अलापते हुए उन्होंने प्रेमचन्द की सोद्देश्यता को 'प्रोपेगैंडा' की संज्ञा दी और इसे उनका सबसे बड़ा दोष बताया। अपने *गोदान* सम्बन्धी लेख में उन्होंने *गोदान* को 'एपिक नावेल' की संज्ञा देने को 'साहित्यिक दृष्टि से 'असमीचीन' बताते हुए लिखा कि महाकाव्य राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधि चित्र होता है जबकि 'गोदान' इस विशेषता से रहित है। वाजपेयी जी के अनुसार 'गोदान' में न तो समकालीन राष्ट्रीय चेतना का चित्रण हुआ है, न उस राष्ट्रीय संघर्ष की कोई झलक मिलती है, जिससे सारा देश आन्दोलित था। 'गोदान' में वह वीर भावना भी नहीं है जिससे महाकाव्य ओतप्रोत होता है। वाजपेयी जी के अनुसार 'गोदान' को समाज का सर्वतोन्मुखी चित्रण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका देश और काल सीमित है, सामूहिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उसमें पर्याप्त विशालता नहीं है, उसमें पात्रों की संख्या कम है और वे युग-जीवन का यथेष्ट परिचय नहीं करा पाते। चारित्रिक उत्कर्ष की दृष्टि से भी उनका कोई महत्व नहीं है। वाजपेयी जी को *गोदान* गहराई में युग का प्रतिनिधित्व करता नहीं दीखता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वाजपेयी जी की प्रेमचन्द विषयक आलोचना पूर्वग्रह-दोष से ग्रस्त है। न तो उनकी 'साहित्य', 'महाकाव्य' और 'उपन्यास' विषयक धारणा युक्तिसंगत है, न ही, *गोदान* के सम्बन्ध में उनके विचार तथ्य और तर्क पर आधारित हैं। वस्तुत: जब हम किसी उपन्यास को 'महाकाव्य' या 'महाकाव्यात्मक' कहते हैं तो यह प्रयोग लाक्षणिक होता है। उपन्यास का एक प्रकार ऐसा होता है जो अपनी व्यापकता, गहराई और वैविध्य में 'महाकाव्य' के सदृश होता है। *गोदान* इसी अर्थ में 'ग्राम जीवन और कृषि संस्कृति का महाकाव्य' है।

लगभग इसी अवधि में (1941-60) अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, धर्मवीर भारती, नगेन्द्र आदि ने भी -- अज्ञेय और नगेन्द्र ने 1960 के बाद भी--प्रेमचन्द के कथा साहित्य के अवमूल्यन का प्रयास किया। इन लेखकों ने कलावाद और मनोविज्ञान के हथियार के द्वारा प्रेमचन्द पर आक्रमण किया। इन्होंने कथा साहित्य में मनोविश्लेषण, व्यक्ति-वैचित्र्य, मध्यवर्गीय कुंठा, अजनबीपन, अन्धकार, अवसाद, निराशा आदि की जटिल अभिव्यक्ति को अधिक महत्व दिया और प्रेमचन्द में इसे न पाकर उन्हें द्वितीय कोटि का लेखक घोषित किया। इनके आदर्श फ्रायड, एडलर, युंग आदि मनोवैज्ञानिक और इलियट जैसे रचनाकार थे, जिसने उपन्यास की मृत्यु की घोषणा कर रखी थी। अज्ञेय के अनुसार दु:ख, अपूर्णता, पीड़ा आदि सर्वव्यापी वस्तुएँ हैं, अत: इनके सन्दर्भ में मानव मात्र सहानुभूति का अधिकारी हो जाता है ; 'मानव होना' मनुष्य की 'बुनियादी आवश्यकता' है और 'उस बुनियादी वास्तविकता के नाते मानव मात्र सहानुभूति का पात्र है।' उनके अनुसार मनुष्य की इस 'बुनियादी वास्तविकता' को महत्व देने के कारण प्रेमचन्द शोषक और शोषित दोनों को अपनी सहानुभूति देते हैं। पर अज्ञेय ने इस तथ्य की सर्वथा उपेक्षा कर दी कि मनुष्य की 'मानव होने' के साथ ही कुछ और भी 'बुनियादी आवश्यकताएँ' होती हैं, जिनके बिना उसका अस्तित्व ही संकट में पड़ जाता है। शोषक और शोषित की 'बुनियादी आवश्यकताएँ' एक जैसी नहीं होतीं, इसे भी अज्ञेय और उनके समानधर्मा आलोचक भूल गये। अज्ञेय की इस आलोचना में प्रेमचन्द की प्रच्छन्न निन्दा ही है, क्योंकि इससे प्रेमचन्द के साहित्य की क्रान्तिकारी सामाजिक वस्तु ओझल हो जाती है। इसके पहले ही वे प्रेमचन्द को 'द्वितीय श्रेणी' का लेखक घोषित कर चुके थे। यद्यपि अज्ञेय ने कुछ बाद में, साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'इंडियन लिटरेचर' में (1958) संकलित अपने हिन्दी साहित्य पर लेख में यह स्वीकार किया कि एक उपन्यासकार की दृष्टि से 'अब भी प्रेमचन्द के आगे कोई उपन्यासकार नहीं गया', पर यह उनके विचारों के अन्तर्विरोध का ही परिचायक है। भीतर भीतर वे प्रेमचन्द को 'द्वितीय श्रेणी' का ही उपन्यासकार मानते थे। *शाश्वती* (1979) में उन्होंने यथार्थ के स्वरूप, यथार्थवाद और उपन्यास के सम्बन्ध तथा प्रेमचन्द के बारे में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे इसके प्रमाण हैं। अज्ञेय की दृष्टि में 'वस्तुनिष्ठ यथार्थ' 'साहित्यिक यथार्थ' नहीं होता, अत: उपन्यास में उसकी कोई सार्थकता नहीं हो सकती। उनके कथनों से यथार्थवाद और उपन्यास

परस्पर-विरोधी चीजें प्रतीत होती हैं। स्वाभाविक ही है कि उनकी दृष्टि में प्रेमचन्द एक 'द्वितीय श्रेणी' के उपन्यासकार हैं।

नगेन्द्र ने भी अज्ञेय की तरह यह प्रतिपादित करने की कोशिश की कि प्रेमचन्द की सहानुभूति केवल किसानों के प्रति नहीं बल्कि जमीन्दारों और पूँजीपतियों के प्रति भी थी। यद्यपि यह विचार ऊपर से बड़ा निर्दोष और प्रेमचन्द की प्रशंसा में लिखा गया प्रतीत होता है, पर इसमें इस बात की बिलकुल ही उपेक्षा कर दी गयी है कि अत्याचारी और पीड़ित के प्रति एक साथ और एक समान सहानुभूति दिखाने वाला लेखक संवेदनशील नहीं हो सकता। प्रेमचन्द इस प्रकार की दोगली सहानुभूति का चित्रण करने वाले लेखक नहीं थे। नगेन्द्र आर्थिक-सामाजिक संघर्ष को 'मानव के प्रति मानव का घृणित संघर्ष' बताते हैं और प्रेमचन्द की प्रशंसा इस बात के लिए करते हैं कि उन्होंने 'वर्ग-संघर्ष' का चित्रण नहीं किया है। नगेन्द्र इस बात की सर्वथा अनदेखी कर जाते हैं कि 'वर्ग-संघर्ष' होता क्यों है? नगेन्द्र प्रेमचन्द की प्रशंसा एक ऐसी बात के लिए करते हैं, जो उनमें नहीं है। उनके अनुसार प्रेमचन्द ने गाँधी जी के प्रभाव में 'जागरण-सुधारमूलक जनवाद' को ग्रहण किया, 'वामपक्षी जनवाद' को नहीं। वे भूल गये कि प्रेमचन्द ने मार्क्सवादी व्यवस्था के प्रति ही नहीं, रूस की साम्यवादी व्यवस्था के प्रति भी प्रशंसात्मक शब्द लिखे हैं। इस आलोचना में नगेन्द्र का मार्क्सवाद-विरोध अधिक मुखर है, जो उनके प्रेमचन्द के मूल्यांकन में भी बाधक सिद्ध हुआ है। नगेन्द्र इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होते ; उनके अनुसार प्रेमचन्द का साहित्य 'जीवन के अतल' का स्पर्श नहीं करता, क्योंकि 'वे नैतिक मर्यादाओं की सीमाओं का अतिक्रमण कर मानवता के उस शुद्ध रूप का--जो सत्-असत् से परे है-- शास्त्रीय शब्दावली में मानव की उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का, जो अपने सहज रूप में गुणातीत है, साक्षात्कार करने में असमर्थ है'' और " 'आत्मा की पीड़ा' जो जीवन और साहित्य में गम्भीर रस की सृष्टि करती है, उनके साहित्य की मूल प्रेरणा कभी नहीं बन पायी।'' दरअसल नगेन्द्र अपनी पूर्वग्रहों से लदी उस कसौटी पर प्रेमचन्द को कसते हैं, जो कभी भी प्रेमचन्द का सरोकार नहीं रही।

4.4 सन् साठ के बाद की आलोचना

1960 के पूर्व की प्रेमचन्द की आलोचना की एक कमी यह थी कि आलोचकों के सामने प्रेमचन्द का पूरा साहित्य उपलब्ध नहीं था। यहाँ तक कि प्रेमचन्द की रचनाओं की प्रामाणिक प्रकाशन-तिथियाँ भी उपलब्ध नहीं थीं। प्रेमचन्द के निधन के बाद, मई, 1937 में, बा. वि. पराड़कर के सम्पादकत्व में 'हंस' का 'प्रेमचन्द स्मृति अंक' प्रकाशित हुआ था, जिसमें प्रेमचन्द के सम्पर्क में आए सैंतालीस व्यक्तियों के संस्मरण प्रकाशित हुए। इनसे प्रेमचन्द के जीवन पर तो कुछ महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हुई, पर प्रेमचन्द का विपुल साहित्य और उनके/उनको लिखित पत्र आगामी पचीस वर्षों तक अन्धकार में ही पड़े रहे। सन् साठ के बाद के दशक में इस अभाव की पूर्ति होती दिखाई देती है। साहित्य के जनवरी, 1960 अंक में डा. गीता लाल ने अपने एक लेख 'प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य सम्बन्धी तिथियों में भ्रान्तियाँ' में प्रेमचन्द की रचनाओं की प्रकाशन-तिथियों का निर्धारण करने का प्रयास किया। यह इस दिशा में प्रथम प्रयास था। साहित्य के ही अप्रैल, 1960 के अंक में डा. माताप्रसाद गुप्त ने 'प्रेमचन्द की कृतियों की प्रकाशन-तिथियाँ' शीर्षक लेख लिखा। पर 1962 में अमृत राय ने ***प्रेमचन्द : कलम का सिपाही*** शीर्षक प्रेमचन्द की जीवनी तथा सात खंडों में उनका विशाल अनुपलब्ध साहित्य और अप्रकाशित पत्र उपलब्ध करा कर हिन्दी आलोचना को प्रेमचन्द के साहित्य को समझने और मूल्यांकित करने का एक बड़ा आधार प्रदान कर दिया। अमृत राय ने भी प्रेमचन्द के उपन्यासों और उनकी लगभग दो सौ कहानियों की प्रकाशन-तिथियों की प्रामाणिक सूचनाएँ उपलब्ध करायीं। 17 फरवरी, 1963 के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में डा. गोपाल राय ने 'प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्रकाशन-तिथियाँ' शीर्षक लेख लिखा। 1964 में मदन गोपाल ने अँगरेजी में प्रेमचन्द की जीवनी लिखी, जिसका हिन्दी अनुवाद ***कलम का मजदूर*** शीर्षक से 1965 ई. में प्रकाशित हुआ। पुनः डा. गोपाल राय ने *उपन्यास कोश, खंड-2* (1969) में प्रेमचन्द के पत्रों तथा अन्य उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर पूरी तरह से जाँच-परख कर उनके उपन्यासों की प्रकाशन-तिथियों का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया।

1961-80 की अवधि में प्रेमचन्द के उपन्यासों पर लगभग 69 शोधप्रबन्ध लिखे। यह विश्वविद्यालयो में प्रेमचन्द सम्बन्धी अध्ययन की लोकप्रियता का परिचायक है।

इस अवधि में प्रेमचन्द पर लगभग 60 आलोचना-पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं, जिनमें से आठ केवल *गोदान* पर थीं। इन्हीं में डा. गोपाल राय की *गोदान : अध्ययन की समस्याएँ* (1966) पुस्तक भी थी, जो बाद में संशोधित-परिवर्द्धित रूप में *गोदान : नया परिप्रेक्ष्य* (1982) शीर्षक से प्रकाशित और हुई। नलिनविलोचन शर्मा के (निधनोपरान्त) *गोदान* सम्बन्धी लेखों और सम्पादकीय टिप्पणियों का संकलन *हिन्दी उपन्यास : विशेषत: प्रेमचन्द* 1968 में ज्ञानपीठ, पटना से प्रकाशित हुआ, जिसकी उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। इस अवधि में प्रकाशित एक उल्लेखनीय पुस्तक सुरेश कुमार की *शैली विज्ञान और प्रेमचन्द की भाषा* (1978) भी है, जिसमें प्रेमचन्द के कथा साहित्य की भाषा का सुसंगत विवेचन किया गया है। इस अवधि में प्रकाशित इन्द्रनाथ मदान कृत *गोदान : मूल्यांकन और मूल्यांकन* (1971) और जैनेन्द्र कुमार कृत *प्रेमचन्द : एक कृती व्यक्तित्व* भी प्रेमचन्द विषयक उल्लेखनीय पुस्तकें हैं।

भैरव प्रसाद गुप्त के अनुसार 1970 ई. के आसपास प्रेमचन्द पर एक आक्रमण 'मूर्तिभंजक क्रान्तिकारी नये लेखकों' की ओर से हुआ, जो चीन की तथाकथित 'सांस्कृतिक क्रान्ति' की अन्धाधुन्ध नकल कर रहे थे। इन्होंने प्रेमचन्द पर आरोप लगाया कि वे सामन्तवादी मूल्यों के प्रतिपादक, गाँधीवाद के पैरोकार, सुधारवाद-आदर्शवाद के हामी, आश्रमों की स्थापना में नारी-मुक्ति देखने वाले और हृदय-परिवर्तन में विश्वास रखने वाले हैं, अत: 'सुधारवादी प्रतिक्रियावादी' हैं। इन्हें फटकारते हुए भैरव प्रसाद गुप्त ने लिखा : "इन 'क्रान्तिकारी बालकों' ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद का दम भरते हुए भी यह देखने से आँखें मूँद लीं कि चीन चीन है और भारत भारत, ठीक उसी तरह जैसे प्रयोगवादियों ने यह तथ्य न समझा था कि योरोप योरोप है और भारत भारत।"

प्रेमचन्द के अध्ययन की दृष्टि से 1980–81 का वर्ष महत्वपूर्ण माना जा सकता है। यह प्रेमचन्द का 'जन्मशती वर्ष' था जो समस्त हिन्दी प्रदेश में, और उसके बाहर भी, व्यापक रूप में मनाया गया था। विश्वविद्यालयों और हिन्दी संस्थानों में समारोह और संगोष्ठियाँ आयोजित की गयी थीं तथा पत्रिकाओं में प्रेमचन्द पर विशेषांक निकाले गये थे। एक तरह से पूरा वातावरण प्रेमचन्दमय हो गया था। इसी समय, 1981 ई. में, डा. कमलकिशोर गोयनका के महत्वाकांक्षी *प्रेमचन्द विश्वकोष* के दो खंड प्रकाशित हुए। इसके प्रथम खंड में तिथिक्रम के अनुसार 1880 से 1936 तक की अवधि में प्रेमचन्द के जीवन में घटित घटनाओं और प्रसंगों का विवरण प्रस्तुत किया गया। इसके साथ ही 'अध्ययन संसार', 'आर्थिक जीवन', 'यात्रा विवरण', बाह्य संसार', 'रचना संसार', 'रचनाओं का कालक्रमानुसार विवरण' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत प्रेमचन्द के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ भी दी गयीं। इसके दूसरे खंड में लगभग एक सौ लेखकों के सहयोग से डा. गोयनका ने प्रेमचन्द की उपलब्ध रचनाओं का सार-संक्षेप उपलब्ध कराया जो प्रेमचन्द के अध्येताओं के लिए बहुत उपयोगी है। इसके साथ ही भारतीय और विदेशी भाषाओं में उपलब्ध प्रेमचन्द साहित्य का परिचय तथा प्रेमचन्द की रचनाओं की अनुक्रमणिका उपलब्ध करा कर भी डा. गोयनका ने अध्येताओं का भारी उपकार किया।

4.5 सन् अस्सी के बाद की आलोचना

प्रेमचन्द की जन्मशती के अवसर पर 'उत्तरार्द्ध', 'उत्तर गाथा', 'कलम', 'पूर्वग्रह', 'अवकाश', 'आजकल', 'उत्तर प्रदेश', 'शीराजा', 'मधुमती', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'धर्मयुग', 'सारिका', 'गगनांचल' आदि अनेक पत्रिकाओं के 'प्रेमचन्द विशेषांक' निकले जिनमें चन्द्रबली सिंह, भैरव प्रसाद गुप्त, मैनेजर पांडेय, अयोध्या सिंह, शिवकुमार मिश्र, कुँवर पाल सिंह, मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, चन्द्रभूषण तिवारी, हरदयाल, सुरेन्द्र चौधरी, रमेश उपाध्याय, शम्भुनाथ, कान्तिमोहन, रमेशकुन्तल मेघ, निर्मल वर्मा आदि के प्रेमचन्द विषयक अनेक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए। इन लेखों में प्रेमचन्द के साहित्य के प्रति दो दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट रूप में उभर कर सामने आये। वस्तुत: ये दोनों दृष्टिकोण प्रेमचन्द के समय से ही चले आ रहे थे, पर प्रेमचन्द के शताब्दी वर्ष और उसके बाद के दशक में और भी तल्खी के साथ उभरे। अधिकतर तटस्थ आलोचकों ने, और विशेषकर मार्क्सवादी आलोचकों ने, प्रेमचन्द के साहित्य को यथार्थ-चित्रण और यथार्थवाद की कसौटी पर परखा और उसकी सराहना की। यद्यपि कतिपय मार्क्सवादी आलोचकों ने अतिरिक्त उत्साह का परिचय देते हुए प्रेमचन्द को 'मार्क्सवादी', 'जनवादी' आदि कटघरों में फिट करने की भी कोशिश की, पर यह सच है कि 'यथार्थ' और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति को कसौटी बनाकर प्रेमचन्द का विवेकपूर्ण मूल्यांकन करने वाले

आलोचकों ने प्रेमचन्द के साहित्य की सही तस्वीर प्रस्तुत की। दूसरी तरफ 'कलावादी' या 'रूपवादी' आलोचकों ने प्रेमचन्द की अलग तस्वीर रखने की भरपूर कोशिश की। इन आलोचकों में अज्ञेय, निर्मल वर्मा, 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के भूतपूर्व सम्पादक शाम लाल आदि थे। ये सभी लोग प्रेमचन्द और उनकी परम्परा, बल्कि हिन्दी उपन्यास की यथार्थवादी परम्परा के ही विरोधी हैं। इतना ही नहीं वे सुविधाकामी, शहरी उच्चमध्यवर्गीय जीवन-मूल्यों तथा कला-मूल्यों के समर्थक आधुनिकतावादी भी हैं। डा. मैनेजर पांडेय के अनुसार 'हिन्दी उपन्यास के विकास का संकट असल में आधुनिकतावादी कथा साहित्य का संकट है, जिसे ये लेखक सार्वभौम संकट के रूप में पेश करते हैं।'' इस संकट की बात करने वाले प्रेमचन्द और उनकी यथार्थवादी परम्परा की निन्दा करते हैं। इतना ही नहीं ये प्रेमचन्द के ऊपर पाश्चात्य उपन्यास-परम्परा का अवांछित प्रभाव भी देखते हैं और हिन्दी उपन्यास को भारतीय जनता के जीवन से काट कर किन्हीं अपरिभाषित अँधेरी स्मृतियों और अँधेरी चिन्ताओं के कोहरे में ले जाना चाहते हैं। शाम लाल के 'टाइम्स ऑफ इंडिया'(2 अगस्त, 1980) में प्रकाशित लेख को, जिसमें प्रेमचन्द को एक सामान्य दर्जे का, वर्तमान सन्दर्भ में 'अप्रासंगिक' लेखक सिद्ध किया गया है, इसी सन्दर्भ में देखना चाहिए। निर्मल वर्मा ने भी अपनी *संस्कृति, समय और भारतीय उपन्यास* शीर्षक पुस्तक में उपन्यास की यथार्थवादी परम्परा का प्रत्याख्यान करते हुए रूपवादी अवधारणा के आधार पर भारतीय उपन्यास के स्वरूप की तलाश और पहचान की कोशिश की। यथार्थवादी उपन्यासकार होने के कारण प्रेमचन्द के *गोदान* के 'रूप' को निर्मल वर्मा 'अभारतीय' मानने का आग्रह करते हैं। उनके अनुसार 'एक तरफ तो प्रेमचन्द की गहन अन्तर्दृष्टि है, जो 'गोदान' के पात्रों ने उन्हें दी है' और दूसरी तरफ 'एक ऐसी बनी बनायी विधा को अपनाने की मोहजनक सुविधा है, जिसका इन पात्रों के संस्कारों, व्यक्तित्व, जातीय अनुभवों--उनकी जीवन-धारा से कोई सम्बन्ध नहीं है।'' पूर्वग्रह--61-62 में प्रकाशित अपने 'प्रेमचन्द की उपस्थिति' शीर्षक लेख में निर्मल वर्मा की स्थापना है कि "यदि आज हम अपने बीच प्रेमचन्द की उपस्थिति महसूस करते हैं तो उनके प्रगतिशील विचारों या यथार्थवादी आदर्शों (या आदर्शवादी यथार्थ,आप जो भी कहें) के कारण नहीं, बल्कि उनकी रचनाओं में निहित मनुष्य, एक भारतीय मनुष्य की मानसिक बनावट के कारण, जिसे पगने, फूलने में सैकड़ों वर्ष लगे थे--एक स्थिर व्यक्तित्व का चेहरा, जिसका दर्शन हमें पहली बार उनकी कहानियों-उपन्यासों में हुआ था।'' प्रश्न उठता है कि यह 'भारतीय मनुष्य' क्या है? शायद 'भारतीय मनुष्य' से निर्मल वर्मा का तात्पर्य औपनिवेशिक स्थिति में रहने वाले एक हिन्दुस्तानी की आर्केटाइप छवि से है। उनका कहना है कि "एक ऋणी किसान का ऑनर इसमें है, कि वह भूखे रह कर भी अपनी सात पीढ़ियों तक महाजन का ऋण चुकाने में लगा रहे। पंच की गद्दी के प्रति वफादार रह कर जिस तरह एक साधारण मनुष्य परमेश्वर बन जाता है, उसी तरह जीवन के हर क्षेत्र में अपनी जगह--चाहे वह 'जगह' वर्ण-व्यवस्था में ही निहित क्यों न हो-- के प्रति निष्ठा रखने में ही मनुष्य का देवत्व छिपा रहता है।'' पर मनुष्यता का 'ऑनर' करने वाला कोई भी आदमी इस विचार को अपने गले उतारने में असमर्थ होगा। कर्ज लेना किसान की विवशता होती है, जिसके कारण वह महाजन का गुलाम बन जाता है। इसे 'भारतीय मनुष्य' का 'ऑनर' मानना किसी भी दशा में संगत नहीं माना जा सकता। निर्मल वर्मा के अनुसार ब्रिटिश उपनिवेशवाद 'भारतीय मनुष्य' के लिए कोई 'दुश्मन' नहीं था ; वह उस गन्दे कपड़े की तरह था जो उतरता या न उतरता, वास्तविक रोग से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। इस विचार की असंगति इतनी स्पष्ट है कि उसे कोई महत्व देना भी जरूरी नहीं है। इस कथन में कोई तर्क नहीं, केवल पूर्वग्रह है, जो निर्मल वर्मा के विवेचन की सबसे बड़ी कमजोरी है। इस विचार-सरणि के लेखकों ने प्रेमचन्द के अधिकांश लेखन पर प्रश्नचिह्न लगाया और उन्हें द्वितीय श्रेणी का कलाकार, सामयिक लेखन का रचनाकार, आज की दृष्टि से अप्रासंगिक, मनोरंजन प्रधान ग्रामीण जीवन का चित्रकार, परम्परावादी, समझौतावादी आदि घोषित किया। पर मार्क्सवादी और तटस्थ विवेकशील आलोचकों ने पुष्ट तर्कों के आधार पर इन आरोपों को एक स्वर से खारिज कर दिया।

यह आश्चर्य की बात है कि 1981-2000 की अवधि में लेखकों द्वारा प्रेमचन्द पर लिखित स्वतन्त्र पुस्तकें बहुत कम संख्या में प्रकाशित हुई हैं। कान्तिमोहन द्वारा लिखित *प्रेमचन्द और अछूत समस्या* (1982), नत्थन सिंह लिखित *प्रेमचन्द : मूल्यांकन और मूल्यांकन* (प्र. का. 1982) तथा वीर भारत तलवार लिखित *किसान राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्द* (प्र.का.1990) ये तीन स्वतन्त्र पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। पर इस बीच प्रेमचन्द विषयक आलोचनात्मक निबन्धों के संग्रह प्रचुर मात्रा में प्रकाशित हुए हैं. जिनमें कल्याणमल लोढ़ा द्वारा सम्पादित *प्रेमचन्द परिचर्चा* (1979), नरेन्द्र मोहन

द्वारा सम्पादित *प्रेमचन्द का कथा संसार* (1980), लक्ष्मीकान्त पांडेय द्वारा सम्पादित *प्रेमचन्द : साहित्य सन्दर्भ* (1981), चन्द्रकान्त वान्दिवडेकर द्वारा सम्पादित *प्रेमचन्द . सृष्टि और दृष्टि* (1981), रामदरश मिश्र द्वारा सम्पादित *कथाकार प्रेमचन्द* (1982), विश्वनाथ प्रसाद तिवारी द्वारा सम्पादित *प्रेमचन्द* (1982) आदि उल्लेखनीय हैं।

4.6 सारांश

यद्यपि बीसवीं सदी के आरम्भ में प्रेमचन्द (धनपत राय और नवाब राय के नाम से) उर्दू में लिखते थे, पर उनकी पहली ही हिन्दी रचना (*हमखुर्मा व हमसवाब* के हिन्दी रूपान्तर *प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह*) के प्रकाशन के साथ ही उनकी आलोचना भी शुरू हो गयी। उस समय के हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पं. बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' में *प्रेमा* की आलोचना की थी। 1916 में उनकी पहली कहानी 'सौत' और 1918 में उनका पहला उपन्यास *सेवासदन* हिन्दी में प्रकाशित हुआ। हिन्दी के प्रकाशकों और पत्रिका-सम्पादकों ने उनका जबरदस्त स्वागत किया। प्रेमचन्द की बढ़ती लोकप्रियता से ईर्ष्याग्रस्त होकर कुछ सामान्य स्तर के आलोचकों और उपन्यासकारों ने संगठित ढंग से उनका विरोध करना आरम्भ किया और उन्हे 'घृणा का प्रचारक', 'ब्राह्मण-विरोधी', 'साहित्यिक चोरी करने वाला', 'विदेशी उपन्यासों और कहानियों के आधार पर उपन्यास-कहानी लिख कर मौलिक कथाकार होने का दावा करने वाला लेखक' सिद्ध करने का प्रयास किया। प्रेमचन्द ने इन आलोचनाओं का करारा जवाब भी दिया। पर प्रबुद्ध आलोचकों ने, जिनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रामदास गौड़, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', अमरनाथ झा आदि थे, प्रेमचन्द के कथा-साहित्य की भरपूर प्रशंसा की। शुक्ल जी ने उन्हें 'हिन्दी का गौरव' कहा।

प्रेमचन्द के कथा साहित्य का सम्यक् मूल्यांकन 1941 ई० की अवधि में प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा, नलिन विलोचन शर्मा आदि के द्वारा हुआ। इनमें से प्रथम दो ने प्रेमचन्द के कथ्य की सम्यक् मीमांसा प्रस्तुत की तथा इस दृष्टि से कथा-साहित्य में उनके द्वारा लाए गए युगान्तरकारी परिवर्तन की ओर इंगित किया तो अन्तिम ने प्रेमचन्द के उपन्यासों के 'स्थापत्य' और भाषा के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला। पर इसी अवधि में नन्ददुलारे वाजपेयी, अज्ञेय और नगेन्द्र ने प्रेमचन्द को इस आधार पर 'द्वितीय श्रेणी' का कथाकार घोषित किया कि उनमें 'मनोवैज्ञानिक गहराई' का अभाव है। नगेन्द्र और अज्ञेय की प्रेमचन्द की आलोचना में एक समानता यह है कि दोनों उन्हें वर्गीय चेतना से रहित, मानवमात्र के प्रति समान भाव से सहानुभूति रखने वाला कथाकार मानते हैं।

1961-80 का समय इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इस अवधि में अमृत राय, मदन गोपाल, कमलकिशोर गोयनका आदि ने प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य के सम्बन्ध में प्रचुर मात्रा में नवीन सामग्री उपलब्ध करायी, जो परवर्ती काल में प्रेमचन्द के साहित्य के विवेचन और मूल्यांकन में सहायक सिद्ध हुई।

1980–81 का वर्ष प्रेमचन्द का जन्मशती वर्ष था जिसमें प्रेमचन्द के साहित्य-विमर्श में शास्त्रार्थ (पोलेमिक्स) की प्रमुखता रही। प्रेमचन्द को लेकर मार्क्सवादी और मार्क्सवाद-विरोधी आलोचकों के बीच पर्याप्त वाद-विवाद हुआ, जिससे धुआँ अधिक निकला, आग कम। फिर भी इस शास्त्रार्थ से प्रेमचन्द के साहित्य के प्रति सामान्य पाठकों में नयी रुचि तो पैदा हुई ही। आशा है, भविष्य में प्रेमचन्द के उपलब्ध नये साहित्य तथा शास्त्रार्थ से पैदा हुई ऊर्जा से उनका और भी सम्यक् मूल्यांकन सम्भव होगा।

4.7 अभ्यास प्रश्न

1. प्रेमचन्द पर उनकी समकालीन आलोचना का विवरण देते हुए उसका मूल्यांकन कीजिए।
2. प्रेमचन्द के कथा साहित्य के मूल्यांकन में प्रकाशचन्द्र गुप्त और रामविलास शर्मा के योगदान की समीक्षा कीजिए।
3. प्रेमचन्द के उपन्यासों की संरचना और भाषा पर नलिन विलोचन शर्मा के विचारों का तर्कसंगत विवेचन कीजिए।

4. अज्ञेय, नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रेमचन्द के कथा साहित्य की आलोचना किन आधारों पर की है? क्या आप उनके विचारों से सहमत हैं? तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए।

5. प्रेमचन्द के जन्म-शताब्दी वर्ष में उनके साहित्य पर हुए विमर्श पर प्रकाश डालिए।

खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1. रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द , राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1994
2. रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1967
3. नलिन विलोचन शर्मा, साहित्य : तत्व और आलोचना, अनुपम प्रकाशन, पटना, सं. 1995
4. नगेन्द्र, आस्था के चरण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
5. अमृत राय, प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 1962
6. अमृत राय, विविध प्रसंग (तीन खंड), हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 1962
7. अमृत राय, चिट्ठी-पत्री (दो खंड), हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 1962
8. नलिन विलोचन शर्मा, हिन्दी उपन्यास : विशेषत: प्रेमचन्द, ज्ञानपीठ, पटना, 1968
8. नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन,1956
9. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (सं.), प्रेमचन्द, कीर्ति प्रकाशन, गोरखपुर, 1980

पत्रिकाएँ

'उत्तरार्द्ध' का प्रेमचन्द अंक, सं. सव्यसाची, 2164, डेम्पीयर, मथुरा, अप्रैल, 1980

'उत्तरगाथा', प्रेमचन्द विशेषांक, सव्यसाची, 2164, डेम्पीयर, मथुरा, जनवरी, 1981

'कलम' का प्रेमचन्द विशेषांक, सं. चन्द्रबली सिंह, 48 एम, पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता

'पूर्वग्रह'--61-62, सं. अशोक वाजपेयी, भोपाल

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

खंड

2

सेवासदन

इकाई 5
सेवासदन : अंतर्वस्तु का विश्लेषण 5

इकाई 6
सेवासदन : शिल्प-संरचना (औपन्यासिक शिल्प) 19

इकाई 7
सेवासदन की नायिका (सुमन) 30

परिशिष्ट 41

खंड परिचय

एम.ए. हिन्दी के पाठ्यक्रम-14 हिन्दी उपन्यास-1 (प्रेमचंद का विशेष अध्ययन) का यह दूसरा खंड है। पाठ्यक्रम के प्रथम खंड में आपने प्रेमचंद के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की समग्र जानकारी प्राप्त की। अब पाठ्यक्रम के खंड दो, तीन, चार एवं पाँच में आप प्रेमचंद के कुछ प्रमुख उपन्यासों का अध्ययन करेंगे। प्रस्तुत खंड में हम प्रेमचंद का प्रारंभिक उपन्यास 'सेवासदन' पढ़ा रहे हैं। 'सेवासदन' की अंतर्वस्तु मध्यवर्ग से संबद्ध है। मध्यवर्ग के संदर्भ में ही प्रेमचंद ने यहाँ नारी मुक्ति को केन्द्र में रखा है।

इस खंड में कुल तीन इकाइयाँ हैं। जिनमें 'सेवासदन' उपन्यास के विविध पक्षों पर विचार किया गया है।

इकाई-5 में 'सेवासदन : अंतर्वस्तु का विश्लेषण' है।'सेवासदन में मध्यवर्गीय समाज की कुछ विशिष्ट समस्याओं का अंकन किया गया है। इस इकाई में 'सेवासदन' की विषय वस्तु एवं मध्यवर्ग के संदर्भ में उसके प्रमुख पात्रों पर चर्चा की गई है।

इकाई-6 'सेवासदन : शिल्प-संरचना (औपन्यासिक शिल्प) है। इस इकाई में एक उपन्यास के रूप में 'सेवासदन' का मूल्यांकन किया गया है। साथ ही प्रेमचंद के लेखकीय व्यापक सरोकार के संदर्भ में 'सेवासदन' के माध्यम से उनकी रचना-दृष्टि को भी रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

इकाई-7 'सेवासदन की नायिका (सुमन)' है। इस इकाई में उपन्यास के प्रमुख एवं सबसे महत्वपूर्ण पात्रा 'सुमन' के चरित्र और उसकी जीवन-यात्रा के विविध पक्षों का विवेचन किया गया है। साथ ही हमने यह भी चर्चा की है कि इस विशिष्ट पात्र की सृष्टि के पीछे प्रेमचंद का निहित लक्ष्य क्या है।

इकाइयों के अंत में 'सेवासदन' तथा प्रेमचंद से संबंधित कुछ उपयोगी पुस्तकों/संदर्भ ग्रंथों की सूची दी गई है। विषय के विशेष अध्ययन के लिए आप उनकी सहायता ले सकते हैं।

प्रेमचंद एवं 'सेवासदन' से संबंधित कुछ विशेष बातों पर 'परिशिष्ट' में भी चर्चा की गई है। इन सबका अध्ययन करने से पहले यह आवश्यक है कि आप 'सेवासदन' उपन्यास का अध्ययन करें। उपन्यास के कुछ प्रमुख व्याख्यांशों के संकेत भी हमने परिशिष्ट में दिए हैं।

अब अध्ययन के लिए आपके समक्ष 'सेवासदन' की इकाइयाँ प्रस्तुत हैं।

इकाई 5 'सेवासदन' : अन्तर्वस्तु का विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 'सेवासदन' : युगीन भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य

5.3 भारतीय समाज की वर्ग-संरचना और मध्यवर्ग की स्थिति

5.4 प्रेमचन्द की सामाजिक चिन्ता : नारी-मुक्ति के संदर्भ में

5.5 'सेवासदन' में विवाह-संस्था

5.6 विधवा-समस्या

5.7 वेश्या-समस्या

5.8 'सेवासदन' में अभिव्यक्त अन्य समस्याएँ

5.9 सारांश

5.10 अभ्यास प्रश्न

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ्यक्रम हिन्दी उपन्यास-1 (प्रेमचंद का विशेष अध्ययन) के अंतर्गत खंड - 2, 3, 4 एवं 5 में आप प्रेमचन्द के कुछ महत्वपूर्ण उपन्यासों का अध्ययन करेंगे। इस पाठ्यक्रम के प्रस्तुत खंड के अंतर्गत तीन इकाइयों में आप 'सेवासदन' का अध्ययन करेंगे। इस इकाई में 'सेवासदन' की अन्तर्वस्तु पर विचार किया जाएगा।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- तत्कालीन भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य की छानबीन को समझा सकेंगे जिससे 'सेवासदन' की अंतर्वस्तु ग्रहण की गई है;
- चूँकि 'सेवासदन' मध्यवर्गीय समाज की कुछ विशिष्ट समस्याओं के सम्बद्ध है, अत: समाज की वर्गीय संरचना में मध्यवर्ग की स्थिति का भी परिचय दे सकेंगे;
- 'सेवासदन' में निरूपित विवाह-संस्था में निहित विकृतियों को उजागर करने के लिए दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह आदि के वास्तविक अभिप्रायों को स्पष्ट कर सकेंगे;
- मध्यवर्गीय हिंदू विधवा जीवन और नारी की दीन-हीन दशा पर भी प्रकाश डाल सकेंगे;
- उपन्यास की प्रमुख पात्र या नायिका को केंद्र में रखकर 'सेवासदन' में नारी जीवन की जो त्रासदी दिखाई गई है, उस पर भी चर्चा कर सकेंगे; और
- 'सेवासदन' में चित्रित मध्यवर्गीय पात्रों के साथ सन्निविष्ट कुछ अन्य पात्रों की स्थिति और समस्याओं का भी विवेचन कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

प्रेमचंद एक गहन सामाजिक सरोकार सम्पन्न रचनाकार रहे हैं। उनका वास्तविक सरोकार रहा है - देश सेवा, देश की उस बहुसंख्यक जनता की सेवा, जो जी-तोड़ मेहनत के बावजूद अपनी न्यूनतम बुनियादी जरूरतें पूरी करने में असमर्थ रही है। प्रेमचंद युगीन समाज में कुछ

ऐसी ठोस स्थितियाँ रही हैं जिन्हें उन्होंने विशेष रूप से अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। मोटे तौरे पर यह ये स्थितियाँ हैं 1) जमींदारों द्वारा निरीह किसान-मजदूर समुदाय का शोषण, जिसमें विदेशी सरकारी कर्मचारी, जमींदारों के कारिन्दे, ग्रामीण साहूकार-महाजन, पंडे-पुरोहित आदि समान रूप से भागीदार रहे हैं। 2) स्वाधीनता के लिए चल रहा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन। 3) देशव्यापी हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता की भावना के साथ ही हिन्दू समाज में जड़ जमाए हुए जाति-पांत, ऊँच-नीच, छुआ-छूत की भावना। 4) देश में फैले अज्ञान, अंधविश्वास, रूढ़िवादी सामाजिक-धार्मिक रीतिरिवाज। ये सभी स्थितियाँ एक-दूसरी से जुड़ी ही नहीं थी, वरन् परस्पर मिलकर उन्हें और अधिक गंभीर बना रही थीं।

प्रेमचंद भारतीय समाज की वर्गीय स्थिति से पूरी तरह परिचित थे। अपने उपन्यासों में वर्ग चेतना को रेखांकित करते हुए उन्होंने भारत के विभिन्न वर्गों के नारी-पुरुष संबंधों की स्वरूपगत भिन्नता को भी स्पष्ट किया है। सामंतों-जमीदारों के यहाँ नारी पराधीनता का जो रूप मिलता है, वह किसान-मजदूरों की नारी से पर्याप्त भिन्न है। यही स्थिति पूँजीपतियों और मजदूरों की स्त्रियों के बीच भी देखी जा सकती है। मध्यवर्गीय नारी-पुरुष संबंध प्रायः अधिक जटिल रहा है। धनाभाव और उत्पादन में अपना कोई हिस्सा न होने के कारण मध्य वर्गों की नारी की स्थिति अधिक दयनीय हो गई थी। इसलिए इस समस्या की ओर प्रेमचंद का ध्यान विशेष रूप से गया है। उनके उपन्यासों में जिस तरह शोषित-उत्पीड़ित किसान-मजदूर वर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति प्रकट हुई है ठीक उसी प्रकार प्रायः सभी वर्गों की नारियों के प्रति भी। क्योंकि हर वर्ग की नारी किसी-न-किसी रूप में उत्पीड़न का शिकार रही है।

प्रस्तुत इकाई में 'सेवासदन' के रूप में आप जिस उपन्यास का अध्ययन करने जा रहे हैं, उसमें 'सुमन' के वेश्या बनने के लिए विवश होने की घटना को केंद्र में रखा गया है लेकिन इसे वेश्या जीवन पर आधारित उपन्यास मानने में कुछ दिक्कतें आती हैं। अतः इसे कुछ लोग नारी स्वाधीनता की भावना से प्रेरित उपन्यास कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। इस पर आगे हम यथा-स्थान विचार-विमर्श करेंगे।

5.2 'सेवासदन' : युगीन भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य

'सेवासदन' उर्दू में 'बाजारे हुस्न' नाम से लिखा जाने के बावजूद 1918 ई. में सर्वप्रथम हिन्दी में प्रकाशित हुआ। अतः इसका रचना काल 1916-17 ई. की सामाजिक पृष्ठभूमि है। यह प्रथम विश्व युद्ध का समय था। कांग्रेस के नरम और गरम दल के रूप में तीव्र विभाजन के कारण राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन अपेक्षाकृत काफी शिथिल था। संभव है इसीलिए राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की ओर प्रेमचंद की दृष्टि नहीं गई। ब्रिटिश प्रशासन और उसकी व्यापारिक अपेक्षाओं के दबाव से इस समय तक भारतीय समाज में शिक्षित मध्य वर्ग में दो तरह के रुख रुझान स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे थे। इसका एक समुदाय पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के प्रवाह में बह रहा था तो दूसरा समुदाय अपनी पुरानी धार्मिक आस्था और रूढ़िवादी नैतिकता के जाल में फँसा हुआ था। इस दूसरे समुदाय की दृष्टि अधिकांशतः पुनरुत्थानवादी थी। इस वास्तविकता को केंद्र में रखकर उन्नीसवीं शताब्दी के उदय के साथ ही भारत में अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार आंदोलनों का सूत्रपात हुआ।

बंगाल में राजा राममोहन राय के ब्रह्म समाज (1828 ई.), उत्तर भारत में दयानन्द सरस्वती के आर्य समाज (1865 ई.), केशवचंद्र सेन के प्रार्थना समाज के साथ ही महाराष्ट्र के ज्योतिबा फुले का अछूतोद्धार आंदोलन सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार आंदोलन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। कांग्रेस के प्रमुख कर्णधार महादेव गोविन्द रानाडे और गोपाल कृष्ण गोखले ने इस सामाजिक सुधार की भावना को आगे बढ़ाया। महात्मा फुले को छोड़कर इन सभी सुधारकों की दृष्टि अधिकांशतः हिंदू मध्यवर्गीय समाज से जुड़ी हुई थी। इनमें प्रायः सभी ने नारी-शिक्षा, उसकी स्वाधीनता, पुरुषों के साथ उसकी बराबरी की भावना का प्रचार-प्रसार

किया। इसके लिए उन्होंने बाल विवाह, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह के साथ ही दहेज प्रथा का भी विरोध किया। पति-परित्यक्ता या पति-प्रताड़ित नारियों के प्रति उन्होंने अपनी पूरी सहानुभूति प्रकट की। राजा राममोहन राय, को भारतीय समाज में सती प्रथा पर कानूनी रोक लगवाने में सफलता भी प्राप्त हुई।

भारतीय समाज में, मुख्यत: मध्यवर्ग के अन्तर्गत नारी की समस्या ने एक जटिल रूप धारण कर लिया था। आर्थिक पराधीनता तो उसका दामन पकड़े हुए थी ही, सामाजिक आचार-विचार, धार्मिक और नैतिक नियमों के अत्यन्त क्रूर और कठोर बंधन से उसे जकड़ दिया गया था। बेटी, बहन, पत्नी यहाँ तक कि माँ के रूप में भी उसे सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों से जकड़ कर पराधीन बना दिया गया था। पुरुष प्रधान पितृसत्तात्मक समाज में सारे अंकुश नारियों पर ही आरोपित किए गए थे। दहेज प्रथा की क्रूरता ने जहाँ एक ओर बाल विवाह, अनमेल विवाह और वृद्ध विवाह को प्रश्रय दिया, वहीं दूसरी ओर इसने विधवा और वेश्या समस्या को भी अत्यन्त गंभीर बना दिया।

भारतीय समाज में सबसे दयनीय स्थिति विधवा की रही है। सास-ससुर से लेकर देवरानी-जेठानी और पास-पड़ोस तक में उसे अशुभ और कलंकिनी के रूप में देखा जाता रहा है। प्रेमचंद के युग में यह स्थिति और भी क्रूर और भयावह रही है। हँसना और रोना दोनों ही अपशकुन माना जाता रहा है। 'सेवासदन' में तो नहीं है, लेकिन अपने कई उपन्यासों में प्रेमचंद ने विधवा जीवन की त्रासदी को अत्यन्त जागरूकता के साथ चित्रित किया है। वैसे सम्पूर्ण भारतीय जीवन में विधवा की स्थिति ही सर्वाधिक दयनीय स्थिति रही है।

जहाँ तक वेश्या समस्या का प्रश्न है, इसका केंद्र प्राय: शहर ही रहे हैं। विवाह संस्कार से लेकर तमाम धार्मिक-सामाजिक उत्सवों में संगीत एवं नृत्यांगना के रूप में वेश्या की उपस्थिति को पर्याप्त महत्व मिला था। जन्मोत्सव, रामनवमी, कृष्ण जन्मोत्सव आदि के साथ ही मठों-मंदिरों और संतों-महंतों के अनेक धार्मिक उत्सवों के आयोजन की शोभा वेश्याओं के नृत्य-गान से ही पूरी होती रही है। समाज में एक तरफ जहाँ उन्हें व्यभिचारिणी-कलंकिनी के रूप में देखा जाता रहा है, वहीं सेठ-साहूकारों, राजा-रईसों की जिन्दगी के लिए अपरिहार्य भी बना दिया गया था। 'सेवासदन' में प्रेमचंद ने इस समस्या को अत्यधिक विस्तार दिया है। बावजूद इसके, प्रेमचंद 'सेवासदन' में वेश्या समस्या की अपेक्षा नारी-स्वाधीनता को अधिक महत्व देते दिखाई देते हैं।

प्रेमचंद युगीन सामाजिक परिदृश्य में जाति-पांत, ऊँच-नीच, छूआ-छूत, हिंदू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता, सामाजिक-धार्मिक अन्ध विश्वास और बहुत सारी पुरातन पंथी रूढ़ियाँ विद्यमान थी, जो आज भी न्यूनाधिक मात्रा में दिखायी देती है। लेकिन इन्हें विस्तार न देकर प्रेमचंद ने जगह-जगह इनका स्पर्श मात्र किया है। फलस्वरूप 'सेवासदन' की अन्तर्वस्तु अत्यन्त व्यापक हो गयी है।

5.3 भारतीय समाज की वर्ग-संरचना और मध्यवर्ग की स्थिति

वर्ग-विश्लेषण में मध्यवर्ग अब तक विवाद का विषय बना हुआ है। वैसे पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में दो ही प्रमुख वर्ग होते हैं- एक पूँजीपति और दूसरा मजदूर। प्रेमचंद युगीन भारतीय समाज में, और न्यूनाधिक मात्रा में आज भी, सामंत या भूपति वर्ग और किसान की उपस्थिति के कारण इस तरह का भेद कर पाना कुछ मुश्किल हो गया है। जहाँ तक मध्यवर्ग की स्थिति का प्रश्न है, वह निश्चय ही पूँजीवादी समाज की देन है। उसकी वास्तविक स्थिति को पूँजीपति और मजदूर वर्ग के बीच की कड़ी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन प्रेमचंद के यहाँ उसे भूस्वामी-सामंत और किसान के मध्य भी प्राय: कड़ी बनता हुआ दिखाया गया है।

मध्यवर्ग के संबंध में सबसे बड़ी वास्तविकता यह है कि आर्थिक उत्पादन में न वह उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है और न ही किसी भौतिक मूल्य का उत्पादन करता है। दफ्तरी कर्मचारी और बुद्धिजीवी के रूप में वह अधिकांशत: शासक और सम्पन्न वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। लेकिन कभी-कभी निम्न मध्यवर्गीय के रूप में वह निम्न वर्ग के पक्ष में भी अपने क्रिया-कलाप को नियोजित करता है। इस दृष्टि से देखें तो डाक्टर, कलाकार, पत्रकार, दार्शनिक, अध्यापक, वकील तथा अन्यान्य चिन्तकों के रूप में बौद्धिक समुदाय अपने-आप में कोई वर्ग नहीं है। ये सभी मध्यवर्ग के अंतर्गत ही आते हैं। मनोवृत्ति की दृष्टि से उपर्युक्त समुदाय उच्च एवं निम्न वर्ग के दो प्रमुख समुदायों के साथ होकर ही सामाजिक विकास की प्रक्रिया में अपनी भूमिका का निर्वाह करता है।

यहाँ हम मध्यवर्ग की विभिन्न परिभाषाओं के चक्कर में न पड़कर 'हिंदी साहित्य कोश' में दी गई इसकी व्याख्या से इसके स्वरूप की पहचान कर सकते हैं, "मध्यवर्ग सामंतवादी व्यवस्था में नहीं पाया जाता है, क्योंकि उस समय जमींदार तथा किसान का सीधा संबंध था। किंतु पूँजीवादी व्यवस्था ने समाज को इतना जटिल बना दिया कि एक मध्यवर्ग की भी आवश्यकता हुई, जो इस जटिल व्यवस्था के संगठन सूत्र को सँभाल सके। ..... मध्यवर्ग विशेषत: बुद्धि प्रधान वर्ग माना जाता है और सामाजिक क्रांति के समस्त विचारों का सृजन प्राय: मध्यवर्ग में होता है।" लेकिन यहाँ मध्यवर्ग को प्रगतिशील विचारों का सर्जक ही माना गया है, जबकि समाज के अगतिशील और पुनरुत्थानवादी विचारों का सर्जक बनकर वह प्रगति का अवरोधक बन सकता है। प्रेमचंद के उपन्यासों में, विशेषकर 'सेवासदन' में इसे अच्छी तरह देखा जा सकता है।

प्रेमचंद स्वयं मध्यवर्ग के निचले तबके, निम्न मध्यवर्ग से आए थे। इसका उन्हें पूरा एहसास भी था। इसलिए वे इस वर्ग की चेतना, आशा-आकांक्षा को प्रत्यक्ष करने वाले सशक्त कलाकार सिद्ध हुए। अपने अन्याय उपन्यासों की भांति ही 'सेवासदन' में भी प्रेमचंद ने दारोगा कृष्ण चंद्र, वकील पं. पद्म सिंह, शाकिर बेग और शरीफ हसन, पेंशन याफ्ता डिप्टी कलेक्टर सैयद शफकत अली, बैंक घर के बाबू और समाज सुधारक बिट्ठल दास, हकीम शोहरत खां, इस्लामी कट्टरतावाद के वाहक तेगअली, डाक्टर श्यामाचरण, पत्रकार प्रभाकर राव, वकील रुस्तम भाई, प्रोफेसर रमेश दत्त आदि के साथ ठेकेदार, साहूकार, सेठ, जमींदार, व्यापारी आदि पात्रों को अपनी प्रतिनिधिक और निजी विशेषताओं के साथ चित्रित किया है। इनमें सर्वाधिक संख्या मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की है, जिनमें से अधिकांशत: सामाजिक सुधार के पक्ष में हैं। इन चरित्रों के माध्यम से प्रेमचंद ने 'सेवासदन' को एक व्यापक सामाजिक फलक प्रदान किया है।

5.4 प्रेमचंद की सामाजिक चिन्ता: नारी-मुक्ति के संदर्भ में

सामाजिक सुधार की दृष्टि से प्रेमचंद की चिंता का महत्वपूर्ण पहलू नारी मुक्ति, विशेषत: मध्यवर्गीय नारी की मुक्ति से जुड़ा हुआ था। वैसे तो मध्यवर्ग के पुरुषों के गुण-अवगुण अधिकांशत: इस वर्ग की नारियों में भी दिखायी देते हैं। लेकिन पुरुष प्रधान भारतीय समाज में मध्यवर्ग की नारी की स्थिति विशेष रूप से दयनीय रही है। शोषित-उत्पीड़ित गरीब और अछूत दलितों की भांति ही सदियों से पुरुषों के चंगुल में फंसी हुई नारी की करुण दास्तान का एक लम्बा इतिहास है। राजा राममोहन राय से लेकर दयानंद सरस्वती, ईश्वर चंद्र विद्यासागर आदि समाज सुधारकों ने इस दिशा में सक्रिय प्रयास किया था। इस पहल के बावजूद प्रेमचंद के समय तक इस स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं दिखायी देता है। कहने को तो कह दिया गया है कि 'जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं', लेकिन व्यवहार में पुरुष प्रधान समाज में उसे बंदी ही बनाकर रखा गया है। समाज के सारे आचार-व्यवहारगत बंधन केवल नारियों पर ही आरोपित किए जाते रहे हैं। भाई के कल्याण, पुत्र के कल्याण और पति के कल्याण के जितने व्रत और पर्व हैं, उन्हें पूरा करना नारियों के जिम्मे ही है। नारी

कल्याण के लिए पुत्र द्वारा माता, भाई द्वारा बहन, पति द्वारा पत्नी के जिम्मे इस तरह का कोई विधान नहीं है। नारी को अधिकांशत: घर की चार दीवारी के अंदर रहकर घुटते हुए अपनी भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है।

वास्तव में 'सेवासदन' में भी प्रेमचन्द ने पहली बार नारी पराधीनता के विविध रूपों का अंकन किया। 'सेवासदन' की मूल समस्या के संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा का कहना है- "सेवासदन की मुख्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता है। प्रेमचन्द ने किसी तरह तमाम पुरानी सांस्कृतिक परंपराओं को तोड़ते हुए वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता को अपने निठुर और वीभत्स रूप में चित्रित किया है, इस पर सहज विश्वास नहीं होता। हमारे साहित्य में कितने नाटक, कितने उपन्यास नारी के आत्म बलिदान, उसके सतीत्व, उसकी पतिसेवा पर नहीं लिखे गए? लेकिन कितने लेखकों ने उसकी निस्साहयता, पराधीनता, उसके साथ पशुओं और दासों-जैसे व्यवहार पर नज़र डाली है?''

5.5 'सेवासदन' में विवाह-संस्था

प्रेमचंद ने नारी पराधीनता के लिए एक बड़ा कारण विवाह-संस्था को माना है। उनके इस विचार पर टिप्पणी करते हुए जवरीमल्ल पारख ने अपने एक लेख प्रेमचंद और नारी समस्या' में लिखा है, "वस्तुत: हिन्दू-विवाह प्रथा के साथ जुड़ी हुई कुरीतियों के साथ हिंदू जीवन अधिक नारकीय हुआ है। हिंदू विवाह-प्रथा स्त्री-पुरुष प्रेम पर आधारित नहीं है, बल्कि उसका आधार धर्म है। जैसा कि होता है-धार्मिकता के साथ कुरीतियाँ सरलता से जुड़ जाती हैं।'' (उत्तरगाथा, अप्रैल 1980) वस्तुत: हिंदू समाज में विवाह एक धार्मिक कृत्य बन बया है, जिसका संपादन केवल अग्नि के सात फेरे मात्र से न कर वैदिक और शास्त्रीय मंत्रों के उच्चारण के माध्यम से होता है। इसके साथ ही वह भाग्य और कर्मफल के साथ जुड़कर विधाता के पूर्वलिखित विधान का अनिवार्य अंग भी बन गया है। माता-पिता और विवाहिता कन्या के लिए संतोष का यह एक झूठा बहाना भी बना है। 'सेवासदन' की सुमन, शांता आदि जैसी जागरूक नारियाँ भी इसका बार-बार सहारा लेती हैं।

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में वैवाहिक समस्या को केवल मध्यवर्ग तक ही सीमित रखा है। इस दृष्टि से उच्च वर्गीय और निम्न वर्गीय वैवाहिक समस्या को उन्होंने गंभीरता से नहीं लिया है। वस्तुत: देखा जाए तो वैवाहिक समस्या का सबसे जटिल रूप मध्यवर्गीय परिवारों में ही पाया जाता है। 'सेवासदन' की शुरुआत ही इस समस्या से होती है। 'प्रतिज्ञा', 'वरदान' से लेकर 'निर्मला तक प्रेमचंद को इस समस्या से जूझना पड़ा है। 'सेवासदन' में उनकी मान्यता है कि "विवाह, भांवर या सिंदूर बंधन नहीं, बंधन केवल मन का भाव है।'' (पृ. 142) लेकिन अन्यत्र शांता के माध्यम से वे कहते हैं, "हम विवाह को धर्म का बंधन समझती हैं। हमारा प्रेम धर्म के पीछे चलता है।'' वस्तुत: इस प्रकार का अंतर्विरोध पात्रों की स्थिति और मनोदशा के कारण है। इसे प्रेमचंद का अंतर्विरोध नहीं माना जा सकता।

प्रेमचंद ने विवाह संस्था की क्रूरता को स्वयं भोगा था। अपनी इच्छा के विरुद्ध पिता के दबाव में अल्पवय में ही उन्हें अनमेल विवाह का शिकार बनना पड़ा था। इससे मुक्ति के लिए उन्होंने बाद में विधवा शिवरानी से विवाह किया था। अत: विवाह को वे धार्मिक बंधन नहीं स्वीकार कर सकते थे। परित्यक्ता पत्नी की घोर उपेक्षा उनके अपने घर में हुई थी। इस विषय में स्वयं उनका अनुभव था। विवाह को लेकर समाज में प्रचलित रवैये से उन्हें घोर असंतोष था। अनमेल विवाह से इस संस्था की पवित्रता दिन-पर-दिन गिरती जा रही थी। 'सेवासदन' में थानेदार कृष्ण चंद्र की बेटी सुमन इसका शिकार बनती है और गृह त्याग कर उसे वेश्या बनने पर विवश होना पड़ता है। इस तरह के अनमेल विवाह के लिए प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में वृद्ध और बाल विवाह के साथ ही दहेज प्रथा को सबसे बड़ा कारण माना है। 'सेवासदन' की सुमन की भांति 'निर्मला' की निर्मला को दहेज की बलिदेवी पर कुरबान होना पड़ता है। 'गोदान' में होरी की अल्पवय बेटी को प्रौढ़वय के रामसेवक महतो के हवाले करना

पड़ता है। इनमें सुमन और निर्मला की स्थिति अत्यंत त्रासद बन जाती है। 'वरदान' में प्रताप और विरजन (वृजरानी) के गहरे हार्दिक लगाव के बावजूद उसे अपरिचित कमला के हवाले कर दिया जाता है।

'सेवासदन' का आरंभ ही इस वाक्य से होता है, "पश्चाताप के कड़वे फल कभी-न-कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचंद्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे हैं।" ब्रिटिश राज्य में थानेदार जैसे खाने-पीने वाले बदनाम पद पर काम करते हुए भी उन्होंने कभी रिश्वत नहीं ली। अपने पद के अनुकूल परिवार का पालन-पोषण करने के बाद उनका हाथ खाली था। माँ के बहुत चाहने पर भी उन्होंने सुमन का विवाह अल्पवय में नहीं किया। लड़की सयानी हुई तो वर देखना शुरू किया। ऊँचे खानदान के शिक्षित युवकों की वास्तविकता का उन्हें ज्ञान नहीं था। ब्रिटिश राज्य में नवजवान जितनी ऊँची शिक्षा प्राप्त करते थे उनके पिता की ओर से उतनी ही ऊँची रकम की माँग होती थी। वे कुल और वर्ण के साथ दहेज की ऊँची राशि के कारण कितने ही युवक-युवतियों की वैवाहिक जिन्दगी को बर्बाद करने के लिए तैयार थे।

कृष्णचंद्र को पूरा विश्वास था कि उच्च शिक्षित परिवार वाले, सज्जन पुरुष होते हैं। वे विवाह में सुंदर और गुणी कन्या को ही महत्व देते हैं। लेकिन व्यावहारिक जीवन की वास्तविकताएँ इससे भिन्न थीं। कृष्णचंद्र के संबंध में इसका उल्लेख करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है, "इसमें संदेह नहीं कि शिक्षित सज्जनों को उनसे सहानुभूति थी। पर वे एक-न-एक पख निकाल देते थे कि दारोगा जी को निरुत्तर होना पड़ता था। एक सज्जन ने कहा, महाशय, मैं स्वयं इस प्रथा का जानी दुश्मन हूँ। लेकिन करूँ क्या, अभी पिछले साल लड़की का विवाह किया, दो हजार रुपए केवल दहेज में देने पड़े, दो हजार खाने-पीने पर खर्च करने पड़े। आप ही कहिए यह कैसे पूरी हो।" दूसरे सज्जन ने इसी बात को एक दूसरे ही अंदाज में दोहराई, "दारोगा जी, मैंने लड़के को पाटना है, सहस्रों रुपए उसकी पढ़ाई पर खर्च किए हैं। आपकी लड़की को इससे उतना ही लाभ होगा जितना मेरे लड़के को। तो आप ही न्याय कीजिए कि यह सारा भार मैं अकेले कैसे उठा सकता हूँ।"

सुमन के पिता दारोगा कृष्णाचंद्र इस नयी वास्तविकता से इतने आहत हुए कि लाचार होकर उन्हें बेईमानी के रास्ते पर उतरना पड़ा। उन्होंने रिश्वत ली, लेकिन इस कला में माहिर न होने के कारण पकड़े गए। पूछताछ के दौरान अपनी स्वाभाविक ईमानदारी के कारण उन्होंने अपने अपराध को स्वीकार कर लिया। रिश्वत के पैसे मुकदमें में खर्च हो गए और दारोगा कृष्णचंद्र को कैद की सजा भुगतनी पड़ी। सुमन के मामा पं. उमानाथ की लाख कोशिशों के बावजूद दहेज के अभाव में सुमन के अनुकूल वर नहीं मिला। अंत में विवश होकर उन्हें एक दोहाजू वर की तलाश करनी पड़ी। वह बिना दहेज के कन्या का उद्धार करने के लिए तैयार था। सुमन की शादी शहर में 15 रुपये मासिक पर कारखाने में कार्यरत एक अधेड़ व्यक्ति गजाधर पाण्डेय से कर दी गयी। वर को देखकर सुमन की माँ ने सिर पीट लिया, मानो उनकी बेटी सुमन को कुएँ में डाल दिया हों। 'निर्मला' उपन्यास में भी वकील पिता की मृत्यु के पश्चात निर्मला के अच्छे घर वर की शादी टूट गयी। विवश विधवा माँ को निर्मला के पिता की उमर के दोहाजू वर को उसके गले मढ़ना पड़ा। दहेज के अभाव में इस प्रकार के अनमेल विवाह की त्रासदी निर्मला के माध्यम से प्रेमचंद ने अत्यंत हृदय-विदारक रूप से चित्रित की है।

सुमन की बहन शान्ता के विवाह को लेकर पं. उमानाथ को दहेज जुटाने के संबंध में जो दिक्कतें झेलनी पड़ी, उसकी ओर भी प्रेमचंद ने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। 'सेवासदन' के रचना काल तक प्रेमचंद प्रायः आशावादी ही अधिक रहे हैं। फलस्वरूप दहेज की व्यवस्था सुमन से वियुक्त और साधु वेशधारी गजाधर पाण्डेय अत्यंत नाटकीय ढंग से करते हैं। शान्ता की शादी वकील पद्म सिंह के भाई पं. मदन सिंह के बेटे सदन सिंह से तय होती है। लेकिन बहन सुमन के वेश्या होने और पिता कृष्ण चंद्र के सजायाफ्ता होने के कारण शान्ता के घर

आई हुई बारात वापस हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि दहेज के साथ ही कुलीनता, पारिवारिक सम्मान, सामाजिक स्तर आदि भी विवाह से संबद्ध कुप्रथाओं में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

जैसे विवाह प्रथा की कुरीतियों में कन्या पक्ष से माता-पिता की उपेक्षा या असावधानी, विधि के विधान में विश्वास, विवाह को धार्मिक रूप देने की भावना, भाग्य और कर्मफल को उत्तरदायी मानना आदि बहुत से कारणों का योगदान है। इसके साथ ही पुरुष वर्चस्व-प्रधान समाज में कन्या के विवाह में पिता की राय की प्रमुखता भी अनमेल विवाह का एक कारण है। इन कारणों के बावजूद हिन्दू समाज में वैवाहिक समस्या को सर्वाधिक जटिल बनाने का दायित्व दहेज प्रथा को ही है। सुन्दर, सुरक्षित, सभी गुणों से सम्पन्न सुसंस्कृत लड़कियाँ दहेज के अभाव में कुरूप अशिक्षित, सर्वथा अयोग्य लड़कों से ब्याह दी जाती हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि कुल की मर्यादा और सम्पन्नता को ध्यान में रखकर बड़ी उमर के दोहाजू की झोली में उन्हें डाल दिया जाता है। 'सेवासदन' की सुमन और 'निर्मला' की निर्मला इसके ज्वलंत प्रमाण हैं।

5.6 विधवा-समस्या

वैसे प्रेमचंद ने 'सेवासदन' में विधवा-समस्या को अलग से नहीं उठाया है। लेकिन अपने 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में इसका चित्रण कर चुके थे। इस उपन्यास के अंतर्गत वे अपने आर्यसमाजी प्रभाववश काशी के आर्य मंदिर में पं. अमरनाथ के व्याख्यान के बीच यह घोषणा करवाते हैं, "आप लोगों में कितने महाशय हैं, जो वैधव्य के भँवर में पड़ी हुई अबलाओं के साथ अपने कर्त्तव्य-पालन का साहस रखते हैं? कृपया हाथ उठाएँ। अरे, यह क्या? एक भी हाथ नजर नहीं आता। हमारा युवक समाज इतना कर्तव्य शून्य, इतना साहसहीन है।" 'प्रतिज्ञा' का अमृत राय विधवा के साथ विवाह की प्रतिज्ञा ही नहीं करता, वरन् एक वनिता आश्रम खोलने की भी योजना बनाता है।

सेवासदन' में पहले से ही विधवा-आश्रम की उपस्थिति है, जिसके कर्ता-धर्ता बिट्ठलदास हैं। पं. पद्मसिंह से राय-बात के बाद बिट्ठलदास ने सुमन को वेश्या-जीवन से मुक्त करा उसे विधवा बता कर इसी आश्रम में रखा था। आश्रमवासी महिलाओं से असलियत को छिपाकर उसे विधवा बताया गया था। आश्रम की प्रबंधकारिणी सभा के किसी भी सदस्य को इसकी सूचना नहीं दी गयी थी। लेकिन इस सच्चाई का राज़ खुल जाने पर कुछ रसिक सज्जनों की आश्रम के प्रति विशेष सहानुभूति जागृत हो गयी। बिट्ठलदास, अबुलवफा, अब्दुल लतीफ के साथ ही सेठ चिम्मनलाल, सेठ बलभद्रदास आदि से बड़ी कठिनाई से पीछा छुड़ाते हैं। आगे चलकर विवाह के लिए आई बारात की वापसी के बाद सुमन की बहन शान्ता को भी उसी आश्रम में रखा जाता है। लेकिन चूँकि बात खुल चुकी थी इसलिए इसका विरोध होने लगा था। अत: सुमन के साथ शान्ता को भी आश्रम छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। इससे स्पष्ट है कि विधवाओं के उद्धार के लिए वनिता-आश्रमों या विधवा आश्रमों के प्रति प्रेमचंद के मन में प्रारंभ में लगाव अवश्य था, जो 'सेवासदन' में भी प्रकट हुआ है। लेकिन वेश्या समस्या को केंद्र में लाने के कारण यहाँ उन्होंने विधवा समस्या के विस्तृत चित्रण से अपने को मुक्त कर लिया है। फिर भी उनका आन्तरिक जुड़ाव विधवा-समस्या से अवश्य बना हुआ था। इसके लिए 'सेवासदन' से एक उदाहरण देखते हैं। पद्मसिंह ने जब बिट्ठलदास से सुमन के बारे में पूछा कि वह आश्रम में किस प्रकार रहती है तो उनका उत्तर था:

"ऐसी अच्छी तरह मानो वह सदा आश्रम में ही रही है। मालूम होता है, वह अपने सद्व्यवहार से अपनी कालिमा को धो देना चाहती है। सब काम करने को तैयार और प्रसन्नचित्त। अन्य स्त्रियाँ सोती रहती हैं और वह उनके कमरे में झाड़ू दे आती है। कई विधवाओं को सीना सिखाती है, कई उससे गाना सीखती हैं। सब प्रत्येक बात में उसी की राय लेती हैं। इस चहारदीवारी के भीतर अब उसी का राज्य है।"

इससे स्पष्ट है कि 'सेवासदन' में विधवा-आश्रम की उपस्थिति अत्यन्त सक्रिय और सार्थक रूप में है।

5.7 वेश्या-समस्या

'सेवासदन' में प्रेमचंद ने मध्यवर्गीय नारी के अभिशप्त जीवन की एक भिन्न कोण से करुण गाथा प्रस्तुत की है। इस उपन्यास में उन्होंने नारी की पराधीनता के विविध आयामों को प्रस्तुत करते हुए उसकी विषम परिस्थितियों को उजागर किया है। एक प्रताड़ित और पति-परित्यक्ता मध्यवर्गीय नारी किस प्रकार वेश्या बनने पर मजबूर हो जाती है, इसका प्रामाणिक चित्र 'सेवा सदन' में प्रस्तुत हुआ है। इसमें प्रेमचंद ने मध्यवर्ग के उन विगलित नैतिक मूल्यों को उजागर किया है, जिनके मूल में नारी की आर्थिक पराधीनता निहित है। सुमन वेश्या क्यों बनी, जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं, तो एकमात्र जिस उत्तर पर हमारा ध्यान केंद्रित होता है, वह है धन का अभाव। धन के अभाव के कारण सुमन के थानेदार पिता अच्छा दहेज देकर उसे उपयुक्त वर नहीं प्रदान कर पाते। अत: विवशता में उसे मूर्ख और अधेड़ उम्र के तथाकथित कुलीन गजाधर पाण्डेय के हवाले कर दिया जाता है। धन के अभाव में सुमन पति-गृह में असंतुष्ट रहती है।

सुमन मध्यवर्गीय परिवार की सुपोषित लड़की थी। उसे वेश्या बनाने का एक प्रमुख दायित्व भी उस समाज को है, जिसमें वह पली और बड़ी हुई थी। इसे स्पष्ट करते हुए डॉ. मंजुला सिंह ने लिखा है, "वेश्या जीवन मध्यवित्त हिन्दू सामाजिक जीवन की युग प्राचीन विडम्बनाओं की उपज है। मध्यवित्त परिवार में वेश्या जीवन को जो सम्मान दिया जाता है, वह अन्ततः वैवाहिक जीवन पर कुठाराघात करता है। वेश्या का आकर्षण, उसका धन, यौवन, बल पर घर की रानी की अपेक्षा कहीं अधिक मान, कुछ ऐसी चीजें हैं जो गृहस्थ नारी को पथ-भ्रष्ट करने में समर्थ है।" (हिंदी उपन्यासों में मध्यवर्ग) यहाँ इस तथ्य की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि धनाभाव और वैभव सम्पन्न सुखी जीवन की लालसा अनिवार्य रूप से वेश्यावृत्ति की ओर ले जाए, यह आवश्यक नहीं है। प्रेमचंद के उपन्यासों में चित्रित प्रत्येक असंतुष्ट और अभावग्रस्त नारी इस दिशा की ओर अग्रसर नहीं होती। सुमन के दिशा परिवर्तन का मुख्य कारण उसके पड़ोस में स्थित वेश्या भोलीबाई की उपस्थिति भी है। वह अपने दरवाजे से भोलीबाई के सम्मान में सिर झुकाते हुए अभिजन समुदाय को देखती है। पं. पद्मसिंह के यहाँ आयोजित समारोह में भी उसे यही दृश्य दिखाई देता है। इस आयोजन के कारण देर से घर पहुँचने पर वह अपने पति गजाधर द्वारा प्रताड़ित होकर घर से निष्कासित होती है। तब भी वह वेश्यावृत्ति की ओर प्रवृत्त न होकर पं. पद्मसिंह की पत्नी सुभद्रा के यहाँ आश्रय ग्रहण करती है। लेकिन वकील परिवार की लोक निन्दा के भय से उसे वहाँ से भी निकलना पड़ता है। अन्यत्र कोई आश्रय न पाकर ही वह भोली का सहारा लेती है।

प्रेमचंद ने अन्य अनेक कारणों में से वेश्या-सम्पर्क को भी सुमन के वेश्या बनने का एक महत्वपूर्ण कारण माना है। इसीलिए सामान्यजन को वे वेश्या जीवन से दूर रखने पर बल देते हैं। काशी के चौक के पास स्थित दाल मंडी के वेश्यालय को शहर से दूर हटाने की योजना 'सेवासदन' में जोर-शोर से आयोजित की गई है। एक स्वप्न लोक की तरह दालमंडी को खाली कराकर आबादी से दूर उनके आवास की व्यवस्था की गयी है। इस क्रियाकलाप में वेश्याओं के प्रति उनका घृणा या तिरस्कार का भाव न होकर उनके सुधार की भावना ही प्रमुख है। वहाँ रहते हुए अपने घृणित पेशे को छोड़कर वे शहर में पुन: वापस आ सकती हैं।

जहाँ तक सुमन के वेश्या बनने का प्रश्न है वह उसके जीवन के एक बहुत छोटे काल खंड तक सीमित है। वेश्या जीवन से मुक्त होकर वह सेवा सुधार की भावना से विधवाश्रम में जाती है और वहाँ से निकलने के लिए विवश होकर वह शान्ता और सदन के साथ जीवनयापन करना चाहती है। लेकिन उनकी उपेक्षा और सदन की माँ भामा की कटूक्तियों से

आत होकर वह रात के अँधेरे में घर से निकलकर दिग्भ्रमित हो जाती है। ऐसे अँधेरे क्षण में स्वामी गजानंद के वेश में अत्यंत नाटकीय ढंग से उपस्थित होकर उसका पति गजाधर ही उसक मार्ग निर्देशक बनता है। सुमन के प्रति किए गए अन्याय के प्रायश्चित में वह अनाथ और असहायों की सेवा का व्रत लिए हुए है। पं. पद्मसिंह की प्रेरणा से वह ऐसे अनाथालय की स्थापना करता है जिसमें अधिकांश वेश्या-कन्याओं के साथ गाँव से अई अनाथ कन्याएँ हैं।

दिशाहीन पथ भ्रमित सुमन को स्वयं द्वारा अपनाए गए सेवाधर्म की शिक्षा देते हुए गजानंद कहता है, "मुझे इस मार्ग पर चलकर शांति मिली और मैं तुम्हारे लिए भी यही मार्ग उत्तम समझता हूँ। मैंने तुम्हें आराम में देखा, सदन के घर में देखा, तुम सेवा-व्रत में मग्न थी। तुम्हारे हृदय में दया है, प्रेम है, सहानुभूति है और सेवाधर्म के यही मुख्य साधन हैं। तुम्हारे लिए उसका द्वार खुला है। वह तुम्हें अपनी ओर बुला रहा है। उसमें प्रवेश करो, ईश्वर तुम्हारा कल्याण करेगा।" इससे प्रेरित होकर सुमन अनाथालय के क्रिया-कलाप में दत्त-चित्त हो जाती है। यह अनाथालय सेवा सदन में रूपांतरित होकर प्रेमचंद के उद्देश्य और उपन्यास के शीर्षक की सार्थकता को भी सिद्ध करता है।

'सेवासदन' में वेश्या-समस्या और उसके जीवन की विडम्बना को विस्तार अवश्य मिला है, लेकिन इसकी नायिका सुमन के माध्यम से स्वाधीनचेता नारी के स्वावलंबन की तलाश को अधिक महत्व दिया गया है। संकीर्ण मनोवृत्ति वाले पति द्वारा घर से निकाली जाने पर वह उसके पैरों पर गिरती नहीं, गिड़गिड़ाती नहीं और क्षमा की भीख नहीं माँगती। वह स्वाधीन जागृत नारी की भाँति दृढ़ स्वर में कहती है, "यों कहो कि मुझे रखना नहीं चाहते। मेरे सिर पर पाप क्यों लगाते हो? क्या तुम्हीं मेरे अन्नदाता हो? जहाँ मजूरी करूँगी पेट पाल लूँगी।" वेश्या के रूप में अपने पर जान छिड़कने वाले और वेश्या की बहन के रूप में शान्ता के विवाह से मुख मोड़ने वाले सदन सिंह के मुँह पर करारा तमाचा लगाते हुए वह कहती है, "अँधेरे में जूठा खाने को तैयार, पर उजाले में निमंत्रण भी स्वीकार नहीं।"

प्रेमचंद के उपर्युक्त कथन के माध्यम से मध्यवर्ग के पुरुषों की कायरता और आडम्बर प्रियता का पर्दाफाश किया गया है। 'सेवासदन' उपन्यास को प्रेमचंद ने मात्र वेश्या समस्या तक सीमित नहीं किया है, बल्कि मध्यवर्गीय नारी के स्वाधीनचेता आक्रोश को भी वाणी प्रदान की है। उन्होंने अपने उपन्यासों में शोषित एवं पद-दलित नारी को सर्वथा नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। इस संबंध में चन्द्रा पाण्डेय के विचार अत्यंत प्रासंगिक लगते हैं, "नारी मुक्ति एक ऐसा उद्देश्य है, जो उनके सभी उपन्यासों में समान गति से प्रवाहित होता है। उसी के समानान्तर यह उद्देश्य भी कथा की अनेक धाराओं से जुड़कर प्रवहमान रहता है कि नारी को वर्तमान स्थिति से अलग अपनी समान स्थिति की लड़ाई लड़नी है। यदि नारी जीवन की इस लड़ाई को प्रतीक के रूप में मान लिया जाए तो 'सेवासदन' की मूल लड़ाई दासता से मुक्ति है।" (कलम, प्रेमचंद विशेषांक, पृ. 113) भोली नामक वेश्या की जिन्दगी से भी यही तथ्य सामने आता है। वह सुमन से अपने अनमेल विवाह का जिक्र करते हुए कहती है, "मेरे माँ बाप ने मुझे एक बूढ़े मियाँ के गले बांध दिया। उसके यहाँ दौलत थी और सब तरह का आराम था, लेकिन उसकी सूरत से मुझे नफरत थी। मैंने छह महीने किसी तरह काटे और निकल पड़ी। ..... आज यहाँ कौन रईस, कौन महाजन, कौन मौलवी, कौन पंडित ऐसा है जो मेरे तलुवे सहलाने में अपनी इज्जत न समझे? मंदिरों में, ठाकुरद्वारों में मुजरे होते हैं। लोग मिन्नतें करके ले जाते हैं।..... कभी एक आदमी भेज दूँ तो तुम्हारे कृष्णमंदिर के महंतजी दौड़े चले आवें।" (पृ. 35)

प्रेमचंद ने वेश्या-जीवन से पैदा होने वाली सामाजिक विकृतियों की ओर अधिक ध्यान दिया है। इसकी ओर संकेत करते हुए विट्ठलदास कहते हैं, "यौवन काल की दुर्वासनाएँ बड़ी प्रबल होती हैं। कुछ नहीं, यह सब इसी (वेश्या-प्रथा) कुप्रथा की करामात है, जिसने नगर के सार्वजनिक स्थानों को अपना कार्यक्षेत्र बना रखा है। यह कितना बड़ा अत्याचार है कि ऐसे मनोविकार

पैदा करने वाले दृश्यों को गुप्त रखने के बदले हम उनकी दूकान सजाते हैं और अपने भोले-भाले सरल बालकों की कुवृत्तियों को जगाते हैं।'' यह वास्तविकता है कि भारत के प्रत्येक बड़े नगर के केंद्र में ही वेश्यालयों की उपस्थिति है।

वेश्या समाज के उन्मूलन और सुधारने की अनेक योजनाएँ 'सेवासदन' में प्रस्तुत की गई हैं। लेकिन अपने अंतिम उपन्यास 'गोदान' में इस समस्या का समाधान प्रेमचंद ने आमूल सामाजिक परिवर्तन में ही माना है। इस उपन्यास में मिर्ज़ा खुरशेद वेश्याओं के समुचित रोज़गार की व्यवस्था की बात करते हैं, लेकिन प्रो. मेहता का कहना है कि जब तक पैसे का बाजार गरम रहेगा कभी वेश्याओं का स्थान खाली नहीं रहने पाएगा। मिर्जा साहब का कथन है कि "रूप के बाजार में वही स्त्रियाँ आती हैं, जिन्हें या तो अपने घर में किसी कारण सम्मानपूर्ण स्थान नहीं मिलता या जो आर्थिक कष्टों से मजबूर हो जाती है। अगर दोनों प्रश्न हल कर दिए जाएँ, तो बहुत कम औरतें इस भाँति पतित हों।'' लेकिन प्रेमचंद के प्रतिनिधि के रूप में मेहता का कथन है कि "जड़ पर जब तक कुल्हाड़े न चलेंगे पत्तियाँ तोड़ने का कोई नतीजा नहीं।'' कहने का तात्पर्य यह है कि सामाजिक विषमता जब तक समाप्त नहीं हो जाती और सभी के जीवन की न्यूनतम भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हो जाती, तब तक इस समस्या या किसी भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। यही प्रेमचंद का अंतिम निष्कर्ष है। इस ओर प्रकारांतर से प्रेमचंद ने कुंवर अनिरुद्ध सिंह के माध्यम से 'सेवासदन' में भी अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। इस पर आगे यथास्थान विचार किया जाएगा।

5.8 'सेवासदन' में अभिव्यक्त अन्य समस्याएँ

'सेवासदन' में सुमन को मुख्य पात्र बनाने के बावजूद प्रेमचंद की दृष्टि नायिका और वेश्या समस्या तक ही सीमित नहीं रही है। उपन्यास के आरंभ में ही सुमन के पिता दारोगा कृष्ण चंद्र के साथ ही उनकी दृष्टि महंत रामदास और उनके मुख्य कारिन्दा बाँकेबिहारी की ओर गयी है। महंत जी साधुओं की गद्दी के मालिक तो हैं ही, उनकी लंबी-चौड़ी जमीन जायदाद और सूद-ब्याज का लंबा कारोबार है। यह सब बाँके बिहारी की मार्फत चलता है। माल गुजारी की वसूली से लेकर सूद की उगाही तक वे बड़ी कर्मठता से करते हैं। महंत रामदास तीर्थ यात्रा से वापस आकर एक महायज्ञ का आयोजन करते हैं। इसके खर्च के लिए किसानों पर हल-पीछे पाँच रुपए नजराना की व्यवस्था की जाती है। कई वर्षों से फसल के धोखा देने और लगान में इजाफे की नालिश से निबटने में लिए गए कर्ज के बोझ से दब जाने के कारण चेतू नामक किसान नजराने के पाँच रुपए देने से इन्कार कर देता है। बाँके बिहारी के आदमियों द्वारा उसकी लात-घूसों से मरम्मत होती है। उसके 'हाथ तो बँधे हुए थे, मुँह से लात घूँसों का जवाब देता रहा। इस चोट से उसके प्राण-पखेरू उड़ जाते है।' 'सेवासदन' के चेतू के उन्नत वारिस 'प्रेमाश्रम' के बलराज और मनोहर हैं, जो ईंट का जवाब पत्थर से देने लगते हैं। इस प्रकार प्रेमचंद ने किसान जीवन की विषम समस्या का संकेत 'सेवासदन' में भी दे दिया है।

कुँवर अनिरुद्ध सिंह सेवासदन के एक विशिष्ट पात्र हैं। जिले के सबसे बड़े जमींदार होने के बावजूद वे एक उदार और अत्यंत शिक्षित व्यक्ति है। कई स्थलों पर वे स्वयं प्रेमचंद का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं। वेश्या समस्या के संबंध में उनका वक्तव्य अत्यंत दूरगामी परिणाम का संकेतक है। इस संबंध में उन्होंने कहा है:

"हमें वेश्याओं को पतित समझने का कोई अधिकार नहीं। यह हमारी परम धृष्टता है। हम रात-दिन जो रिश्वतें लेते हैं, सूद खाते हैं, दीनों का रक्त चूसते हैं, असहायों का गला काटते हैं, कदापि इस योग्य नहीं हैं कि समाज के किसी अंग को नीच या तुच्छ समझें।.... हमारे शिक्षित समुदाय की बदौलत दालमण्डी आबाद है, चौक में जो चहल-पहल है, चकलों

में रौनक है। यह मीना बाजार हम लोगों ने सजाया है, ये चिड़ियाँ हम लोगों ने ही फँसाई है।..... जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बंधु आदर और सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमंडी क्यों न आबाद हो? हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहाँ जा सकता है! जिस दिन नजराना, रिश्वत, सूद-दर-सूद का अंत होगा, उसी दिन दालमंडी उजड़ जाएगी। ये चिड़ियाँ उड़ जाएँगी-पहले नहीं।''

ऊपर जिन विकृतियों की समाप्ति से वेश्या समस्या के अंत की बात कही गई है, वे ही भारत में गरीब मजदूर-किसान के क्रूर शोषण और अन्याय के लिए भी जिम्मेदार हैं। इन विकृतियों की समाप्ति का मतलब है, गरीबी और असमानता का उन्मूलन। यह तब तक संभव नहीं है, जब तक कि सामाजिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन नहीं होता। इन्हीं विकृतियों को आधार बनाकर प्रेमचंद ने अपने अगले उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में गरीब किसान-मजदूर और पददलित जातियों के उद्धार का आयोजन किया है। 'सेवासदन' के कुंवर अनिरुद्ध सिंह प्रेमचंद की मान्यताओं के इतने निकट पहुँचा दिए गए हैं कि वे दालमंडी से वेश्याओं के चले जाने के बाद सुन्दरबाई के भवन में 'कृषि सहायक सभा' खोलने में तत्पर दिखाई देते हैं। इस सभा का उद्देश्य होगा किसानों को जमींदारों के अत्याचारों से बचाना।

कुँवर अनिरुद्ध सिंह को साहित्य के क्षेत्र में भी प्रेमचंद ने अपना वैचारिक प्रतिनिधि बनाया है। प्रसंग म्यूनिसिपैलिटी में वेश्या समस्या के समाधान के लिए उसके सदस्यों को बहुमत जुटाना है। लेकिन कुंवर साहब हिंदी साहित्य की समस्या को लेकर टूट पड़ते हैं:

"कितने शोक की बात हैं, जिस देश में रामायण जैसे अमूल्य ग्रंथ की रचना हुई, सूरसागर जैसा अमूल्य काव्य लिखा गया, उसी देश में अब साधारण उपन्यासों के लिए हमको अनुवाद का आश्रय लेना पड़ता है।.... मैंने तो हिंदी साहित्य ही पढ़ना छोड़ दिया। अनुवादों को निकाल डालिए, तो नवीन हिंदी साहित्य में हरिश्चन्द्र के दो-चार नाटकों और चन्द्रकांता संतति के सिवा और कुछ रहता ही नहीं। संसार का कोई साहित्य इतना दरिद्र न होगा। इस पर तुर्रा यह है कि जिन महानुभावों ने दो-एक अंग्रेजी ग्रन्थों के अनुवाद मराठी और बंगला अनुवादों की सहायता से कर लिए, वे अपने को धुरंधर साहित्यज्ञ समझने लगे हैं। एक महाशय ने कालिदास के कई नाटकों के पद्यबद्ध अनुवाद किए हैं, लेकिन वे अपने को हिंदी का कालिदास समझते हैं। एक महाशय ने मिल के दो ग्रंथों का अनुवाद किया है। और वह भी स्वतंत्र नहीं, बल्कि गुजराती, मराठी आदि अनुवादों के सहारे, पर वे अपने में ऐसे संतुष्ट हैं, मानों उन्होंने हिंदी साहित्य का उद्धार कर दिया। मेरा तो यह निश्चय हो जाता है कि अनुवादों से हिंदी का अपकार हुआ है। मौलिकता को पनपने का अवसर नहीं मिल पाता।''

यहाँ यह लम्बा उद्धारण इसलिए दिया गया है, क्योंकि उपन्यास की कथावस्तु को देखते हुए इसे विषयान्तर कहा जा सकता है। लेकिन अपने युग के साहित्य, विशेषकर उपन्यास के संबंध में यह एक गंभीर टिप्पणी है। उस समय अनुवाद की प्रधानता मौलिक साहित्य रचना को किस प्रकार क्षतिग्रस्त कर रही थी, इसका भी संकेत यहाँ हो गया है। इसे विषयान्तर मानकर भी उपन्यास की अन्तर्वस्तु से अलग नहीं किया जा सकता। इसके साथ ही इस तथ्य की ओर भी ध्यान देना अपेक्षित है कि प्रेमचंद ने 'सेवासदन' के रूप में पहला महत्वपूर्ण मौलिक उपन्यास प्रस्तुत किया है।

'सेवासदन' का एक अहम मसला है कि वेश्याओं के लिए शहर के मध्य स्थित दाल मंडी से अलग कहीं अन्यत्र आवास की व्यवस्था की जाए। इसमें म्यूनिसिपैलिटी की स्वीकृत आवश्यक है। म्यूनिसिपैलिटी में आठ मुसलमान और दस हिन्दू सदस्य हैं। इसमें हिंदू-मुस्लिम साम्प्रदायिक वैमनस्य ही नहीं दोनों के बीच वोट की राजनीति की समस्या भी संकेतिक हुई है। मुसलमान वेश्याओं की संख्या 90 प्रतिशत है। इसलिए वेश्याओं को शहर से बाहर करने में हाज़ी हाशिम को हिंदुओं की चाल नजर आती है। अबुलवफा को उनका शहर में रहना अपनी जनसंख्या विशेषत: वोट की तादाद में वृद्धि दिखाई देती है। वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि हिंदू तो

डोमों तक को अपने पक्ष में मिलाना चाहते हैं, जबकि व्यवहार में उनके साये से बचना चाहते हैं और उन्हें जानवरों से भी जलील समझते हैं। पासी, भर आदि भी इसी श्रेणी में आते हैं। चोरी, राहजनी, कत्ल आदि ही उनका पेशा है। लेकिन उन्हें शहर से अलग किए जाने पर हिंदू कभी राजी नहीं होंगे। सैयद आसफ अली वेश्याओं के चरित्र और पेशे के इतने विरुद्ध हैं कि 'उनकी तादात के बिना पर' मुल्क की बदशाहत भी कबूल करने में अपने को असमर्थ बताते हैं। इसी प्रकार हकीम शोहरत खां, उन्हें हिंदुस्तान के बाहर बसाने के पक्ष में हैं और इसे बदकिस्मती समझते हैं कि वेश्याएँ अपने को मुसलमान कहती हैं। शरीफ हसन उन्हें ठीक रास्ते पर लाने की वकालत करते हैं। इस सिलसिले में मौलाना तेग अली के विचार अत्यन्त कट्टर और तत्ववादी हैं। वे इमाम बाड़े के वली (संरक्षक) हैं। उनका कहना है:

"आजकल पोलिटिकल मफाद का जोर है। हक और इनसाफ का नाम मत लीजिए। अगर मुदर्रिस (अध्यापक) हैं, तो हिंदू लड़कों को फेल कीजिए। तहलीलदार हैं, तो हिंदुओं पर टैक्स लगाइए, मजिस्ट्रेट हैं, तो हिंदुओं पर झुठे मुकदमें दायर कीजिए, तहकीकात करने जाइए तो हिंदुओं के घर में डाका डालिए, अगर आपको हुस्न का खब्त है तो किसी हिंदू नाजनीन को उड़ाइए, तब आप कौम के खादिम (सेवक), कौम के मुहसिन, कौमी किस्ती के नाखुदा-सब कुछ है।"

लेकिन हाजी हाशिम अब्दुल्लतीफ़ तेग अली से सहमत नहीं थे। इन्होंने शालीन ढंग से इसका विरोध किया और बात बढ़ती देखकर थोड़ा नरम रुख अपनाया। लेकिन अबुलवफा ने सीधे घोषणा कर दी कि "मुझे रात को आफ्ताब (सूर्य) का यकीन हो सकता है पर हिंदुओं की नेकनीयती पर यकीन नहीं हो सकता।" इससे अधिकांश मुस्लिम सदस्यों के जातीय रुख का पता लग जाता है। इस बैठक का पता लगते ही हिंदू सदस्यों की बैठक सेठ बलभद्र-दास की पहल पर आयोजित होती है। इस बैठक में उपस्थित साहूकार-व्यापारियों के प्रति-निधि सेठ बलभद्रदास, चिम्मनलाल, दीनानाथ तिवारी के साथ ही लाला भगत राम म्यूनिसिपैलिटी में रखे जाने वाले प्रस्ताव के विरोधी थे। क्योंकि वहाँ उनके मकान और दूकानें काफी मात्रा में थी। पत्रकार प्रभाकर राव, अध्यापक रमेश दत्त, वकील रुस्तम भाई और पद्मसिंह प्रस्ताव के पक्ष में थे। जमींदार कुंवर अनिरुद्ध सिंह और सरकार के नामिनी डॉ. श्यामाचरण के विषय में अधिक स्पष्ट नहीं था कि वे क्या निर्णय लेंगे। अत: म्यूनिसिपैलिटी के चेयरमैन सेठ बलभद्रदास हिंदू सदस्यों की बैठक आयोजित कर कुछ सदस्यों को अपने पक्ष में करना चाहते थे। पत्रकार प्रभाकर राव मुसलमानों के विरोधी थे। इसलिए प्रस्ताव को हिंदू-मुस्लिम विवाद का रंग देकर उन्हें अपने पक्ष में करने का प्रयास आरंभ हुआ।

बैठक में पहल करते हुए दीनानाथ तिवारी ने मुसलमान सदस्यों पर आरोप लगाते हुए कहा कि "उन्होंने एक पंथ दो काज वाली चाल चली है। एक ओर समाज-सुधार की नेकनामी और दूसरी ओर हिंदुओं को हानि पहुँचाने का बहाना मिलता है।" इस बात को आगे बढ़ाते हुए चिम्मनलाल ने कहा- "मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं, हमारे मुस्लिम भाइयों ने हमारी गरदन बुरी तरह पकड़ी है। दालमंडी और चौक के अधिकांश मकान हिंदुओं के हैं। यदि बोर्ड ने यह (प्रस्ताव) स्वीकार कर लिया, तो हिंदुओं का मटियामेट हो जाएगा। छिपे-छिपे चोट करना कोई मुसलमानों से सीखे। अभी बहुत दिन नहीं हुए कि सूद की आड़ लेकर उन्होंने हिंदुओं पर आक्रमण किया था। बाजी पलट गयी तो अब नई चाल शुरू कर दिए।" (पृ. 104) प्रेमचंद की दृष्टि में ये दोनों ही आरोप गलत थे-जिसका स्पष्टीकरण रुस्तम भाई द्वारा किया गया है। उन्होंने सारगर्भित भाषा में कहा:

"मुझे यह देखकर शोक हो रहा है कि आप लोग एक सामाजिक प्रश्न को हिंदू-मुसलमानों के विवाद का स्वरूप दे रहे हैं। सूद के प्रश्न को भी यही रंग देने की चेष्टा की गई थी। ऐसे राष्ट्रीय विषयों को विवादग्रस्त बनाने से कुछ हिंदू साहूकारों का भला हो जाता है, किंतु राष्ट्रीयता को जो चोट लगती है, उसका अनुमान करना कठिन है। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रस्ताव के स्वीकृत होने से हिंदू साहूकारों को अधिक हानि होगी, लेकिन मुसलमानों पर भी

इसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। चौक और दालमंडी में मुसलमानों की दूकानें कम नहीं है। हमको प्रतिवाद या विरोध की धुन में अपने मुसलमान भाइयों की नीयत की सच्चाई पर संदेह न करना चाहिए।..... मुसलमानों की इससे अधिक हानि होती तब भी उनका यही फैसला होता।..... आचरण के सामने धन का कोई महत्व नहीं।''

यह वार्ता आगे भी चली है। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रेमचंद ने 'सेवासदन' की कथा वस्तु को केवल सुमन और वेश्या समस्या तक सीमित न रखकर एक अधिक व्यापक पटल दिया है। इसमें साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता के साथ ही विभिन्न वर्गीय-सामुदायिक हितों की टकराहट भी प्रत्यक्ष हो जाती है।

'सेवासदन' के एक विशिष्ट पात्र पत्रकार प्रभाकर राव हैं। वे जो सही समझते हैं, उसका जोरदार समर्थन करते हैं और जो गलत समझते हैं उसका डटकर विरोध करते हैं। इस प्रक्रिया में वे अपने घनिष्टतम मित्र पद्मसिंह को भी नहीं छोड़ते। अपनी गलती का एहसास होने पर उसे नि:संकोच स्वीकार कर लेते हैं। सूद (ब्याज) के मामले को उन्होंने जोरदार ढंग से अपने पत्र में उठाया था। दरअसल सूद का कार्य मुसलमानों में धार्मिक दृष्टि से वर्जित है, इसलिए उन्होंने भी इसमें सहयोग किया था। लेकिन इसके वास्तविक प्रवक्ता अधिकतर हिंदू ही थे। प्रेमचंद स्वयं अपने संपूर्ण कथा-साहित्य में इस समस्या से जूझते रहे हैं। अत: 'सेवासदन' में भी उन्होंने इसका अवसर निकाल ही लिया है।

बैंकघर के बाबू बिट्ठलदास एक नि:स्वार्थ समाज सेवक के रूप में उपन्यास में चित्रित हुए हैं। वेश्या-सुधार से लेकर विधवाश्रम, अनाथालय और 'सेवासदन' में उनका सक्रिय योगदान रहा है। इसके लिए अनेक विरोधों का सामना करते हुए वे अपने सेवा कार्य के प्रति अडिग रहे हैं। पद्मसिंह से लेकर सुमन और शान्ता तक को उन्होंने सुमार्ग पर लगाया है। बिट्ठलदास के अभिन्न मित्र, अत्यंत उदार और कर्मठ समाज सुधारक पं. पद्मसिंह 'सेवासदन' के अविस्मरणीय पात्र हैं। अपने बड़े भाई मदन सिंह के पुत्र सदन सिंह के वे संरक्षक हैं। सुमन और शान्ता के जीवन को मोड़ देने में उनकी अहम् भूमिका रही है। उपन्यास के अधिकांश पात्रों और क्रिया-कलापों से वे जुड़े हुए हैं। विधवाश्रम के प्रति उनकी सक्रिय सहानुभूति है। सेवा सदन की स्थापना का अधिकांश श्रेय उन्हीं को है। उन्हीं के लम्बे प्रयास से वेश्याओं ने अपनी कन्याओं को अनाथालय में भेजना स्वीकार किया। वेश्याओं के यहाँ जाकर उन्होंने उन्हें सद्कार्य के लिए प्रेरित किया। नामी और सम्पन्न वृद्धा वेश्या ने उनसे प्रेरित होकर अपना सर्वस्व अनाथालय को दान कर दिया। उन्हीं की प्रेरणा से वेश्याओं ने सहर्ष दालमंडी छोड़कर अपने लिए निर्मित आवासों में जाने का निर्णय किया। इस कार्य में भी उन्हें बिट्ठलदास की सक्रिय सहायता मिली।

'सेवासदन' में सदन सिंह का हृदय परिवर्तन उल्लेखनीय है। इसके पीछे कुछ घटनाओं और विशिष्ट लोगों तथा परिस्थितियों का स्वाभाविक योगदान है। लेकिन सुमन के पति गजाधर पाण्डेय का स्वामी गजानंद के रूप में कायाकल्प कुछ अस्वाभाविक और अधिक नाटकीय लगता है। उपन्यासकार ने इनके माध्यम से कई महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करवाए हैं। सुमन के रूपान्तरण, शान्ता के उद्धार से लेकर वेश्या कन्याओं तथा ग्रामीण निर्धन-असहाय कन्याओं को अनाथालय तक ले आना गजानंद का ही काम है। सुमन को उसमें सेविका के रूप में लगाने का श्रेय भी उसे ही है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि 'सेवासदन' की कथा मुख्यत: सुमन के साथ संबंध होने के बावजूद तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक परिदृश्य को अपने में समेटे हुए है। ये सभी मिलकर उपन्यास की अन्तर्वस्तु का अभिन्न अंग बन गए हैं।

एक बात का यहाँ विशेष रूप से उल्लेख करना जरूरी है। 'सेवासदन' में गांधीवादी हृदय परिवर्तन की मान्यता का प्रभाव देखना दूर की कौड़ी लाना ही होगा। 'सेवासदन' के रचनाकाल तक (1916-17) भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी की सक्रिय उपस्थिति नहीं

दिखाई देती। प्रेमचंद से पूर्व बंगाल और महाराष्ट्र और उत्तर भारत में चलने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनों का प्रभाव प्रेमचंद पर अवश्य पड़ा था। राम मनोहर राय, ईश्वरचंद विद्यासागर और शरतचंद्र के प्रभाव को अत्यंत मौलिक ढंग से प्रेमचंद ने ग्रहण किया था। आर्य समाज का उन पर अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव दिखाई देता है। लेकिन ये सारे प्रभाव नारी मुक्ति तक ही सीमित हैं। समाज और नारी के संबध में उनका अपना निजी अनुभव अधिक प्रत्यक्ष और प्रभावी हुआ है।

इससे स्पष्ट है कि विभिन्न समस्याओं की ओर संकेत और विभिन्न प्रकृति और रुख-रुझान के पात्रों की योजना द्वारा प्रेमचंद ने 'सेवासदन' की अन्तर्वस्तु को काफी विस्तार दिया है।

5.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई का मूल विषय 'सेवासदन' की अन्तर्वस्तु का विश्लेषण है। इसके लिए सर्वप्रथम उस युग के सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य का विस्तृत परिचय दिया गया है। जिस में 'सेवासदन' की रचना की गई थी। इसी क्रम में राममोहन राय से लेकर आर्य समाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफिकल सोसायटी आदि के योगदान को भी आप समझ गए होंगे।

- 'सेवासदन' की कथा वस्तु मुख्यत: मध्यवर्ग पर आधारित है, अत: भारत की वर्गीय सरंचना में मध्यवर्ग की स्थिति पर विशेष रूप से विचार किया गया है। इसके लिए मध्यवर्ग के चरित्रगत गुणों-अवगुणों, क्षमताओं-अक्षमताओं को हमने स्पष्ट किया है।
- नारी-मुक्ति प्रेमचंद की सामाजिक चिन्ता का एक प्रमुख मुद्दा रहा है। 'सेवासदन' में नारी-मुक्ति को केंद्र में रखा गया है, विशेषत: मध्यवर्गीय नारी को। अत: 'सेवा सदन' में व्यक्त एतद्विषयक मान्यताओं को सोदाहरण विवेचित-विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।
- मध्यवर्गीय नारी-मुक्ति की समस्या विशेष रूप से विवाह-संस्था से जुड़ी हुई है। अत: विवाह संस्था की विकृतियों दहेज प्रथा, कुल-वर्ण की स्थिति, सामाजिक धार्मिक रूढ़ियों, विगलित रीति-रिवाजों को ध्यान में रखकर 'सेवासदन' की अन्तर्वस्तु का विश्लेषण किया गया है।
- 'सेवासदन' में चूँकि वेश्या जीवन को प्रमुखता और विस्तार मिला है। इसलिए उस पर विस्तार से विचार किया गया है। लेकिन वेश्या जीवन के संदर्भ में नारी-मुक्ति की आकांक्षा को ही प्रस्तुत इकाई में विशेष रूप से रेखांकित किया गया है।
- 'सेवासदन' की अंतर्वस्तु की व्यापकता को ध्यान में रखकर संकेतिक प्रासंगिक समस्याओं और विशिष्ट पात्रों के चरित्रगत गुण-दोषों पर भी इसी इकाई में विचार किया गया है। इससे कथावस्तु के सुगठित ताने-बाने को चाहे विशेष बल न मिला हो, लेकिन उपन्यास की अन्तर्वस्तु को अपेक्षित विस्तार अवश्य मिला है। इसके अंतर्गत शोषण, साम्प्रदायिकता, वोट की राजनीति, अशिक्षा आदि पर भी हमने विचार किया है। ये ऐसे तत्व और प्रसंग हैं, जो 'सेवासदन' की अंतर्वस्तु को अत्यन्त विस्तृत करते हैं।

5.10 अभ्यास प्रश्न

1. प्रेमचंद युगीन भारतीय समाज में मध्यवर्ग की स्थिति को स्पष्ट कीजिए।
2. 'सेवासदन' मध्यवर्गीय नारी-मुक्ति का एक ज्वलंत दस्तावेज है-इस कथंन को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
3. 'सेवासदन' में चित्रित विवाह-संस्था और उसकी अन्याय विकृतियों पर विचार कीजिए।
4. वेश्या-समस्या के संबंध में 'सेवासदन' के आधार पर प्रेमचंद की दृष्टि को स्पष्ट कीजिए।
5. 'सेवासदन' में चित्रित अन्याय समस्याओं और विशिष्ट पात्रों के संदर्भ में उसकी अन्तर्वस्तु की व्यापकता पर विचार कीजिए।

इकाई 6 सेवासदन : शिल्प-संरचना (औपन्यासिक शिल्प)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 वस्तु और रूप का संबंध

6.3 शिल्प की तलाश का प्रश्न

6.4 'सेवासदन' का वस्तु-संगठन और उसकी औपन्यासिकता

6.5 पात्र-संरचना और भाषा की समस्या

6.6 प्रभावान्विति का प्रश्न और शीर्षक की सार्थकता

6.7 प्रेमचंद की रचना-दृष्टि

6.8 सारांश

6.9 अभ्यास प्रश्न

6.0 उद्देश्य

इस खंड की प्रथम इकाई में आपने 'सेवासदन' की अन्तर्वस्तु का अध्ययन कर लिया है। प्रस्तुत इकाई में 'सेवासदन' की शिल्प-संरचना या औपन्यासिक शिल्प पर विचार किया जाएगा। इस क्रम में सर्वप्रथम वस्तु-तत्व और रूप या शिल्प के पारस्परिक संबंध और उनके तुलनात्मक महत्व पर प्रकाश डाला जाएगा।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- प्रेमचंद अपने वस्तु-तत्व की समुचित अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शिल्प की तलाश के लिए कितने प्रयत्नशील रहे हैं - इस तथ्य की जानकारी दे सकेंगे;
- औपन्यासिक शिल्प की अपेक्षाओं की दृष्टि से 'सेवासदन' के वस्तु-संगठन की स्थिति पर चर्चा कर सकेंगे;
- औपन्यासिक शिल्प के संदर्भ में 'सेवासदन' की पात्र संरचना और भाषा की समस्या पर भी विचार कर सकेंगे;
- कथा-साहित्य में प्रभावान्विति को विशेष महत्व दिया गया है। उसकी उपलब्धि संरचना-शिल्प के माध्यम से ही संभव होती है। इस तथ्य को भी आप स्पष्ट कर सकेंगे; और
- अन्तर्वस्तु और रचना-शिल्प के मध्य उसके शीर्षक की भी एक अहम् भूमिका होती है। प्रभावान्विति के संदर्भ में ही 'सेवासदन' शीर्षक की सार्थकता पर भी चर्चा करेंगे।

6.1 प्रस्तावना

इस खंड की इकाई-5 में 'सेवासदन' की अन्तर्वस्तु का विवेचन-विश्लेषण किया गया है। किसी कलाकृति के सम्यक् आकलन में मात्र अन्तर्वस्तु का विवेचन-विश्लेषण अपर्याप्त है।

सम्यक् आकलन के लिए उसका शिल्पगत मूल्यांकन भी अनिवार्य है। चूँकि प्रेमचंद के कथा शिल्प, विशेषत: उनकी सीधी सपाट भाषा को लेकर हिंदी के अनेक आलोचकों की आपत्तियाँ रही हैं, जो अन्तत: उनकी रचना के वस्तु तत्व पर भी आक्षेप का आधार बनी हैं। अत: उनके सत्यासत्य पर सावधानी से विचार करने की जरूरत है। अपने जीवन काल में ही प्रेमचंद इस तथ्य से अवगत हो चुके थे। 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के स्थापना अधिवेशन में उन्होंने रचनात्मक साहित्यकारों के सामने एक नयी चुनौती प्रस्तुत करते हुए कहा था कि हमें अपने सौंदर्य की कसौटी में व्यापक परिवर्तन करने की जरूरत है। रचनाकार को महल, अट्टालिकाओं तथा उसके उद्यानों में विकसित लाल-गुलाबी गालों से परे खेत-खलिहानों में भी अपनी नजर ले जाने की जरूरत है, जहाँ खेत की मेड़ पर अपने भूखे बच्चे को लिटा कर काम करती मजदूरिन का सौंदर्य बिखरा पड़ा है।

उपर्युक्त वस्तु-तत्व के व्यापक परिवर्तन के साथ ही प्रेमचंद ने नये आलोचना-विवेक की आवश्यकता पर भी जोर दिया है। इस नये आलोचना-विवेक के प्रकाश में ही हम प्रेमचंद के औपन्यासिक शिल्प की उपलब्धियों को अच्छी तरह रेखांकित कर सकेंगे। प्रस्तुत इकाई में हम इस मान्यता के प्रकाश में 'सेवासदन' के औपन्यासिक शिल्प का अंकन करने का प्रयास करेंगे।

इस संबंध में हमें इस तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा कि प्रेमचंद के समय तक छायावादी शिल्प की अपेक्षाओं के संदर्भ में शिल्प और वस्तु-तत्व को लेकर विवाद शुरू हो गया था। सियाराम शरण गुप्त ने 'निररस तरुरि : विलसति पुरत:' कथन की काव्यात्मक सहृदयता पर आक्षेप करते हुए 'शुष्कं कष्टं तिष्ठति अग्रे' को अधिक सहृदयतापूर्ण बताया। क्योंकि पहले उद्धरण में काव्यमयता के बहाने सूखी लकड़ी की वास्तविकता का मजाक उड़ाने का प्रयास लक्षित होता है।

प्रगतिशील साहित्यान्दोलन के दौर में इस विवाद को एक नया रूप दिया गया। 'कस्मै देवाय सहिषम् विधेम' (हमें किस देवता की पूजा करनी चाहिए) अर्थात हमें किसके लिए किसे आधार बना कर साहित्य लिखना चाहिए। वस्तुत: यह विवाद प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना से कुछ महीने पूर्व नागपुर में संपन्न 'भारतीय साहित्य परिषद' के अधिवेशन में अत्यंत सार्थक ढंग से प्रस्तुत हो चुका था। इसमें पं. नेहरू, प्रेमचंद, आचार्य नरेन्द्रदेव, मौलबी अब्दुल हक; आख्तर हुसेन के हस्ताक्षरों से एक प्रस्ताव पारित हुआ था, जिसका एक अंश इस प्रकार है:

"इनसानियत के नाते हम पूछते हैं कि आज जब उन्नति तथा अवनति की ताकतों में आखिरी लड़ाई छिड़ी हुई है, क्या साहित्य उससे अपने को अलग रख सकता है? क्या कला, सौंदर्य, आदि का पल्ला पकड़कर वह जिन्दगी से भाग सकता है? क्या यथार्थ की सील पर बैठकर क्रांति और प्रतिक्रिया के द्वंद्व का तमाशा खामोशी से देख सकता है? तो फिर किसानों की पुकार, मजदूरों की कराह और भिखारियों की आह हमें बेहिस क्यों रख सकती है? जब जीवन का सबसे बड़ा मसला यह है कि समाज की देह से बेकारी, गरीबी और शोषण का कोढ़ किस तरह धोया जाए तो क्या यह कहने की जरूरत रह जाती है कि साहित्य का इशारा किस तरफ हो, वह क्या कहे?..... हमें विश्वास है कि हमारे देश के साहित्यकार जीवन और साहित्य में अलगाव की खाई को पाट कर, साहित्य को इन्कलाब का संदेशवाहक बनाएँगे।" (जनवादी साहित्य विशेषांक; उत्तरार्द्ध अंक 20, परिशिष्ट, पृ. 68)

इस लम्बे उद्धरण को पढ़कर आप देख सकते हैं कि यह उद्देश्य और दृष्टि प्रेमचंद के सामने अपने रचनाकाल के आरंभ से ही रही है। 'क्या कहे, किससे कहे' का उत्तर आपको 'सेवासदन' की अंतर्वस्तु के विश्लेषण में मिल चुका है। यहाँ इस इकाई में 'किस तरह से कहे' का उत्तर 'सेवासदन' के शिल्प विश्लेषण में हम देने का प्रयास करेंगे। 'किस तरह से कहे' में साहित्य के शिल्प का ही प्रश्न निहित है।

6.2 वस्तु और रूप का संबंध

साहित्य में अंतर्वस्तु और रूप या शिल्प के मध्य किसी एक की प्रमुखता का विवाद काफी पुराना है। यह विवाद अधिकतर काव्य की समीक्षा में उठा है। आलोचना के पूरे इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमें स्पष्ट दिखाई देगा कि विभिन्न साहित्यिक युगों में एक विशेष प्रकार की वस्तु (काण्टेण्ट) को एक विशेष प्रकार के रूप (फार्म) में व्यक्त करने का आग्रह रहा है। इसके साथ ही हमें यह भी दिखाई देगा कि कुछ समीक्षा प्रणालियों में वस्तु के प्रति अधिक आग्रह है तो कुछ में रूप के प्रति। इस संबंध में हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि रचना का मूल्यांकन किस आधार पर किया जाए? इस प्रश्न पर प्राय: सभी समीक्षक एकमत रहे हैं कि रचना की समीक्षा का मूलाधार उसका वस्तु-तत्व और रूप या शिल्प ही है। लेकिन दोनों के मध्य प्राथमिकता का सवाल भी पैदा होता है कि इस मूल्यांकन का मूलाधार क्या हो?

मूल्यांकन के मूलाधार के संबंध में हमें हिंदी के प्रखर समीक्षक मुक्तिबोध की मान्यता अधिक तर्कसंगत प्रतीत होती है। इस संबंध में उनका स्पष्ट मत है:

"महत्वपूर्ण यह बात है कि रूप अपनी स्थिति के लिए तत्व पर ही अवलंबित होता है। तत्व अपने प्रकट होने की प्रक्रिया में रूप को निर्धारित और विकसित करता है। इसलिए तत्व की आलोचना रूप की आलोचना से अधिक मूलभूत है। आपत्ति की जाएगी कि यह तत्व, जो समीक्षा का विषय है, साहित्यिक तत्व है (साहित्य में प्रकट तत्व है) कि जीवन में जिया जाने वाला तत्व। जीवन में जिये जाने वाले तत्व साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र के बाहर की चीज है - यह आपत्ति एकदम निराधार है। (आखिर) साहित्य में प्रकट तत्व की सत्यता की जाँच की कसौटी क्या है? सिद्धांत: समीक्षक की कल्पनाएँ? नहीं, बिल्कुल नहीं। साहित्य में प्रकट तत्व की (जांच की) कसौटी है - वास्तविक जीवन में पाए जाने वाले तत्व।" (नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध,) आपके सम्मुख यह उद्धरण इसलिए प्रस्तुत किया गया है क्योंकि इससे अन्तर्वस्तु की महत्ता अपनी सम्पूर्णता में हमारे सामने आ जाती है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि किसी साहित्यिक रचना का रूप या शिल्प पक्ष उपेक्षणीय है। वस्तुत: वह शिल्प ही है, जो किसी रचना को संभव और पूर्ण बनाता है। माध्यम के रूप में शिल्प ही रचना को अधिक मानवीय और प्रेषणीय बनाता है। यह प्रेषणीयता और मानवीयता ही किसी रचना को पूर्ण और सार्थक बनाती है। इसकी उपलब्धि के लिए रचनाकार को श्रमपूर्वक प्रयास करना पड़ता है। यह श्रम ही अन्तर्वस्तु को मानवी गरिमा से मंडित करता है। वस्तु और रूप के संबंध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है, वस्तु तत्व के प्रति रूप की अनुकूलता। 'सेवासदन' के भाषिक शिल्प में 'शेखर : एक जीवनी' (अज्ञेय) की रचना नहीं हो सकती। दोनों की शिल्प संबंधी अपनी अपेक्षाएँ हैं। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी मुक्तिबोध ने मूल्यांकन में रचनाकार की मूल्य दृष्टि की मानवीयता को अधिक महत्व दिया है। उदाहरण के लिए हम प्रेमचंद के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' और अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' को ले सकते हैं। मात्र शिल्प-सौन्दर्य के आधार पर मूल्य निर्णय के खतरे की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है:

"भावना या अनुभूति की प्रभावोत्पादकता वह कसौटी नहीं है, जिसमें हम जीवन के प्रति कवि (रचनाकार) के दृष्टिकोण के औचित्य - अनौचित्य की जाँच कर सकें। कभी-कभी होता यह है कि भावना की रसात्मकता वस्तु-तत्व के अनौचित्य को ढाँक देती है या उस पर पर्दा डाल देती है। .....इसलिए कलाकृति के वस्तु तत्व और उसके प्रति कलाकार की दृष्टि, इन दोनों की समीक्षा और मूल्यांकन आवश्यक है, विशेषकर उस अवस्था में जब कलाकृति के प्रभावोत्पादक गुण अतिशय उत्कर्ष प्राप्त हों और उस स्थिति में पाठकों को भावनाओं में बहाकर.....उन्हें विश्वास में लेकर चुपचाप.....अपने विचारों का डोज़ दे जाते हों। .....ऐसी स्थिति में कलाकृति के साहित्यिक गुण .....निश्चित रूप से खतरा साबित हो सकते हैं।" (कामायनी : एक पुनर्विचार)।

वस्तु और रूप को लेकर प्रेमचंद और अज्ञेय या जैनेन्द्र के तुलनात्मक महत्व को रेखांकित करते हुए हमें उनकी जीवन दृष्टि के औचित्य अनौचित्य को सदैव ध्यान में रखना चाहिए। प्रेमचंद ने अपनी जिस जनतांत्रिक चेतना को उपेक्षित-दलित बहुसंख्यक जनता के उद्धार-उपायों से जोड़कर अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है, वह आत्मबद्धता और व्यक्ति निष्ठता से उबार कर पाठकों को समाज की वास्तविक प्रगति की ओर अग्रसर करती है। वस्तुत: प्रेमचंद के रचना-शिल्प को लेकर जो विरोधी प्रतिक्रियाएँ आलोचकों ने प्रस्तुत की हैं, वे केवल रूप या शिल्प तक सीमित न रहकर उनकी अन्तर्वस्तु तक फैल गयी हैं। दरअसल इन प्रतिक्रियाओं का मूलाधार दो विरोधी रुखों, दो विरोधी वर्गीय हितों और रुचियों की टकराहट है। हिंदी के वरिष्ठ आलोचक आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी और प्रेमचंद की टकराहट इसका प्रमाण है, जो इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाती है:

'प्रेमचंद और नन्द दुलारे वाजपेयी के बीच जो विवाद चल पड़ा था, वह वस्तुत: दो प्रवृत्तियों, दो विपरीत सुखों, दो विपरीत रवैयों, दो प्रतिकूल दृष्टिकोणों की आपसी लड़ाई थी। ..... प्रेमचंद की जनतांत्रिक मनोधारा भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य लोक में पलने वाले आध्यात्मिक माया-स्वप्नों से अनुस्यूत कलावाद से टकरा जाती थी।'' (मुक्तिबोध : नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र)।

इस उद्धरण का तात्पर्य यह है कि हमें 'सेवासदन' के औपन्यासिक शिल्प पर विचार करते हुए अपने को कलावादी आग्रहों से मुक्त रखना पड़ेगा। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि प्रेमचंद ने इसे क्यों लिखा है, किसके लिए लिखा है और यह किसे संबोधित है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि यह प्रेमचंद का पहला महत्वपूर्ण उपन्यास होने के साथ ही हिंदी का भी पहला बड़ा उपन्यास है, जिसने 'चन्द्रकांता' जैसे मनोरंजक उपन्यास से विमुख कर बहुसंख्यक पाठकों को अपनी ओर मोड़ा है और रुचि का परिष्कार भी किया है।

6.3 शिल्प की तलाश का प्रश्न

प्रेमचंद को अपनी रचना की अन्तर्वस्तु की अपेक्षा उसके शिल्प की तलाश में अधिक परेशान होना पड़ा है। उन्होंने अपने प्रथम उपन्यास 'वरदान' के लेखन के दौरान अपने मित्र दयाराम निगम को इस परेशानी के संदर्भ में एक पत्र लिखा था, "मुझे अभी तक इत्मीनान नहीं हुआ कि कौन सा तर्जेतहरीर (शैली) अख्तियार करूँ। कभी तो बंकिम की नकल करता हूँ, कभी आजाद के पीछे चलता हूँ। आजकल काउण्ट टालस्टाय के किस्से पढ़ रहा हूँ। तब से कुछ उसी रंग की तरफ तबियत माइल (झुकी हुई) है। यह अपनी कमजोरी है और क्या।'' 'वरदान' यद्यपि मध्यवर्गीय जीवन पर लिखा गया उनका पहला उपन्यास है, तथापि इसमें भी उन्होंने ग्रामीण कृषक समुदाय की दयनीय आर्थिक दशा, उनकी गंदी बस्ती, भूत-प्रेतों और चुड़ैलों पर विश्वास, का विस्तृत चित्रण किया है। इसके लिए विरजन (वृजरानी) को गाँव में दिखा कर पति को लिखे गए उसके पत्रों के माध्यम से ग्रामीण-कृषक जीवन की दुर्दशा, विवेकहीनता और मिथ्या चेतना का उन्होंने विस्तृत चित्रण किया है। वस्तुत: यह सारा कार्य उपन्यास की मूल कथा से प्रसंगेतर है और कथा-संगठन में विक्षेप उत्पन्न करता है। लेकिन उपन्यासकार के सामाजिक सरोकार एवं उसकी जीवन दृष्टि को इसी के माध्यम से समझा जा सकता है।

'सेवासदन' की रचना में प्रेमचंद ने ऐसा कृत्रिम विधान तो नहीं किया है, फिर भी बहुत सारे ऐसे प्रसंग अवश्य चित्रित हुए हैं, जो पाठक को प्रसंगेतर विषयों की ओर ले जाते हैं और कथा प्रवाह को क्षतिग्रस्त करते हैं। लेकिन ऐसा लगता है इसमें उन्हें अपनी तर्जेतहरी (शैली) की प्राप्ति में काफी सफलता मिली है। इस तथ्य को हम 'सेवासदन' के वस्तु-संगठन पर विचार करते हुए आगे समझने का प्रयास करेंगे।

6.4 'सेवासदन' का वस्तु-संगठन और उसकी औपन्यासिकता

अत्यंत व्यापक जीवन क्षेत्र, विस्तृत और वैविध्यपूर्ण सामाजिक पटल ग्रहण करने के कारण प्रेमचंद के उपन्यासों में कथा-वस्तु के संगठन और उसकी एकतानता के संबंध में प्राय: आक्षेप किया जाता है। 'सेवासदन' के वस्तु-संगठन पर विचार करते हुए हमें इस तथ्य पर विशेष ध्यान देना होगा कि यह केवल उनका ही नहीं, वरन् हिंदी का भी पहला महत्वपूर्ण उपन्यास है। प्रेमचंद ने अपने औपन्यासिक शिल्प के निर्माण के लिए चाहे जितना प्रभाव बंगला, मराठी और अंग्रेजी उपन्यासों से ग्रहण किया हो, लेकिन इसमें उनकी मौलिकता सर्वत्र विद्यमान है। उन्होंने अपनी किस्सागोई के लिए जिस प्रकार भारतीय लोककथाओं, पंचतंत्र, कथा सरित्सागर आदि का सहारा लेकर उसे भारतीय रूप दिया है, ठीक उसी तरह उपन्यास के वस्तु-संगठन के लिए भारतीय जीवन के व्यापक यथार्थ को मूलाधार बनाया है। इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए प्रसंगेतर महत्वपूर्ण तथ्यों के लिए मूल कथा-सूत्र से अलग हटकर अपनी मौलिक रचना-पद्धति का परिचय दिया है। औपन्यासिक शिल्प के लिए किसी पूर्व निर्मित या कल्पित ढाँचे में अपने को आबद्ध न कर उन्होंने अपने मूल सामाजिक सरोकार और जीवन दृष्टि की उपस्थिति को अधिक महत्व दिया है। इसका पता 'सेवासदन' के आरंभ में ही लग जाता है।

दारोगा कृष्णचन्द्र की संक्षिप्त कथा के तुरंत बाद वे साधुओं की गद्दी के महंत रामदास की कथा का सन्निवेश करते हैं। इसमें उनकी लम्बी-चौड़ी जमीन जायदाद, सूदखोरी और धर्म के नाम पर रियाया (प्रजा) पर अत्याचार का वे विस्तृत दृश्य उपस्थित करते हैं। तीर्थ यात्रा से लौटे महंत रामदास द्वारा आयोजित यज्ञ के लिए अपनी विवशता के कारण गरीब किसान चैतू पाँच रुपये चन्दा देने से इन्कार कर देता है। इसके दंड के लिए कई महात्माओं द्वारा चैतू को ठाकुरद्वारे के सामने लाकर इतना पीटा जाता है कि उसकी मृत्यु हो जाती है। इस घटना के माध्यम से प्रेमचंद ने जगह-जमीन के मालिक मठाधीशों के क्रूर शोषण का एक स्पष्ट संकेत दिया है, जिसकी पूर्णाहुति अगले उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में होती है। लेकिन इस घटना के अलग प्रभाव के बावजूद इससे उपन्यास के वस्तु-संगठन में विशेष विक्षेप नहीं आता। क्योंकि चैतू की हत्या के कारण अपराधी महंत रामदास से दारोगा कृष्णचन्द्र को रिश्वत लेने का अवसर मिलता है, जिससे उपन्यास की नायिका सुमन के जीवन की त्रासदी का आरंभ होता है।

इसी प्रकार उपन्यास के बारहवें परिच्छेद में सदन सिंह के अंधेरे में घर से भाग कर चाचा पद्म सिंह के पास काशी जाते हुए भयभीत होने के माध्यम से प्रेमचंद ने ग्रामीण जीवन में व्याप्त अंध विश्वासों का चित्रण किया है। पीपल के पेड़ पर भूतों के अड्डे, भूतों के सरदार कमली वाले भूत का खड़ाऊँ पहन कर निकलना, भूतों का गाना, उनकी पंचायत आदि के माध्यम से निराधार अंध विश्वासों से पर्दा उठाया गया है। इससे मूल कथा में विषयान्तर हुआ है।

'सेवासदन' के तीसवें परिच्छेद को प्रेमचंद ने वेश्याओं को नगर से बाहर निकालने की समस्या के संदर्भ में म्यूनिसिपैलिटी में प्रस्तुत किए जाने वाले प्रस्ताव से संबद्ध किया है। लेकिन इसमें आठ मुसलमान और दस हिंदू सदस्यों के बीच अलग-अलग जातीय गुटों की जो बैठक होती है, उसमें साम्प्रदायिक समस्या की वास्तविकता को रेखांकित किया गया है। यहाँ प्रेमचंद ने सबसे पहले मुसलमान सदस्यों की पारस्परिक चर्चा का आयोजन किया है। इनमें मौलाना तेग अली इमाम बाड़े के वली (संरक्षक), मुसलमानों के प्रिय नेता हाज़ी हाशिम, इत्र और तेल के कारखाने के मालिक और बड़े दुकानदार मुंशी अबुलवफा आदि अपने धार्मिक राजनीतिक और आर्थिक व्यापारिक हितों के कारण इस्लामी साम्प्रदायिकता के पक्ष में वेश्या समस्या पर अपने संकुचित दृष्टिकोण को व्यक्त करते हैं, शहर में बस गए जमींदार मुंशी अब्दुल्लतीफ, वकील शाकिरवेग और शरीफ हसन जातीय सद्भावना और उदार राष्ट्रीय भावों के समर्थक के रूप में प्रस्ताव के समर्थन के पक्ष में थे। जबकि पेंशन याफ्ता डिप्टी कलक्टर सैयद शफकत अली और प्रसिद्ध हकीम (वैद्य) शोहरत खां अपनी उदारता के बावजूद प्राय: तटस्थता का रुख अपनाए हुए

थे। यहाँ विभिन्न तबके के मुस्लिम सदस्यों के आंतरिक चरित्र को प्रेमचंद ने अच्छी तरह उजागर किया है।

लगभग यही स्थिति इकतीसवें परिच्छेद में हिंदू सदस्यों की भी है। म्युनिसिपैलिटी बोर्ड के चेयरमैन सेठ बलभद्रदास चौक के आसपास के बहुत से मकानों के मालिक थे। डॉ. श्यामाचरण बोर्ड के वाइसचेयरमैन और सरकार के नामित थे। लाला चिम्मनलाल और दीनानाथ तिवारी व्यापारियों के नेता और दालमंडी की कई दुकानों के मालिक होने के साथ सूद-ब्याज का व्यवसाय भी करते थे। ठेकेदार लाला भगतराम का कारोबार चिम्मनलाल के सहारे चलता था। ये सभी हिंदू साम्प्रदायिकता के वाहक होने में ही अपना हित समझते थे। अत: वेश्याओं के स्थानान्तरण को भी ये साम्प्रदायिकता का रंग दे रहे थे। वकील पद्म सिंह और रुस्तम भाई, प्रोफेसर रमेश दत्त तथा पत्रकार प्रभाकर राव प्रस्ताव के पक्ष में थे। साथ ही ये अत्यंत उदार और साम्प्रदायिक सद्भाव के भी समर्थक थे। डॉ. श्यामाचरण की गर्दन सरकार के पाँवों तले दबी थी। लेकिन जिले के सबसे बड़े जमींदार कुंवर अनिरुद्ध बहादुर सिंह पढ़े-लिखे, साहित्य और संगीत में रुचि लेने वाले अत्यन्त विशाल और उदार हृदय के व्यक्ति थे। वेश्याओं के निष्कासन में तो इनकी विशेष रुचि नहीं थी, लेकिन वेश्यालयों के खाली हो जाने पर वे भुवनबाई के आवास पर 'कृषि सहायक सभा' की स्थापना करते हैं। वेश्या समस्या के वास्तविक समाधान और हिंदी साहित्य संबंधी अपनी मान्यताओं में वे एक तरह से प्रेमचंद का प्रतिनिधित्व करते हैं। अपने इस रूप में वे 'गोदान' के मेहता के आरंभिक रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

'सेवासदन' के औपन्यासिक शिल्प में इस तरह के प्रसंगों को विस्तार देना कथा-रस में बाधक भले हो, लेकिन इससे प्रेमचंद की रचना-पद्धति ही नहीं, वरन् रचना धर्मिता का भी एक नया आयाम प्रस्तुत हुआ है। इन प्रसंगों में सुमन और उपन्यास की मूल कथा प्राय: गायब रही है। बावजूद इसके उपर्युक्त प्रसंग को विषयान्तर नहीं कहा जा सकता।

उपन्यास की संरचना, विशेष रूप से औपन्यासिक शिल्प पर विचार करते हुए पात्रों के चयन, पात्र-रचना और अंत तक उनके निर्वाह का कौशल विशेष महत्व रखता है। इस दृष्टि से देखें तो 'सेवासदन' अपेक्षाकृत अधिक सुगठित कथानक से युक्त रचना है। लेखक ने यथा संभव उपन्यास में सन्निविष्ट पात्रों के चरित्रांकन और उनकी पारस्परिकता का निर्वाह किया है। प्रेमचंद के दो सर्वोत्तम उपन्यासों 'रंग भूमि' ओर 'गोदान' की तरह इसमें बिखराव नहीं मिलता। बावजूद इसके औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से 'सेवासदन' की एक बहुत बड़ी कमजोरी की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना जरूरी है। वह कमजोरी है, गजाधर पाण्डेय का कायाकल्प और उपन्यास का अंत। इस संबंध में डॉ. राम विलास शर्मा ने लिखा है, "सुमन का पति गजाधर संन्यासी हो गया है। उसे अपने कर्मों पर पश्चाताप हुआ है और अब वह स्त्रियों के उद्धार का काम करने लगा है। वह सुमन को बचा लेता है और वह 'सेवासदन' का काम संभालने लगता है। सभी आलोचकों ने लक्ष्य किया है कि यह अंत उपन्यास का निर्बल अंत है।"

लगता है, 'सेवासदन' के इस अंत से प्रेमचंद सावधान हुए हैं और 'रंगभूमि' तथा 'गोदान' को इससे बचाया है। स्वामी गजानंद के रूप में गजाधर का अचानक नाटकीय ढंग से प्रकट हो जाना, कभी उमानाथ के सामने तो कभी आत्म हत्या की ओर उन्मुख दारोगा कृष्णचंद्र और सुमन के सामने। सबसे अधिक अस्वाभाविक तो वह दृश्य है जब दिक्भ्रमित सुमन के स्वप्न में गजानंद का प्रवेश होता है। स्वप्न में उनका प्रवचन सुनकर जागने पर उन्हें साक्षात् अपने सामने देखती है। लेकिन उनके पीछे चलने के बावजूद उन्हें प्राप्त नहीं कर पाती। एक अज्ञात शक्ति जैसे उसे गजानंद की कुटी के द्वार पर पहुँचा देती है। वहाँ स्वामी गजानंद निद्रालीन हैं और काफी देर से वहीं है। वे भी स्वप्न में सुमन से मिलने और प्रवचन करने की बात करते हैं। यह स्वप्न से स्वप्न का मिलन और बाद में उसका रहस्य बने रहना, प्रेमचंद जैसे जागरूक और अंध विश्वास विरोधी लेखक की प्रकृति के विरुद्ध है। बावजूद इसके एक प्रारंभिक

महत्वपूर्ण उपन्यास के रूप में 'सेवासदन' ने हिंदी पाठकों के बीच प्रेमचंद की एक पहचान निर्मित की है। आलोचकों को चाहे देर लगी हो, लेकिन साधारण पाठकों को इसमें उनका वास्तविक लेखक मिल गया।

6.5 पात्र-संरचना और भाषा की समस्या

प्रेमचंद की पात्र-रचना और पात्रों के चयन संबंधी विशेषताओं की थोड़ी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। यहाँ समाज के विशिष्ट क्षेत्रों से चुने गए पात्रों और स्वयं उपन्यासकार द्वारा निर्मित पात्रों की चर्चा उनकी भाषा के संदर्भ में की जाएगी। वस्तुत: इस मुद्दे का संबंध विभिन्न पात्रों के कथोपकथन, उनकी निजी भाषा के साथ ही उपन्यास के समूचे भाषिक शिल्प से भी है। 'सेवासदन' मूलत: 'बाजारे हुस्न' नाम से पहले उर्दू में लिखा गया था, जिसका हिंदी अनुवाद 1918 में कलकत्ता से पहले प्रकाशित हुआ। प्रेमचंद की भाषा पर विचार करते हुए इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि उनका साहित्यिक लेखन उर्दू से आरंभ हुआ है। साहित्यिक उर्दू का अपेक्षाकृत उन्हें अधिक ज्ञान था। लेकिन भाषा के महत्व पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि "जिस तरह यूरोप में प्रवेश पाने के लिए किसी रचना का अंग्रेजी या फ्रेंच में आना आवश्यक है, उसी तरह भारत की जनता के सामने आने के लिए तब हिंदी में लिखना आवश्यक हो जाए।" यही कारण है कि उर्दू के 'बाजारे हुस्न' को उन्होंने हिंदी में 'सेवासदन' नाम से पहले प्रकाशित करवाया।

उपन्यास लोक जीवन की व्यापक अपेक्षाओं के दबाव से एक साहित्यिक विधा के रूप में अस्तित्व में आया है। इसलिए रैल्फ फॉक्स ने 'उपन्यास और लोकजीवन' नामक अपनी रचना में जहाँ उसे आधुनिक लोक जीवन का महाकाव्य कहा है, वहीं उसकी भाषा को जीवन का गद्य कहा है। सामाजिक जीवन के जिस पहलू या जिस तबके को उपन्यास का विषय बनाया जाता है, वह क्षेत्र ही उपन्यास की भाषा का आदर्श होता है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में भाषा के संदर्भ में इसी आदर्श को ग्रहण किया है। व्यावहारिक रूप से देखें तो प्रेमचंद के उपन्यासों में लोकजीवन में स्वीकृत आम भाषा को ही आधार बनाया गया है। यही प्रेमचंद की अपनी भाषा है। 'सेवासदन' में भी उनकी कोशिश रही है कि आम स्थितियों और घटनाओं के चित्रण में उसी भाषा का प्रयोग किया जाए। लेकिन विशेष मन:स्थितियों के चित्रण में उनकी शैली बदल जाती है। विशेष परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव में अपने पात्रों के आंतरिक चरित्र को उजागर करने के लिए वे विशेष प्रकार की शब्दावली का सहारा लेते हैं। 'सेवासदन' का आरंभ इन पंक्तियों से होता है, "पश्चाताप के कड़वे फल कभी-न-कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचंद्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे।" इस तरह के व्यंग्य का सहारा लेना प्रेमचंद की भाषा को सपाट नहीं रहने देता। दीन-हीन गरीब और बूढ़े किसान चैतू द्वारा यज्ञ के लिए चन्दा देने से इन्कार करने पर ठाकुरद्वारे पर उसके साथ धर्म के ठेकेदारों ने जो क्रूर अत्याचार किया, उसका चित्रण करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है, "ठाकुर जी ऐसे द्रोही को भला कैसे क्षमा करते? ठाकुरद्वारे के सामने उस पर मार पड़ने लगी। चैतू भी बिगड़ा। हाथ तो बंधे हुए थे, मुँह से लात-घूंसों का जवाब देता रहा। इतना कष्ट देकर भी ठाकुरजी को संतोष नहीं हुआ, उसी रात उसके प्राण हर लिए।" इस प्रसंग के माध्यम से प्रेमचंद ने तथाकथित धार्मिक आध्यात्मिक मठों की क्रूरता का पर्दाफाश किया है और ठाकुरद्वारे के भगवान की विडम्बना को भी उजागर किया है।

इस तरह का प्रयोग प्रेमचंद ने अपने पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप में भी किया है। रिश्वत लेने की बात अपनी पत्नी से दारोगा कृष्णचंद्र सीधे नहीं बताते। उसकी चिंता को महसूस कर कृष्णचन्द्र राज को खोल देना चाहते हैं - लेकिन साफ शब्दों में नहीं! इसके लिए प्रेमचंद ने उनके गूढ़ सम्वाद की इस प्रकार योजना की है :

"कृष्णचंद्र - यदि तुम नदी किनारे खड़ी हो और पीछे से एक शेर तुम्हारे ऊपर झपट पड़े तो तुम क्या करोगी?

गंगाजली - नदी में चली जाऊँगी।

कृष्णचंद्र - चाहे डूब ही जाओ?

गंगाजली - हाँ डूब जाना शेर के मुँह में पड़ने से अच्छा है।

गंगाजली उनके आशय को समझ जाती है और कृष्णचंद्र कह देते हैं कि "मैं कूद पड़ा हूँ। बचूँगा या डूब जाऊँगा। यह मालूम नहीं।"

सुमन के माध्यम से इस प्रकार की व्यंग्य भंगिमा को स्थान-स्थान पर उजागर किया गया है। अपनी छोटी बहन शान्ता के प्रति अन्याय को देखकर सुमन सदन सिंह को फटकारते हुए कहती है, "तुमने उसके साथ अत्याचार इसलिए किया है कि मैं उसकी बहन हूँ, जिसके पैरों पर तुमने वर्षों नाक रगड़ी है। ..... तब तुम्हारे दुष्कर्मों से खानदान की नाक कटती थी? आज तुम आकाश के देवता बने फिरते हो। अँधेरे में जूठा खाने पर तैयार पर उजाले में निमंत्रण भी स्वीकार नहीं।" इस तरह के व्यंग्यात्मक भाषा-शैली का सहारा प्रेमचंद ने तथाकथित अभिजन समुदाय के आन्तरिक चरित्र का पर्दाफाश करने के लिए प्राय: लिया है।

कथा साहित्य विशेषत: उपन्यास में पात्रानुकूल भाषा का एक प्रकार से परम्परागत आग्रह रहा है। औपन्यासिक शिल्प में प्रेमचंद ने इस प्रकार के बहुत सारे आग्रहों की उपेक्षा की है। लेकिन उपन्यास के तीसवें परिच्छेद में म्यूनिसिपैलिटी के मुसलमान सदस्यों के लम्बे विचार-विमर्श में जिस अरबी-फारसी शब्दों से लदी उर्दू भाषा का प्रयोग हुआ है, वह सामान्य हिंदी पाठकों के लिए अत्यन्त दुरूह हो गयी है। इसके लिए एकाध उदाहरण पर्याप्त होंगे, "शाकिर बेग बोल उठे - भाई साहब, यह तान-तंज का मौका नहीं।.....जबाने तेज मसलहत के हक में जहरे कातिल है। मैं शाहिदान तन्नाज का निजाम तमद्दुन में बिल्कुल बेकार या मायएशर नहीं समझता।" इसी तरह 'फजल', 'इजादारी', 'मौलूद', जाती फैल, 'मजमुई', 'अजो', 'अकवाम' 'मरकज', 'हदूद', 'अकायद', 'इमामा', 'तसकीन', 'मफाद', 'इखराज', 'सादिर', 'बकअत', 'मिल्लत', 'बेहदूदी', आदि बहुत सारे अरबी-फारसी के बोल-चाल की हिंदी में अपरिचित शब्द पर्याप्त खटकते हैं। लेकिन अपने अगले लगभग सभी उपन्यासों में प्रेमचंद ने मुस्लिम पात्रों के संदर्भ में भी इस प्रकार के गूढ़ शब्दों का प्रयोग नहीं किया है।

भाषिक प्रयोग के संदर्भ में ही प्रेमचंद की किस्सागोई पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है। यह कला उन्होंने भारतीय लोकजीवन में प्रचलित कथा शैली से ग्रहण किया है। 'सेवासदन' में आरंभ से अन्त तक किस्सागो के कौशल को देखा जा सकता है। कहीं से कोई पृष्ठ खोल लीजिए - इसकी बानगी सर्वत्र मिलेगी। परिच्छेद तैंतीस की आरंभिक पंक्तियों का एक उदाहरण है, "सदन के विवाह का दिन आ गया। चुनार से बारात अमोला चली। .....वैभव और दरिद्रता, का अत्यन्त करुणात्मक दृश्य था। पालकियों पर कारचोबी के परदे पड़े हुए थे, लेकिन कहारों की वर्दियाँ फटी और बेडौल थीं। गंगाजमुनी सोटे और बारात में फटेहाल मजदूरों के हाथों में बिल्कुल शोभा नहीं देता था।" चाहे वार्तालाप या कथोपकथन का विधान हो चाहे चित्रण-प्रेमचंद की यह कला कथा प्रवाह को निरंतर बनाए रखती है। इन विशेषताओं के कारण 'सेवासदन' एक सफल उपन्यास माना जा सकता है।

6.6 प्रभावान्विति का प्रश्न और शीर्षक की सार्थकता

प्रभावान्विति की समस्या औपन्यासिक शिल्प की सफलता का अभिन्न हिस्सा है। इसका निर्णय उपन्यास के मुख्य पात्र और उसमें उठाई गई प्रमुख समस्या के आधार पर ही किया जा सकता है। 'सेवासदन' की प्रमुख पात्र सुमन है और प्रमुख समस्या मध्यवर्गीय नारी-मुक्ति या उसकी

स्वाधीनता की समस्या है। इसके साथ वेश्या-जीवन और उसकी विकृतियों को भी जोड़कर दिखाया गया है। इसी के साथ दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, लड़की के प्रति माँ-बाप की उत्तरदायित्वहीनता, पति का संदेह, समाज में पुरुष वर्चस्व आदि के मुद्दे भी सावधानीपूर्वक जोड़ दिए गए हैं। लेकिन सुमन के माध्यम से अपनी मूल समस्या का समाधान प्रेमचंद एक व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में करना चाहते थे। इसलिए वे अपनी दृष्टि केवल सुमन तक ही केंद्रित नहीं रखते। जबकि अधिकांश उपन्यासकार प्रधान पात्र को कथा पट से ओझल नहीं होने देते। इससे कथा संगठन बना रहता है और पाठक की रुचि अटूट घटना प्रवाह से लगातार तृप्त होती रहती है। लेकिन प्रेमचंद आँख मूँदकर ऐसा नहीं करते। वे मूल कथा की समूची पृष्ठभूमि को पाठक के सामने रखने में विश्वास करते हैं।

फलस्वरूप 'सेवासदन' में महंत रामदास, म्यूनिसिपैलिटी के तमाम सदस्य अपने निहित स्वार्थों को लेकर उपस्थित हैं। सेठ-साहूकार, महाजन, जमींदार, समाज सुधारक, अध्यापक, वकील, पत्रकार, गृहणियाँ, वेश्याएँ आदि पात्र के रूप में इस उपन्यास में अपनी सामाजिक भूमिका की गवाही देते हैं। सबकी विभिन्न भूमिकाओं के बावजूद प्रेमचंद प्रभावान्विति के प्रति काफी सावधान हैं। इसके लिए वे उपन्यास के आदि, मध्य और अन्त को एकसूत्रता प्रदान करते हैं। उपन्यास का अन्त समाधान की कृत्रिमता के कारण कुछ कमजोर अवश्य हुआ है, लेकिन इसके माध्यम से प्रेमचंद ने प्रभावान्विति की शर्त को पूरा करने का प्रयास किया है। जिन्दगी भर संघर्षशील रहकर सुमन, चाहे अपने पति गजाधर के माध्यम से ही सही, 'सेवासदन' की मुख्य सेविका बनकर अपनी स्वाधीनता को प्राप्त करती है। इस तरह प्रभावान्विति की दृष्टि से भी 'सेवासदन' को एक सफल उपन्यास कहा जा सकता है।

किसी रचना की अन्तर्वस्तु और उसके शिल्प तंत्र से उसका शीर्षक भी अभिन्न रूप से जुड़ा होता है। उर्दू के 'बाजारे हुस्न' शीर्षक का हिंदी में 'सेवासदन' में रूपान्तरण एक विशेष तथ्य की ओर संकेत करता है। कहाँ बाजारे हुस्न और कहाँ सेवासदन। शीर्षक की अपेक्षाओं के सबंध में प्राय तीन-चार बातें कही जाती हैं - उसे आकर्षक होना चाहिए, प्रमुख पात्र, प्रमुख घटना या रचना के उद्देश्य से जुड़ा होना चाहिए। 'सेवासदन' में सदन या आश्रम की स्थापना अंतिम घटना है। अपने आरंभिक उपन्यासों में 'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'प्रेमाश्रम' आदि की भांति 'सेवासदन' में भी, प्रेमचन्द आश्रमवादी-सुधारवादी दौर से गुजर रहे थे। सेवासदन की स्थापना वेश्या कन्याओं के सुधार गृह के रूप में कल्पित है। इससे प्रेमचंद ने अपने प्रमुख पात्र सुमन को केवल जोड़ा ही नहीं है, वरन् पराधीनता से उसकी मुक्ति का समुचित माध्यम भी बनाया है। उसकी स्वाधीनता की कामना न पति-गृह में पूरी हो पाई, न पद्मसिंह के आश्रम में ही। वेश्या जीवन की स्वाधीनता उसे छद्म के रूप में प्रतीत हुई। विधवाश्रम और शान्ता सदन के यहाँ रह कर भी वह अपनी स्वाधीनता और आत्म सम्मान की अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर सकी। जीवन के अंतिम पड़ाव में ही उसे अपनी स्वाधीनता की परिकल्पना साकार होती दिखाई दी। इस तरह से देखें तो 'सेवासदन' शीर्षक जहाँ एक ओर प्रेमचंद के सामाजिक सरोकार की एक अपेक्षा को पूरा करता है, वहीं प्रमुख पात्र सुमन से जुड़कर उसकी अपेक्षाओं को भी पूरा करता है। इन अपेक्षाओं की पूर्ति के साथ शीर्षक उपन्यास के आदि से अंत तक को जोड़कर प्रभावान्विति में भी सहायक बनता है। अत: 'सेवासदन' इस प्रकार अपनी सार्थकता सिद्ध कर देता है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में 'सुरक्षा गृह' तथा 'कल्याण केंद्रों' की व्यवस्था का पूर्ण रूप में प्रस्तुत 'सेवासदन' प्रेमचंद की दूरदर्शिता का भी संकेतक बना है।

6.7 प्रेमचंद की रचना-दृष्टि

'सेवासदन' की अन्तर्वस्तु के विश्लेषण में आपका ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया जा चुका है कि प्रेमचंद एक गंभीर सामाजिक सरोकार के रचनाकार रहे हैं। उनका यह सरोकार देश की बहुसंख्यक जनता के उद्धार उपायों से जुड़ा रहा है, जिसमें नारी समुदाय का उद्धार भी

एक महत्वपूर्ण मुद्दा था। उन्होंने 'सेवासदन' में इसे ही प्रमुख मुद्दा बनाया है। बावजूद इसके, प्रेमचंद ने इस उपन्यास में शोषक वर्ग से सम्बद्ध सेठ-साहूकार, महाजनों, मठाधीश, महंत रामदास, वकील, अध्यापक, पत्रकार, डाक्टर-हकीम के साथ ही कुंवर अनिरुद्ध सिंह जैसे बड़े जमींदार की अवतारणा द्वारा अपनी रचना दृष्टि का स्पष्ट परिचय दिया है। यही नहीं उन्होंने साम्प्रदायिक विद्वेष, वोट की राजनीति, धार्मिक-सामाजिक पाखंड, विगलित सामाजिक रीति रिवाजों को उपन्यास की अन्तर्वस्तु बनाते हुए अपनी मानवी दृष्टि का पूरा संकेत दिया है। इस कार्य के लिए उन्होंने मध्यवर्गीय नारी से भिन्न शहरी जीवन से लिए गए विभिन्न पात्रों के चारित्रिक गुणों अवगुणों का विश्लेषण करते हुए उनके बारे में अपनी स्पष्ट राय जाहिर की हैं। जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके है कि कुंवर अनिरुद्ध सिंह तो जैसे प्रेमचंद की दृष्टि का प्रतिनिधि बनकर उपन्यास में आए हैं। वे अपनी वर्गीय सीमाओं का अतिक्रमण करके शोषित-उत्पीड़ित ग्रामीण किसान-मजदूर के उद्धार की बात करते हुए, उपन्यासकार की भाषा एवं साहित्य संबंधी मान्यताओं के भी प्रवक्ता बन गए हैं। इस विषय में खंड की पहली इकाई के अंत में अन्तर्वस्तु के संदर्भ में विभिन्न पात्रों की स्थिति पर विचार करते हुए कुंवर अनिरुद्ध सिंह की भूमिका पर किंचित विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। इन सारे तथ्यों से एक समाजनिष्ठ रचनाकार के रूप में प्रेमचंद की मूल दृष्टि का परिचय मिल जाता है।

वेश्यावृत्ति के उन्मूलन के संदर्भ में कुंवर अनिरुद्ध सिंह ने जो विचार प्रकट किए हैं, वे प्रेमचंद की व्यापक जीवन-दृष्टि के ही परिचायक हैं। इस संबंध में कुंवर अनिरुद्ध सिंह ने कहा है

"हमें वेश्याओं को पतित समझने का कोई अधिकार नहीं है।..... जिस दिन नजराना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अंत होगा, उसी दिन दालमंडी उजड़ जाएगी, ये चिड़ियाँ उड़ जाएँगी - पहले नहीं।''

कुंवर साहब समाज से जिन विकृतियों के अंत की बात करते हैं, उन्हीं से दीन-हीन, किसान-मजदूर और दलितों का भी उद्धार संभव है। यही प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि भी है। अत: वेश्या-उद्धार की समस्या व्यापक सामाजिक संदर्भों से जुड़ी हुई है। जब तक आमूल सामाजिक परिवर्तन नहीं होता, वेश्या-उद्धार या नारी मात्र का उद्धार संभव नहीं है। यही प्रेमचंद का सामाजिक सरोकार रहा है। 'सेवासदन' की इसी बात को 'गोदान' में मेहता ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है, "जब तक जड़ पर कुठाराघात नहीं होगा, तब तक पत्ते नोचने से कोई फायदा नहीं है।'' - यही प्रेमचंद की रचना-दृष्टि है।

6.8 सारांश

इकाई-5 में हमने 'सेवासदन' की अन्तर्वस्तु पर विस्तार से विचार किया है। अन्तर्वस्तु को अधिक प्रेषणीय बनाने के लिए औपन्यासिक शिल्प की सफल योजना की विशेष भूमिका होती है। प्रस्तुत इकाई में औपन्यासिक शिल्प की संरचना पर विचार करते हुए अन्तर्वस्तु के संदर्भ में उसकी भूमिका को स्पष्ट किया गया है।

- इस इकाई में सर्वप्रथम रचना के वस्तु-तत्व और उसके शिल्प के सहसंबंध पर विचार किया गया है। इसमें हमने यह भी बताया कि रचनाकार अपने वस्तु-तत्व के अनुरूप उसके रूप या शिल्प का नियोजन करता है। वस्तुत: तत्व की उपस्थिति, प्राथमिक होती है जिसके लिए शिल्प माध्यम बनता है। अत: रचना का वस्तु-तत्व और उसमें व्यक्त रचनाकार की अंतर्दृष्टि ही मूल्यांकन का मूलाधार बनती है। स्वयं प्रेमचंद को अपने वस्तु-तत्व के लिए उसके रूप या शिल्प की तलाश में किन चुनौतियों का सामना करना पड़ा और इस तलाश का उपयोग अपने 'सेवासदन' में उन्होंने किस प्रकार किया, इसकी चर्चा भी हमने इकाई में की। रचना-पद्धति के संदर्भ में 'सेवासदन' के वस्तु-संगठन पर विचार करते समय यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि प्रेमचंद बहुत

सारे उपन्यासकारों की भाँति सुनियोजित सुसंगठित कथा वस्तु के विन्यास के परम्परागत आग्रह का कड़ाई से पालन करने के पक्ष में नहीं रहे हैं। सेवासदन' में उन्होंने अपने प्रमुख पात्र और उसके माध्यम से उठाई गयी समस्या को पूरे सामाजिक संदर्भ में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

- इकाई में हमने उपन्यास की प्रभावान्विति की भी चर्चा की। यहाँ यह दिखाने का प्रयास किया कि क्या समुचित वस्तु-संगठन के अभाव में प्रभावान्विति को कोई क्षति पहुँची है? प्रेमचंद सेवासदन' में प्रभावान्विति के प्रति अत्यन्त सावधान दिखाई देते हैं। उन्होंने उपन्यास के आरंभ से अंत को आग्रहपूर्वक जोड़ने का प्रयास किया है। इससे अंत के समाधान में कुछ कृत्रिमता और अस्वाभाविकता भी आ गई है। इस कमजोरी के बावजूद प्रभाव की एकता का सेवासदन' में समुचित संपादन हुआ है।
- वस्तु-संगठन के किंचित अभाव और कुछ प्रसंगेतर घटनाओं और पात्रों की रचना द्वारा प्रेमचंद ने जहाँ एक ओर मूल समस्या को व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है, वहीं दूसरी ओर अपनी लेखकीय दृष्टि को भी कुशलतापूर्वक अभिव्यंजित किया है। इस संबंध में हमने यह विशेष रूप से बताने का प्रयत्न किया है कि इसके लिए कुछ विशिष्ट पात्रों और स्थितियों की अवतारणा प्रेमचंद को करनी पड़ी है। पात्र के रूप में जिले के एक बड़े जमींदार कुंवर अनिरुद्ध सिंह की अवतारणा और साम्प्रदायिकता, वोट की राजनीति तथा वर्गीय आर्थिक हितों से प्रेरित म्यूनिसिपैलिटी के प्रमुख सदस्यों की वार्ता को इसका उदाहरण बनाया गया है। इनके माध्यम से ही प्रेमचंद की रचना-दृष्टि इस उपन्यास में साकार हुई है।

6.9 अभ्यास प्रश्न

1. औपन्यासिक शिल्प की अपेक्षाओं के अनुरूप 'सेवासदन' के वस्तु-संगठन की स्थिति पर विचार कीजिए।
2. सेवासदन' की पात्र-रचना या पात्रों के चयन में अपनाई गई प्रेमचंद की युक्तियों पर विचार कीजिए।
3. सेवासदन' में व्यक्त प्रेमचंद की रचना-दृष्टि पर आलोचनात्मक ढंग से विचार कीजिए।

इकाई 7 सेवासदन की नायिका (सुमन)

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 सुमन : दारोगा कृष्णचन्द्र की कन्या के रूप में

7.3 सुमन : पं. गजाधर की पत्नी के रूप में

7.4 सुमन : वेश्या के रूप में

7.5 सुमन : विधवाश्रम की सेविका के रूप में

7.6 सुमन : परिवार की सदस्या के रूप में

7.7 सुमन : सेवासदन की संचालिका के रूप में

7.8 सुमन के चरित्रांकन में निहित प्रेमचंद का उद्देश्य

7.9 सारांश

7.10 अभ्यास प्रश्न

खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में 'सेवासदन' की प्रमुख पात्र सुमन के चरित्र पर उसकी जीवन-यात्रा के विभिन्न चरणों में विभक्त कर, प्रकाश डाला जाएगा।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- 'सेवासदन की नायिका 'सुमन' की निजी विशेषताओं का परिचय दे सकेंगे;
- सुमन पति-ग्रह का त्याग करने के बाद किस प्रकार वेश्यावृत्ति के लिए विवश होती है, इसकी चर्चा कर सकेंगे;
- वेश्यालय से सेवासदन तक की सुमन की उपेक्षापूर्ण यात्रा का विवेचन कर सकेंगे; और
- 'सुमन के रूप में प्रेमचंद की एक अनोखी सृष्टि और उसके पीछे निहित लक्ष्य की जानकारी दे सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

सुमन के रूप में प्रेमचंद ने हिंदी कथा साहित्य का ऐसा पहला नारी पात्र उपस्थित किया है, जो आत्मसम्मान की रक्षा के लिए संघर्ष के मार्ग पर दृढ़ता से पाँव उठाती है। प्रेमचंद ने सुमन जैसे चरित्र की परिकल्पना युगीन अपेक्षाओं के दबाव के कारण ही की है। उनके समय तक नारी मुक्ति को लेकर कई सुधार कार्य चल रहे थें। नारी शिक्षा से लेकर विधवा समस्या के समाधान, उनके पुनर्विवाह और उनकी सुरक्षा के लिए विधवाश्रमों की स्थापना आदि के जोरदार आंदोलन चल रहे थे। आर्य समाज के कार्यकर्ता इन क्षेत्रों में काफी सक्रिय थे। लेकिन वेश्याओं के प्रति हिंदू समाज का दृष्टिकोण अत्यंत उपेक्षाभाव से भरा हुआ था। वह उसके उद्धार कार्य को प्राय: असंभव मानकर सामाजिक सुधार के लिए उन्हें शहर के मुख्य भाग से हटाने, विभिन्न धार्मिक-सामाजिक समारोहों में उन्हें बुलाए जाने पर रोक लगाने पर जोर दे

रहा था। उत्तर प्रदेश में इस प्रकार का आंदोलन 'सेवासदन' की रचना से पहले आरंभ हो चुका था। इसके कानूनी प्रावधान के लिए 1910 ई. में इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड के एक सदस्य द्वारा यह प्रस्ताव रखा गया था कि वेश्याओं को इलाहाबाद शहर के मुख्य स्थान से हटाकर अलग बसाया जाए। लेकिन यह प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। इस प्रस्ताव के साथ ही इस आंदोलन का भी मुख्य उद्देश्य यही था कि वेश्याओं की सार्वजनिक उपस्थिति से नवयुवकों और गृहस्थ जीवन पर पड़ने वाले कुप्रभावों से उन्हें बचाया जाए।

इस प्रकार के सुधार आंदोलन और प्रस्तावों में वेश्याओं के उद्धार का कोई उद्देश्य नहीं था। सेवासदन' की रचना के बाद 1919 में विभिन्न म्युनिसिपल बोर्डों में इस प्रकार के प्रस्ताव स्वीकृत भी हुए कि वेश्याओं को अलग बस्ती में बसाया जाए। आगे चलकर प्रान्तीय सरकार ने भी इसे अपनी स्वीकृति दे दी। इसे लेकर प्रेमचंद काफी दुखी हुए थे। (प्रेमचंद घर में : शिवरानी देवी) उन्होंने शिवरानी देवी की नाराजगी पर स्पष्ट शब्दों में कहा था, "इन्हीं की कुत्थियाँ सुलझाने के लिए मैंने 'सेवासदन' लिखा" और कई कहानियाँ या लेख भी लिखे। अमल करना-न-करना दूसरे लोगों के हाथ में है। इससे 'सेवासदन' के लेखन का उद्देश्य हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है।

संक्षेपतः 'सेवासदन' की रचना का एक विशिष्ट युगीन संदर्भ रहा है, जिसमें पुरुष पात्रों के साथ प्रेमचंद ने नारी पात्र सुमन को भी सक्रिय किया है। इसमें उनकी यह दृष्टि भी निहित रही है कि वेश्या उद्धार के लिए स्वयं नारी की सक्रियता अपेक्षित है। इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए ही उन्होंने सुमन जैसे पात्र की अवतारणा 'सेवासदन' में की है, जिसके हाथों में, उपन्यास के अंत में, अनाथालय के रूप में 'सेवासदन' के संचालन का कार्य सौंपा जाता है। इस सेवासदन की स्थापना वेश्या कन्याओं को उनके दूषित वातावरण से अलग कर एक सुसंस्कृत वातावरण में हस्तकार्य और समुचित शिक्षा के माध्यम से स्वावलम्बी बनाने के लिए की गई थी। सुमन द्वारा जीवन पर्यन्त अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए अंत में सेवासदन का संचालन करना नारी-मुक्ति प्रयास में नारी की सक्रिय भागीदारी की वांछनीयता को भी रेखांकित करता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर सुमन की जीवन-यात्रा के विभिन्न चरणों के माध्यम से इस कड़ी में उसके नारी चरित्र को उजागर करने का प्रयास किया गया है।

2 सुमन : दारोगा कृष्णचन्द्र की कन्या के रूप में

दारोगा कृष्णचन्द्र की लाड़ली बड़ी बेटी सुमन के आरंभिक जीवन से संबद्ध कुछ सूचनाएँ उपन्यास में यत्र-तत्र दी गयी हैं। वह "दूसरों से बढ़चढ़कर रहना चाहती थी। यदि दोनों बहनों के बाजार से एक ही प्रकार की साड़ियाँ आती थीं तो सुमन मुँह फुला लेती थी। शान्ता (छोटी लड़की) को जो कुछ मिल जाता, उसी में प्रसन्न रहती थी।" दारोगा कृष्णचन्द्र अपनी हैसियत को देखते हुए काफी शाहखर्च थे। वे लड़कियों को ऐशोआराम से रहने के लिए कोई कसर नहीं छोड़ते थे। बाज़ार से उनके लिए अच्छे-से-अच्छे कपड़े और नयी-नयी मनबहलाव की चीजें लाते। उन्होंने लड़कियों को पढ़ाने-लिखाने और कढ़ाई-सिलाई की शिक्षा देने के लिए एक विशेषज्ञ ईसाई महिला को नियुक्त कर दिया था।

इस परिवेश में सुमन जिन्दगी के प्रति काफी लापरवाही हो गयी थी। वह सुन्दर तो थी ही इस परिवेश ने उसे चंचल और अभिमानी भी बना दिया था। भावनाओं और इच्छाओं की अबाध पूर्ति ने उसे सुखोपभोग का आदती बना दिया था। इस अच्छा खाने, अच्छा पहनने की हर इच्छा की पूर्ति को ही उसने अपना लक्ष्य निर्धारित कर लिया था। गुणवती होने के बावजूद 'उसने गृहिणी बनने की नहीं, इन्द्रियों के आनन्द भोग की शिक्षा पायी थी। अपने द्वार पर खोमचे वालों की आवाज सुन कर उससे रहा नहीं जाता।' सौन्दर्याभिमान ने उसे चंचल बना दिया था।

प्रदर्शनप्रियता की आदत भी उसमें बाल्यकाल से ही जड़ जमा बैठी थी। इससे वह चूल्हा-चक्की से दूर ही रही। गृहस्थी के वास्तविक अर्थ को उसने समझा ही नहीं, इच्छाओं की पूर्ति और भोग-भावना ही उसके लिए सर्वस्व थी। ऐसी युवती के लिए स्वाभाविक था कि उसके मन में एक सुन्दर और सम्पन्न पति की भी कामना रही हो। पिता दारोगा कृष्णचन्द्र के व्यक्तित्व और प्रभाव से वह इस ओर से भी निश्चिन्त थी। मध्यवर्गीय पारिवारिक संस्कार उसे इस कार्य में हस्तक्षेप की अनुमति नहीं देते थे। रिश्वत के मामले में आरोपी कृष्णचन्द्र की कैद ने उसकी तमाम इच्छाओं को धराशायी कर दिया। मामा उमानाथ की अनुकम्पा से उसे 15 रुपये मासिक वेतन पर कारखाने में काम करने वाले अधेड़ उम्र के कुरूप और अर्ध शिक्षित के साथ विवाह बंधन में बँधना पड़ता है। यहीं से उसके जीवन की त्रासदी आरम्भ होती है।

7.3 सुमन : पं. गजाधर की पत्नी के रूप में

सुमन के विवाह में वर को देखकर उसकी माँ गंगाजली ने माथा पीट लिया, "मानो लड़की को कुएँ में डाल दिया गया'' ससुराल पहुँचने पर उसे और अधिक बुरी अवस्था का अनुभव हुआ। सीलन से भरी, चारों ओर गंदी नालियों से घिरी तीन रुपए मासिक की दो बन्द कोठरियों को देखकर उसका हृदय ग्लानि से भर गया। बूढ़ी फुवा के आसरे दो महीने थोड़े आराम से कटे। घर के सारे काम वे देख लेती थीं। लेकिन हैजे में उनकी मृत्यु के बाद घर में चूल्हा जलना बंद हो गया। कुछ दिन बाजार से लायी गयी पूरियों से काम चला। ऐसा सर्वथा संभव न देख गजाधर ने एक दिन रात में ही उठकर बर्तन मांजे और चौका धो-पोंछ दिया। नलके से पानी भरकर रख दिया। शर्म के मारे दूसरे दिन घर का सारा काम-काज स्वयं सुमन को संभालना पड़ा। बर्तन मांजते समय उसकी आंखों से आँसुओं की धार प्रवाहित होती रहती थी।

गजाधर हर तरह से सुमन को खुश रखने का प्रयास करता। कारखाने से लौटकर वह पाँच रुपए के लिए अतिरिक्त काम करने लगा। मासिक वेतन सुमन के हवाले कर देता। पड़ोसियों से सुमन की तारीफ के पुल बांधने लगा। पैसे समाप्त होने पर कर्ज ले आता। लेकिन जब कर्ज मिलना बंद हो गया तो उसने सुमन से खर्च में किफायत की बात कही। जब उसे यह सुनना पड़ा कि इतने पैसों में काम नहीं चलेगा तो गजाधर ने झिड़की के साथ कहा कि "मैं डाका तो नहीं मार सकता।'' दिन-प्रतिदिन तकरार बढ़ती गई। सुमन को बारजे की चिक से तांक-झांक करने की मनाही की गयी।

इन घुटन भरी परिस्थितियों में सुमन की दृष्टि अपने घर के सामने वाली वेश्या भोली की ओर गई। वेश्या-चरित्र से उसे अत्यन्त घृणा थी। लेकिन जब एक दिन मौलूद (जन्मदिन से सम्बद्ध धार्मिक उत्सव) के अवसर पर भोली बाई के यहाँ प्रतिष्ठित धार्मिक व्यक्तियों के जमावड़े को देखा तो उसकी आंखे चौंधिया गई। तब से वेश्याओं से सम्बद्ध उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा। घर में उसका मन लगता नहीं था। पड़ोसियों के यहाँ बैठ कर समय काटती थी। एक दिन भोली के बहुत आग्रह पर संध्या के समय उसके घर चली गयी। बातचीत में देर हो गयी। वापस लौटने पर गजाधर की डांट-फटकार सुननी पड़ी। लेकिन जब मौलूद के अवसर पर भोली के यहाँ उपस्थित तथाकथित सज्जन लोगों के चरित्र का उद्घाटन गजाधर ने किया तो फिर से उसमें वेश्याओं के प्रति घृणा भाव जागृत हो गया। उसमें धर्मनिष्ठा का उदय हुआ। प्रतिदिन गंगास्नान और रामायण का पाठ करना शुरू कर दिया।

सुमन रामनवमी के अवसर पर जन्मोत्सव देखने के लिए एक बड़े मन्दिर में सहेलियों के साथ गयी तो वहाँ नजारा ही दूसरा दिखाई दिया:

"वही पड़ोसिन भोली बैठी गा रही है। सभा में एक से एक बड़े आदमी बैठे हुए थे, कोई वैष्णव तिलक लगाए, कोई भस्म लगाए, कोई गले में कंठी माला डाले और राम-राम की

चादर ओढ़े, कोई गेरुआ वस्त्र पहने। उनमें से कितनों को ही सुमन नित्य गंगा-स्नान करते देखती थी, उन्हें धर्मात्मा विद्वान समझती थी।..... भोली जिसकी ओर कटाक्षपूर्ण नेत्र से देख लेती थी, वह मुग्ध हो जाता था, मानो साक्षात् राधा-कृष्ण के दर्शन हो गए।''

इस दृश्य से सुमन के विश्वासों को एक गहरा धक्का लगा। वह सोचने लगी कि 'भोली के सामने केवल धन ही नहीं सिर झुकाता, धर्म भी उसका कृपाकांक्षी है।' उसे अनुभव हुआ कि ठाकुरजी के पवित्र निवास-स्थान की पवित्रता को चार-चाँद लगाने का कार्य भी भोली द्वारा ही सम्पन्न होता है। यहाँ विस्तार से प्रेमचंद ने धार्मिक पाखण्ड का पर्दाफाश करते हुए सुमन के मन में आ रहे परिवर्तन पर एक अवरोध लगाया है। उसने गंगा-स्नान छोड़ दिया, रामायण पोथी बांध कर रख दी।

सुमन का इधर-उधर आना-जाना बंद हो गया। उसका स्वास्थ्य दिन-प्रति-दिन गिरने लगा। इससे गजाधर को चिंता हुई। उसने पुनः सैर और गंगा-स्नान के लिए सुमन को प्रेरित किया। उसके स्वास्थ्य में सुधार होने लगा। एक दिन बेनीबाग के चिड़ियाघर की बेंच पर बैठने को लेकर उसके चौकीदार से सुमन की तकरार हो रही थी, उसी बीच वकील पद्मसिंह अपनी पत्नी सुभद्रा के साथ गाड़ी से पहुँचे। चौकीदार को डांट-फटकार के बाद जब सुमन से सुभद्रा की बातचीत हुई तो सुभद्रा ने उसे एक भली औरत समझ कर अपनी गाड़ी से घर छोड़ा। तब से सुमन का सुभद्रा के यहाँ आना जाना शुरू हो गया। इसे लेकर गजाधर से कुछ कहा-सुनी भी होती रही। म्युनिसिपैलिटी का सदस्य चुने जाने पर अपने घर आयोजित आनन्दोत्सव में पद्मसिंह को विवश होकर भोली के मुजरे का भी आयोजन करना पड़ा। सुभद्रा के अनुरोध पर सुमन को भी वहाँ रुकना पड़ा। रात में बहुत देर से घर वापस आने पर गजाधर आपे से बाहर हो गया। लेकिन यहाँ प्रेमचन्द की सुमन अन्याय के सामने नहीं झुकती। गजाधर जब उसे घर से निकलने के लिए कहता है, तब भी उसका आत्मसम्मान उसे पति के समक्ष क्षमा की भीख नहीं माँगने देता। वह पति गृह का त्याग कर देती है।

पति द्वारा प्रताड़ित सुमन सुभद्रा की शरण में जाती है। वहाँ उसे शरण तो मिल जाती है, लेकिन सुमन को लेकर पद्मसिंह के संबंध में झूठी अफवाहें फैलायी जाती हैं। इससे विचलित होकर वे सुमन को अपने नौकर के माध्यम से घर छोड़ने का आदेश देते हैं। सुनन के सामने भोली का द्वार खटखटाने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं दिखायी देता। भोली के यहाँ वह इस उद्देश्य से गयी थी कि उसके माध्यम से एक छोटे से आवास की व्यवस्था हो तो वह सिलाई आदि करके स्वावलंबी बन जाएगी। लेकिन भोली द्वारा बहुत ऊँच-नीच समझाने के बाद वेश्यावृत्ति के लिए वह तैयार हो जाती है।

पद्मसिंह के यहाँ आयोजित मुजरे में भोली की स्थिति को देखकर उसकी स्वावलंबिता के प्रति सुमन के मन में ईर्ष्या होती है। उसे विश्वास है कि वह भोली से सुन्दर है और, उसके गले की मिठास भी भोली से अधिक है। इससे वह इस परिणाम पर पहुँचती है कि "वह स्वाधीन है, मेरे पैरों में बेड़ियाँ हैं। उसकी दूकान खुली है, इसलिए ग्राहकों की भीड़ है, मेरी दूकान बंद है, इसलिए कोई खड़ा नहीं होता। वह कुत्तों के भूँकने की परवाह नहीं करती, मैं लोक-निन्दा से डरती हूँ। वह परदे के बाहर है, मैं परदे के अंदर हूँ।.... इसी लज्जा, इसी उपहास के भय ने मुझे दूसरों की चेरी बना रखा है।'' अपने इस परिवर्तित चिन्तन के कारण ही सुमन भोली की राय को स्वीकार कर वेश्या व्यवसाय की ओर उन्मुख होती है। यौन-कुकर्म से भिन्न वह इसे स्वावलंबन और अपनी मुक्ति का मार्ग समझती है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि सुमन एक तरफ हिंदू मध्यवर्गीय विवाह प्रथा की कुसंगतियों का शिकार बनती है, तो दूसरी तरफ गृहस्थ जीवन की संकीर्णता और विधि निषेधों से ही पीड़ित नहीं होती, वरन् वकील पद्मसिंह की झूठी मान-सम्मान की चिन्ता भी उसे पतित व्यवसाय की ओर अग्रसर करती है। पति द्वारा प्रताड़ित कर घर से निकाले जाने में सुमन को उतनी पीड़ा का अनुभव नहीं हुआ, जितनी कि पद्मसिंह द्वारा अपने घर से निकाले जाने पर।

7.4 सुमन : वेश्या के रूप में

सुमन को वेश्या-जीवन तक ढकेल कर पहुँचाने का दायित्व मध्यवर्गीय समुदाय की छद्म चेतना को ही है। विवाह-व्यवसाय, दहेज प्रथा के साथ ही दारोगा कृष्णचंद्र, पं. उमानाथ से लेकर पं. पद्मसिंह तक व्याप्त है। अपनी जीवन-यात्रा की इस मंजिल पर पहुँच कर वह जीवन के विषय में कुछ सार्थक ढंग से सोच सकने में समर्थ होती है। पद्मसिंह को सुनाने के लिए वह यह जरूर कहती है कि "जितना आदर मेरा अब हो रहा है, उसका शतांश भी तब नहीं होता था। एक बार मैं सेठ चिम्मनलाल के ठाकुरद्वारे में झूला देखने गयी थी, सारी रात बाहर खड़ी भीगती रही, किसी ने अंदर नहीं जाने दिया। लेकिन कल उसी ठाकुरद्वारे में मेरा गाना हुआ, तो ऐसा जान पड़ता था मानो मेरे चरणों से वह मंदिर पवित्र हो गया।" लेकिन वास्तविकता यह है कि वह इसे अपने वेश्या जीवन की उपलब्धि नहीं मानती। जब बिट्ठलदास के रूप में एक सच्चे समाज-सुधारक से उसकी भेंट होती है तो वह अपने आंतरिक आशय को खुले रूप से उनके सामने इस प्रकार प्रस्तुत करती है, "आप सोचते होंगे कि भोग-विलास की लालसा से कुमार्ग में आई हूँ, पर वास्तव में ऐसा नहीं है।..... मैं जानती हूँ कि मैंने निकृष्ट कर्म किया है। लेकिन मैं विवश थी, इसके सिवाय मेरे लिए कोई रास्ता नहीं था।..... मैं ऊँचे कुल की लड़की हूँ, पिता की नादानी से मेरा विवाह एक दरिद्र मूर्ख से हुआ। लेकिन दरिद्र होने पर भी मुझसे अपना अपमान न सहा जाता था। जिसका निरादर होना चाहिए उसका आदर होते देखकर मेरे हृदय में कुवासनाएँ उठने लगती थीं। संभव था कि कालांतर में यह अग्नि आप ही शांत हो जाती, पर पद्मसिंह के जलसे ने इस अग्नि को भड़का दिया। पद्मसिंह के घर से निकल कर मैं भोली बाई की शरण में गई।..... मैंने चाहा कि कपड़े सीकर अपना निर्वाह करूँ, पर दुष्टों ने मुझे ऐसा तंग किया कि अंत में मुझे कुँए में कूदना पड़ा।..... सुख न सही, यहाँ आदर तो है। मैं किसी की गुलाम तो नहीं हूँ।"

सुमन के चरित्र की विशेषताओं के साथ ही उसकी स्वाधीनता की भावना भी यहाँ व्यक्त हुई है। इसके संबंध में प्रेमचंद की आद्यंत मान्यता भी यहाँ उजागर हुई है। लगता है कि सुमन वेश्या-जीवन से भी मुक्त होने के लिए तत्पर है। वह बिट्ठलदास से कहती है कि "मैं सुख और आदर दोनों को छोड़ सकती हूँ पर जीवन निर्वाह का कुछ उपाय तो करना ही पड़ेगा।" अंततः वह अपने गुजारे के लिए 50 रुपए मासिक राशि की शर्त को भी छोड़कर विधवाश्रम में रहना स्वीकार कर लेती है।

सुमन वेश्या-जीवन की प्रतिनिधि पात्र नहीं है और न प्रेमचंद उसे ऐसा रूप देना ही चाहते थे। वह बहुत थोड़े समय तक वेश्या रहती है और कभी भी वेश्या की तरह अपना शरीर नहीं बेचती। उपन्यासकार प्रायः अपने प्रमुख पात्रों की रचना के लिए वर्ग के अनेक व्यक्तियों की विशेषताओं को आधार बनाते हैं। प्रेमचंद ने इस दृष्टि से वेश्या के रूप में सुमन का चरित्र नहीं प्रस्तुत किया है। अपने अन्यान्य उपन्यासों से भिन्न उसके निजी चरित्र या व्यक्ति की ओर उनका ध्यान अधिक रहा है। उसके माध्यम से प्रेमचंद नारी की पराधीनता पर अनेक कोणों से प्रकाश डालना चाहते थे, जिसमें वेश्या रूप भी एक कोण था। अतः सुमन का वेश्या बनना किसी तरह से उसकी प्रकृति के अनुरूप नहीं था।

7.5 सुमन : विधवाश्रम की सेविका के रूप में

प्रेमचंद ने 'सेवासदन' में विधवा समस्या को विषय नहीं बनाया है। लेकिन एक सुव्यवस्थित विधवाश्रम की उपस्थिति के माध्यम से समस्या की ओर संकेत अवश्य किया है। विधवाश्रम गमन को सुमन अपने लिए पुनर्जन्म स्वीकार करती है। आश्रम की विधवाओं से विधवा बताकर सुमन को अत्यंत गोपनीय ढंग से वहाँ रखा गया था। लेकिन अबुलवफा जैसे व्यक्तियों की वजह से यह बात गोपनीय नहीं रह सकी। फलस्वरूप रसिक सज्जनों को विधवाश्रम से विशेष सहानुभूति हो गयी। अबुलवफा और अब्दुलतीफ की तरह सेठ

चिम्मनलाल, सेठ बलभद्रदास तथा पं. दीनानाथ भी अपनी तथाकथित शुभकामना से प्रेरित विधवाश्रम पहुँचने लगे। आश्रम के संचालक बिट्ठलदास के सामने समस्या खड़ी हो गयी।

जहाँ कभी बेल बूटे की कढ़ाई का प्रस्ताव लेकर अबुलवफा और अब्दुलतीफ पहुँच जाते तो कभी मूर्ख सेठ चिम्मनलाल 'भर्तृहरि के उत्तम नाटक शकुंतला' के मंचन का प्रस्ताव लेकर और कभी सेठ बिट्ठलदास आश्रम में फूल-पौधे भेजकर स्वयं बागवानी की व्यवस्था के लिए हाजिर होने लगे। बिट्ठलदास को बड़ी ही कठिनाई से इन लोगों के साथ निबटना पड़ा। सेठ बलभद्रदास तो विधवाश्रम को मिटाने की धमकी देकर वापस लौटे।

पद्मसिंह के यह पूछने पर कि सुमन आश्रम में कैसे रहती है, बिट्ठलदास बताते हैं, 'ऐसी अच्छी तरह मानो वह सदा आश्रम में रही है, सब काम करने को तैयार और प्रसन्नचित्त। अन्य स्त्रियाँ सोती रहती हैं और वह उनके कमरे में झाड़ू लगा आती है। कई विधवाओं को सीना सिखाती है कई उससे गाना सीखती हैं।.....इस चारदीवारी के भीतर अब उसी राज्य का है।'' इस वास्तविकता के बावजूद सुमन की उपस्थिति आश्रम के लिए एक समस्या बन गई। अपनी बहन शान्ता के अभिशप्त जीवन के लिए वह स्वयं को उत्तरदायी मानती थी। जब शान्ता को भी आश्रम में रखने की सूचना उसे मिली तो वह आत्मग्लानि में डूब कर आत्महत्या का निश्चय कर लेती है। लेकिन गजानंद द्वारा सेवाधर्म की शिक्षा से वह आत्महत्या से विमुख होती है।

जब प्रभाकर राव ने अपने पत्र द्वारा सुमन के रहस्य का उद्घाटन कर दिया तो आश्रम में हड़बड़ी मच गयी। बहुत सी विधवाओं ने आश्रम छोड़ने का निर्णय कर लिया। ऐसी स्थिति में सुमन को आश्रम छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। शान्ता को लेकर अनिर्दिष्ट मार्ग पर निकल पड़ी। यहाँ स्पष्ट है कि अपने अटूट सेवाधर्म के बावजूद सुमन को वेश्या जीवन के अभिशाप के कारण विधवाश्रम में भी रहने की अनुमति नहीं मिल सकी। चाहे पति-गृह हो या पद्मसिंह-सुभद्रा का आश्रय, चाहे वेश्यालय हो या विधवा आश्रम, सर्वत्र सुमन को प्रताड़ित होना पड़ा। लेकिन आत्म-सम्मान की रक्षा और सेवा-धर्म भावना से उसने कभी मुख नहीं मोड़ा।

7.6 सुमन : परिवार की सदस्या के रूप में

विधवाश्रम से निकलकर अपने मामा उमानाथ के गाँव अमोला जाने के प्रयास में गंगा के किनारे अचानक अत्यन्त नाटकीय ढंग से सुमन और शान्ता का साक्षात्कार सदन सिंह से होता है। सदन सिंह आत्मनिर्भर बनकर शान्ता को पत्नी के रूप में ग्रहण करने के उद्देश्य से मल्लारी (घटवारी) का काम शुरू किए हुए है। घाट पर पहुँच कर कुशल-क्षेम के बाद सुमन गंगा पार जाने के लिए नौका ठीक करने की बात कहती है तो सदन उत्तर देता है, "अब तो तुम अपने घर पर पहुँच गई, अमोला क्यों जाओगी? तुम लोगों को कष्ट तो बहुत हुआ, पर इस समय तुम्हारे आने से मुझे जितना आनन्द हुआ, यह वर्णन नहीं कर सकता। मैं तुम्हारे घर आने का इरादा कर रहा था, लेकिन काम से छुट्टी नहीं मिलती। मैं तीन-चार महीने से मल्लार का काम करने लगा हूँ। यह तुम्हारा ही झोपड़ा है, चलो अन्दर चलो।''

सुमन शान्ता के साथ वहाँ रहने लगी। थोड़े ही दिनों के बाद सदन सिंह से शान्ता की शादी भी झोपड़े में हुई। सुमन ने वहीं जिन्दगी काट देने की सोची। घर-परिवार का पूरा कार्य-भार अपने ऊपर ले लिया। इसका जिक्र करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है, 'सुमन घर का सारा काम करती है और बाहर का भी। वह घड़ी रात रहे उठती है और स्नान पूजा के बाद सबके लिए जलपान तैयार करती है। फिर नदी के किनारे जाकर नाव खुलवाती है। नौ बजे भोजन बनाने बैठ जाती है। ग्यारह बजे यहाँ से छुट्टी पाकर कोई-न-कोई काम करने जाती है। नौ बजे रात के बाद पढ़ने बैठ जाती है।.....शान्ता और सदन दोनों कहीं उसकी ओर से निश्चिन्त हैं, मानों वह घर लौंड़ी है और चक्की में जुते रहना ही उसका धर्म है।''

धीरे-धीरे शान्ता और सदन की सुमन के प्रति उपेक्षा बढ़ती गई। पद्मसिंह के नौकर जीतन द्वारा मल्लाहों के सामने उसकी राम कहानी का पर्दा खोल दिया गया। मल्लाह और मल्लाहिनें भी, जो उस पर जान छिड़कती थी, अब उससे कतराने लगीं। शान्ता और सदन की उपेक्षा खुलकर सुमन के सामने आ चुकी थी। सुमन शान्ता के वार्तालाप से सुमन को पूरा विश्वास हो गया कि अब उसका यहाँ रहना उचित नहीं है। अंत में सुमन शान्ता से साफ-साफ पूछने पर शान्ता कहती है "तुमने मेरे साथ जो उपकार किए हैं, वह मैं कभी न भूलूँगी। लेकिन बात यह है कि उनकी (सदन की) बदनामी हो रही है। लोग मनमानी बातें उड़ाया करते हैं। वह कहते थे कि सुभद्रा जी यहाँ आने को तैयार थीं, लेकिन तुम्हारे रहने की बात सुनकर यहाँ नहीं आई। (यह बिल्कुल झूठ था) और बहन, बुरा न मानना, जब संसार में यही प्रथा चल रही है, तो हम लोग क्या कर सकते है?'' शान्ता की ये बातें प्रत्यक्ष रूप से सुमन के चले जाने की 'नोटिस' थी। शान्ता थोड़े ही समय में बच्चे की माँ बनने वाली थी। उसके कष्ट को ध्यान में रखकर सुमन ने प्रसूति कर्म निपटा कर चले जाने का निश्चय किया।

शान्ता अपने प्रति किए गए सारे उपकारों को भुलाकर उस पर संदेह करने लगी थी। उसे भय था कि कहीं सदन सुमन के जाल में न फँस जाए। इसलिए वह उस पर हमेशा नजर रखना चाहती थी। लोरी गृह में बंद होकर सुमन पर नजर रखना मुश्किल था। इसलिए वह अपने प्रसव काल से पूर्व ही सुमन को वहाँ से टालना चाहती थी। प्रसव के बाद घटनाक्रम में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। छठी के दिन सदन के माँ-बाप उत्साह के अतिरेक में पद्मसिंह-सुभद्रा को लेकर सदन के आवास पर पहुँचे। सदन की माँ भामा की उल्टी-सीधी बातें सुन कर सुभद्रा ने उसे बहुत समझाया। सुमन स्नान करके वापस आई तो उनकी बातें कान लगाकर सुनती रही। सुभद्रा पर अविश्वास करते हुए जब भामा ने यह कहा कि "चलो बड़ी नेम-धरम से रहने वाली है। सात घाट का पानी पीके आज नेम वाली बनी है। देवता की मूरत टूटकर फिर से नहीं जुड़ती। अब वह देवी बन जाए तब भी मैं उस पर विश्वास नहीं करूँगी।'' सुमन को इससे अधिक सुन सकने का धैर्य नहीं रहा: वह उसी समय अंधकार में निकल पड़ी।

यहाँ हम देखते हैं कि जीवन-यात्रा के प्रत्येक पड़ाव पर सुमन की स्थिति बद-से-बदतर होती गयी है। अपनी बाल्यावस्था में उसे मन-मर्जी करने की छूट थी। वह स्वभाव से ही आत्मसम्मान प्रिय और सगर्वा स्त्री रही है। पति गृह में सारे कष्ट झेल कर वहाँ की रानी थी। वेश्यालय में जब तक रही, उसने आत्मसम्मान को नहीं छोड़ा। आश्रम में भी उसी का सिक्का चलता था। अपमान की स्थिति देखकर वह कहीं टिकी नहीं। शान्ता और सदन के व्यवहार से तो वह आहत थी ही भामा की कटूक्तियों से तिलमिलातें हुए अंधकार में अनिर्दिष्ट लक्ष्य की दिशा में एक ओर निकल गई। इसे उसके जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी कहा जा सकता है।

बड़े काँटे की चुभन की पीड़ा को महसूस करते हुए वह रात भर चिन्तन करती रही। प्रातः काल में उसकी आंखे पल भर के लिए झपकीं। उसे दिखाई दिया कि स्वामी गजानन्द मृगचर्म धारण किए हुए उसके सामने खड़े हैं। उन्होंने आदेश किया "जो लोग तुमसे भी दीन-दुखी, दलित हैं, उनकी शरण में जाओ, और उन्हीं का आशीर्वाद तुम्हारा उद्धार करेगा।'' यहाँ प्रेमचंद ने एक अविश्वसनीय संयोग के माध्यम से सुमन को स्वामी गजानंद की कुटी के द्वार पर पहुँचा दिया है। उन्हीं के सदुपदेश से वह अनाथालय की संचालिका बनती है। सुमन के संघर्षपूर्ण जीवन की यह परिस्थिति स्वाभाविक और प्रभावशाली नहीं है। बावजूद इसके, उसी के माध्यम से प्रेमचंद ने सुमन को अनाथालय में पहुँचा कर अपने उद्देश्य की सिद्धि की है।

उद्देश्य सिद्धि का यह प्रयास प्रेमचंद जैसे जागरूक रचनाकार की जागरूकता की छवि को ही क्षतिग्रस्त नहीं करता, वरन् सुमन के चरित्र में कृत्रिमता ला देता है। यहाँ लगता है कि वे अंत में आकर सुमन के चरित्र के विकास का कोई तर्कसंगत और सुनिश्चित मार्ग नहीं ढूँढ पाए

और हड़बड़ी में उन्हें कपोल कल्पना का सहारा लेना पड़ा। यहाँ उनकी अद्‌भुत किस्सागोई भी बहुत अधिक सहायक नहीं बन पाती। उपन्यास के अंत में वे परम्परागत किस्सागोइयों की तरह कहते प्रतीत होते हैं कि जैसे सुमन और गजाधर के दिन फिरे उसी तरह पाठक के लिए अच्छे दिन आएँ।

7.7 सुमन : सेवासदन की संचालिका के रूप में

स्वामी गजानंद 'सेवासदन' का भार सुमन पर छोड़कर उससे निश्चिन्त हो गए। अब वे निर्धन कन्याओं का उद्धार करने के लिए अधिकतर गाँवों में रहते हैं। शहर में कभी-कभार आते हैं। 'सेवासदन' का पूरा कार्य व्यापार सुमन की देखरेख में चलने लगा। इसकी स्थापना पं. पद्मसिंह के प्रयास से हुई है, जिसमें वेश्या कन्याओं के पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबंध है। लेकिन सुमन के साक्षात्कार से वे लज्जावश कतराते रहे। पति के साथ गंगा स्नान से वापस आते हुए उनकी गाड़ी सेवासदन से होकर निकली। सुभद्रा के बहुत आग्रह पर भी देर का बहाना बनाकर पद्मसिंह सेवासदन में नहीं गए। सुभद्रा वहाँ अकेले गयी। सुमन द्वारा 'सेवासदन' का निरीक्षण कराते हुए उसकी सफलता का परिचय पाठक को मिलता है।

"आश्रम में पहुँचने पर सुमन ने विह्वल भाव से सुभद्रा के चरणों पर सिर रख दिया। उसने पूछा कि 'शर्मा जी भी हैं या अकेले आयी हैं।' देर हो जाने के कारण शर्मा जी के न आने से उदास होकर सुमन ने कहा, 'देर तो क्या होती थी, वह यहाँ आना ही नहीं चाहते। मेरा अभाग्य दुख केवल यह है कि जिस आश्रम के वे स्वयं जन्मदाता हैं, उससे मेरे कारण उन्हें इतनी घृणा है। मेरी हृदय से अभिलाषा थी कि एक बार आप और वह साथ आते। आधी तो आज पूरी हुई, शेष भी कभी-न-कभी पूरी होगी। वह मेरे उद्धार का दिन होगा।''

सुमन सुभद्रा को आश्रम दिखाने लगी। प्रभाकर राव के 'जगत' तथा अन्य पत्रों में छपी प्रशंसा भी आश्रम को देखकर सुभद्रा के लिए धूमिल पड़ गयी। पाँच कमरों के भवन में पहले कमरे में लगभग तीस बालिकाएँ पढ़ रही थीं, जिनकी आयु बारह से पन्द्रह वर्ष के बीच थी। इन्हें उच्च शिक्षा देने के लिए रुस्तम भाई बैरिस्टर की सुयोग्य पत्नी प्रतिदिन दो घंटे के लिए आती थी। दूसरे कमरे में भी लगभग उतनी ही बालिकाएँ थीं, जिनकी आयु आठ से बारह वर्ष के बीच थी। उन्हें कपड़े की कटाई-सिलाई की शिक्षा दी जा रही थी। यहाँ एक बूढ़ा दर्जी काम पर लगा था। तीसरे कमरे में पन्द्रह-बीस छोटी-छोटी बच्चियाँ थीं, जो गुड़िया से खेलने और दीवारों पर लगी तस्वीरें देखने में तल्लीन थीं। इस कक्षा की अध्यापिका सुमन स्वयं थी। सुभद्रा ने सामने वाले बगीचे में लगाए गए फूलों को देखा। वहाँ कुछ लड़कियाँ आलू गोभी में पानी दे रही थीं। भोजनालय में बैठी लड़कियाँ भोजन कर रही थीं। उनके बनाए आचार-मुरब्बे भी सुमन ने दिखाए। सुभद्रा सारी व्यवस्था देखकर गद्‌गद हो गयी। जब सुभद्रा ने पूछा कि "इनकी माताएँ इन्हें देखने आती हैं या नहीं?" सुमन ने बताया कि "कभी-कभी आती हैं, पर मैं यथा संभव इस मेल मिलाप को रोकती हूँ।" सुभद्रा के पूछने कि "इनका विवाह कहाँ और कैसे होगा।" तो सुमन ने कहा कि "यह तो टेढ़ी खीर है। हमारा कर्तव्य यह है कि इन कन्याओं को चतुर गृहिणी बनने योग्य बना दें, उनका आदर समाज करेगा या नहीं, मैं नहीं कह सकती।"

वस्तुत: प्रेमचंद ने इस तथ्य को गहराई से महसूस किया था कि उस समय विधवाओं के लिए विधवाश्रम की व्यवस्था तो की गई थी, लेकिन वेश्याओं के लिए सुधार या उद्धार गृह की कोई व्यवस्था नहीं। 'सेवासदन' में वे वेश्या कन्याओं की शिक्षा और उनके सुधार को लेकर चिन्तित हुए हैं। आगे चलकर "1956 ई. में अनैतिक व्यवसाय के दमन का कानून लागू करने के लिए तथा वेश्याओं के सुधार और उद्धार के लिए खोले गए और भविष्य में खोले जाने वाले 'रक्षा-गृह' की पूर्व कल्पना प्रेमचंद ने 40 वर्ष पूर्व कर ली थी, चाहे अधूरे रूप में ही सही।" (प्रेमचंद का नारी चित्रण: गीता लाल)।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट पता लग जाता है कि सुमन की जीवन-यात्रा का अंतिम पड़ाव ही उसकी वास्तविक पराधीनता से मुक्ति के साथ ही स्वावलंबन और सेवाधर्म के निर्विघ्न प्रतिपादन का वास्तविक काल है। यहाँ वह अपनी क्षमता का पूरा परिचय देती हैं।

7.8 सुमन के चरित्रांकन में निहित प्रेमचंद का उद्देश्य

'सेवासदन' के प्रमुख पात्र सुमन की जीवन-यात्रा के विभिन्न चरणों के अध्ययन के बाद हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह प्रेमचंद की सायास निर्मिति है। वह समाज के बीच से चुनी हुई या उठाई गई पात्र नहीं है। वह वेश्या जीवन का प्रतिनिधि पात्र भी नहीं है। विधवा-आश्रम में आने का निश्चय हो जाने के बाद वह अपने यहाँ आए हुए अबुलवफा को सिगरेट जलाने के बहाने उसकी दाढ़ी जला कर अपमानित करती है। सेठ चिम्मनलाल को वह तीन टाँगों वाली कुरसी पर बिठाकर धराशाही करके अपमानित करती है। पं. दीनानाथ को वार्निश से नहलाकर उनका स्वागत करती है। नगर के रसिक सज्जनों और रईसों का ऐसा अनादर वेश्या चरित्र के बिलकुल विपरीत है।

पद्मसिंह, बिट्ठलदास जैसे दो-चार पात्रों को छोड़कर सुमन के साथ किसी भी पात्र की वास्तविक सहानुभूति नहीं है। समाज ने तो यही चाहा है कि वह डूब-धँस जाए या वेश्या बने। वह पितृ-गृह से बेबसीपूर्ण निकाली जाती है, पतिगृह से भी उसके साथ वैसा ही सलूक होता है। अति सज्जन, सम्पन्न और समाज की प्रकृति के पद्मसिंह के यहाँ भी उसके साथ वैसा ही सलूक होता है। विवशता में वेश्या जीवन स्वीकार कर लेने के बाद सुभद्रा भी उससे आँखे फेर लेती है। विधवा आश्रम छोड़ने के लिए भी उसे विवश किया जाता है। शान्ता और सदन को विवाह सूत्र में बाँधने और उन्हें स्वस्थ गृहस्थ जीवन प्रदान करने के बावजूद सुमन को उनके घर से निरादृत होकर निकलना पड़ता है। सुमन के इस पूरे क्रिया-व्यापार द्वारा प्रेमचंद ने उसे समाज की तमाम स्थितियों से गुजार कर अपने युग के यथार्थ को पहली बार औपन्यासिक शिल्प में पिरोया है। लेकिन सुमन इस यथार्थ से दूर उनके आदर्शवाद की परिचायिका ही अधिक लगती है।

सुमन के एक अत्यन्त संक्षिप्त वेश्या जीवन काल को देखते हुए इसे वेश्या-समस्या की प्रमुखता वाला परम्परागत उपन्यास नहीं माना जा सकता। वस्तुतः 'सेवासदन' नारी जीवन की पराधीनता का दस्तावेज है। प्रेमचंद ने इसमें जहाँ एक ओर तमाम पुरानी और रूढ़ सामाजिक सांस्कृतिक परम्पराओं को तोड़ने का प्रयास किया है, वहीं अपने वर्तमान युग में सिर उठाते स्वार्थपरक और आडम्बर प्रिय मध्यवर्गीय छद्म का पर्दाफाश करने का सफल प्रयास किया है। सारे उपन्यास पर छायी हुई सुमन के माध्यम से उन्होंने यह कार्य सम्पन्न किया है। हमारे साहित्य में कितनी ही कविताएँ, कितने नाटक, कितने ही उपन्यास लिखे गए हैं, जिनमें नारी के बलिदान, त्याग, पति सेवा की गद्गद भाव से प्रशंसा की गई है। लेकिन बहुत कम लेखकों ने उसकी वास्तविक अस्मिता, उसकी निस्सहायता, उसकी पराधीनता को उजागर करते हुए, उसे गँवार, शूद्र और पशु की कोटि में रखे जाने की विभिन्न स्थितियों एवं कार्य-कारण संबंधों पर प्रकाश डाला है। इस महत्वपूर्ण कार्य को प्रेमचंद ने ही पूरा किया है।

सुमन का चरित्रांकन करते हुए प्रेमचंद ने जिन युक्तियों का सहारा लिया है, वे उनके अगले उपन्यासों में अधिक प्रखर एवं उन्नत हुई हैं। लेकिन 'सेवासदन' में उनका समुचित विकास नहीं मिलता। इसलिए कुंवर अनिरुद्ध सिंह के साथ ही प्रायः पद्मसिंह और एक सीमा तक बिट्ठलदास जिस प्रकार उनके प्रतिनिधि बनते हैं, लगभग उसी प्रकार सुमन इनके हाथ की कठपुतली बन जाती है। 'सेवासदन' के पुरुष पात्रों के साथ मेहता और स्त्री पात्र मालती की तुलना सुमन से करके इस तथ्य को आसानी से समझा जा सकता है। इसके बावजूद सुमन पाठकों की सर्वाधिक सहानुभूति और विश्वास प्राप्त करती है। सेवासदन की संचालिका बनाकर

प्रेमचंद ने उसके प्रति समूचे सामाजिक अन्याय की क्षतिपूर्ति की है। इसे ही सुमन जैसे चरित्र निर्माण के पीछे प्रेमचंद का निहित उद्देश्य माना जा सकता है।

7.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में सुमन के चरित्र पर विचार करने के लिए बाल्यकाल से लेकर पतिगृह में आगमन, पद्मसिंह के यहाँ आश्रय-गुण, वेश्यावृत्ति में प्रवेश, विधवाश्रम में प्रवेश, शान्ता-सदन के पारिवारिक जीवन के साथ तालमेल से लेकर 'सेवासदन' की संचालिका के कार्य भार के ग्रहण के विभिन्न पड़ावों पर अलग-अलग शीर्षकों में विचार किया गया है। इस क्रम में मध्यवर्गीय अन्यान्य सामाजिक विकृतियों-दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, भारतीय मध्यवर्गीय समुदाय की छद्म चेतना आदि पर भी यथा-स्थान संक्षिप्त टिप्पणियाँ की गई हैं।

प्रस्तुत इकाई के अंत में सुमन के संघर्षपूर्ण जीवन और उसके चरित्रांकन के संदर्भ में प्रेमचंद के निहित उद्देश्य को भी रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। इस इकाई का लक्ष्य सुमन के चरित्र पर विभिन्न सामाजिक आर्थिक और नैतिक कार्यों से प्रकाश डालना ही रहा है। लेकिन इस प्रक्रिया में प्रेमचंद की तद्युगीन समाज-सभ्यता की समीक्षा से सम्बद्ध दृष्टि और प्रतिक्रियाएँ भी साथ-साथ उजागर हुई हैं।

7.10 अभ्यास प्रश्न

1. सुमन के चरित्र की मूलभूत विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
2. 'सुमन' के अत्यल्प काल के निष्कलुष वेश्या जीवन की काली छाया उसके भविष्य पर मंडराती रही है।' इस कथन की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
3. सुमन जैसे चरित्र के निर्माण में प्रेमचंद के निहित उद्देश्य की भूमिका को रेखांकित कीजिए।
4. तत्कालीन परिस्थितियों में सेवासदन की स्थापना द्वारा प्रेमचंद ने वेश्या समस्या के समाधान के अपने किस स्वप्न को उद्घाटित किया है? युगीन नारी मुक्ति आंदोलनों को ध्यान में रखकर इस प्रश्न का उत्तर दीजिए।

खण्ड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1. प्रेमचंद का नारी-चित्रण: डॉ. गीता लाल, (1956) हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-110006
2. प्रेमचंद और उनका युग: डॉ. राम विलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-110002
3. प्रेमचंद के नारी पात्र: डॉ. ओम अवस्थी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली।
4. उत्तरार्द्ध: सं. सव्यसाची, जनवादी साहित्य विशेषांक, अंक 20, मथुरा।
5. कलम का सिपाही: अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहबाद।
6. प्रेमचंद: विरासत का सवाल: डॉ. शिवकुमार मिश्र, पीपुल्स लिटरेसी, 517, मटिया महल, दिल्ली-110007

परिशिष्ट-प्रेमचंद और 'सेवासदन'

जीवन परिचय

प्रेमचंद आधुनिक हिंदी के महानतम रचनाकार थे। उनके साहित्य में भारतीय समाज अपनी संपूर्ण विविधताओं के साथ मौजूद है। यह विविधता उनकी व्यापक मानवीय संवेदना और सहानुभूति के साथ-साथ घनिष्ठ सामाजिक संपर्क से उपजी थी। सामाजिक घनिष्ठता ने उनके साहित्य को प्रामाणिक और विश्वसनीय अभिव्यक्ति प्रदान की। जीवन की इस विश्वसनीय अभिव्यक्ति सामर्थ्य पर विवेचन से पूर्व रचनाकार प्रेमचंद के जीवन यात्रा के पड़ाव को रेखांकित करना अनिवार्य होगा।

प्रेमचंद का जन्म 31 जुलाई 1880 को वाराणसी के लमही गाँव में हुआ था। उनका जन्म तीन बहनों के बाद हुआ था। इसलिए उन्हें लाड़ प्यार और भरपूर पारिवारिक स्नेह मिला। उनके पिता ने उनका नाम धनपतराय तथा ताऊ ने नवाबराय रखा, लेकिन लेखन जगत में प्रेमचंद के नाम से मशहूर हुए। प्रेमचंद के पिता ने दूसरा विवाह किया था, इसका कड़वा अनुभव उन्हें बचपन में मिला। उनकी कहानी के कई पात्र सौतेली माता की प्रताड़ना से पीड़ित मिलते हैं। उन्होंने बचपन में अपने मामा के प्रेम प्रसंग एक नाटक लिखा था। इन सब बातों से हमें पता चलता है कि उनकी साहित्यिक समझ किस प्रकार से यथार्थ और जीवन की वास्तविकता को पहचानती थी।

वे 2 जुलाई 1900 को 20 रुपये मासिक पर सरकारी मास्टर नियुक्त हुए। उनकी पहली रचना 'ओलिवर क्रामवेल' उर्दू साप्ताहिक पत्र 'आवाज ए खल्क' में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुई। 1906 में उन्होंने एक बाल विधवा शिवरानी देवी से विवाह करके एक बड़ी सामाजिक रूढ़ि को तोड़ा। प्रेमचंद लेखन में ही नहीं सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में भी विद्रोह के प्रतीक थे। उनका प्रथम उर्दू कहानी संग्रह "सोजे वतन'' जुलाई 1908 ई. कानपुर से प्रकाशित हुआ। अंग्रेज कलक्टर ने इस कहानी संग्रह को राष्ट्रद्रोही घोषित कर दिया। इसी समय उन्होंने उपने मित्र मुंशी दयाराम निगम के सुझाव पर अपना छद्म नाम प्रेमचंद रखा। इस नाम से उनकी पहली कहानी 'बड़े घर की बेटी' उर्दू मासिक पत्रिका में 1910 में प्रकाशित हुई थी। आर्थिक दबाव के कारण प्रेमचंद ने हिन्दी में लिखना आरंभ किया। हिंदी में उनकी पहली कहानी 'सौत' सरस्वती पत्रिका के दिसम्बर 1915 के अंक में प्रकाशित हुई थी। उनका पहला कहानी संग्रह 'सप्त सरोज' जून 1917 में प्रकाशित हुआ। यहाँ एक बात गौर करने लायक है कि प्रेमचंद के लिए हिंदी और उर्दू दो अलग-अलग भाषा नहीं है। भाषा को उन्होंने देश की सामासिक संस्कृति की प्रक्रिया में ग्रहण किया था।

प्रेमचंद 1916 में इंटरमीडियेट की परीक्षा तथा 1919 में बी. ए. की परीक्षा में द्वितीय श्रेणी से उत्तीर्ण हुए। गोरखपुर में 8 फरवरी 1921 को वे गांधीजी का भाषण सुनकर इतने प्रभावित हुए कि 16 फरवरी 1921 को बीस वर्ष पुरानी सरकारी नौकरी से उन्होंने इस्तीफा दे दिया। इससे प्रेमचंद के दृढ़निश्चयी व्यक्तित्व का पता चलता है और ऐसा व्यक्तित्व ही रंगभूमि के सूरदास जैसे संघर्षशील पात्र की रचना कर सकता था। उन्होंने अपने आत्मकथात्मक लेख जीवनसार में लिखा है 'ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्मा जी के दर्शनों का यह प्रताप था कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो ही चार दिन बाद मैंने बीस साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।'' महात्मा गांधी का प्रभाव उन पर जीवनपर्यन्त बना रहा। महात्मा गांधी और प्रेमचंद दोनों एक सामान्य भारतीय मनुष्य में विश्वास रखते थे। स्वयं प्रेमचंद ने हंस के मई 1930 अंक में लिखा है "मैं महात्मा गांधी को सबसे बड़ा मानता हूँ। उनका भी उद्देश्य यही है कि मजदूर और काश्तकार सुखी हों और मैं भी लिखकर उनको उत्साह दे रहा हूँ। वे हिंदू मुसलमानों की एकता चाहते हैं, तो मैं हिंदी और उर्दू को मिलाकर हिंदुस्तानी बनाना चाहता हूँ।''

सरकारी नौकरी से इस्तीफे के बाद प्रेमचंद ने महावीर प्रसाद पोद्दार की मदद से चरखे एवं खद्दर बनाने का काम आरंभ किया। कुछ समय बाद उन्हें आर्थिक विवशता के कारण यह कार्य बंद करना पड़ा। इसी बीच उन्होंने कानपुर के मारवाड़ी स्कूल में हेडमास्टर के पद पर कार्य किया। इसके बाद 125 रुपये मासिक आय पर वे काशी विद्यापीठ में हेडमास्टर नियुक्त हुए। उन्होंने सरस्वती प्रेस नाम से एक प्रेस भी खोला परंतु व्यावसायिक निपुणता के अभाव में वे उसे नहीं चला सके। लखनऊ के दुलारे लाल भार्गव प्रकाशन संस्था गंगा पुस्तक माला में साहित्यिक सलाहकार का पद स्वीकार कर लिया तथा बाद में वे नवलकिशोर प्रेस के मालिक मुंशी विष्णु नारायण भार्गव के निमंत्रण पर माधुरी के संपादक बने। उनके संपादकत्व काल में माधुरी के जनवरी 1928 के अंक में कहानी 'मोटेराम शास्त्री' छपी तो लखनऊ के प्रसिद्ध वैद्य पं. शालिग्राम शास्त्री ने उन पर मानहानि का दावा कर दिया।

उनकी रचनाएँ 'प्रभा', 'स्वदेश', 'आज', 'श्री श्रद्धा', 'चाँद', 'सरस्वती', 'माधुरी' आदि पत्रिकाओं में नियमित रूप से प्रकाशित हो रही थीं। वे अपने विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति के लिए एक मासिक पत्रिका निकालना चाहते थे। इस पत्रिका का उद्देश्य राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में योगदान करना था। जयशंकर प्रसाद के सुझाव पर इन्होंने इस पत्रिका का नाम हंस रखा। 10 मार्च 1930 को हंस का पहला अंक प्रकाशित हुआ। पहले संपादकीय में उन्होंने लिखा, "भारत ने शांतिमय समर की भेरी बजा दी है। हंस भी मानसरोवर की शांति छोड़कर अपनी नन्हीं सी चोंच में चुटकी भर मिट्टी लिए हुए समुद्र पाटने आजादी की जंग में योग देने चला है।"

प्रेमचंद ने आर्थिक निश्चिंतता के लिए अनुवाद कार्य किया। उन्होंने 'बर्नाड शा मेटालिंक' आदि का अनुवाद किया। प्रेमचंद के साहित्य का विभिन्न भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में अनुवाद का कार्य उनके जीवन काल में ही आरंभ हो चुका था। 1928 में 'जगमोहन हरीलाल पारिख' ने उनसे निर्मला के गुजराती अनुवाद की अनुमति माँगी। मराठी लेखक 'आनंद राव जोशी' ने उनकी कहानियों का अनुवाद मराठी में किया। जर्मन और जापानी में उनके साहित्य का अनुवाद हुआ। प्रेमचंद 1934 में अजन्ता सिनेटोन के डायरेक्टर एम. भवनानी के आमंत्रण पर आठ हजार वार्षिक आय पर काम करने के लिए बंबई गए। परंतु बंबई की फिल्मी नगरी उन्हें आकर्षित नहीं कर सकी। फिल्म में अश्लीलता और मनोरंजन की बाजारू प्रवृत्ति की उन्होंने जमकर आलोचना की। 1936 में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ के सभापति के पद से दिए गए भाषण में उन्होंने कहा कि "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं क्योंकि अब और सोना मृत्यु का लक्षण है।"

प्रेमचंद अब थक चुके थे। जीवन संघर्ष का मुकाबला करते हुए उनकी शारीरिक शक्ति क्षीण हो रही थी। रोग और आर्थिक तंगी ने उन्हें असमय वृद्ध बना दिया था। इस अवस्था में भी वे 'महाजनी सभ्यता' लेख और 'मंगलसूत्र' उपन्यास लिख रहे थे। 8 अक्टूबर, 1936 को उनका देहांत हुआ। हिंदी साहित्य में एक युग का अवसान हुआ। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है, 'प्रेमचंद की आवश्यकताएँ हिंदुस्तान के एक साधारण किसान की आवश्यकताएँ थी। उन्हें पूरा करने के लिए उन्हें जी तोड़ परिश्रम करना पड़ा। उनकी प्रतिभा पूरे विकास पर थी, जब मंगलसूत्र को अधूरा छोड़कर उनकी लेखनी ने विश्राम लिया। वह जिंदगी से प्यार करते थे, मौत से न डरते थे, अपने देश और जनता की और भी सेवा करना चाहते थे।"

साहित्यिक योगदान

उपन्यास सम्राट प्रेमचंद के साहित्य में सहज भारतीय मनुष्य का अनुभव और सोच मिलती है। इस सहजता ने ही उन्हें तथ्यों और सत्यों को देखने की निर्मल दृष्टि प्रदान की है। इसलिए उनके उपन्यासों और कहानियों में मनुष्य मात्र के प्रति अखंड विश्वास और अगाध करुणा है।

यह विश्वास और करुणा उनमें भारतीय जीवन को अंतरंगता से महसूस करने से उत्पन्न हुई थी। प्रेमचंद के पात्र अधिकतर देहाती और कस्बाई जीवन से आते हैं। उन्होंने पहली बार किसान और सामान्य जन को साहित्य के केन्द्र में स्थापित किया। उनकी कहानी और उपन्यासों में एक वर्ग दुखित, शोषित और उत्पीड़ित का है तो दूसरा वर्ग शोषकों और उत्पीड़कों का है। उनके उपन्यासों का, तीसरा वर्ग मध्यवर्ग है। यह वर्ग बौद्धिक रूप से उत्तेजित होने के बावजूद शिथिल और अकर्मण्य है। प्रेमचंद की सहानुभूति स्वाभाविक रूप से हाशिए पर जी रहे पात्रों के प्रति है। ये पात्र बदतर व्यवस्था के बीच जीने के लिए विवश हैं परंतु अपराजेय हैं। इस प्रकार के पात्रों की मानसिकता गहरी, नैतिकता प्रबल सामाजिक चेतना से सरोकार रखती है।

प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में विराट अनुभूति को समग्रता में समेटने की कोशिश की है। इसलिए उनकी संवेदना का दायरा विशाल है। अज्ञेय ने प्रेमचंद का स्मरण करते हुए लिखा है, "उनकी शक्ति का स्रोत इसी में है कि उन्होंने मानवीय संवेदना का इतना विस्तार किया और अन्याय का विरोध करते हुए भी इस समवेदना का दायरा समय के साथ संकुचित नहीं होने दिया। परवर्ती उपन्यास बहुत सी बातों में विशेषतया रचना शिल्प की दृष्टि से प्रेमचंद से कहीं आगे है।'' लेकिन जिस महाकरुणा की बात हमने की है वह प्रेमचंद को महान उपन्यासकारों की कोटि में रखती है-वह उन्हें अब तक एक बड़े समाज के साथ जोड़े रख सकती है, जबकि उन से कुशलतर परवर्ती उपन्यासकारों का दायरा छोटा होता गया है। ध्यान देने की बात यह है कि अधिसंख्य समाज अतिनैतिक अथवा मूल्यविहीन समाज नहीं है, बल्कि समाज का वह मुख्य भाग है जो आज भी नीतिवान और नैतिकता में विश्वास करता है।

प्रेमचंद के साहित्यिक योगदान को जानने के लिए उनकी रचना यात्रा को रेखांकित करना आवश्यक होगा। उन्होंने अपनी रचना यात्रा में कहानी उपन्यास नाटक कों ही मुख्य रूप से अपनाया। परंतु साहित्यिक पत्रिका के लेख, निबंध और अनुवाद के रूप में उनका प्रचुर साहित्य उपलब्ध होता है। उनकी रचना का ब्यौरा निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है। 'असरारे मआविद' (1900), 'हम खुर्मा' व 'हमसबाब' (1906), रूठी रानी (1907) आदि। उनकी कहानियाँ उर्दू में प्रकाशित हुई थीं। सेवासदन की रचना भी उन्होंने पहले उर्दू में 'बजारे हुस्न' (1901) के नाम से की थी। हिंदी में उनकी प्रथम कहानी 'बड़े घर की बेटी' भी पहले उर्दू में लिखी गई थी। उनकी उपन्यास यात्रा सेवासदन (1918) के साथ प्रारंभ होती है। 'प्रेमाश्रम' (1922), 'रंगभूमि' (1925), 'निर्मला' (1925), 'कायाकल्प' (1926), 'प्रतिज्ञा' (1927), 'गबन' (1931), 'कर्मभूमि' (1932), 'गोदान' (1936) तथा 'मंगलसूत्र' (अपूर्ण) उपन्यास उनकी सर्जनात्मक उत्कृष्टता के प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने तीन सौ से अधिक कहानियों की रचना की। इन कहानियों में 'ईदगाह', 'पूस की रात' तथा 'कफन' जैसी कालजयी कहानियाँ भी शामिल हैं। उनकी कहानियाँ 'मानसरोवर' के सात भागों में संगृहीत है। इसके अतिरिक्त उन्होंने तीन नाटक भी लिखे: 'संग्राम' (1923), 'कर्बला' (1923) तथा 'प्रेम की बेदी' (1924)। 'साहित्य का उद्देश्य' उनके द्वारा रचे गए कुछ निबंधों का संग्रह है। प्रेमचंद के लेखन की बड़ी विशेषता यह है कि उर्दू और हिंदी के प्रति उनमें कोई आग्रही भाव नहीं था। उन्होंने दोनों भाषाओं को बोलचाल की सहजता में अपनाया था। इसलिए उनके साहित्य में दोनों भाषाओं की दूरियाँ मिटती हुई दिखाई पड़ती हैं।

प्रेमचंद की संपूर्ण रचना में सामाजिक और पारिवारिक रिश्तों का सघन परिवेश है। पात्र उसमें ही रहकर अपने दायित्व बोध का निर्वाह करना चाहता है। उसकी आकांक्षा मरजाद के साथ रहने की है। परंतु व्यवस्था की अमानवीयता उसके मरजाद को चुनौती देता है और उसे तोड़कर खंडित कर देता है। सामाजिक दायित्व बोध और मर्यादा के भाव के कारण उनके साहित्य में एक प्रकार का अंतर्विरोध मिलता है। इस अंतर्विरोध के कारण जहाँ वे सामाजिक विकास के पक्षधर हैं वहीं वे वैयक्तिक अवसरवादी मनोवृत्ति के तीव्र आलोचक ठहरते हैं। वस्तुत: एक कलाकार की तरह प्रेमचंद ने सामाजिक दुख दर्दो को ग्रहण किया था। इसलिए

समाज के संबंध में सैद्धांतिक कृत्रिमता का स्पर्श उनके लिए साहित्य में नहीं मिलता है। मानवीय संवेदना की स्वाभाविक स्वीकृति की मिठास से उनकी रचना तृप्त है। प्रेमचंद के साहित्य में इस बिंदु को नजरअंदाज करने पर वे कहीं संयुक्त परिवार के समर्थक अथवा औद्योगिकीकरण के विरोधी प्रतीत होते हैं।

'सेवासदन' में सुमन का विवाह एक दोहाजू के साथ होता है। सुमन की युवती आकांक्षा और अभिलाषा को उसका कमजोर पति संतुष्ट नहीं कर पाता है। सुमन की यह आकांक्षा उसे वेश्यांलय तक पहुँचाती है। उन्होंने इस उपन्यास में परिवार, विवाह, आदि सामाजिक संस्थाओं पर प्रश्न चिह्न लगाया है परंतु अपने नैतिक आग्रह के कारण इन संस्थाओं के परे किसी विकल्प को रचने में असफल रहे हैं। आश्रम अथवा सदन के रूप जो विकल्प पेश करते हैं वे जीवन की वास्तविकता से परे हैं। 'प्रेमाश्रम' में हिंदुस्तानी किसान की गरीबी और यातना को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। जमींदारी शोषण तंत्र के बीच किसान की मजबूरी और विद्रोह की सुलगती चिनगारी को उन्होंने गहराई से अनुभव किया था। 'रंगभूमि' में उन्होंने किसानी सभ्यता पर पड़ते औद्योगिक सभ्यता के दबाव के अनुभव को अंकित किया। इस उपन्यास में प्रेमचंद ने शासन तंत्र के सामने सूरदास के रूप में एक अपराजेय मानव की तस्वीर पेश की। सूरदास हारकर भी नहीं हारता है, वह व्यवस्था को लगातार चुनौती देता है। 'निर्मला' में एक स्त्री की त्रासदी को अभिव्यंजित किया गया है। वासना की जैविक जरूरत किस प्रकार से नैतिकता और मर्यादा के कृत्रिम तथा खोखले आग्रह को भंग करती है, निर्मला उपन्यास में इस द्वंद्व को चित्रित किया गया है।

'कायाकल्प' में प्रेमचंद ने सामंती बर्बरता और सामंती विलास को मुख्य रूप से चित्रित किया है। उपन्यास में सामंती वैभव और जन सामान्य के बीच की भयानक विषमता को दिखाया गया है। सामंत देश सेवा का ढोंग रचते हैं परंतु परिस्थिति आने पर उनकी वास्तविक मानसिकता प्रकट हो जाती है। विधवा विवाह का प्रश्न 'प्रतिज्ञा' में उठाया गया है। 'कर्मभूमि' में प्रेमचंद ने किसान द्वारा लगान बंदी के आंदोलन का वर्णन किया है। किसानों की दयनीय हालत और उसकी छिन्न-भिन्न होती गृहस्थी का भी उन्होंने बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। इस उपन्यास में प्रेमचंद ने दलितों के प्रति अपनी सहानुभूति अभिव्यक्त की है। लेखक ने अछूत आंदोलन का चित्र भी पाठक के सामने रखा है। वे अछूतों के प्रति हुए अमानुषिक व्यवहार की तीव्र भर्त्सना करते हैं। गोदान प्रेमचंद की रचनात्मक यात्रा का शिखर है। इस उपन्यास में उन्होंने पीढ़ी परिवर्तन और दम तोड़ते हुए किसान और किसानी संस्कृति का मार्मिक वर्णन किया है। इस उपन्यास में प्रेमचंद का किसान, शोषण चक्र के बीच मजदूर बनने के लिए विवश हुआ है। सामाजिक आवश्यकताएँ उसे कर्ज लेने के लिए उकसाती हैं और शोषण तंत्र चालू रहता है। लेखक ने महाजनी व्यवस्था के विरुद्ध आक्रोश को मुखर अभिव्यक्ति दी है। कहानियों में उन्होंने भारतीय समाज के सम्बन्धों, लाचारियों और निष्ठाओं की जटिल परत के भीतर चरित्रों के मर्म को उघाड़कर रख दिया है।

प्रेमचंद के साहित्यिक योगदान का मूल्यांकन इसी बात से किया जा सकता है कि उन्होंने उपन्यास और कहानी को किस्सागो की परंपरा से उठाकर ठोस सतह पर पहुँचा दिया है। प्रेमचंद पूर्व और प्रेमचंद परवर्ती उपन्यास की तुलना करने पर उनके युग प्रवर्तक व्यक्तित्व का पता मिलता है। पश्चिमी साहित्य में विशेषकर उपन्यास विधा को माँजने में कई युगों और कई लेखको को अनेकों वर्ष लग गए थे परंतु हिंदी का सौभाग्य रहा कि प्रेमचंद जैसे समर्थ कलाकार ने इस विधा को कुछ वर्षों में माँज कर प्रौढ़ रूप प्रदान किया। अंग्रेजी उपन्यास के डिकेंस थैकरे और गल्सवर्दी के युगों को हिंदी में ही वे एक साथ पार कर गए।

सेवासदन

कब लिखी गई-प्रेमचंद हिंदी और उर्दू दोनों भाषा में रचना करते थे। 'सेवासदन' हिंदी में उनकी प्रथम उपन्यास रचना है। सेवासदन हिंदी में प्रकाशित होने से पूर्व 'बजारे हुस्न' नाम से

उर्दू में छप चुका था। 'सेवासदन' का रचनाकाल 1918 ई. है। इसी समय हिंदी कविता में छायावाद का दौर प्रारंभ हुआ था। गाँधी का सक्रिय राजनीति में प्रवेश भी इसी काल में हुआ था। इस प्रकार प्रेमचंद, छायावाद और गाँधी का सत्याग्रह एक विशिष्ट युग की मनोभूमि की विविध अर्थच्छायाएँ हैं। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने एक साधारण स्त्री सुमन की आत्मव्यथा के बहाने वेश्यावृत्ति के दुष्परिणाम के साथ स्त्री की स्वाधीनता के प्रश्न को पाठक के सामने रखा है।

अंतर्वस्तु

सेवासदन से उपन्यास में आधुनिकता की प्रवृत्ति का प्रारंभ होता है। उपन्यास की आधुनिकता इस बात में है कि घटनाओं के माध्यम से जीवन के विभिन्न पहलूओं की पहचान की गई है। घटना और परिस्थिति समानांतर रूप से उपन्यास में एक संरचना को निर्मित करते हैं। घटना की अनिवार्य परिस्थिति निर्भरता ही उपन्यास को आधुनिक बनाती है। उपन्यास का आरंभ दारोगा कृष्णचंद्र की ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठा के वर्णन के साथ होता है। लेकिन बेटी के विवाह के दहेज के लिए उन्हें रिश्वत लेने पर मजबूर होना पड़ता है। इस खेल में कच्चे होने के कारण वे पकड़े जाते हैं और उन्हें जेल जाना पड़ता है। कृष्णचंद्र ईमानदारी से अपना अपराध स्वीकार कर लेते हैं। वास्तव में प्रेमचंद ने इस प्रसंग के माध्यम से पारंपरिक समाज की रूढ़ियों के बंधन में जकड़े हुए एक सहज मनुष्य की तस्वीर को सामने रखा है। कृष्णचंद्र की विवशता के लिए लेखक ने झूठी सामाजिक मर्यादा और खोखली नैतिकता को जिम्मेदार ठहराया है। प्रेमचंद ने इस खोखलेपन पर प्रहार करने का प्रयत्न किया है।

सुमन के विवाह के लिए कृष्णचंद्र को रिश्वत लेना पड़ा था। रिश्वत के पैसे इधर-उधर हो गए। पैसे के अभाव में सुमन का विवाह गजानंद नाम के एक दोहाजू और निम्न आय वाले व्यक्ति से होता है। सुमन के घर के ठीक सामने भोली वेश्या का घर था। सुमन के घर में अभाव और निर्धनता थी तथा भोली के घर साधन संपन्नता थी। भोली के पास पैसा मान मर्यादा और प्रतिष्ठा सभी कुछ था। प्रेमचंद ने इस उपन्यास में एक ही गली के दो मकान के बीच के फासले को ही वर्णित नहीं किया है, बल्कि दो जीवन मूल्यों के संदर्भ में उसका मूल्यांकन भी किया है। भोली के पास भौतिक साधन सम्पन्नता और शारीरिक आकर्षण का दिखावा है, परंतु आत्मा की स्निग्धता और गंभीरता नहीं है। सुमन की महत्वाकांक्षा के लिए भोली की भौतिक सपन्नता आदर्श थी।

आर्थिक तंगी ने सुमन और गजाधर के संबंधों में तनाव भर दिया। निरंतर कलह और अविश्वास से सुमन परेशान हो गई। एक दिन गजाधर उसे रात में देर से लौटने के कारण घर से निकाल देता है। पति से सुमन को दुत्कार, फटकार और आर्थिक तंगी के सिवा कुछ नहीं मिला। सुमन के लिए उसके शुभचिंतक पं. पद्म सिंह के दरवाजे भी बंद थे। उसके जीवन के सामने भोली के कोठे के अतिरिक्त कोई भी मार्ग शेष नहीं था। वह अंततः उसी के यहाँ आश्रय लेती है। प्रेमचंद गजाधर के अमानवीय व्यवहार को दिखाकर उसके वर्चस्ववादी मानसिकता की आलोचना करते हैं। इसके साथ ही पद्मसिंह जैसे मध्यवर्गीय पात्र की कायरता और पाखंडी नैतिकता पर भी व्यंग्य करते हैं। यदि पं. पद्म सिंह अपनी खोखली मर्यादा को महत्व न देकर सुमन की मर्यादा की रक्षा के लिए थोड़ा भी साहस दिखाते तो सुमन के जीवन की गति ही दूसरी होती। इतना ही नहीं शांता के विवाह के प्रसंग में भी उन्होंने दृढ़तापूर्वक भाई मदन सिंह के अन्याय का प्रतिरोध नहीं किया। प्रेमचंद शहरी पात्रों में पत्र के संपादक प्रभाकर राव की कथनी और करनी के बीच के फर्क को स्पष्ट करते हैं। वस्तुतः प्रेमचंद मध्यवर्गीय जीवन पद्धति और नैतिकता के दोहरे प्रतिमानों पर व्यंग्य करते हैं।

सुमन के वेश्या बन जाने से कोठे पर बहार आ गयी। शहर के नवधनाढ्य और पुराने सामंत उसके गायन, नृत्य और शारीरिक सौंदर्य पर मुग्ध थे। देह के बाजार में बाहरी आकर्षण से सुमन का मन ऊबने लगता है। वह अब अपने स्वाभाविक जीवन को प्राप्त करना चाहती है।

लेकिन एक बार पैर आगे बढ़ा देने के बाद पीछे लौटना उसके लिए उतना ही मुश्किल था। सुमन के इस नारकीय जीवन में जीने के लिए विवश होने पर बिट्ठलदास और पद्म सिंह की अन्तश्चेतना में अपराध बोध है। वे वेश्यावृत्ति जैसे घृणित प्रथा को समाज से दूर करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

बिट्ठलदास और पद्मसिंह म्युनिसिपल बोर्ड में वेश्यावृति रोकने के लिए प्रस्ताव पास करना चाहते हैं। इस प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष में सदस्यों के मत विभाजित हैं। यहीं नहीं हिंदू और मुस्लिम संप्रदाय के आधार पर भी राजनीति बँटी हुई है। स्थानीय राजनीति के एक चित्र द्वारा प्रेमचंद राष्ट्रीय राजनीति के चरित्र को प्रतिबिंबित करते हैं। पूँजीपति का वर्ग ही अलग है। वह ऐसे प्रगतिशील सामाजिक मुद्दों का विरोध करता है। उसके लिए वेश्यालय मनोरंजन का साधन है, जहाँ वह अपनी वासना की पूर्ति करता है। स्वार्थ और कुत्सित मनोवृत्ति के कारण बलभद्र, सेठ चिम्मनलाल और पं. दीनानाथ जैसे सदस्य इस प्रस्ताव के विरुद्ध हैं। इसके साथ-साथ प्रेमचंद यह भी बताना नहीं भूलते हैं कि संस्थाओं पर पूँजीपति का वर्चस्व और प्रभाव किस प्रकार से बढ़ रहा था। दूसरे शब्दों में कहें तो पूँजीपति देश की राजनीति तय कर रहे थे।

वेश्याएँ स्वयं ही सामाजिक सुधार कार्यक्रमों में हिस्सा लेती हैं। सुमन तो पहले ही विधवाश्रम में जाकर वृद्ध महिलाओं के सेवा में जुट गई थी। अन्य वेश्याएँ भी इस कलंकित जीवन से निकलने के लिए छटपटा रही थीं। सुधार कार्यक्रम में उन लोगों ने भी हिस्सा लिया जो प्रस्ताव का विरोध कर रहे थे। प्रेमचंद का अखंड विश्वास मानव मात्र की पीड़ा की सहानुभूति में है। उनके विश्वास में कोई मनुष्य गलत नहीं होता परिस्थिति के कारण उसमें अच्छे और बुरे आचरण का विकास होता है। उपन्यास के अंत में कृषि समिति, संगीत सभा तथा सेवासदन की स्थापना होती है।

प्रेमचंद उपन्यास में कुछ प्रसंगों की योजना करते हैं, जो हृदय में कचोट पैदा करते हैं। कृष्णचंद्र के मानसिक असंतुलन और उसकी मृत्यु के प्रसंग के बीच शांता की मनःस्थिति का प्रामाणिक विवरण ऐसा ही प्रसंग है। शांता बिदाई के समय मुनिया गाय से लिपटकर रोती है। यह प्रसंग साधारण होने पर भी प्रेमचंद की विराट सहृदयता और परिवेश के साथ आत्मीयता का परिचायक है। बेटी के विदा होने का ऐसा मार्मिक प्रसंग केवल कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में ही मिलता है। जहाँ शकुन्तला अपने द्वारा पाले हुए मृग शावक से विदा लेती है। एक बड़े रचनाकार की विशिष्टता बड़ी-बड़ी बातों में नहीं होती है। वह साधारण से साधारण लगने वाले प्रसंगों को भी मार्मिकता से भर देता है।

उपन्यास में छायावादी रोमांचकता और भावुकता के प्रसंग भरे पड़े हैं। गंगा के किनारे सदनसिंह एक स्वप्न का नीड़ बनाता है। लेकिन यह स्वप्नलोक जमीनी वास्तविकता से अलग नहीं है। सदन सिंह के स्वप्न की विशिष्टता इस बात में है कि वह सामान्य लोगों के बीच प्रयत्नशील रहकर अपना स्वप्न साकार करता है। मल्लाहों के साथ कर्मठतापूर्वक कार्य करके अपने जीवन का साधन जुटाता है। शांता के मिल जाने पर उसकी गृहस्थी बस जाती है। माता पिता भी उसे स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन सुमन एक प्रश्न चिन्ह की तरह पाठक के सामने खड़ी रहती है। अपने आत्म सम्मान की रक्षा के लिए वह घर छोड़ देती है। उसका स्थान समाज में कहाँ है? स्त्री अपनी स्वतंत्रता की रक्षा केवल समर्पित होकर अथवा सेवाभाव से ही कर सकती है। यह प्रश्न उपन्यास में गूँजते रहते हैं।

महत्व

आज के बाजारवाद के दौर में प्रेमचंद के सेवासदन का महत्व और भी अधिक हो गया है। बाजार और पूँजी के प्रपंच के बीच नारी को उपभोग की वस्तु समझा जा रहा है। नारी के शरीर का उपयोग विज्ञापन में उत्पाद को बेचने के लिए किया जा रहा है। ऐसे कठिन दौर में

प्रेमचंद की यह रचना समाज को उन आकर्षणों से सचेत रहने का संदेश देती है। 'सेवासदन' में सौन्दर्य को बाजार में बेचने का गहरा प्रतिरोध किया गया है। वस्तुत: बाजार में शरीर को बेचने के क्रम में आत्मा को भी गिरवी रख दिया जाता है। सुमन की संपूर्ण छटपटाहट इसी को लेकर है। प्रेमचंद तमाम आर्थिक संकट और कलह के बावजूद पारिवारिक जीवन को समाज के लिए श्रेष्ठ मानते हैं। प्रेमचंद का विरोध सामाजिक संस्थान के शोषण से है, सामाजिक संस्था से नहीं है। वे विवाह और परिवार जैसे संस्थान में जनतांत्रिक गूल्यों की स्थापना के पक्षधर हैं। वे संस्था को तोड़ने की अपेक्षा उसके ढाँचे को मानवीय बनाने पर बल देते हैं।

प्रेमचंद इस उपन्यास में भौतिकता के आग्रह और धन के प्रति लोभ की भी आलोचना करते हैं। वास्तव में ये आग्रह जीवन की सहजता और स्वाभाविकता को नष्ट करते हैं। प्रेमचंद हमेशा सहज मानवीय भाव के प्रति सहानुभूति रखते हैं। वे मनुष्य को मौलिकता में पहचानने पर बल देते हैं। इसलिए वे धन के आडंबर, खोखली मान्यता, झूठी मर्यादा को खारिज करते हैं। और यही कारण है कि उनके पात्र अपनी अनुभव यात्रा में इन आडंबरों से आकर्षित होते हैं, लेकिन अंतत: उनमें वितृष्णा का भाव पैदा होता है। वे लोभ को अपने संतोष द्वारा काबू करते हैं।

जिस समाज में लोभ और अनैतिक रूप से धन कमाने की प्रतिस्पर्द्धा हो उस समाज के लिए प्रेमचंद का सहजता का संदेश महत्व रखता है। उनके लिए मनुष्य के पहचान का आधार धन न होकर मानवीय विवेक होना चाहिए। नारी की स्वतंत्रता और स्वाभिमान की रक्षा किसी भी प्रगतिशील समाज के लिए अनिवार्य है। उसको पृष्ठभूमि में रखकर समाज आगे नहीं बढ़ सकता है। प्रेमचंद नारी स्वतंत्रता को दोनों प्रकार के अतिवाद से सुरक्षित रखना चाहते हैं। एक प्रकार का बंधन उसे परिवार में जकड़कर उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधक बनता है। दूसरे प्रकार का अतिवाद उसकी स्वतंत्रता को विलास का रास्ता दिखाता है। उसे उपभोग की वस्तु बनाता है। प्रेमचंद इन दोनों प्रकारों के छल से दूर होकर विवेक द्वारा नारी जीवन को कुंठामुक्त रखना चाहते हैं।

भाषा शैली

'सेवासदन' प्रेमचंद का सुगठित उपन्यास है। इस उपन्यास का केंद्र बिंदु कृष्णचंद्र का परिवार है। पाठक का ध्यान सुमन पर केंद्रित रहता है। उपन्यास भाव और आदर्श से हटकर परिस्थितियों से कथा का विन्यास धारण करता है। इसके बाद घटनाएँ प्रारंभ होती हैं। ये घटनाएँ सामाजिक जीवन के यथार्थ के एक-एक पहलू को परत-दर-परत उघाड़ती चलती हैं। उपन्यास में कृष्णचंद्र बेटी के विवाह के लिए रिश्वत लेते हैं। उसके बाद जेल जाते हैं। उनकी पत्नी को मैके जाना पड़ता है। धन के अभाव में सुमन का विवाह दोहाजू से होता है। आर्थिक संकट और पति के अविश्वास से पीड़ित होकर निस्सहाय सुमन वेश्या हो जाती है। इस प्रकार हम पाते हैं कि घटनाओं में उपन्यास का मर्म छिपा हुआ है। घटनाओं का आधार वास्तविक सामाजिक संदर्भ है। जीवन और समाज में फैली विविध विषय वस्तुओं को प्रेमचंद उठाते हैं, गौर करने लायक बात यह है कि ये विषय वस्तु घटनाओं के रूप में उनके उपन्यास में आती हैं। लेकिन घटनाओं की पहुँच केवल पात्र तक सीमित न होकर फैल जाती है, और सामाजिक स्थिति की पहचान कराती है। सेवासदन में सुमन के व्यक्तिगत जीवन से उपन्यास शुरू होता है लेकिन अंत तक आते-आते सुमन की समस्या सामाजिक समस्या का रूपाकार धारण कर लेती है। और अंत में उपन्यास में वेश्याओं की समस्या पर ध्यान केंद्रित हो जाता है।

'सेवासदन' की भाषा में काव्यात्मक प्रभाव अनेक स्थलों पर मिलता है। पात्रों के मनोभाव में परिवर्तन तेजी से होता है। घटनाएँ पात्रों के जीवन को प्रभावित करती हैं और उसी के अनुसार भाषा की भंगिमा भी बदलती है। गृहस्थ सुमन, वेश्या सुमन और सेवासदन की शिक्षिका सुमन की भाषा में परिवर्तन है। भाषा के साथ-साथ अर्थ भी बदले हुए हैं। वस्तुत:

प्रेमचंद की भाषा घटना से अर्थ पाती है। भाषा के द्वारा वातावरण को विश्वसनीय बनाया गया है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति तभी संभव है, जब जीवन की विविधता के बीच से मानवीय संबंध और मानवीय आवेग को पहचानने की कोशिश की जाती है। 'सेवासदन' में पात्रों के अनुभव वैविध्य को संयोजित किया गया है। इसलिए भाषा का संपर्क विराट जनसमूह और समाज से बना हुआ है। यह प्रवृत्ति भाषा को रचनात्मक बनाती हुई प्रतीत होती है। अनुभव की विविधता के कारण भाषा का शब्द भंडार भी काफी समृद्ध है। उपन्यास में गृहस्थ जीवन, राजनीतिक दाँवपेच, आदि कई प्रकार की शब्दावली ली गई है। प्रेमचंद हिंदी और उर्दू के मिश्रित भाषा प्रयोग से उपन्यास में भाषा की सहजता बनाए हुए हैं। उनकी भाषा की वास्तविक ताकत तद्भव और देशज शब्दों के प्रयोग में मिलती है।

सेवासदन उपन्यास को पढ़ने के लिए आवश्यक है कि परिस्थिति की अनिवार्यता के संदर्भ में घटनाओं को समझें और फिर उससे उभरने वाले प्रभाव का समुचित मूल्यांकन करें। रिश्वत लेना अथवा वेश्यावृत्ति को अपनाना सामान्यत: नैतिकता के विरुद्ध माना जाता है, लेकिन जब कृष्णचंद्र और सुमन की परिस्थितियों को देखते हैं तो नैतिकता पर ही प्रश्न चिह्न लगता हुआ प्रतीत होता है। उपन्यास पढ़ते हुए पात्र के व्यक्तिगत मनोभाव और मनोवेग को भी समझने का प्रयत्न करें। क्योंकि इसी के कारण पात्र के चरित्र में नाटकीय परिवर्तन होता है। वेश्या के जीवन की समृद्धि और ऐश्वर्य को निकट से देखने के बाद सुमन में इस जीवन के प्रति तीव्र वितृष्णा उत्पन्न होती है। उसके बाद वह सहज और सामान्य जीवन को ही श्रेष्ठ मानती हैं। वह सेवा के उच्चतर आदर्श को अपनाती है।

उपन्यास में राजनीति और समाज का भी प्रसंग है। स्थानीय राजनीति में किस प्रकार के लोगों का वर्चस्व है, उसे भी समझने का प्रयत्न करें। क्योंकि स्थानीय राजनीति देश की राजनीति का प्रतीक है। प्रेमचंद ने राष्ट्रीय राजनीति को स्थानीय संदर्भ में प्रस्तुत किया है। उपन्यास के संदर्भ को विवेचित करते हुए मध्यवर्गीय मानसिकता को भी समझने की चेष्टा करें। वस्तुत: मध्यवर्ग की बौद्धिकता और प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण सामाजिक उत्थान मार्ग प्रशस्त होता है। लेकिन मध्यवर्ग की निजता, कायरता और झूठी मर्यादा उसे साहसिक कदम उठाने से रोकती है। सेवासदन उपन्यास पढ़ते हुए इस बिंदु को भी पहचानने का प्रयत्न करें।

शब्दावली

मुखालिफत - विरोध
मकरूह - घृणा
असमत फरोशी - देह व्यापार
मरकज - केंद्र
हदूद - सीमा
साबिका - ताल्लुक
दस्तरख्वान - दरवाजे
लुकमें - खाद्य पदार्थ
इसलाह - संशोधन
गुजरानी - जीवनयापन
इखराज - खर्च
तहरीक - प्रस्ताव
कौमी - जाति

इखलाक - मेल मिलाप
पोशीदा - गुप्त
गोशे - एकांत स्थान
मुरफिजा - मुख्य भाग
इत्तहाद - दोस्ती
मुस्तहक - हकदार
गोशे ए-तारीक - सूना स्थान
एहतमाम - सम्मान
आरास्ता - सुसज्जित
ताईद - पक्षपात
मातहत - अधीनता में काम करने वाला।
रेहना - बंधक
नालिश - अभियोग
निखट्टू - संवेदनहीन
मौलूद - मुहम्मद साहब का जन्म उत्सव
ताकीद - जोर के साथ किसी बात की आशा या अनुरोध
मुरीद - शिष्य
हुस्न शिनास - सौन्दर्य को खोजने वाले
अम्बोह - मंडली
रूमज - रहस्य
पाकबाजी - पवित्रता
तासीर - प्रभाव
सुथनी - एक प्रकार का फल
बदजन - नीच
मफाद - लाभ
अलहदा - अलग
चिरागपा - चिराग की रोशनी
जरायमपेशा - गंदा व्यवसाय
जहीन - समझदार
तजबीन - सम्मति
गोश ए-लहद - एकांत में
दिलपजीर - हृदयस्पर्शी
तबक्को - भरोसा
आफताब - सूर्य का प्रकाश
इमकाम - बस में नहीं होना

सिरमगजन	-	माथापच्ची
कजफहम	-	स्वार्थी
नाजिल	-	ऊपर से उतरने वाला
पाकनफीसी	-	पवित्र
मस्तूरात	-	औरतें
उजलत	-	जल्दी
तास्सुव	-	कट्टरपन
इत्तिफाक	-	सौभाग्य
तरमीम	-	सुधार
तसलीम	-	स्वीकृति
बेतकल्लुफी	-	स्पष्टवादी
खसलत	-	आदत
निसाखातिर	-	बेफिक्र
महनामथ	-	उधम मचाना
बेइल्म	-	बुद्धिहीन

व्याख्या के लिए अंश

1. जन्म भर निर्लोभ रहने के बाद इस समय अपनी आत्मा का बलिदान करने में दारोगाजी को बड़ा दुःख होता था। वह सोचते थे, यदि यही करना था तो आज से पच्चीस साल पहले ही क्यों न किया. अब तक सोने की दीवार खड़ी कर दी होती। इलाके ले लिये होते। इतने दिनों तक त्याग का आनन्द उठाने के बाद बुढ़ापे में यह कलंक! पर मन कहता था, इसमें तुम्हारा क्या अपराध? तुमने जब तक निभ सका, निबाहा। भोग बिलास के पीछे अधर्म नहीं किया, लेकिन जब देश, काल, प्रथा, और अपने बंधुओं का लोभ तुम्हें कुमार्ग की ओर ले जा रहे हैं, तो तुम्हारा दोष? तुम्हारी आत्मा अब भी पवित्र है। तुम ईश्वर के सामने अब भी निरपराध हो। इस प्रकार तर्क करके दारोगाजी ने अपनी आत्मा को समझा लिया।

2. सुमन ने सोचा, मैं कैसी हतभागिनी हूँ। एक वह स्त्रियाँ है, जो आराम से तकिए लगाए सो रही हैं, लौंडिया पैर दबाती हैं। एक मैं हूँ कि यहाँ बैठी हुई अपने नसीब को रो रही हूं। मैं यह सब दुःख क्यों झेलती हूँ? एक झोपड़ी में टूटी खाट पर सोती हूँ, रूखी रोटियाँ खाती हूं। नित्य घुड़कियाँ सुनती हूं, क्यों? मर्यादा-पालन के लिए ही न? लेकिन संसार मेरे इस मर्यादा-पालन को क्या समझता है? उसकी दृष्टि में इसका क्या मूल्य है? क्या यह मुझसे छिपा हुआ है? दशहरे के मेले में, मोहर्रम के मेले में, फूल बाग में, मन्दिरों में, सभी जगह तो देख रही हूँ। आज तक मैं समझती थी कि कुचरित्र लोग ही इन रमणियों पर जान देते हैं, किन्तु आज मालूम हुआ कि उनकी पहूँच सुचरित्र और सदाचार-शील पुरुषों में भी कम नहीं है। वकील साहब कितने सज्जन आदमी हैं, लेकिन आज वह भोलीबाई पर कैसे लट्टू हो रहे थे।

3. बिट्ठलदास–सुमन, तुम सच कहती हो, बेशक हिन्दू जाति अधोगति को पहुँच गई, और अब तक वह कभी की नष्ट हो गई होती, पर हिन्दू स्त्रियों ही ने अभी तक उसकी मर्यादा की रक्षा की है। उन्हीं के सत्य और सुकीर्ति ने उसे बचाया है। केवल हिन्दुओं की लाज रखने के लिए लाखों स्त्रियाँ आग में भस्म हो गई हैं। यही वह विलक्षण भूमि

है, जहाँ स्त्रियाँ नाना प्रकार के कष्ट भोगकर, अपमान और निरादर सहकर पुरुषों की अमानुषीय क्रूरताओं को चित्त में न लाकर हिन्दू जाति का मुख उज्ज्वल करती थीं। यह साधारण स्त्रियों का गुण था और ब्राह्मणियों का तो पूछना ही क्या? पर शोक है कि वही देवियाँ अब इस भाँति मर्यादा का त्याग करने लगीं। सुमन, मैं स्वीकार करता हूँ कि तुमको घर पर बहुत कष्ट था। माना कि तुम्हारा पति दरिद्र था, क्रोधी था, चरित्रहीन था, माना कि उसने तुम्हें अपने घर से निकाल दिया था, लेकिन ब्राह्मणी अपनी जाति और कुल के नाम पर यह सब दुःख झेलती है।

4. बिट्ठलदास–अगर तुम्हें यह आशा है कि यहाँ सुख से जीवन कटेगा, तो तुम्हारी बड़ी भूल है। यदि अभी नहीं तो थोड़े दिनों में तुम्हें अवश्य मालूम हो जाएगा कि यहाँ सुख नहीं है। सुख सन्तोष से प्राप्त होता है, विलास से सुख कभी नहीं मिल सकता।

सुमन–सुख न सही, यहाँ पर मेरा आदर तो है! मैं किसी की गुलाम तो नहीं हूँ।

बिट्ठलदास–यह भी तुम्हारी भूल है। तुम यहाँ चाहे और किसी की गुलाम न हो, पर अपनी इन्द्रियों की गुलाम तो हो? इन्द्रियों की गुलामी उस पराधीनता से कहीं दुःखदायिनी होती है। यहाँ तुम्हें न सुख मिलेगा, न आदर हाँ, कुछ दिनों भोग-विलास कर लोगी, पर अन्त में इससे भी हाथ धोना पड़ेगा। सोचो तो, थोड़े दिनों तक इन्द्रियों को सुख देने के लिए तुम अपनी आत्मा और समाज पर कितना बड़ा अन्याय कर रही हो?

5. महाशय बिट्ठलदास इस समय ऐसे खुश थे मानो उन्हें कोई सम्पत्ति मिल गई हो। उन्हें विश्वास था कि पद्मसिंह इस जरा से कष्ट से मुँह न मोड़ेंगे, केवल उनके पास जाने की देर है। वह होली के कई दिन पहले से शर्माजी के पास नहीं गये थे। यथाशक्ति उनकी निन्दा करने में कोई बात उठा न रखी थी, जिस पर कदाचित् अब वह मन मे लज्जित थे, जिस पर भी शर्माजी के पास जाने में उन्हें जरा भी संकोच न हुआ। उनके घर की ओर चले।

रात के दस बज गये थे। आकाश में बादल उमड़े हुए थे, घोर अंधकार छाया हुआ था। लेकिन राग-रंग का बाजार पूरी रौनक पर था। अट्टालिकाओं से प्रकाश की किरणें छिटक रही थीं। कहीं सुरीली तानें सुनाई देती थीं, कहीं मधुर हास्य की ध्वनि, कहीं आमोद-प्रमोद की बातें। चारों ओर विषय-वासना अपने नग्न रूप में दिखाई दे रही थी।

5. इसमें संदेह नहीं कि वह विलास की सामग्रियों पर जान देती थी, लेकिन इन सामग्रियों की प्राप्ति के लिए जिस बेहयाई की जरूरत थी, वह उसके लिए असह्य थी और कभी-कभी एकान्त में वह अपनी वर्तमान दशा की पूर्वावस्था से तुलना किया करती थी। वहाँ यह टीमटाम न थी, किन्तु वह अपने समाज में आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। वह अपनी पड़ोसिनों के सामने अपनी कुलीनता पर गर्व कर सकती थी, अपनी धार्मिकता और भक्तिभाव का रोब जमा सकती थी। किसी के सम्मुख उसका सिर नीचा नहीं होता था। लेकिन यहाँ उसके सगर्व हृदय को पग-पग पर लज्जा से मुँह छिपाना पड़ता था। उसे ज्ञात होता था कि मैं किसी कुलटा के सामने भी सिर उठाने योग्य नहीं हूँ। जो निरादर और अपमान उसे उस समय सहने पड़ते थे, उनकी अपेक्षा वहां की प्रेमवार्ता और आंखों की सनकियां अधिक दुःखजनक प्रतीत होती थीं और उसके भावपूर्ण हृदय पर कुठाराघात कर देती थीं। तब उसका व्यथित हृदय पद्मसिंह पर दाँत पीसकर रह जाता था। यदि उस निर्दय मनुष्य ने अपनी बदनामी के भय से मेरी अवहेलना न की होती, तो मुझे इस पापकुण्ड में कूदने का साहस न होता। अगर मुझे चार दिन भी पड़ा रहने देते, तो कदाचित् मैं अपने घर लौट जाती अथवा

वह (गजाधर) ही मुझे मना ले जाते, फिर उसी प्रकार लड़-झगड़कर जीवन के दिन काटने-कटने लगते।

7. कुछ देर तीनों आदमी चुप बैठे रहे। मदनसिंह अपने भाई को कृतघ्न समझ रहे थे। बैजनाथ को चिन्ता हो रही थी कि मदनसिंह का पक्ष ग्रहण करने में पद्मसिंह बुरा तो न मान जायेंगे। और पद्मसिंह अपने बड़े भाई की अप्रसन्नता के भय से दबे हुये थे। सिर उठाने का साहस नहीं होता था। एक ओर भाई की अप्रसन्नता थी, दूसरी ओर सिद्धान्त और न्याय का बलिदान। एक ओर अंधेरी घाटी थी, दूसरी ओर सीधी चट्टान, निकलने का कोई मार्ग न था। अन्त में उन्होंने डरते-डरते कहा–भाई साहब, आपने मेरी भूलें कितनी बार क्षमा की हैं। मेरी एक ढिठाई और क्षमा कीजिये। आप जब नाच के रिवाज को दूषित समझते हैं, तो उस पर इतना जोर क्यों देते है?

8. पद्मसिंह ने सोचा, यह लोग तो अपने मन की करेंगे पर देखूँ कि किन युक्तियों से अपना पक्ष सिद्ध करते हैं। भैया को मुंशी बैजनाथ पर अधिक विश्वास है, इस बात से भी उन्हें बहुत दुःख हुआ। अतएव वह निःसंकोच होकर बोले–तो यह कैसे मान लिया जाए कि विवाह आनन्दोत्सव ही का समय है? मैं तो समझता हूँ, दान और उपकार के लिए इस से उत्तम और कोई अवसर न होगा। विवाह एक धार्मिक व्रत है, एक आत्मिक प्रतिज्ञा है। जब हम गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करते हैं, जब हमारे पैरों में धर्म की बेड़ी पड़ती है, जब हम सांसारिक कर्त्तव्य के सामने अपने सिर को झुका देते है, जब जीवन का भार और उनकी चिन्ताएं हमारे सिर पर पड़ती हैं; तो ऐसे पवित्र संस्कार पर हमको गाम्भीर्य से काम लेना चाहिए। यह कितनी निर्दयता है जिस समय हमारा आत्मीय युवक ऐसा कठिन व्रत धारण कर रहा हो, उस समय हम आनन्दोत्सव मनाने बैठें। वह इस गुरुतर भार से दबा जाता हो और हम नाच-रंग में मस्त हों। अगर दुर्भाग्य से आजकल यही उलटी प्रथा चल पड़ी है, तो क्या आवश्यक है कि हम भी उसी लकीर पर चलें? शिक्षा का कम-से-कम इतना प्रभाव तो होना चाहिए कि धार्मिक विषयों में हम मूर्खों की प्रसन्नता को प्रधान न समझें।

9. हमको अपने संगीत पर गर्व है, जो लोग इटली और फ्रांस के संगीत से परिचित हैं, वे भी भारतीय गान के बाद, रस और आनन्दमय शान्ति के कायल हैं, किन्तु काल की गति! वही संस्था जिसकी जड़ खोदने पर हमारे कुछ सुधारक तुले हुए हैं, इस पवित्र–इस स्वर्गीय धन की अध्यक्षिणी बनी हुई है। क्या आप इस संस्था का सर्वनाश करके अपने पूर्वजों के अमूल्य धन को इस निर्दयता से धूल में मिला देंगे? क्या आप नहीं जानते थे कि हममें आज जो जातीय और धार्मिक भाव शेष रह गये हैं, उनका श्रेय हमारे संगीत को है, नहीं तो आज राम, कृष्ण और शिव का कोई नाम भी न जानता! हमारा बड़े-से-बड़ा शत्रु भी हमारे हृदय से जातीयता का भाव मिटाने के लिए इससे अच्छी और कोई चाल नहीं सोच सकता। मैं यह नहीं कहता कि वेश्याओं से समाज को हानि नहीं पहुँचती। कोई समझदार आदमी ऐसा कहने का साहस नहीं कर सकता। लेकिन राग का निवारण मौत से नहीं, दवा से होता है। कोई कुप्रथा उपेक्षा या निर्दयता से नहीं मिटती। उसका नाश शिक्षा, ज्ञान और दया से होता है। स्वर्ग में पहुंचने के लिए कोई सीधा रास्ता नहीं है। वैतरणी का सामना अवश्य करना पड़ेगा। जो लोग समझते हैं कि वह किसी महात्मा के आशीर्वाद से कूदकर स्वर्ग में जा बैठेंगे, वह उनसे अधिक हास्यापद नहीं, जो समझते हैं कि चौक से वेश्याओं को निकाल देने से भारत के सब दुःख-दारिद्र्य मिट जायेंगे और चौक से नवीन सूर्य का उदय हो जायेगा।

10. अब तक उमानाथ ने सुमन के आत्मपतन की बात जाह्नवी से छिपायी थी। वह जानते थे कि स्त्रियों के पेट में बात नहीं पचती। यह किसी-न-किसी से अवश्य ही कह देगी। और बात फैल जाएगी। जब जाह्नवी के स्नेह व्यवहार से वह प्रसन्न होते, तो उन्हें उससे

सुमन की कथा कहने की बड़ी तीव्र आकांक्षा होती। हृदय सागर में तरंगें उठने लगतीं, लेकिन परिणाम को सोचकर रुक जाते थे। आज कृष्णचन्द्र की कृतघ्नता और जाह्नवी की स्नेहपूर्ण बातों ने उमानाथ को नि:शंक कर दिया, पेट में बात न रुक सकी। जैसे किसी नाली में रुकी हुई वस्तु भीतर से पानी का बहाव पाकर बाहर निकल पड़े उन्होंने जाह्नवी से सारी कथा बयान कर दी। जब रात को उनकी नींद खुली, तो उन्हें अपनी भूल दिखाई दी, पर तीन कमान से निकल चुका था।

11. कुंवर - जी हां, मुझे तो अपना सितार ही पसन्द है। हारमोनियम और प्यानो सुनकर मुझे मतली-सी होने लगती है। इन अंग्रेजी बाजों ने हमारे संगीत को चौपट कर दिया, इसकी चर्चा ही उठ गई। जो कुछ असर रह गई थी वह थिएटरों ने पूरी कर दी। बस, जिसे देखिए गजल और कव्वाली की रट लगा रहा है। थोड़े दिनों में धनुर्विद्या की तरह इसका भी लोप हो जायेगा। संगीत से हृदय में पवित्र भाव पैदा होते हैं। जब से गाने का प्रचार कम हुआ, हम लोग भावशून्य हो गये और इसका सबसे बुरा असर हमारे साहित्य पर पड़ा है। कितने शोक की बात है जिस देश में रामायण जेसे अमूल्य ग्रन्थ की रचना हुई, सूरसागर जैसा आनन्दमय काव्य रचा गया, उसी देश में अब साधारण उपन्यासों के लिए हमको अनुवाद का आश्रय लेना पड़ता है। बंगाल और महाराष्ट्र में अभी गाने का कुछ प्रचार है, इसीलिए वहाँ भावों का ऐसा शौथिल्य नहीं है, वहाँ रचना और कल्पना-शक्ति का ऐसा अभाव नहीं है। मैने तो हिन्दी साहित्य को पढ़ना ही छोड़ दिया। अनुवादों को निकाल डालिए, तो नवीन हिन्दी साहित्य में हरीशचन्द्र के दो-चार नाटकों और चन्द्रकान्ता सन्तति के सिवा और कुछ रहता ही नहीं। संसार का कोई साहित्य इतना दरिद्र न होगा। उस पर तुर्रा यह है कि जिन महानुभावों ने दो-एक अंग्रेजी-ग्रन्थों के अनुवाद मराठी और बंगला अनुवादों की सहायता से कर लिये, वे अपने को धुरन्धर साहित्यज्ञ समझने लगे हैं। लेकिन वे अपने को हिन्दी का कालिदास समझते हैं। एक महाशय ने 'मिल' के दो ग्रन्थों का अनुवाद किया है और वह भी स्वतन्त्र नहीं, बल्कि गुजराती, मराठी आदि अनुवादों के सहारे; पर वह अपने मन में ऐसे सन्तुष्ट हैं; मानो उन्होंने हिन्दी साहित्य का उद्धार कर दिया। मेरा तो यह निश्चय होता जाता है कि अनुवादों से हिन्दी का अपकार हो रहा है। मौलिकता को पनपने का अवसर नहीं मिलने पाता।

12. विचारों की स्वतन्त्रता विद्या, संगीत और अनुभव पर निर्भर होती है। सदन इन सभी गुणों से रहित था। यह उसके जीवन का वह समय था, जब हमको अपने धार्मिक विचारों पर, अपनी सामाजिक रीतियों पर एक अभिमान-सा होता है। हमें उनमें कोई त्रुटि नहीं दिखाई देती, जब हम अपने धर्म के विरुद्ध कोई प्रमाण या दलील सुनने का साहस नहीं कर सकते, तब हममें क्या और क्यों का विकास नहीं होता। सदन को घर से निकल भागना स्वीकार होता, इसके बदले कि वह घर की स्त्रियों को गंगा नहलाने ले जाए। अगर स्त्रियों की हँसी की आवाज कभी मरदाने में जाती, तो वह तेवर बदले घर में आता और अपनी मां को आड़े हाथों लेता। सुभद्रा ने अपनी सास का शासन भी ऐसा कठोर न पाया था। आत्मपतन को वह दार्शनिक की उदार दृष्टि से नहीं, शुष्क योगी की दृष्टि से देखता था।

13. विट्ठलदास ने इस कथन को ऐसे उपेक्ष्य भाव से सुना, मानो वह कोई निरर्थक बकवाद है और बोले-इसी का नाम गुलामी है, बल्कि गुलाम तो एक प्रकार से स्वतन्त्र होता है, उसका अधिकार शरीर पर होता है, आत्मा पर नहीं। आप लोगों ने तो अपनी आत्मा ही को बेच दिया है। आपकी अंग्रेजी शिक्षा ने आपको ऐसा पददलित किया है कि जब तक यूरोप का कोई विद्वान किसी विषय के गुण-दोष प्रकट न करे, तब तक आप उस विषय की ओर से उदासीन रहते हैं। आप उपनिषदों का आदर इसलिए नहीं करते कि वह स्वयं आदरणीय हैं, बल्कि इसलिए करते हैं कि ब्लावेट्स्की और मैक्समूलर ने उनका

आदर किया है। आपमें अपनी बुद्धि से काम लेने की शक्ति का लोप हो गया है। अभी तक आप तान्त्रिक विद्या की बात भी न पूछते थे। अब जो यूरोपीय विद्वानों ने उसका रहस्य खोलना शुरू किया, तो आपको अब तन्त्रों में गुण दिखाई देते हैं। यह मानसिक गुलामी उस भौतिक गुलामी से कहीं गई-गुजरी है। आप उपनिषदों को अंग्रेजी में पढ़ते हैं, गीता को जर्मन में। अर्जुन को अर्जुना, कृष्ण को कृशना कहकर अपने स्वभाषा-ज्ञान का परिचय देते हैं! आपने इसी मानसिक दासत्व के कारण उस क्षेत्र में अपनी पराजय स्वीकार कर ली, जहां हम अपने पूर्वजों की प्रतिभा और प्रचण्डता से चिर-काल तक अपनी विजय-पताका फहरा सकते थे।

14. कुंवर साहब-मैंने उन्हें निमन्त्रण ही नहीं दिया, क्योंकि मैं जानता था कि वह कदापि न आएंगे। वह मतभेद को वैमनस्य समझते हैं। हमारे प्रायः सभी नेताओं का यही हाल है। यही एक विषय है, जिसमें उनकी सजीवता प्रकट होती है। आपका उनसे जरा भी मतभेद हुआ और वह आपके जानी दुश्मन हो गये, आपसे बोलना तो दूर रहा, आपकी सूरत तक न देखेंगे, बल्कि अवसर पायेंगे, तो अधिकारियों से आपकी शिकायत करेंगे, अपने मित्रों की मण्डली में आपके आचार-विचार, रीति-व्यवहार की आलोचना करेंगे। आप ब्राह्मण हैं तो आपको भिक्षुक कहेंगे, क्षत्रिय हैं तो आपको उजड्ड-गंवार कहेंगे। वैश्य हैं, तो आपको बनिए, डंडी-तौल की पदवी मिलेगी और शूद्र हैं तब तो आप बने-बनाए चाण्डाल हैं ही। आप अगर गाने में प्रेम रखते हैं, तो आप दुराचारी हैं, आप सत्संगी हैं तो आपको तुरन्त 'बछिया के ताऊ' की उपाधि मिल जाएगी। यहाँ तक कि आपकी माता और स्त्री पर भी निन्दास्पद आक्षेप किए जायेंगे। हमारे यहां मतभेद महापाप है और उसका कोई प्रायश्चित नहीं। अहा! वह देखिए, डॉक्टर श्यामाचरण की मोटर आ गई।

15. सुमन सोचने लगी, मैं कैसी अभागिन हूं। और तो और, अपनी सगी बहन भी अब मेरी सूरत नहीं देखना चाहती। उसे कितना अपनाना चाहा, पर वह अपनी न हुई। मेरे सिर कलंक का टीका लग गया और वह अब धोने से नहीं धुल सकता। मैं उसको या किसी को दोष क्यों दूं? यह सब मेरे कर्मों का फल है। आह! एड़ी में कैसी पीड़ा हो रही है; यह कांटा कैसे निकलेगा? भीतर उसका एक टुकड़ा टूट गया है। कैसा टपक रहा है। नहीं, मैं किसी को दोष नहीं दे सकती। बुरे कर्म तो मैंने किए हैं, उनका फल कौन भोगेगा! विलास-लालसा ने मेरी यह दुर्गती की। मैं कैसी अंधी हो गई थी, केवल इन्द्रियों के सुखभोग के लिए अपनी आत्मा का नाश कर बैठी! मुझे कष्ट अवश्य था। मैं गहने-कपड़े को तरसती थी, अच्छे भोजन को तरसती थी, प्रेम को तरसती थी। उस समय मुझे अपना जीवन दुःखमय दिखाई देता था, पर वह अवस्था भी तो मेरे पूर्वजन्म के कर्मों का ही फल थी। और क्या ऐसी स्त्रियाँ नहीं हैं, जो उससे अधिक कष्ट झेलकर भी अपनी आत्मा की रक्षा करती हैं? दमयन्ती पर कैसे-कैसे दुःख पड़े, सीता को रामचन्द्र ने घर से निकाल दिया और वह बरसों जंगलों में नाना प्रकार के क्लेश उठाती रही, सावित्री ने कैसे-कैसे दुःख सहे, पर वह धर्म पर दृढ़ रही। उतनी दूर क्यों जाऊँ मेरे पड़ोस में कितनी स्त्रियाँ रो-रोकर दिन काट रही थीं। अमोला में वह बेचारी, अहीरिन कैसी विपत्ति झेल रही थी। उसका पति परदेस से बरसों न आता था, बेचारी उपवास करके पड़ी रहती थी। हाय, इतनी सुन्दरता ने मेरी मिट्टी खराब की। मेरे सौंदर्य के अभिमान ने मुझे यह दिन दिखाया।

16. यह भी संभव है। तुमने जो कुछ कहा, वही मैं स्वप्न में देख रहा था और तुम्हें सेवाधर्म का उपदेश कर रहा था। सुमन, तुम मुझे भलीभांति जानती हो, तुमने मेरे हाथों बहुत दुःख उठाए हैं, बहुत कष्ट सहे हैं। तुम जानती हो, मैं कितनी नीच प्रकृति का अधम जीव हूँ, लेकिन अपनी उन नीचताओं का स्मरण करता हूँ, तो मेरा हृदय व्याकुल हो जाता है। तुम आदर के योग्य थीं, मैंने तुम्हारा निरादर किया। यह

हमारी दुरवस्था का, हमारे दु:खों का मूल कारण है। ईश्वर वह दिन कब लायेगा कि हमारी जाति में स्त्रियों का आदर होगा। स्त्री मैले-कुचैले, फटे-पुराने वस्त्र पहनकर आभूषणविहीन होकर, आधे पेट सूखी रोटी खाकर, झोपड़े में रहकर, मेहनत-मजदूरी कर, सब कष्टों को सहते हुए आनन्द से जीवन व्यतीत कर सकती है। केवल घर में उसका आदर होना चाहिए, उससे प्रेम होना चाहिए। आदर या प्रेमविहीन महिला महलों में भी सुख से नहीं रह सकती, पर मैं अज्ञान, अविद्या के अन्धकार में पड़ा हुआ था। अपना उद्धार करने का साधन मेरे पास न था। न ज्ञान था, न विद्या थी, न भक्ति थी, न कर्म की सामर्थ्य थी। मैंने अपने बन्धुओं की सेवा करने का निश्चय किया। यही मार्ग मेरे लिए सबसे सरल था। तब से मैं यथाशक्ति इसी मार्ग पर चल रहा हूँ और अब मुझे अनुभव हो रहा है कि आत्मोद्धार के मार्गों में केवल नाम का अन्तर है। मुझे इस मार्ग पर चलकर शान्ति मिली है और तुम्हारे लिए भी यही मार्ग सबसे उत्तम समझता हूँ।

व्याख्या के लिए निर्देश

"यह भी संभव है।.....ईश्वर तुम्हारा कल्याण करेंगे।"

'सेवासदन' उपन्यास सम्राट प्रेमचंद की विशिष्ट रचना है। रचनाकार ने इस उपन्यास में नारी मनोभाव का बहुत ही सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत किया है। उपन्यास में महिलाओं की सामाजिक हैसियत सुधारने के मानवतावादी अभियान को रेखांकित किया गया है। सामाजिक रूढ़ियों की जड़ता और आर्थिक विपन्नता नारी की अधोगति के लिए जिम्मेदार है। प्रेमचंद इसके प्रतिरोध में खड़े होते हैं। उनकी सहानुभूति उनके प्रति है जिसे नीच समझा जाता है। प्रेमचंद परिस्थिति के वस्तुगत मूल्यांकन के आधार पर उन्हें नीच नहीं मानते अपितु उनकी विवशता को समझने की कोशिश करते हैं।

उपन्यास का यह प्रसंग उपन्यास के अंतिम हिस्से से लिया गया है। शांता के घर से निकलने के बाद सुमन की दिशाहीन जिंदगी में मृत्यु का रास्ता शेष बचता है। कठिन क्षण में गजानंद सुमन को सेवासदन को ग्रहण करने का उपदेश देते हैं। इस प्रसंग में गजानंद का प्रायश्चित और आत्मविलाप है।

गजानंद और सुमन के बीच उपन्यासकार ने स्वप्न की फंतासी की परिकल्पना की है। वे दोनों स्वप्न में मिलते हैं। गजानंद अपनी गलतियों को सुमन के सामने स्वीकार करता है। उसकी मान्यता में स्त्रियों का घर में आदर और प्रतिष्ठा ही गृहस्थी की कुशलता का मूल है। वास्तव में हमारे समाज में औरत के कार्य को महत्वहीन माना जाता है। इसलिए घर में उनका महत्व भी कम होता है। अर्थोपार्जन ही मनुष्य की महत्ता और प्रतिष्ठा को निश्चित करता है। प्रेमचंद इस दृष्टि का विरोध करते हैं। उनका मानना है परिवार के लिए सहज समर्पण और सेवाभाव का महत्व होना चाहिए। धन के आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन करना गलत और अनैतिक है।

गजानंद प्रेम को जीवन के लिए आवश्यक मानता है। उसे अपने अनुभव से प्रतीत हुआ था कि प्रेम के अभाव में ही उसकी गृहस्थी टूटी थी। प्रेम और आत्मीयता ऐसे सच्चे मानवीय भाव हैं, जिससे किसी भी दुख दैन्य को झेला जा सकता है। फटे वस्त्र, टूटे घर और भूखे पेट रहकर भी सहयोग के द्वारा जीवन को आनंदित बनाया जा सकता है। प्रेम के बिना महल भी सूना और मनहूस हो सकता है। वह स्वीकार करता है कि सुमन के लिए उसमें न भक्ति थी और न प्रेम था। सुमन के घर से निकलते ही उसके भाव में एकाएक नाटकीय परिवर्तन होता है। वह अपने अहंकार को छोड़कर सेवामार्ग द्वारा जीवन में संतोष प्राप्त करना चाहता है। सेवा के द्वारा वह शांति और सद्भाव का मार्ग ग्रहण करता है। वह सुमन को भी इसी मार्ग पर चलने की सलाह देता है। वह उससे सेवाभाव में समर्पित हो जाने के लिए आग्रह करता है। उसकी दृष्टि में आत्मोद्धार का यही एकमात्र मार्ग है।

गजानंद जिस सेवाभाव की वकालत कर रहा है, उसके पीछे इतिहास की शक्तियाँ सक्रिय हैं। गांधी के सत्याग्रह में सेवा को परम भाव माना गया था। सेवा और प्रेम को ही मानवीय उत्थान का केंद्र बिंदु माना गया था। इसलिए गजानंद ने जो कुछ भी अपने अनुभव का निचोड़ सामने रखा है उसमें गांधीयुग की छाया मात्र दिखाई देती है।

विशेष

1. गजानंद अपनी आत्मालोचना में अपने द्वारा किए गए कार्यों पर पश्चाताप करता है।
2. उसके आत्मानुभव में सैद्धांतिक आग्रह नहीं है। उसका विवेक उसके अनुभव से उपजा हुआ प्रतीत होता है।
3. भाषा में अनुभव और विवेक की प्रधानता है।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-08 ;
हिन्दी उपन्यास
I– प्रेमचन्द का विशेष अध्ययन

खंड

3

प्रेमाश्रम

इकाई 8
प्रेमाश्रम और कृषि समस्या 5

इकाई 9
प्रेमाश्रमयुगीन भारतीय समाज और प्रेमचंद का आदर्शवाद 19

इकाई 10
प्रेमाश्रम का औपन्यासिक शिल्प 28

इकाई 11
ज्ञानशंकर का चरित्र 44

परिशिष्ट 56

खंड परिचय

यह एम.ए. हिन्दी के पाठ्यक्रम-14 का तीसरा खंड है। यह खंड प्रेमचंद के उन्यास 'प्रेमाश्रम' पर आधारित है। इससे पहले के खंड-2 में आप प्रेमचंद के प्रारंभिक उपन्यास सेवासदन का अध्ययन कर चुके हैं। इस खंड में आप 'प्रेमाश्रम' का अध्ययन करेंगे। 'प्रेमाश्रम' का प्रकाशन सन् 1922 ई. में हुआ। इस उपन्यास में उस समय के किसान आंदोलनों का प्रभाव देखा जा सकता है। यह 'प्रेमाश्रम' की मूल समस्या कृषि-समस्या है। यह उपन्यास जमींदार-किसान संघर्ष की कहानी कहता है। इस समय जमींदारों और ताल्लुकेदारों के वर्ग को अंग्रेजी राज के समर्थन से कृषकों का शोषण करने की पूरी छूट थी। वे किसानों से मनमाना लगान वसूल कर सकते थे। इस प्रक्रिया में उनके तथा उनके कारिन्दों द्वारा कृषकों पर किए गए अत्याचारों ने समस्त सीमाएँ लाँघ दी थीं। इन परिस्थितियों में 'प्रेमाश्रम' की रचना हुई। 'प्रेमाश्रम' के रचनाकाल के आसपास किसानों के जमींदारों और इस व्यवस्था के विरोध में आंदोलन भी प्रारंभ हो चुके थे। इन सभी स्थितियों का अंकन हमें इस उपन्यास में दृष्टिगत होता है। इस उपन्यास से पहले किसानों की समस्याओं, उनकी व्यथाओं उनके प्रतिरोध पर किसी उपन्यास की रचना नहीं हुई थी। प्रेमचंद ने ही ऐसे विषय पर सर्वप्रथम 'प्रेमाश्रम' लिखा। प्रस्तुत खंड में हमने 'प्रेमाश्रम' की मूल समस्या तथा उपन्यास के अन्य प्रमुख पक्षों पर चर्चा की है। इस खंड में कुल चार इकाइयाँ है।

इकाई-8 'प्रेमाश्रम' की मूल समस्या, कृषि-समस्या पर आधारित है। इस इकाई में तत्कालीन कृषि समस्या पर चर्चा की गई है, साथ ही उपन्यास में इस समस्या को किस प्रकार प्रस्तुत किया गया है और प्रेमचंद ने उसका क्या समाधान दिया है, इस का विस्तार से विवेचन किया गया है।

इकाई-9 'प्रेमाश्रमयुगीन भारतीय समाज और प्रेमचंद का आदर्शवाद' है। इस इकाई में आप भारतीय समाज के उन पहलुओं का अध्ययन करेंगे जो प्रेमाश्रम के रचनाकाल में अवस्थित था। यह परिवेश जिस रूप में प्रेमाश्रम में चित्रित हुआ है, इसकी चर्चा हमने इस इकाई में की है। कथानक-विकास एवं चरित्र विकास की प्रक्रिया में प्रेमचंद का आदर्शवाद समाज के यथार्थ-चित्रण पर हावी हो गया है। इस पक्ष को भी हमने इस इकाई में प्रस्तुत किया है।

इकाई-10 'प्रेमाश्रम का औपन्यासिक शिल्प' है। इस इकाई में हमने एक उपन्यास के रूप में 'प्रेमाश्रम' का मूल्यांकन किया है।

इकाई 11 'ज्ञानशंकर का चरित्र' है। ज्ञानशंकर 'प्रेमाश्रम' का प्रमुख पात्र है। यद्यपि वह नायक नहीं है। एक दुष्ट पात्र की तमाम खूबियाँ उसमें अन्तर्निहित हैं। एक जमींदार के रूप में वह शोषण और अत्याचार की हदें पार कर जाता है। उसके चरित्र के विविध पक्षों पर इस इकाई में चर्चा की गई है। इस विश्लेषण में हमने ज्ञानशंकर और विविध पात्रों से उसके संबंधों को भी आधार बनाया है।

खंड के अंत में 'परिशिष्ट' के अन्तर्गत 'प्रेमाश्रम' के कुछ अन्य विशिष्ट बिन्दुओं की जानकारी दी गई है। साथ ही उपन्यास से संबंधित कुछ उपयोगी पुस्तकों की सूची है, जो उपन्यास के विशेष अध्ययन में आपकी सहायक होंगी। इन्हें आप किसी भी पुस्तकालय से प्राप्त कर सकते हैं। इन सबका अध्ययन करने से पूर्व यह आवश्यक है कि आप 'प्रेमाश्रम' उपन्यास को पढ़ें। साथ ही, इकाई के अंत में दिए गए प्रश्नों के उत्तर लिखने का भी प्रयास करें। यदि उपन्यास और उसके विषयों का अध्ययन करने में कहीं कठिनाई महसूस हो तो आप अपने परामर्शदाता (काउंसलर) का सहयोग भी ले सकते हैं।

इकाई 8 प्रेमाश्रम और कृषि-समस्या

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 प्रेमाश्रम के रचनाकाल में खेतिहर समाज की स्थिति और गति

- 8.2.1 अवध का किसान-आंदोलन और प्रेमाश्रम

8.3 समस्या का अवलोकन-बिंदु

8.4 समस्या के विभिन्न पहलुओं की शिनाख़्त

- 8.4.1 जमींदारी प्रथा का अपरिहार्य परिणाम : उत्पादकता का ह्रास और लगान की बढ़ोतरी
- 8.4.2 लगान के संदर्भ में ब्रिटिश साम्राज्यवाद और जमींदार वर्ग के संबंध पर कथाकार का दृष्टिकोण
- 8.4.3 किसानों के शोषण के अन्य रूप
- 8.4.4 जमींदार वर्ग के बदलते हुए चरित्र का रेखांकन

8.5 समस्या का समाधान

8.6 सारांश

8.7 अभ्यास प्रश्न

8.0 उद्देश्य

कृषि-समस्या के संदर्भ में प्रेमाश्रम की कथावस्तु का विश्लेषण करना इस इकाई का उद्देश्य है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- 1922 ई. में प्रकाशित इस उपन्यास में तत्कालीन कृषि-समस्या की उभरती तस्वीर की चर्चा कर सकेंगे;
- किस हद तक यह तस्वीर पूरे भारत की कृषि-समस्या का प्रतिनिधित्व करती है और किस हद तक उसमें क्षेत्रीय विशेषताओं को स्थान मिला है, इसका विवेचन कर सकेंगे;
- बीसवीं सदी के दूसरे दशक के किसान-आन्दोलनों के साथ उपन्यास की कथा-वस्तु के संबंधों का विश्लेषण कर सकेंगे;
- समस्या के मूल कारण और समाधान के संबंध में उपन्यासकार की राय का परिचय दे सकेंगे; और
- समस्या का हल निकालने की जो प्रक्रिया उपन्यास में वर्णित है, उसका तत्कालीन राजनीति से क्या रिश्ता है, इसकी पहचान कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

प्रेमचंद के कथा-साहित्य का महत्व दूसरी तमाम विशेषताओं के साथ-साथ अपने समय के भारतीय किसानी जीवन का सबसे प्रामाणिक दस्तावेज़ होने के कारण भी है। औपनिवेशिक भारत में एक साधारण किसान की नियति को रेखांकित करना उनके कथा-साहित्य का केंद्रीय सरोकार है। यों उनकी विषय-वस्तु का दायरा बहुत व्यापक है और समग्रता में देखें, तो प्रेमचंद-साहित्य हमें तत्कालीन भारतीय जीवन के लगभग सभी पहलुओं से कमोबेश परिचित करा देता है, लेकिन जिस पहलू की सबसे मुकम्मिल और संवेदनशील प्रस्तुति वहाँ मिलती है, वह किसानी जीवन ही है। उनके आठ में से तीन सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यासों - प्रेमाश्रम, कर्मभूमि और गोदान -- की केंद्रीय समस्या किसानी जीवन से संबंधित है। इन्हें श्री

रामविलास शर्मा ने 'हिंदुस्तानी किसानों के जीवन की बृहत्त्रयी' कहा है। उपन्यासों की इस बृहत्त्रयी के साथ-साथ अपनी अधिसंख्य कहानियों के माध्यम से प्रेमचंद ने बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध की कृषि-समस्या को उसके तमाम ब्यौरों में जाकर जिस अचूक कौशल के साथ चित्रित किया है, उसकी मिसाल पूरे भारतीय साहित्य में मुश्किल से मिलेगी।

यहाँ यह स्पष्ट करने की ज़रूरत है कि कृषि-समस्या से हमारा आशय क्या है? एकबारगी ऐसा लग सकता है कि इसका संबंध खेती की उत्पादकता, सिंचाई-व्यवस्था और तकनीकी कौशल-जैसे मुद्दों के साथ है, पर वास्तव में इस पद की परिधि बहुत व्यापक है। कृषि-व्यवस्था के सभी समस्यात्मक पहलू इसकी परिधि में समाहित हैं और हम जानते हैं कि जब किसी देशकाल की कृषि-व्यवस्था की बात की जाती है, तब उसका आशय खेती की प्राकृतिक एवं प्राविधिक परिस्थितियों के साथ-साथ खेती पर आधारित समाजार्थिक संबंध-व्यवस्था से भी होता है। इसी संबंध-व्यवस्था की अंतर्निहित समस्याएँ 'कृषि-समस्या' का सबसे बड़ा भाग संघटित करती हैं। उत्पादक वर्ग के रूप में किसान इन समस्याओं का सबसे निरीह शिकार होता है। इसीलिए कोई आश्चर्य नहीं कि कृषि-समस्या अक्सर अपनी प्रस्तुति में कृषक-समस्या का रूप ले लेती है। क्रम-विपर्यय भी कर दें, तो यह बात सही ठहरती है। अर्थात्, किसानों की समस्याओं का विश्लेषण कृषि-समस्या का विश्लेषण बन जाता है। प्रेमचंद इसी अर्थ में भारत की कृषि-समस्या के कथाकार हैं। वे अपने समय के किसानी जीवन को पूरी सहानुभूति और बारीकी के साथ चित्रित करते हैं और इस क्रम में उस जीवन के दुखों का जो वस्तुनिष्ठ विश्लेषण उभरता है, उससे तत्कालीन कृषि-समस्या का यथेष्ट परिचय प्राप्त हो जाता है। इस इकाई में हम प्रेमाश्रम के इसी पहलू पर विचार करेंगे और यह देखेंगे कि प्रेमचंद ने यहाँ समस्या के स्वरूप की, उसकी जड़ों की और उसके संभावित समाधानों की पहचान किस रूप में की है।

8.2 प्रेमाश्रम के रचनाकाल में खेतिहर समाज की स्थिति और गति

प्रेमाश्रम का प्रकाशन 1922 ई. में हुआ था। प्रेमचंद के कई अन्य उपन्यासों की तरह यह भी पहले उर्दू में लिखा गया और प्रकाशित पहले हिंदी में हुआ। मूल उर्दू मसौदे का लेखन-कार्य उन्होंने, अनुमानतः, फरवरी 1920 में समाप्त किया था। यानी मोटे तौर पर इसका रचनाकाल बीसवीं सदी के दूसरे दशक के आख़िरी वर्षों को माना जा सकता है। इस दौर में ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय सामंती शक्तियों के शैतानी गठबंधन से चलने वाला शोषण-चक्र अपने क्रूरतम रूप में मौजूद था। ज़मीन की मालगुजारी अंग्रेजों की आय का मुख्य स्रोत थी, जिसकी वसूली के लिए उन्होंने जमींदारों-ताल्लुकेदारों के एक दलाल वर्ग को पाल-पोसकर तैयार किया था। यह वर्ग भारत में अंग्रेजी राज का एक प्रमुख स्तंभ बन गया था और इसे किसानों का खून चूसने की पूरी छूट दे दी गई थी। अंग्रेजों के आने से यहाँ के भूमि-संबंधों में किस तरह का बदलाव आया और कैसे उसका चरित्र अधिक आततायी हो गया, इसकी व्याख्या करते हुए रजनी पामदत्त लिखते हैं -

> "अंग्रेजों के आने से पहले भारत में एक परंपरा थी कि साल भर की उपज का एक हिस्सा 'राजा का भाग' माना जाता था जो सांझे में खेती करने वाले किसान, जिनका जमीन पर संयुक्त स्वामित्व होता था, या अपने गांव का खुद प्रबंध करनेवाला ग्रामीण समाज, खिराज या कर के रूप में शासक को दे देता था। सालाना पैदावार के घटने-बढ़ने के साथ 'राजा का भाग' भी अपने-आप घट-बढ़ जाता था। अंग्रेजों ने इस पुरानी परंपरा को खतम करके एक निश्चित नकद रकम के रूप में मालगुजारी लेना शुरू किया। यह रकम जमीन के हिसाब से तय की जाती थी और साल भर में पैदावार चाहे कम हुई हो या ज्यादा, जो रकम पहले से तय कर दी गई थी वही वसूल की जाती थी। और ज्यादातर मालगुजारी अलग-अलग व्यक्तियों पर लगायी जाती थी, जो या तो खुद खेती करनेवाले काश्तकार थे या सरकार द्वारा नियुक्त किए गए जमींदार थे। इसके बाद जो कसर बची थी, वह भारत में इंग्लैंड के ढंग की जमींदारी प्रथा और वहां की पूंजीवादी कानून-व्यवस्था जारी करके पूरी कर दी गई।... इस परिवर्तन के द्वारा व्यवहार में अंग्रेज विजेताओं की हुकूमत का सारी जमीन पर अंतिम अधिकार कायम हो गया और किसान महज दूसरे की जमीन पर लगान देकर खेती करनेवाल

बन गया। लगान न देने पर उसे जमीन से बेदखल किया जा सकता था। या अंग्रेज सरकार ने जमीन कुछ ऐसे लोगों को दे दीं जिनको उसने जमींदार नामजद करना पसंद किया। ये लोग भी सरकार की मर्जी से ही जमीन के मालिक थे और मालगुजारी न देने पर उनसे भी जमीन छीन ली जा सकती थी।"

जमीन का लगान कर के रूप में न लेकर निर्धारित किराये के रूप में वसूले जाने से और जमींदारों पर निश्चित मालगुजारी बांध देने से ब्रिटिश भारत में किसानों के शोषण का अभूतपूर्व दृश्य उपस्थित हुआ। जमींदारों को यह छूट मिल गई कि वह किसानों से मनमाना लगान वसूल करें। हालांकि इस पर कानूनी बंधन था, लेकिन सरकार के प्रतिनिधियों के साथ मिलीभगत करके इस बंधन को लचीला बना लेना जमींदारों के लिए मुश्किल न था। यही नहीं, उन्होंने कानूनी लगान के साथ-साथ बेगार, शगुन, नजराना आदि गैरकानूनी लगान भी लेने शुरू किए। इन सबके लिए उन्हें औपनिवेशिक सत्ता का वरदहस्त मिला हुआ था, क्योंकि उन शासकों को मालूम था कि इस उपनिवेश से होनेवाली पूरी कमाई का जरिया यही दलाल वर्ग है। ऐसे में स्वाभाविक था कि इस चक्र में पिसते हुए एक औसत किसान की स्थिति लगातार बद से बदतर होती चली गयी। 'मेरी कहानी' में जवाहरलाल नेहरू ने 1920 के आसपास अवध प्रांत के किसानों के हालात का बयान इन शब्दों में किया है -

"मैंने उनके दुख की कहानियां सुनीं। कैसे लगान का बोझ दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, किस तरह ख़िलाफ़ कानून लागू कराये जाते हैं और ज़ोरो-जुल्म से वसूली की जाती है, जमीन और कच्चे झोपड़ों से किस तरह उनको बेदखल किया जाता है, कैसे उन पर मार पड़ती है, कैसे वे चारों तरफ से जमींदारों के एजेंट, साहूकार और पुलिस के गिद्धों से घिरे रहते हैं, किस तरह कड़ी धूप में मशक्कत करते हैं, और अंत में देखते हैं कि उनकी सारी पैदावार उनकी नहीं है - दूसरे ही उठा ले जाते हैं और उसका बदला उन्हें मिलता है ठोकरों, गालियों और भूखे पेट से।"

यही स्थिति कमोबेश भारत के सभी हिस्सों में रहने वाले किसानों की थी। यह सही है कि भारत के सभी हिस्सों में एक ही तरह की भूमि-व्यवस्था नहीं थी - इस्तमरारी और रैयतवारी, ये दो अलग-अलग व्यवस्थाएँ ब्रिटिश भारत में विद्यमान थीं - लेकिन ज़मीन से सीधे जुड़े हुए किसान की हालत इन दोनों व्यवस्थाओं में एक-सी दयनीय थी। डॉ. वीरभारत तलवार ने अपने शोधग्रंथ 'किसान, राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद : 1918-22' में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं के लेखों में आने वाले कई विवरणों का हवाला दिया है, जिनमें से 'अभ्युदय' के 27 जुलाई 1917 के अंक में छपे एक लेख का यह अंश द्रष्टव्य है -

"सर विलियम हंटर के अनुसार देश में चार करोड़ आदमी ऐसे हैं, जिनको साल के 365 दिन एक ही बार खाना खाने को मिलता है। . . . लगान के कारण लाखों काश्तकार इस समय पिसे जा रहे हैं। बड़े जमींदार के मुख्तार और छोटे-छोटे जमींदार खुद गरीब काश्तकारों को लूटने में पुलिस के सहायक बनते हैं। जेल में कैदियों को जो खाना नसीब होता है वह गांव वालों को शायद ही खाने को मिलता हो। अनुमान से, फी काश्तकार की सालाना आमदनी 24 रु. से अधिक नहीं है। लेकिन हमारे सूबे के जेलों में, 1917 की रिपोर्ट के अनुसार, फी कैदी की खुराक में 37 रु. सालाना खर्च होता है। कैदी के ऊपर 37 रु. और काश्तकार के लिए सिर्फ 24 रु.।"

इस नारकीय स्थिति के कारण प्रेमाश्रम के रचनाकाल के आसपास किसानों के प्रतिरोध का स्वर जगह-जगह आंदोलनात्मक रूप लेने लगा था। किसान-प्रतिरोध के तीन ऐतिहासिक दृष्टांत ठीक उसी समय के हैं, जब प्रेमचंद इस उपन्यास की रचना-परिकल्पना में जुटे होंगे। ये हैं - चम्पारन सत्याग्रह, खेड़ा सत्याग्रह और अवध का किसान-आंदोलन।

चम्पारन-सत्याग्रह (1917 ई.) - बिहार का चम्पारन प्रांत उन दिनों निलहे साहबों के अत्याचार से पीड़ित था। यहाँ के किसानों से ज़मीन के एक निश्चित भाग पर जबरन नील की खेती कराई जाती थी, जिससे उन्हें धेले का भी लाभ न होता था। गोरे नील फ़लैंटर इसके अलावा और कई तरीकों से किसानों का शोषण करते थे। नील का उत्पादन बहुत लाभदायक न रहने पर उन्होंने जमीन का टैक्स बेहद बढ़ा दिया और गरीब किसानों से

मोटी-मोटी रकमें वसूल कीं। इसके साथ-साथ साहबों के शान-शौकत के हर विशेष अवसर के लिए कर-वसूली की जाती थी, जिसके लिए तमाम अमानुषिक तौर-तरीके अपनाये जाते थे। 1917 में यहाँ महात्मा गांधी के नेतृत्व में निलहे साहबों के ख़िलाफ़ सत्याग्रह आरंभ हुआ, जिसके परिणामस्वरूप सौ साल से चली आ रही निरंकुशता पर रोक लग पाना संभव हुआ।

खेड़ा सत्याग्रह (1918 ई.) - 1918 में गुजरात के खेड़ा जिले के गांवों में एक चौथाई उपज भी न हो पाने के कारण गरीब किसानों ने लगान मुल्तवी कराने की मुहिम शुरू की। जल्दी ही इसे महात्मा गांधी का नेतृत्व प्राप्त हुआ और सभी तरह की सरकारी सख़्तियों - फसल-जब्ती, किसानों के पशुओं की बिक्री, माल-कुर्की, गिरफ्तारियाँ, कठोर सजाएँ इत्यादि - के बावजूद किसान अपने सत्याग्रह पर कायम रहे। अंततः आंदोलन सफल रहा। लगान अगले साल के लिए मुल्तवी करने की उनकी मांग को कलक्टर ने स्वीकार कर लिया।

अवध का किसान आंदोलन (1921-22 ई.) - प्रयाग में बाबा रामचंद्र के नेतृत्व में किसान-सभा की स्थापना 1918 में हुई और धीरे-धीरे उसकी लहर प्रतापगढ़, रायबरेली, फैजाबाद आदि अवध के जिलों में फैलने लगी। जनवरी, 1921 में इसने व्यापक किसान-आंदोलन की शक्ल ले ली। इस आंदोलन की मुख्य मांगें थीं - 1. बेदखली पर रोक हो, 2. नियम से ज़्यादा टैक्स न लिया जाए, 3. बेगार पर रोक हो, 4. जुर्माने बंद किए जाएं और 5. गैरकानूनी टैक्स (जैसे मोटर टैक्स, हाथी टैक्स आदि) बंद किए जाएँ। सभी तरह की सख़्तियों को सहते हुए अवध के किसान अपनी इन मांगों पर अड़िग रहे। अंततः सरकार को भयंकर दमन, छल-प्रपंच और दिखावटी सुधार-कानूनों का सहारा लेकर इस आंदोलन को दबाना पड़ा।

भारतीय किसानी जीवन की इन्हीं हलचलों के बीच प्रेमाश्रम की रचना हुई थी। प्रेमचंद ने किसानों की दुरवस्था को और उसके विरोध में चल रहे प्रयासों को नज़दीक से देखा था। इन प्रयासों के साथ उनकी पूरी सहानुभूति थी। इसीलिए कृषि-समस्या को केंद्र में रख कर उपन्यास-रचना करते हुए वे अपने समय का दस्तावेजीकरण ही नहीं कर रहे थे, उस समस्या के निदान के प्रयासों में एक तरह की भूमिका भी अदा कर रहे थे।

8.2.1 अवध का किसान-आंदोलन और प्रेमाश्रम

कुछ आलोचकों का मानना है कि प्रेमाश्रम पर अवध के किसान-आंदोलन का गहरा प्रभाव है। 'श्री मुरली मनोहर प्रसाद सिंह' के शब्दों में, "प्रेमचंद की महत्वपूर्ण रचना प्रेमाश्रम के कथानक-निर्माण में अवध के किसान-आंदोलन के इस व्यापक उभार का जबर्दस्त योगदान था।" डॉ. रामदीन गुप्त ने भी अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद और गांधीवाद' में इससे मिलती-जुलती बात कही है। प्रेमाश्रम का प्रेरणा-स्रोत गांधीवाद नहीं है, यह स्वीकार करते हुए उन्होंने अंदाज़ा लगाया है कि संभवतः अवध के किसान-आंदोलन से प्रेमचंद को प्रेरणा मिली होगी।

डॉ. वीरभारत तलवार ने अपने शोध-ग्रंथ में इस धारणा का युक्तिसंगत खंडन किया है। उनके अनुसार अवध का किसान-आंदोलन एक आंदोलन की शक्ल में प्रेमाश्रम के मूल उर्दू मसौदे के लेखन के बाद आरंभ हुआ था। "प्रेमाश्रम के मूल उर्दू मसौदे की रचना 2 मई, 1918 को शुरू हुई और 25 फरवरी, 1920 को पूरी हुई। फैजाबाद, सुल्तानपुर, रायबरेली, लखनऊ और बाराबंकी के जिलों में किसान आंदोलन की मुख्य घटनाएँ जिन्हें सरकार ने 'किसान उपद्रव' कहा, 1921 की जनवरी में शुरू हुई।" वे मानते हैं कि 1918 में किसान-सभा का गठन हो चुका था और प्रेमाश्रम का मूल मसौदा लिखे जाने के दौर में उसकी थोड़ी-बहुत हलचलें भी सामने आने लगी थीं, लेकिन "बाबा रामचंद्र अभी तक किसानों की आंसू भरी कहानी न्यायप्रिय डिप्टी कमिश्नर के पास अर्जी के रूप में पहुंचाने की मंज़िल तक ही पहुंचे थे।" ऐसे में प्रेमाश्रम पर अवध के किसान-आंदोलन का प्रभाव मानने की बजाय यह कहना अधिक सही होगा कि वह उसी कृषि-समस्या के गहरे अवलोकन से निकली हुई रचना है, जिसने अवध के क्षेत्र में किसान-आंदोलन की स्थितियों को जन्म दिया। वीरभारत तलवार ठीक लिखते हैं कि "एक ओर 1917 का चम्पारन का किसान आंदोलन था, दूसरी ओर 1921-22 का अवध का किसान-आंदोलन था। प्रेमाश्रम इन दोनों के बीच के समय की रचना थी। यह बीच का समय जन-जागरण का समय था।"

8.3 समस्या का अवलोकन-बिंदु

यह बात सही है कि प्रेमचंद किसानों की समस्याओं के चितेरे हैं, पर उनका किसान कौन-सा है, तत्कालीन भूमि-संबंधों में उसकी अवस्थिति कहाँ है, यह जानना बहुत ज़रूरी है। यह जानने पर ही हम समझ पाएँगे कि प्रेमचंद ने कृषि-समस्या को किस विशेष अवलोकन-बिंदु से देखा है।

प्रेमचंद के शोधकर्ता डॉ. रामबक्ष ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद और भारतीय किसान' में बतलाया है कि उस युग में मोटे तौर पर तीन तरह के किसान थे। "कुछ ऐसे लोग थे, जिनके पास जमीन जोतने का अधिकार था, लेकिन वे स्वयं उस पर खेती नहीं करते थे। . . . दूसरी श्रेणी उन किसानों की रही है, जिनके पास जमीन जोतने का अधिकार नहीं होता। ये दूसरे के खेतों पर काम करते हैं। . . . इसके अलावा कुछ ऐसे लोग भी गांवों में रहते हैं, जिनके पास जमीन जोतने का अधिकार होता है और ये स्वयं अपने खेतों में काम करते हैं और जमीन का लगान देते हैं। प्रेमचंद इन्हें ही वास्तविक किसान मानकर इनकी समस्याओं का चित्रण करते हैं।" मतलब यह कि प्रेमचंद मुख्यतः मध्यम श्रेणी के उन किसानों के कथाकार हैं, जो न तो दूसरे के खेतों पर मजदूरी करते हैं और न ही शारीरिक श्रम से दूर रहकर खेतों को बँटाई पर चढ़ाते हैं। ये दोनों श्रेणियाँ भी उनके कथा-साहित्य में मिलती हैं, लेकिन ऐसे किसानों का प्रतिनिधित्व सबसे अधिक दिखलायी पड़ता है, जो अपने खेत पर अपने हाथों से खेती का काम करते हैं। यह बात प्रेमाश्रम के बारे में भी सही है। यहाँ भी मनोहर, बलराज, डपट सिंह, कादिर मियाँ, दुखरन भगत – जैसे पात्र इसी श्रेणी के किसान हैं।

डॉ. रामबक्ष ने दूसरी महत्वपूर्ण बात यह बतलाई है कि प्रेमचंद के किसान तत्कालीन भारत में प्रचलित दो अलग-अलग भूमि-व्यवस्थाओं - इस्तमरारी और रैयतवाड़ी - में से इस्तमरारी बंदोबस्त के अंतर्गत जीनेवाले किसान हैं। "प्रेमचंद के किसान पात्रों का संघर्ष और उनकी पीड़ा के मूल में कहीं-न-कहीं इस्तमरारी बंदोबस्त रहा है।" इसके साथ-साथ "भौगोलिक दृष्टि से भी प्रेमचंद ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के किसानों को अपने साहित्य में उपस्थित किया है।"

डॉ. तलवार ने विशेष रूप से प्रेमाश्रम की चर्चा करते हुए यह रेखांकित किया है उत्तरप्रदेश में भी अवध के इलाके में ताल्लुकेदारी प्रथा थी, जबकि बनारस के इलाके में जमींदारी प्रथा थी। प्रेमाश्रम की कथा-भूमि बनारस के जमींदारी इलाकों से जुड़ी है। ताल्लुकेदारी प्रथा वाले इलाकों में 95 फीसदी किसान ऐसे थे, जिन्हें अपनी जोत पर सुरक्षा हासिल न थी। वे कभी भी मनमाने ढंग से अपनी जोत से बेदखल किए जा सकते थे। वहीं जमींदारी प्रथा वाले इलाकों में ऐसे किसानों की संख्या 80 से 90 फीसदी थी, जिन्हें अपनी जोत पर सुरक्षा हासिल थी। इन इलाकों में बेदखली लगान न चुका सकने के आखिरी नतीजे के तौर पर होती थी। इसीलिए वीरभारत तलवार लिखते हैं, "प्रेमाश्रम बनारस के जमींदारी इलाकों की कहानी है। इसमें किसानों के शोषण के ज्यादातर रूप वही हैं, जो जमींदारी इलाकों में प्रचलित थे।"

8.4 समस्या के विभिन्न पहलुओं की शिनाख़्त

प्रेमाश्रम में बनारस के जमींदारी इलाकों की कृषि-समस्या का एक संश्लिष्ट रूप उभरता है। इस संश्लिष्ट रूप की विशेषता यह है कि उसमें समस्या के विभिन्न पहलू अलग-अलग अपनी उपस्थिति का अहसास नहीं कराते। लगभग सभी पहलुओं को उनके ब्यौरों में जाकर चित्रित करने के बावजूद यह उपन्यास उनकी एकान्विति पर बल देता है और यह दिखलाता है कि ये पहलू स्वायत्त नहीं हैं। वे मूलभूत व्यवस्थागत दोष की उपज हैं और उनका हल व्यवस्थागत बदलाव में ही ढूंढ़ा जा सकता है। इस दृष्टि से प्रेमशंकर का यह चिंतन उपन्यास में केंद्रीय महत्व रखता है -

> "प्रेमशंकर अक्सर कृषकों की आर्थिक दुरवस्था पर विचार किया करते थे। अन्य अर्थशास्त्रवेत्ताओं की भांति वह कृषकों पर फिजूलखर्ची, आलस्य, अशिक्षा या कृषि-विधान से अनभिज्ञता का दोष लगाकर इस प्रश्न को हल न करते थे। वह परोक्ष में

कहा करते थे कि मैं कृषकों को शायद ही कोई ऐसी बात बता सकता हूं जिसका उन्हें ज्ञान न हो। परिश्रमी तो इनसे अधिक संसार में कोई न होगा। मितव्ययिता में, आत्मसंयम में, गृह-प्रबंध में वे निपुण हैं। उनकी दरिद्रता का उत्तरदायित्व उन पर नहीं, बल्कि उन परिस्थितियों पर है जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है और वह परिस्थितियाँ क्या हैं? आपस की फूट, स्वार्थपरता और एक ऐसी संस्था का विकास, जो उनके पांव की बेड़ी बनी हुई है, लेकिन जरा विचार कीजिए तो ये तीनों टहनियां एक ही शाखा से फूटी हुई प्रतीत होंगी और यह वही संस्था है जिसका अस्तित्व कृषकों के रक्त पर अवलम्बित है। आपस में विरोध क्यों है? दुरवस्थाओं के कारण, जिनकी वर्तमान शासन ने सृष्टि की है। परस्पर प्रेम और विश्वास क्यों नहीं है? इसलिए कि यह शासन इन सद्भावों को अपने लिए घातक समझता है और उन्हें पनपने नहीं देता। इस परस्पर विरोध का सबसे दुखजनक फल क्या है? भूमि का क्रमशः अत्यंत अल्प भागों में विभाजित हो जाना और लगान की अपरिमित वृद्धि। प्रेमशंकर इस शासन के सुधार को तो मानवशक्ति से परे समझते थे, लेकिन भूमि के बंटवारे को रोकना उन्हें साध्य जान पड़ता था . . .।"

इस अंश में औपनिवेशिक शासन और जमींदारी प्रथा (वह संस्था, जिसका अस्तित्व कृषकों के रक्त पर अवलम्बित है) को कृषि-समस्या के मूलाधार रूप में देखने की कोशिश स्पष्ट है। इनमें से जमींदारी प्रथा के प्रति प्रेमचंद का आलोचनात्मक रुख पूरे उपन्यास में एक निरंतरता के साथ दिखलाई पड़ता है। जहाँ तक औपनिवेशिक शासन का सवाल है, प्रेमचंद का रवैया तो आलोचनात्मक है, लेकिन उसे मूलभूत कारण के रूप में स्थापित करने पर उनका बहुत जोर नहीं है। इस मामले में प्रेमचंद की स्थिति, शायद, अपने पात्र प्रेमशंकर जैसी ही है, जो 'इस शासन के सुधार को मानव-शक्ति से परे समझते थे'। आगे अवसरानुकूल इस मुद्दे पर विस्तार के साथ चर्चा की जाएगी। फिलहाल यह देखने की जरूरत है कि प्रेमचंद कृषि-समस्या को और उसके कारण के रूप में जमींदारी प्रथा को किस तरह रेखांकित करते हैं।

8.4.1 जमींदारी प्रथा का अपरिहार्य परिणाम : उत्पादकता का ह्रास और लगान की बढ़ोतरी

प्रेमचंद के लिए कृषि-समस्या का सबसे प्रकट रूप है, किसान की गरीबी। कृषि-कार्य पर आधारित व्यवस्था में किसान ही उत्पादक वर्ग है। जमीन के साथ शारीरिक श्रम का रिश्ता इसी वर्ग का है। इस लिहाज से वह खेती पर आधारित व्यवस्था का सबसे अपरिहार्य अंग है। पर साथ ही, वह सबसे निरीह अंग भी है, क्योंकि उस व्यवस्था के और सभी अंग उसके रक्त-शोषण पर पलते हैं। प्रेमचंद ने इस शोषित-उत्पीड़ित उत्पादक वर्ग की आर्थिक दुरवस्था के बेहद कारुणिक चित्र खींचे हैं और इसकी जड़ों तक पहुँचने का सचेत प्रयास किया है। यह आर्थिक दुरवस्था कैसी है, इसका अनुमान बलराज के इस कथन से लगाया जा सकता है - "गांव में सुक्खू चौधरी को छोड़कर और किसी के घर दोनों बेला चूल्हा जलता है? किसी को एक जून चबेना मिलता है, कोई चुटकी-भर सत्तू फांककर रह जाता है। दूसरी बेला भी पेट-भर रोटी नहीं मिलती।" किसानों के जिस कथोपकथन के बीच से यह अंश उठाया गया है, उससे यह भी पता चलता है कि कुछ साल पहले तक स्थिति इतनी बुरी न थी। डपट सिंह कहते हैं - ". . . बलराज की उमिर में हम लोग खेत के डांड पर न जाते थे। न जाने क्या हुआ कि जमीन की बरक्कत ही उठ गयी। जहां बीघा पीछे बीस-बीस मन होते थे, वहां अब चार-पांच मन से आगे नहीं जाता।" उत्पादकता के इस ह्रास के बावजूद लगान में लगातार बढ़ोतरी हो रही थी। किसानों के बीच की इस बातचीत की पृष्ठभूमि उनके जमींदार ज्ञानशंकर द्वारा लगान इजाफा का दावा ही है। घटती हुई उत्पादकता और बढ़ती हुई लगान - ये दोनों चीजें मिलकर किसानों की गरीबी का नारकीय दृश्य उपस्थित करती हैं और अंग्रेजी राज में पनपी हुई जमींदारी व्यवस्था इन दोनों का कारण है। पीछे हमने देखा है कि लगान को उपज के भाग की बजाय जमीन के निर्धारित किराये के रूप में वसूलने की प्रथा अंग्रेजी राज में ही शुरू हुई और इसके लिए औपनिवेशिक शासकों ने जमींदारों के एक मध्यस्थ तबके को तैयार किया। अंग्रजों को

मालगुजारी जमींदारों से मिलती थी और जमींदार उसे किसानों से वसूलते थे। जमींदारों को जमीन का किराया मनमाने तरीके से बढ़ाने की छूट न थी। यह किराया वे उसी सूरत में बढ़ा सकते थे, जब उन्होंने उत्पादकता की बढ़ोतरी के लिए कोई अतिरिक्त इंतजाम किया हो। लेकिन यह महज कानून की बात थी। व्यावहारिक धरातल पर पूरी शासन-व्यवस्था जमींदारों के साथ थी। इसलिए फर्जी दावों के आधार पर लगान में इजाफा आसानी से किया जा सकता था। अमेरिका से कृषि-शास्त्र का अध्ययन करके आए प्रेमशंकर को कही गयी राजा इन्द्रकुमार सिंह की यह बात ध्यान देने योग्य है -

> "इसमें कोई संदेह नहीं कि आप कृषि-शास्त्र के पंडित हैं, पर आप जो प्रस्ताव कर रहे हैं वह यहाँ के लिए कुछ बहुत उपयुक्त जान नहीं पड़ता। हमारी सरकार ने कृषि की उन्नति के लिए कोई बात उठा नहीं रखी। जगह-जगह पर प्रयोगशालाएं खोलीं, सस्ते दामों में बीज बेचती है, कृषि संबंधी आविष्कारों का पत्रों द्वारा प्रचार करती है। इस काम के लिए कितने ही निरीक्षक नियुक्त किये हैं, कृषि के लिए बड़े-बड़े कालेज खोल रखे हैं, पर उनका फल कुछ न निकला। जब वह करोड़ों रुपये व्यय करके कृतकार्य न हो सकी तो आप दो लाख की पूंजी से क्या कर लेंगे। आपके बनाये हुए यंत्र कोई सेंत में न लेगा। आपकी रासायनिक खादें पड़ी रहेंगी। बहुत हुआ तो आप पांच-सात सैंकड़े मुनाफा दे देंगे। इससे क्या होता है? जब हम दो-चार कुंए खोदवाकर, पटवारी से मिलकर कर्मचारियों का सत्कार करके आसानी से अपनी आमदनी बढ़ा सकते हैं, तो यह झंझट कौन करे?"

राजा साहब की इस बात से यह स्पष्ट है कि खेती की उन्नति के लिए कोई भी प्रयास जमींदारों की ओर से होने की गुंजाइश उस दौर में नगण्य हो चली थी। जमींदार ऐसा कोई प्रयास किए बगैर भी लगान में इजाफा करवा सकते थे। अर्थात् उनकी अपनी आमदनी उत्पादकता की बढ़ोतरी के बिना भी बढ़ सकती थी। इसके लिए उन्हें सरकारी कर्मचारियों और हाकिमों को संतुष्ट करना भर होता था। वैसे भी पूरा प्रशासन अपने वर्ग-चरित्र के कारण जमींदारों के साथ था। लगान इजाफा की चर्चा चलने पर मनोहर कहता है - "ऐसा कोई कानून नहीं बन जाता कि बेसी का मामला इन हाकिमों के इजलास में न पेश हुआ करे। हाकिम लोग आप भी तो जमींदार होते हैं, इसलिए वह जमींदारों का पक्ष करते हैं। सुनते हैं, लाट साहब के यहां कोई पंचायत होती है। यह बातें उस पंचायत में कोई नहीं कहता?" इस पर डपट सिंह कहता है - "यहां भी तो सब जमींदार ही होते हैं, काश्तकारों की फरयाद कौन करेगा?" मतलब यह कि जमींदारों के वर्ग से ही कलक्टर-मजिस्ट्रेट आते हैं और लाट साहब की पंचायत में भी जमींदारों की ही पैठ हो पाती है। ऐसी स्थिति में लगान की बढ़ोतरी पर किसी चरण में रोक लगा पाने की कल्पना ही बेमानी है। व्यवस्था के इस वर्ग-चरित्र को किसान भली-भाँति समझते हैं।

8.4.2 लगान के संदर्भ में ब्रिटिश साम्राज्यवाद और जमींदार वर्ग के संबंध पर कथाकार का दृष्टिकोण

जिस चीज को किसान नहीं समझ पाते, वह औपनिवेशिक शासकों का चरित्र है। उन्हें विश्वास है कि अंग्रेज आकाओं के पास अगर स्थिति का सही-सही जायजा पहुँचा पाने का कोई जरिया बन पाता, तो जमींदारों को अपनी मनमानी करने का मौका न मिलता। वास्तविकता यह है कि जमींदारों का पूरा वर्ग भारत में औपनिवेशिक शासन का सबसे मजबूत स्तंभ था और अपनी न्यायप्रियता के नाम पर उसे असंतुष्ट करने की मूर्खता अंग्रेज शासक नहीं कर सकते थे। किंतु प्रेमाश्रम के किसान इस असलियत से नावाकिफ हैं। यह बात उपन्यास के पहले पृष्ठ पर किसानों के बीच होनेवाली बातचीत से भी स्पष्ट है।

कई बार ऐसा लगता है कि किसानों का यह नजरिया स्वयं प्रेमचंद का भी नजरिया है। कृषि-समस्या की उनकी पूरी प्रस्तुति में इस बात के संकेत बहुत कम हैं कि अंग्रेजी राज का मूलोच्छेद इस समस्या के हल के लिए आवश्यक है। उनकी आलोचना का मुख्य लक्ष्य जमींदारी प्रथा ही है, जिसके बारे में उनकी राय, प्रेमशंकर के शब्दों में, इस प्रकार है - "यह कहां का न्याय है कि मेहनत तो कोई करे, उसकी रक्षा का भार किसी दूसरे पर हो

और रुपये उगाहें हम।" यहाँ मेहनत करने वाला है किसान और उसकी रक्षा का भार उठाने वाली है सरकार। जमींदार, प्रेमशंकर के ही शब्दों में, 'बीच का दलाल' है, जो न उत्पादन करता है, न रक्षा। यानी उसकी आमदनी सरासर नाजायज है। राय साहब भी इसी कटु वास्तविकता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं - "हम केवल लगान वसूल करने के लिए रखे गए हैं। इस दलाली के लिए हम एक दूसरे के खून से अपने हाथ रंगते हैं। इसी दीन-हत्या को हम रोब कहते हैं।. . . इस रियासत ने हमें विलासी, आलसी और अपाहिज बना दिया। हम अब किसी काम के नहीं रहे। हम पालतू चिड़िया हैं, हमारे पंख शक्तिहीन हो गये हैं।" इस तरह प्रेमचंद जमींदारी प्रथा के नाकारेपन को बार-बार रेखांकित करते हैं और यह दिखलाते हैं कि कृषि-व्यवस्था में सबसे गैरजरूरी और सबसे शोषक चरित्र वाला तबका जमींदारों का ही है। औपनिवेशिक सत्ता को अपना सीधा निशाना उन्होंने नहीं बनाया है।

उस दौर के कुछ आंकड़े प्रेमचंद के इस बलाबल का औचित्य भी सिद्ध करते हैं। वीरभारत तलवार ने अपने शोध-ग्रंथ में वसूली गई कुल मालगुजारी में से जमींदारों-ताल्लुकेदारों के हिस्सों का आंकड़ा दिया है। उसके अनुसार 1893-94 से 1944-45 तक उत्तर प्रदेश के जमींदारों-ताल्लुकेदारों ने लगान की मांग 42 फीसदी तक बढ़ाई, जबकि सरकारी भू-राजस्व की मांग में 15 फीसदी तक ही वृद्धि हुई। इस तरह कुल वसूली में जमींदारों-ताल्लुकेदारों का हिस्सा 49 फीसदी से बढ़कर 69 फीसदी हो गया। जहाँ 1893-94 में कुल लगान वसूली 1224 लाख रुपये हुई थी, वही पचास वर्षों की लगातार बढ़ोतरी में वह 44-45 के साल में आकर 1753 लाख हो गई। इसमें सरकारी हिस्से की बढ़त मात्र 90 लाख रुपये थी - 593 लाख से बढ़कर 682 लाख। जबकि जमींदारों के मुनाफे में 440 लाख की बढ़त हुई थी। इससे पता चलता है कि लगान-वसूली के लिए तैयार किया गया यह मध्यस्थ तबका शोषण पर आधारित उस व्यवस्था में सबसे अधिक फायदे में था, अपने अंग्रेज आकाओं से भी अधिक। ऐसे में प्रेमचंद उसी को कृषि-समस्या की धुरी मानते हों, यह स्वाभाविक है। इसीलिए वे अंग्रेजी शासकों के किसान-विरोधी रवैये पर कम टिप्पणी करते हैं, जमींदारों के रवैये पर अधिक।

इसके बावजूद यह कहना सही नहीं होगा कि प्रेमचंद को अंग्रेज शासकों के चरित्र की पहचान नहीं है। वे अंग्रेजी राज के साथ जमींदारी व्यवस्था के संबंध को और इस प्रकार कृषि-समस्या के स्तर पर उसकी आखिरी जवाबदेही को कई स्थलों पर सांकेतिक रूप में व्यक्त करते हैं। मिसाल के तौर पर, गायत्री देवी की कानूनगो के साथ हुई बातचीत का यह अंश देखा जा सकता है:

"गायत्री - आपके विचार में बाढ़ से खेती का कितना नुकसान हुआ?

कानूनगो - अगर सरकारी तौर पर पूछती हैं तो रुपया में एक आना, निज के तौर पर पूछती हैं तो रुपए में बारह आने।

गायत्री - आप लोग यह दोरंगी चाल क्यों चलते हैं? आप जानते नहीं कि इससे प्रजा का कितना नुकसान होता है?

कानूनगो - हुजूर यह न पूछें। दोरंगी चाल न चलें और असली बात लिख दें तो एक दिन में नालायक बनाकर निकाल दिये जाएं। हम लोगों से सच्चा हाल जानने के लिए तहकीकात नहीं करायी जाती, बल्कि उसे छिपाने के लिए।"

कानूनगो की इस बात से स्पष्ट है कि अंग्रेज शासक न्यायप्रियता का दिखावा तो करते हैं, पर उस मुखौटे के पीछे की असलियत कुछ और है। इसलिए किसानों का यह विश्वास, कि अंग्रेज हुक्कामों को वास्तविकता का पता चल जाय, तो वे किसानों के हक में काम करेंगे, गलतफहमी के सिवाय और कुछ नहीं है। डिप्टी कलक्टर ज्वाला सिंह को अपनी न्यायप्रियता के चलते सरकारी तंत्र के भीतर जिस तरह की मुश्किलों का सामना करना पड़ता है और अंततः इस्तीफा देना पड़ता है, वह भी अंग्रेज शासकों के चरित्र पर एक सटीक टिप्पणी है।

इस तरह सरकार के जनविरोधी-किसानविरोधी चरित्र को प्रेमचंद ने अवसर मिलने पर उजागर किया है और इस बात के संकेत दिये हैं कि कृषि-समस्या के विष-वृक्ष की जड़ें औपनिवेशिक सत्ता में ही निहित हैं। हाँ, यह बात विवाद से परे है कि इन संकेतों को पर्याप्त विस्तार नहीं दिया गया है और लेखक ने जमींदारी प्रथा को सर्वाधिक निकटस्थ कारण मानते हुए उसी पर अपना ध्यान केंद्रित किया है।

8.4.3 किसानों के शोषण के अन्य रूप

कथा का एक बड़ा भाग लगान-वृद्धि की समस्या पर केंद्रित करने के अलावा प्रेमचंद ने जमींदार, उसके कारिंदों और सरकारी कर्मचारियों द्वारा बेगार, रसद, नजराना आदि वसूलने का भी विस्तार से चित्रण किया है। कृषि-व्यवस्था के सबसे निरीह अंग के रूप में किसान इन सबके शोषण का शिकार बनता है। दौरे पर आए हुए हाकिम के लश्कर को मुफ्त में रसद पहुँचाना, अधिकारियों और कारिंदों के आदेश पर बेगार में खटना, जमींदार का फ़रमान आते ही बाजार-भाव से बहुत कम कीमत पर सामग्रियाँ उपलब्ध कराना, जमींदार के घर किसी विशेष कार्य के अवसर पर अतिरिक्त कर और नजराने पहुँचाना - इन सबका विस्तृत विवरण प्रेमाश्रम में देखा जा सकता है। ऐसा लगता है कि प्रेमचंद जमींदारी के साथ नाभिनालबद्ध समस्याओं को पाठकों के सामने ब्यौरेवार उपस्थित करना चाहते हैं। डॉ. रामबक्ष ने ठीक लिखा है कि "प्रेमाश्रम में किसानों के जीवन का वर्णन कम है और दूसरे वर्ग के लोगों के साथ उनके संबंध कैसे हैं, इसका वर्णन ज्यादा है। मनोहर अपने घर में कैसे रहता है, दुखरन कैसे हल चलाता है, खाना कैसे बनाता है, किसान चलता कैसे है - किसान जीवन के इस बोध-पक्ष का प्रस्तुतीकरण प्रेमचंद ने प्रसंगात यदा-कदा ही किया है। उनकी नजर इस बात पर रहती है कि डिप्टी ज्वाला सिंह के दौरे के समय किसानों की क्या हालत होती है, गौस खां के सामने सुक्खू चौधरी कैसे खड़ा है, पुलिस से कादिर मियां कैसे बात करता है, इजाफा लगान का दावा कैसे चलता है - जैसे विषय और समस्याएं प्रेमाश्रम में ज्यादा महत्वपूर्ण हैं।" वस्तुतः प्रेमाश्रम में किसानों की उन्हीं समस्याओं को पाठकों के सामने लाने का सचेत प्रयास दिखलाई पड़ता है, जिनका संबंध उनके किसान होने से है। उनके जीवन के वे पक्ष, जिनका संबंध उनके किसान होने से नहीं है, प्रेमाश्रम में चित्रित नहीं हुए हैं। इस तरह सही अर्थों में यह उपन्यास ग्रामीण समाज की तस्वीर उभारने की बजाय कृषि-समस्या की तस्वीर प्रस्तुत करता है।

यह भी गौर करने की बात है कि कृषि-समस्या की यह तस्वीर मुख्यतः बनारस के जमींदारी इलाकों का प्रतिनिधित्व करती है। इसीलिए बेदखली की समस्या पर यहाँ अधिक बल देखने को नहीं मिलता। प्रेमाश्रम का मूल उर्दू मसौदा लिखे जाने के साल भर बाद शुरू हुए अवध के किसान-आंदोलन में जहाँ बेदखली का मुद्दा केंद्र में था, वहीं प्रेमाश्रम में वह औसत महत्व के एक प्रसंग का रूप ले पाया है। जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, इसकी वजह यह है कि अवध की ताल्लुकेदारी प्रथा में ऐसे किसानों की संख्या सर्वाधिक थी, जिन्हें अपनी जोत पर सुरक्षा हासिल न थी और जिन्हें कभी भी ताल्लुकेदार की मर्जी से बेदखल किया जा सकता था। वहीं बनारस के जमींदारी इलाकों में ऐसे किसान तीन-चौथाई से अधिक थे, जिन्हें अपनी जोत पर सुरक्षा हासिल थी। उनके लिए बेदखली एक समस्या अवश्य थी, पर सबसे बड़ी समस्या न थी। यही कारण है कि प्रेमाश्रम में बेदखली की चर्चा कम मिलती है। इस दृष्टि से जमींदार ज्ञानशंकर की उस समय की झुंझलाहट देखने लायक है, जब उसे पता चलता है कि गुस्ताखी करनेवाले आसामियों के साथ-साथ उसके अधिकांश आसामी मौरूसी जमीन जोतने वाले दखलकार हैं। (देखें, अध्याय 4 में गौस खां, प्रभाशंकर और ज्ञानशंकर की बातचीत।) लखनपुर के आसामियों को बेदखल करने का एक सुनहरा अवसर जमींदार के हाथ तब आता है, जब गौस खाँ की हत्या के बाद पूरे गाँव के मर्द जेल चले जाते हैं और लगान चुकता नहीं हो पाता। इस प्रसंग में भी प्रेमचंद ने सुक्खू चौधरी के चमत्कार के बल पर लगान-अदायगी करवाकर बेदखली के आसन्न संकट को हल कर दिया है।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि बेदखली प्रेमाश्रम में वर्णित कृषि-समस्या का एक गौण पक्ष है और लगान की बढ़ती हुई दर, बेगार, रसद, नजराना इत्यादि उसके प्रधान पक्ष हैं।

इन सब का फायदा उठानेवाले वर्ग हैं - जमींदार और उसके कारिंदे, सरकारी हुक्काम और उसके कर्मचारी व चपरासी। प्रेमाश्रमकार अपने अंतिम विश्लेषण में जमींदारी को इन समस्याओं का प्रधान कारण मानता है। इसीलिए कोई आश्चर्य नहीं कि कथा के सर्वाधिक पृष्ठ ज्ञानशंकर-जैसे आततायी जमींदार को समर्पित हैं। इसे ही देखते हुए पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रेमाश्रम का 'उद्देश्य जमींदारी प्रथा की अनिष्टता को दिखाना' बताया है। पूरे उपन्यास में इस प्रथा की अनिष्टता पर जगह-जगह टिप्पणियाँ देखने को मिलती हैं। एक विशाल जमींदारी के मालिक राय कमलानंद एक जगह कहते हैं - "मैं मानता हूं कि जमींदार के हाथों किसानों की बड़ी दुर्दशा होती है। मैं स्वयं इस विषय में सर्वथा निर्दोष नहीं हूं। बेगार लेता हूं, डांड़-बांध भी लेता हूं, बेदखली और इजाफा का कोई अवसर हाथ से जाने नहीं देता, आसामियों पर अपना रोब जमाने के लिए अधिकारियों की खुशामद भी करता हूं, साम, दाम, दंड, भेद सभी से काम लेता हूं।" गायत्री देवी अपनी बहन विद्या से कहती हैं - "तुम बाबूजी (राय कमलानंद) पर अत्याचार करती हो। आखिर रुपये कैसे वसूल होते? निर्दयता अच्छी बात नहीं, पर इसके बिना काम ही न चले तो क्या किया जाय? तुम्हारे जीजा कैसे सज्जन थे . . . लेकिन उन्हें भी आसामियों पर सख्ती करनी पड़ती थी। मैंने स्वयं उन्हें आसामियों को मुश्कें कस के पिटवाते देखा था। जब कोई और उपाय न सूझता तो उनके घरों में आग लगवा देते थे और अब मुझे भी वही करना पड़ता है।"

8.4.4 जमींदार वर्ग के बदलते हुए चरित्र का रेखांकन

प्रभाशंकर और ज्ञानशंकर के रूप प्रेमचंद ने जमींदारों की दो पीढ़ियों के फर्क को भी रेखांकित किया है और उसे मात्र पीढ़ियों के फर्क के रूप में देखने की बजाय सामाजिक-आर्थिक आधार से जोड़ कर देखने की पेशकश की है। प्रभाशंकर ज्ञानशंकर के चाचा हैं। जमींदारी से उपजी हुई तमाम बुराइयों के बावजूद वे अपने आसामियों के प्रति सदय हैं और कुल मिलाकर उनके साथ नरमी का बर्ताव करते हैं। वहीं ज्ञानशंकर के मन में प्रजापालक होने का उदात्त भाव और आसामियों के प्रति दया-माया बिल्कुल नहीं है। उपन्यास के अध्याय 4 में इस अंतर को प्रेमचंद ने बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। इस अंतर के चित्रण के साथ उन्होंने ज्ञानशंकर के संवादों में इस अंतर के कारण को भी रेखांकित किया है। वह कहता है -

> "पुराने जमाने की बात और थी। तब जीवन-संग्राम इतना भयंकर न था, हमारी आवश्यकताएँ परिमित थीं, सामाजिक अवस्था इतनी उन्नत न थी और सबसे बड़ी बात कि भूमि का मूल्य इतना चढ़ा हुआ न था। मेरे कई गाँव जो दो-दो हजार में बिक गये हैं, उनके दाम आज बीस-बीस हजार लगे हुए हैं। उन दिनों आसामी मुश्किल से मिलते थे, अब एक-एक टुकड़े के लिए सौ-सौ आदमी मुँह फैलाये हुए हैं। यह कैसे हो सकता है कि इस आर्थिक दशा का असर जमींदार पर न पड़े?"

इसी अंश के आधार पर डॉ. वीरभारत तलवार जमींदार वर्ग के बदलते चरित्र के कारण की व्याख्या करते हुए लिखते हैं - "नए सामंतवाद का भौतिक आधार - भूमि का मूल्य बढ़ गया था और बेजमीन आसामियों की कमी न थी। नया जमींदार इसी नये भौतिक आधार की सृष्टि था। यह नया भौतिक आधार ब्रिटिश राज की देन था।" डॉ. तलवार का यह निष्कर्ष बिल्कुल युक्तिसंगत है कि "ब्रिटिश राज ने जो नई भूमि-व्यवस्था कायम की थी, उसके नतीजों के प्रति प्रेमचंद सजग थे।"

इस नयी भूमि-व्यवस्था से उपजे हुए ज्ञानशंकर-जैसे जमींदार ही उस कृषि-समस्या की धुरी हैं, जिसका चित्रण प्रेमचंद करते हैं। प्रेमाश्रम का अध्याय 7 का यह आरंभिक अंश मानो समस्या के सार को ही रेखांकित करने का प्रयास है -

> "जब तक इलाके का प्रबंध लाला प्रभाशंकर के हाथों में था, वह गौस खां को अत्याचार से रोकते रहते थे। अब ज्ञानशंकर मालिक और मुख्तार थे। उनकी स्वार्थप्रियता ने खां साहब को अपनी अभिलाषाएँ पूर्ण करने का अवसर प्रदान कर दिया था। वर्षांत पर उन्होंने बड़ी निर्दयता से लगान वसूल किया। एक कौड़ी भी बाकी न छोड़ी। जिसने रुपये न दिए या न दे सका, उसकी नालिश की, कुर्की

करायी और एक का डेढ़ वसूल किया। शिकमी आसामियों को समूल उखाड़ दिया और उनकी भूमि पर लगान बढ़ाकर दूसरों को सौंप दिया। मौरूसी और दखीलकार आसामियों पर भी कर-वृद्धि के उपाय सोचने लगे। वह जानते थे कि कर-वृद्धि भूमि की उत्पादक शक्ति पर निर्भर है और इस शक्ति को घटाने-बढ़ाने के लिए केवल थोड़ी-सी वाक्-चतुरता की आवश्यकता होती है।"

ऐसे उद्धरणों के बाद यह कहने की जरूरत नहीं रह जाती कि प्रेमाश्रम का कथा-विधान नए भूमि-संबंधों के बीच किसान और किसानी की समस्याओं को बेहद पारदर्शी रूप में पाठकों के सामने रख देता है।

8.5 समस्या का समाधान

जमींदारी-प्रथा को कृषि-समस्या का मूल मानने की स्थिति में समस्या के समाधान को जमींदारी के उन्मूलन से जोड़कर देखना स्वाभाविक है। प्रेमचंद भी यही समाधान प्रस्तावित करते हैं। यह अवश्य है कि उपन्यास में यह समाधान किसी जबर्दस्त किसान-उभार के परिणाम के रूप में नहीं आता। वह एक नये जमींदार की व्यक्तिगत अच्छाई से उत्पन्न चमत्कार है। गायत्री देवी, राय कमलानंद और ज्ञानशंकर की जमींदारियों के इकलौते उत्तराधिकारी मायाशंकर अपने तिलकोत्सव के समारोह के बीच ही प्रथा, नियम और समाज-व्यवस्था द्वारा दिए गए अधिकारों और स्वत्वों का त्याग करने की घोषणा करते हैं। कई ताल्लुकेदारों, रईसों और गवर्नर साहब की उपस्थिति में भाषण देते हुए मायाशंकर कहते हैं - "मैं अपनी प्रजा को अपने अधिकारों से मुक्त करता हूँ। वह न मेरे आसामी हैं, न मैं उनका ताल्लुकेदार हूँ। वह सब सज्जन मेरे मित्र हैं, मेरे भाई हैं, आज से वह अपनी खेत के स्वयं जमींदार हैं। अब उन्हें मेरे कारिंदों के अन्याय और मेरी स्वार्थ-भक्ति की यंत्रणाएँ न सहनी पड़ेंगी। वह इजाफे, एखराज, बेगार की विडम्बनाओं से निवृत्त हो गये।" अपने अधिकारों को इस तरह छोड़ने के पीछे मायाशंकर का तर्क वही है, जो उनके चाचा और अभिभावक प्रेमशंकर का था। वे कहते हैं – "राजा देश की रक्षा करता है, इसलिए उसे किसानों से कर लेने का अधिकार है, चाहे प्रत्यक्ष रूप में ले या कोई इससे कम आपत्तिजनक व्यवस्था करे। अगर कोई अन्य वर्ग या श्रेणी को मीरास, मिल्कियत, जायदाद, अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्य-पदार्थ बनाने की स्वच्छंदता दी जाती है, तो उस प्रथा को वर्तमान समाज-व्यवस्था का कलंक-चिह्न समझना चाहिए।"

मायाशंकर के इस युगांतकारी त्याग से उस पूरे इलाके में, जो गायत्री देवी, राय कमलानंद और ज्ञानशंकर की जमींदारी में आते थे, एक नयी तरह की व्यवस्था कायम होती है। उस इलाके के सभी किसान अपनी-अपनी जमीन के जमींदार बन जाते हैं। वे अपनी मालगुजारी खुद जमा करने लगते हैं और बीच की दलाली से उन्हें निजात मिल जाती है। इस नयी व्यवस्था में दो साल के भीतर गाँव का नक्शापलट हो जाता है। उपसंहार खंड में दो साल बाद की एक शाम का वर्णन करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं - "बाबू मायाशंकर घोड़े पर सवार होकर खनपुर में दाखिल हुए। उन्हें वहाँ बड़ी रौनक और सफाई दिखाई दी। प्रायः सभी द्वारों पर सायबान थे। उनमें बड़े-बड़े तख्त बिछे हुए थे। अधिकांश घरों पर सफेदी हो गई थी। फूस के झोपड़े गायब हो गये थे। अब सब घरों पर खपरैल थे। द्वारों पर बैलों के लिए पक्की चरनियाँ बनी हुई थीं और कई द्वारों पर घोड़े बंधे नजर आते थे। पुराने चौपाल में पाठशाला थी और उसके सामने एक पक्का कुआं और धर्मशाला थी।"

गाँव में साफ-सफाई की ही रौनक नहीं, लोगों के चेहरों पर भी रौनक है। सभी लोग बारी-बारी मायाशंकर को अपनी खुशहाली के बारे में बताने लगते हैं, जिसका लब्बोलुवाब यह है कि उन्हें अब पहले की तुलना में औसतन एक चौथाई लगान देना पड़ता है और नजराना बिलकुल बिल्कुल नहीं देना पड़ता। कारिंदों और चपरासियों की नाजायज मांगों को भी पूरा करने से निजात मिल गई है। फलतः खा-पीकर भी अच्छी-खासी बचत हो जाती है, जिससे बंदगी के और शौक पूरे करने की सहूलियत हासिल हो गई है। इन बातों के अलावा एक बात अहम नुक्ता बलराज की बातों में उभरता है। वह कहता है -

"यहाँ पहले कोई अखबार का नाम भी न जानता था। अब कई अच्छे-अच्छे पत्र आते हैं। सबेरे आपको अपना वाचनालय दिखलाऊँगा। गाँव के लोग यथायोग्य 1), 2) मासिक चंदा देते हैं, नहीं तो पहले हम लोग मिलकर पत्र मंगाते थे, तो सारा गाँव बिदकता था। जब कोई अफसर दौरे पर आता, कारिंदा साहब चट उससे मेरी शिकायत करते। अब आपकी दया से गाँव में रामराज है। आपको किसी दूसरे गाँव में पूसा और मुजफ्फरपुर का गेंहूं न दिखायी देगा। हम लोगों ने अबकी मिलकर दानों कोनों से बीज मंगवाये और डेवढ़ी पैदावार होने की पूरी आशा है। पहले यहाँ डर के मारे कोई कपास बोता ही न था। मैंने अबकी मालवा और नागपुर से बीज मंगवाये और गाँव में बांट दिये। खूब कपास हुई। यह सब काम उन गरीब आसामियों के मान के नहीं हैं, जिनको पेट भर भोजन तक नहीं मिलता, सारी पैदावार लगान और महाजन के भेंट हो जाती है।"

बलराज की इन बातों से यह तथ्य उभर कर आता है कि नयी जमींदारविहीन व्यवस्था में किसानों की आर्थिक स्थिति ही नहीं सुधरी है, उनकी जागरूकता और जानकारी का स्तर भी बढ़ा है। उनके भीतर जीवन के प्रति एक तरह की दिलचस्पी, अपने श्रम के परिणामों के प्रति एक तरह की निश्चिंतता और खेती के क्षेत्र में नये प्रयोगों के प्रति उत्सुकता का भाव भी जागृत हुआ है। अब वे नयी किस्म की फसलों को उगाने का जोखिम भी उठा सकते हैं। खेती अब उनके लिए रुचि का विषय है, क्योंकि उनकी हालत उन आसामियों की तरह नहीं है, 'जिनको पेट भर भोजन तक नहीं मिलता, सारी पैदावार लगान और महाजन के भेंट हो जाती है।' प्रेमचंद मानो यह दिखलाना चाहते हैं कि श्रम के शोषण पर आधारित व्यवस्था में श्रम विरक्ति का विषय हो जाता है, इसलिए उत्पादकता और प्रयोगधर्मिता - दोनों क्षतिग्रस्त होती है। शोषक तंत्र के गायब होते ही किसानों के लिए श्रम रुचिकर हो गया है और खेती के प्रति लगन, जबावदेही तथा प्रयोगधर्मी उत्साह बढ़ा है। इसके साथ-साथ एक और अंतर है। जब तक जमींदारी थी, जमींदार के कारिंदे सचेत रूप से किसानों को दकियानूस बनाए रखने की कोशिश करते थे, ताकि किसी नयी व्यवस्था की रोशनी से वे रोशन-ख़याल न हो जाएँ। जमींदारी के उन्मूलन से दकियानूस बनाए रखने की यह दुरभिसंधि भी समाप्त हो गई है और इसका असर कृषि की उत्पादकता पर पड़ा है।

कुल मिलाकर, उपसंहार खंड में प्रेमचंद ने अपने यूटोपिया की जीवंत तस्वीर रचने का प्रयास किया है। इस तस्वीर में समस्याओं का वह पूरा घटाटोप अनुपस्थित हो गया है, जिससे कृषक समाज त्रस्त था। समस्याओं की यह अनुपस्थिति एक बार फिर उन समस्याओं के कारणों को बलपूर्वक रेखांकित करती है। अर्थात्, कृषि-समस्या मूलतः जमींदारी प्रथा की उपज है - यह बलाघात प्रेमाश्रम के उपसंहार में सर्वाधिक मुखर होकर प्रकट हुआ है। समस्या के मूल में औपनिवेशिक शासन-तंत्र को देखने का कोई संकेत इस अंश में नहीं मिलता। संभवतः अंग्रेजी राज में रहते हुए उस स्तर तक जाकर निदान प्रस्तावित करना खतरे से खाली न था। इसलिए प्रेमचंद ने वैसा दुस्साहसिक समाधान देने से परहेज किया है। फिर भी, जैसा कि डॉ. रामविलास शर्मा मानते हैं, भारत में औपनिवेशिक शासन के सबसे मजबूत स्तंभ - जमींदारी व्यवस्था - की मुखालफत औपनिवेशिक शासन की मुखालफत का ही एक रूप थी। वे लिखते हैं - "अंग्रेजी साम्राज्यवाद और जमींदारों-जागीरदारों के आपसी संबंध को समझे बिना प्रेमाश्रम की रचना न हो सकती थी।" ऐसा मानने का एक आधार राय कमलानंद का यह वक्तव्य है - "नवाबों के जमाने में किसी सूबेदार ने इलाके की आमदनी वसूल करने के लिए मेरे दादा को नियुक्त किया था। मेरे पिता पर भी नवाबों की कृपादृष्टि बनी रही। इसके बाद अंग्रेजों का जमाना आया और यह अधिकार पिता जी के हाथ से निकल गया। लेकिन राजद्रोह के समय पिता जी ने तन मन से अंग्रेजों की सहायता की। शक्ति स्थापित होने पर हमें वही पुराना अधिकार फिर मिल गया। यही इस रियासत की हकीकत है।" इस अंश के आधार पर डॉ. रामविलास शर्मा की यह टिप्पणी सही है कि "प्रेमचंद ने यहाँ बड़ी खूबी से दिखा दिया है कि अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई से जमींदारों के विरुद्ध संघर्ष का क्या संबंध था।" इस तरह से देखें, तो प्रेमाश्रम की कथा अंतिम विश्लेषण में ब्रिटिश

साम्राज्यवाद के विरोध में जाती है। हाँ, इसमें संदेह नहीं कि कृषि-समस्या का समाधान दिखलाते हुए प्रेमचंद ने साम्राज्यशाही के उन्मूलन की जरूरत को कहीं स्पष्ट तौर पर रेखांकित नहीं किया है। प्रकटतः वे जमींदारी व्यवस्था के उन्मूलन में ही कृषि-समस्या का सौ फीसदी हल ढूंढ़ लेते हैं।

प्रेमचंद कृषि-समस्या का जो समाधान इस उपन्यास में दिखलाते हैं, उसकी प्रकृति पर ही नहीं, प्रक्रिया पर भी विचार करना जरूरी है। इस संबंध में दो बातों पर ध्यान जाना लाजिमी है - 1. यहाँ जमींदारी प्रथा के खात्मे की बात, 'जमीन उसकी जो जोते' - यह बात किसानों की ओर से नहीं आई है। इस विचार का पूरा श्रेय प्रेमशंकर और मायाशंकर को जाता है, जो जमींदारी पृष्ठभूमि से आनेवाले पढ़े-लिखे लोग हैं। 2. यहाँ किसान-आंदोलन जैसी स्थिति पूरी तरह अनुपस्थित है। किसानों की समस्या का हल अहिंसा और प्रेम के रास्ते से ही निकल जाता है।

यह एक सचाई है कि 'जमीन उसकी जो जोते'-जैसी बात उस समय की किसान-चेतना में न थी। डॉ. वीरभारत तलवार ने इस बिंदु पर प्रकाश डालते हुए सबाल्टर्न इतिहासकारों के अध्ययन के आधार पर यह बताया है कि अवध के किसान-आंदोलन के दौर में भी किसानों ने परंपरा से चली आ रही प्रथाओं और उनकी उचित सीमाओं का विरोध नहीं किया था। वे तो सिर्फ 'उस व्यवस्था की मांग कर रहे थे, जो गदर पूर्व, या भोजपुरी इलाकों में ब्रिटिश पूर्व, व्यवस्था थी, जिसमें बेदखली न होती थी।' प्रेमचंद ने भी अपने समय की किसान-चेतना की इन सीमाओं का ध्यान रखा है।

औपन्यासिक कथा को आंदोलन-जैसी स्थितियों से बचा ले जाना और अहिंसा तथा प्रेम के रास्ते समस्या का हल उस कथा पर आरोपित कर देना प्रेमचंद की कमजोरी है। अवध के किसान-आंदोलन में जहां भयंकर जुझारू संघर्ष और अभूतपूर्व सरकारी दमन के बाद किसान सिर्फ बेदखली की दफा मंसूख करा सके, वहीं प्रेमाश्रम में बिना संघर्ष के पूरा रामराज्य आ जाता है। इस संबंध में डॉ. वीरभारत तलवार की यह टिप्पणी गौरतलब है कि "प्रेमाश्रम की यह परिणति संयोग से उस युग में गांधी के नेतृत्व में उठ रहे राष्ट्रीय आंदोलन की जरूरतों से मेल खा रही थी।" हालांकि डॉ. तलवार यह मानते हैं कि "प्रेमचंद ने प्रेमाश्रम में जो परिणति दिखाई, उसके पीछे की समझदारी वह न थी, जो किसान आंदोलन के प्रति गांधीवादी नेतृत्व की थी। प्रेमचंद ने उपन्यास में जमींदारी प्रथा से मुक्त गाँव का चित्रण किया। राष्ट्रीय नेतृत्व जमींदारी प्रथा से मुक्त गाँव की बात नहीं करता था।" लेकिन बिना संघर्ष और आंदोलन के समस्याएँ हल हो जाएँ, यह गांधीवादी नेतृत्व की समझदारी के अनुरूप था। क्योंकि गांधीवादी नेतृत्व जमींदार और किसान के संघर्ष को स्वराज्य के आंदोलन में बाधक मानता था। इसीलिए कांग्रेस ने अवध के किसान-आंदोलन को खुल्लमखुल्ला घुटने टेकने पर मजबूर किया। डॉ. तलवार की यह टिप्पणी अत्यंत सारगर्भित है कि "किसान-समस्या की पृष्ठभूमि पर शुरू किया गया यह उपन्यास अनजाने में ही गांधीवादी नेतृत्व द्वारा निर्धारित राष्ट्रीय आंदोलन की राजनीति से मेल खाता और उनकी जरूरतों को पूरा करता दिखाई देता है।" यही कारण है कि असहयोग आंदोलन के दौर में जब प्रेमाश्रम प्रकाशित हुआ, तो राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल मध्यवर्ग ने उसका जोरदार स्वागत किया। अगर प्रेमाश्रम में अंत कुछ और होता (कटु संघर्ष के सिवा वह और क्या होता?) तो शायद उसे उस युग में वह मान्यता न मिलती जो मिली।

8.6 सारांश

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रेमाश्रम में तत्कालीन जमींदारी व्यवस्था के अंतर्गत आनेवाले इलाकों की कृषि-समस्या को उसकी पूरी जटिलता के साथ चित्रित करने का प्रयास हुआ है। प्रेमचंद ने जमींदारी व्यवस्था के उन्मूलन को कृषि-समस्या के समाधान के रूप में प्रस्तावित किया है। यह उस युग की राजनैतिक स्थितियों और भूमि-संबंधों को देखते हुए एक क्रांतिकारी प्रस्ताव है, लेकिन समाधान को संभव करने के लिए आंदोलन की राह सुझाने की बजाय शोषक वर्ग की

मानवीय सद्वृत्तियों पर भरोसा करने का संदेश देकर प्रेमचंद ने इस प्रस्ताव की क्रांतिकारी धार को थोड़ा कुंद कर दिया है। इसके बावजूद समस्या की उनकी पकड़ से इंकार नहीं किया जा सकता। प्रेमाश्रम के ही संदर्भ में कही गई डॉ. रामविलास शर्मा की यह बात बहुत मायने रखती है कि "हिंदी में किसानों की समस्याओं पर ज्यादा उपन्यास लिखे ही नहीं गये, जो लिखे भी गये हैं, उनमें प्रेमचंद की सूझ-बूझ का अभाव है।"

8.7 अभ्यास प्रश्न

1. 'प्रेमाश्रम का उद्देश्य जमींदारी प्रथा की अनिष्टता दिखाना है।' इस कथन के संदर्भ में प्रेमाश्रम में चित्रित कृषि-समस्या का विवेचन कीजिए।
2. प्रेमाश्रम के आधार पर तत्कालीन कृषक-समाज में व्याप्त शोषण के विविध रूपों को रेखांकित कीजिए।
3. 'प्रेमाश्रम में कृषि-समस्या को उसकी पूरी जटिलता में प्रस्तुत किया गया है, किंतु उसका समाधान कमजोर और आरोपित है।' क्या आप इससे सहमत हैं? अपने पक्ष को तर्कसम्मत रूप में प्रस्तुत कीजिए।

इकाई 9 प्रेमाश्रमयुगीन भारतीय समाज और प्रेमचंद का आदर्शवाद

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 प्रेमचंद की उपन्यास-दृष्टि : आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

9.3 प्रेमाश्रम में तत्कालीन समाज की तस्वीर

9.3.1 जमींदार

9.3.2 किसान

9.3.3 मध्यवर्ग

9.4 कथाकार का आदर्शवाद

9.5 सारांश

9.6 अभ्यास प्रश्न

9.0 उद्देश्य

स्तुत इकाई पढ़ने के बाद आप :

- आदर्शवाद और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के बारे में सैद्धांतिक स्तर पर प्रेमचंद की समझ का विवेचन कर सकेंगे;
- प्रेमाश्रम में अपने समय के समाज का यथार्थ-चित्रण किस रूप में हुआ है, इसकी व्याख्या कर सकेंगे;
- कथानक-विकास एवं चरित्र-विकास की प्रक्रिया में किस तरह प्रेमचंद का आदर्शवाद इस यथार्थ-चित्रण पर हावी हो जाता है, का विश्लेषण कर सकेंगे; और
- प्रेमचंद का आदर्शवाद कहाँ तक युग-चेतना की अभिव्यक्ति है, इसकी चर्चा कर सकेंगे।

1 प्रस्तावना

सुविदित तथ्य है कि प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास को स्थूल मनोरंजन एवं स्थूल देशात्मकता से ऊपर उठाकर युगजीवन का साक्षात्कार कराने वाली विधा के रूप में ापित किया। उनके आविर्भाव से पहले हिंदी में या तो पाठकों की कौतूहल-वृत्ति को ाकर उसे संतुष्ट करने वाले मनोरंजनप्रधान उपन्यास थे या फिर ऐसे उपदेशप्रधान ाजिक उपन्यास, जो वर्णनीय समस्या की जटिलताओं में उतरे बिना सीधे-सीधे पाठकों उपदेश देने का काम करते थे। प्रेमचंद ने पहली बार अपने समय के समाज को उसकी ाम विविधताओं, जटिलताओं और बदलावों के साथ उपन्यास का विषय बनाया। उन्होंने विधा के मूल स्वरूप की पहचान की और पश्चिम में जिस यथार्थवाद के साथ उपन्यास ा का जन्म हुआ था, उसे अपनाते हुए युग-जीवन के अविस्मरणीय चित्र खींचे। पिछली ाई में हमने देखा कि किस प्रकार उन्होंने प्रेमाश्रम में अपने युग की कृषि-समस्या को की समग्रता में प्रस्तुत किया है। उनके सभी उपन्यास इसी प्रकार युग-जीवन के किसी-न-ी पहलू को गहरी अंतर्दृष्टि के साथ चित्रित करते हैं। लेकिन इस यथार्थवाद को प्रेमचंद ापनी शर्तों पर स्वीकारा है। वे वस्तुस्थितियों की तहकीकात करके ही संतुष्ट नहीं होते,

कथा के धरातल पर उसकी विसंगतियों का समाधान भी करना चाहते हैं और अक्सर यह समाधान आरोपित सदिच्छा की शक्ल में दिखलाई पड़ता है। इसप्रकार उनके कथा-विधान में घटनाओं की परिणति यथार्थवादी नहीं रह जाती। प्रेमाश्रम के संदर्भ में उनकी इस प्रवृत्ति की थोड़ी-बहुत छानबीन पिछली इकाई में की गई थी। इस इकाई में हम अपेक्षाकृत विस्तार के साथ यह देखने का प्रयास करेंगे कि युगीन यथार्थ को उन्होंने कितनी कुशलता से औपन्यासिक कथा में बाँधने का प्रयास किया है और कहाँ-कहाँ उस यथार्थ का अतिक्रमण करते हुए चरित्रों और परिस्थितियों को आदर्शवाद के हवाले कर दिया है। यथार्थ से आदर्श की दिशा में कथा का बहाव अनजाने-अनचाहे नहीं हुआ है। यह प्रेमचंद की अपनी सैद्धांतिक मान्यताओं के अनुरूप है, जिसे वे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का नाम देते हैं। इसलिए सबसे पहले हम इस सैद्धांतिक मान्यता पर विचार करेंगे।

9.2 प्रेमचंद की उपन्यास-दृष्टि : आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

अपने 'उपन्यास' शीर्षक निबंध में तथा अन्यत्र भी प्रेमचंद ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की चर्चा की है। उनकी मान्यता है कि "वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समन्वय हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।" इस तरह आदर्श और यथार्थ का ऐसा समन्वय, उनके अनुसार, अच्छे उपन्यास की विशेषता है, जिसका मुख्य उद्देश्य तो किसी आदर्श को स्थापित करना होता है, लेकिन उस स्थापना को स्वाभाविक और आश्वस्तिदायक बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग आवश्यक होता है। जिस यथार्थवाद में यह आदर्शोन्मुखता नहीं होती, वह प्रेमचंद को स्वीकार्य नहीं है। ऐसा यथार्थवाद, उन्हीं के शब्दों में, "हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।" इसके विपरीत "आदर्शवाद हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। ... रियलिज्म हमारी आँखें खोल देता है, तो आइडियलिज्म हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। . . . उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि करना है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें।"

उद्धृत अंशों से एक बात स्पष्ट है कि आदर्शवाद और यथार्थवाद, दोनों के विषय में प्रेमचंद की समझ साफ न थी। यथार्थवाद के नाम पर वे जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं, वे वस्तुतः प्रकृतवाद (नेचुरलिज्म) की प्रवृत्तियाँ हैं। इसी तरह उन्होंने आदर्शवाद के जो लक्षण गिनाए हैं, उन्हें बड़ी सहजता से यथार्थवाद में अंतर्भुक्त किया जा सकता है। सैद्धांतिक स्तर की इस भ्रांति के बावजूद यह सच है कि प्रेमचंद के उपन्यासों में कथा का विकास जिस 'स्कीम' के तहत होता है, उसे - आदर्श और यथार्थ, इन दोनों पदों के वास्तविक अर्थों का ध्यान रखते हुए भी - आदर्शोन्मुख यथार्थवाद ही कहा जा सकता है। यथार्थवाद भावजगत को वस्तुजगत की सापेक्षता में देखनेवाली पद्धति है। यह पद्धति वस्तुस्थितियों का तटस्थ वैज्ञानिक विश्लेषण करने का प्रयास करती है और मानव-मन को उन स्थितियों के घात-प्रतिघातों के बीच ही चित्रित करती है। आदर्शवाद प्रत्यय (आइडिया) की स्वतंत्र सत्ता को मानता है। इसलिए मानव-मन को वहाँ एक तरह की स्वायत्ता मिल जाती है। मन की इस स्वायत्त सत्ता में वस्तुगत परिस्थितियों से निरपेक्ष आदर्श उत्पन्न और विकसित हो सकते हैं। इसलिए आदर्शवादी कथा-योजना में परिस्थितियों को, उनके अपने अंतर्निहित तर्कों से परे, मनचाहे तरीके से मोड़ा जा सकता है। इसी अर्थ में हृदय-परिवर्तन एक आदर्शवादी कथा-युक्ति है। इस युक्ति का इस्तेमाल करते हुए और परिस्थितियों के अपने तर्क की अनदेखी करते हुए आदर्शवादी कथाकार अपनी कथा को वांछित परिणति की ओर मोड़ देता है। वस्तुजगत की गति चूंकि ऐसी सदिच्छाओं के अनुरूप नहीं होती, इसलिए आदर्शवादी ढर्रे की कथा का संसार वास्तविक संसार के सामने अविश्वसनीय प्रतीत होता है।

यथार्थवाद और आदर्शवाद के इन आशयों का ध्यान रखते हुए प्रेमचंद के कथा-साहित्य को देखें, तो पाएँगे कि उसका अधिकांश आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के दायरे में ही आता है। प्रेमाश्रम भी इसका अपवाद नहीं है। प्रेमाश्रम की कथा अपने समय के भारतीय समाज के कई तबकों और अनेक प्रवृत्तियों को औपन्यासिक घटनाओं तथा प्रतिनिधि पात्रों की मदद से हमारे सामने मूर्त कर देती है, लेकिन उनका यथार्थवादी आकलन करते हुए भी कथाकार का आदर्शवादी मिजाज अंततः हावी हो जाता है और वह 'जो है' के परिस्थितिजन्य बंधन को तोड़कर 'जो होना चाहिए' की परिस्थिति-निरपेक्ष स्वतंत्रता में छलांग लगा देता है।

9.3 प्रेमाश्रम में तत्कालीन समाज की तस्वीर

पिछली इकाई में यह बतलाया जा चुका है कि तत्कालीन कृषक-समाज की समस्याओं का कैसा यथार्थवादी चित्रण प्रेमाश्रम में हुआ है। इस संदर्भ में कृषि-समस्या के मूल कारण के रूप में जमींदारी व्यवस्था और उसके संबद्ध पहलुओं का भी नातिदीर्घ परिचय दिया गया था। वह पूरा विवरण प्रस्तुत इकाई के लिए भी उपयोगी है। दुहराव से बचते हुए यहाँ कुछ अन्य पहलुओं पर प्रकाश डालना उचित होगा। आप से यह अपेक्षा की जाती है कि आप पिछली इकाई में प्रस्तुत किये गये तथ्यों को इस विवेचन के साथ जोड़कर देखेंगे।

प्रेमाश्रम में तत्कालीन समाज के तीन वर्गों की जीवंत तस्वीर उभरती है। ये हैं - जमींदार, किसान और मध्यमवर्ग। इनमें से जमींदार और जमींदारी का खाका खींचने में उपन्यास के सर्वाधिक पृष्ठ काम आए हैं। किसान-जीवन का चित्रण अपेक्षाकृत कम पृष्ठों में किंतु उतना ही गहन है। मध्यमवर्ग से संबंधित अंश सबसे कम हैं और वे उस वर्ग के परिचय की दृष्टि से पर्याप्त नहीं कहे जा सकते, फिर भी कथाकार के अत्यंत महत्वपूर्ण अवलोकनों को वहाँ स्थान मिला है।

9.3.1 जमींदार

डॉ. वीरभारत तलवार ने लिखा है -

> "प्रेमाश्रम में किसानों से अधिक जमींदारों की कहानियाँ हैं। लेनिन ने टॉलस्टॉय के बारे में लिखा था कि उनका साहित्य पढ़कर रूस का मेहनतकश वर्ग अपने वर्ग-शत्रुओं को और भी अच्छी तरह पहचान सकेगा। यह बात प्रेमचंद के बारे में भी कही जा सकती है।"

ज्ञानशंकर, गायत्री देवी, राय कमलानंद और प्रभाशंकर-जैसे चरित्रों के माध्यम से प्रेमचंद ने तत्कालीन जमींदार वर्ग की बहुत मुकम्मिल तस्वीर पेश की है, इस बात में दो राय नहीं हो सकती। प्रभाशंकर और ज्ञानशंकर को आमने-सामने रखकर उन्होंने किस प्रकार पुराने जमींदार और नये जमींदार के फर्क को रेखांकित किया है और कैसे इस फर्क को अंग्रेजी राज में उभरती नयी परिस्थितियों से जोड़कर दिखलाया है, यह हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। हमने यह भी देखा है कि एक दलाल तबके के रूप में अपनी शोषक सत्ता को बरकरार रखने और अपनी आमदनी को लगातार बढ़ाते रहने के लिए यह वर्ग कैसे अमानवीय उपायों का सहारा लेता रहा है। वस्तुतः इस वर्ग को इसकी तमाम नीचताओं के साथ प्रेमचंद ने पहचाना और चित्रित किया है। पर साथ ही उन्होंने इन नीचताओं के वस्तुगत कारणों की भी शिनाख्त की है। अंग्रेजी राज द्वारा प्रदत्त अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण निठल्ली अय्याशियों को भोगने का जो अभ्यास यह वर्ग अपने अंदर विकसित कर चुका था, उसके बीच इन नीचताओं का पनपना स्वाभाविक था। राय कमलानंद विष दिये जाने के बाद ज्ञानशंकर से जो बातें कहते हैं, उसका एक महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार है -

> "इसे रियासत कहना भूल है, यह निरी दलाली है। . . . तुम कहोगे, रियासत इतनी बुरी चीज है, तो इसे छोड़ क्यों नहीं देते? हाँ, यही तो रोना है कि इस रियासत ने हमें विलासी, आलसी और अपाहिज बना दिया, हम किसी काम के नहीं रहे। हम पालतू चिड़ियाँ हैं, हमारे पंख शक्तिहीन हो गये हैं। हममें अब उड़ने की सामर्थ्य नहीं

है। हमारी दृष्टि सदैव अपने पिंजरे के कुल्हिये और प्याली पर रहती है, हमने अपनी स्वाधीनता को मीठे टुकड़ों पर बेच दिया है।"

राय कमलानंद की इस स्वीकारोक्ति के माध्यम से प्रेमचंद यह साफ दिखलाते हैं कि अंग्रेजों ने निठल्ले दलालों के इस तबके को अय्याशियों की जो आदत डाल दी है, वह इन्हें किसी भी हद तक पतन का शिकार बना सकती है। पूरे उपन्यास में यह वर्ग अंग्रजों का जबर्दस्त हितैषी और किसानों के प्रति तथा उस कृषि-कार्य के प्रति, जो उसकी आमदनी का प्रमुख आधार है, पूर्णतया उपेक्षाशील दिखलाया गया है। प्रेमशंकर को जिस ताल्लुकेदार एसोसिएशन के अधिवेशन में अपना पर्चा पढ़ने के लिए आमंत्रित किया जाता है, उसकी स्थिति का कच्चा चिट्ठा पेश करके कथाकार ने तत्कालीन भारत में इस वर्ग की भूमिका को बड़ी कुशलता से स्पष्ट किया है। प्रेमशंकर के यह पूछने पर कि 'ऐसी संस्थाओं से देश का क्या उपकार होगा?', राय कमलानंद कहते हैं -

"उपकार क्यों नहीं होगा? क्या आपके विचार में जाति का नेतृत्व निरर्थक वस्तु है? आजकल तो यही उपाधियों का सदर दरवाजा हो रहा है। सरल भक्तों का श्रद्धास्पद बनना क्या कोई मामूली बात है? बेचारे जाति के नाम पर मरने वाले सीधे-सादे लोग दूर-दूर से हमारे दर्शनों को आते हैं, हमारी गाड़ियाँ खींचते हैं, हमारी पदरज को माथे पर चढ़ाते हैं। क्या यह कोई छोटी बात है? और फिर हममें कितने ही जाति के सेवक ऐसे हैं जो सारा हिसाब मन में रखते हैं, उनसे हिसाब पूछिए तो वह अपनी तौहीन समझेंगे और इस्तीफे की धमकी देंगे। इसी संस्था के सहायक मंत्री की वकालत बिल्कुल नहीं चलती; पर अभी उन्होंने बीस हजार का एक बंगला मोल लिया है। जाति से ऐसे भी लेना है, वैसे भी लेना है, चाहे इस बहाने से लीजिए, चाहे उस बहाने से लीजिए !"

इसी मौके पर कृषि की उन्नति के संबंध में प्रेमशंकर के विचारों पर टिप्पणी करते हुए राजा इन्द्रकुमार सिंह साफ कहते हैं -

"आपके बनाए हुए यंत्र कोई सेंत में भी न लेगा। आपकी रासायनिक खादें पड़ी सड़ेंगी। बहुत हुआ तो आप पांच-सात सैंकड़े मुनाफा दे देंगे। इससे क्या होता है? जब हम दो-चार कुएं खोदवाकर, पटवारी से मिलकर कर्मचारियों का सत्कार करके आसानी से आमदनी बढ़ा सकते हैं, तो यह झंझट कौन करे?"

ये अंश जमींदार वर्ग की काहिली और नकारेपन का ही नहीं, उसके अमानवीय रवैये का भी सफल निदर्शन हैं। यह वर्ग ऐसा है, जिसके दिलो-दिमाग में किसी सार्थक, समाजोपयोगी काम को अंजाम देने की सदिच्छा शेष नहीं है। अपने ऊपर बैठे अंग्रेज हुक्काम और सरकारी अफसरान को खुश रखकर तथा अपने पैरों के नीचे दबी किसान जनता को और कुचलकर यह वर्ग स्वार्थ-साधन में मग्न रहता है। इसीलिए अधिवेशन में प्रेमशंकर को पर्चा पढ़ने के लिए आमंत्रित करने के बावजूद ये लोग प्रेमशंकर के विचारों में किसी तरह की दिलचस्पी नहीं दिखलाते और जब उन्हें यह अहसास हो जाता है कि यह व्यक्ति स्वराज्यवादी है, तो उनका रवैया और भी उपेक्षापूर्ण हो जाता है। "इस कारण से किसी ने उनसे निबंध पढ़ने के लिए आग्रह नहीं किया, यहाँ तक कि गार्डन पार्टी ने उन्हें निमंत्रण भी न दिया। यह रहस्य लोगों पर उनके आने के एक दिन पीछे खुला था; नहीं तो कदाचित् उनके पास लेख पढ़ने का आदेश-पत्र भी नहीं भेजा जाता।"

जमींदारों-ताल्लुकेदारों के अमानवीय अत्याचारों और छल-प्रपंचों का खुलासा उपन्यास में आद्यन्त दिखलायी पड़ता है। तत्कालीन भारत के इस कठोर यथार्थ को चित्रित करने में प्रेमचंद ने कोई चूक नहीं की है। यहाँ ज्ञानशंकर-जैसे प्रकट खलपात्र को ही नहीं, गायत्री देवी-जैसी सदाशयी महिला को भी असामियों के घरों में आग लगवाते और उन्हें मुश्कें बाँध कर पिटवाते देखा जा सकता है। कथाकार ने इस वर्ग के बौद्धिक और आध्यात्मिक दिखावों की भी पहचान करायी है। ज्ञानशंकर का ऊर्जस्वी लेखन, राय कमलानंद का योग-प्रेम, ज्ञानशंकर और गायत्री देवी की आडंबरपूर्ण कृष्ण-भक्ति, गायत्री देवी की प्रचारप्रिय दानशीलता - इन सबके माध्यम से इस वर्ग के दो मुंहे चरित्र को उसने बेनकाब किया है।

9.3.2 किसान

1918 में, जब प्रेमचंद इस उपन्यास की रचना-परिकल्पना में जुटे होंगे, उन्होंने 'स्वदेश' के प्रवेशांक में किसान-हितों की जोरदार हिमायत करते हुए लिखा था -

> "हमारे कृषक अब भी नीच समझे जाते हैं। उनसे अब भी बेगार ली जाती है। उन पर नाना प्रकार के अत्याचार किये जाते हैं। स्वार्थान्ध जमींदारगण उन्हें सताने और कुचलने में अब भी संकोच नहीं करते। हमारे ऊपर मूर्खता का वही पुराना साम्राज्य है। हमारी जनता (कृषक वर्ग) जो प्रधानतः देहातों में रहती है, उसे जगाना, उसे अपनाना, उसकी उपेक्षा न करके उसके प्रति प्रेम और संवेदना के भाव प्रकट करना प्रत्येक स्वदेशाभिमानी का प्रधान कर्तव्य है।"

प्रेमाश्रम की रचना कर प्रेमचंद ने एक तरह से इसी कर्तव्य का निर्वाह किया था। पूरे उपन्यास में किसानों की दुरवस्था और उस दुरवस्था के कारणों का अत्यंत संवेदनशील अंकन हुआ है। प्रारंभ के पृष्ठों में ही 20 बीघे का काश्तकार मनोहर अपने घर की दुर्दशा की सूचना देता हुआ कहता है - "घर में कुछ पूंजी भी तो हो ! अभी रब्बी में महीने की देर है और घर में अनाज का दाना नहीं है। गुड़ एक सौ रुपये से कुछ ऊपर ही हुआ है, लेकिन बैल बैठाऊ हो गया है। 150 रुपये लगेंगे, तब कहीं एक बैल आवेगा।" दुखरन भगत का रोना है - "पाँच बीघे रब्बी बोयी थी, लेकिन 10 मन की भी आशा नहीं है, और गुड़ का तुम जानते ही हो जो हाल हुआ। कोल्हाड़े से ही बिसेसर शाह ने तोल लिया। बाल-बच्चों के लिए शीरा तक न बचा। देखें भगवान कैसे पार लगाते हैं !"

खेती पर निर्भर इस पूरे समुदाय की ऐसी गरीबी के चित्र उपन्यास में जगह-जगह अंकित हैं। सबसे सघन ब्यौरा उस प्रसंग में आता है, जहाँ भावी जमींदार मायाशंकर अपने इलाके का दौरा करते हैं। मायाशंकर का अनुभव इस प्रकार है -

> "चारों तरफ तबाही छायी हुई थी। ऐसा बिरला ही कोई घर था, जिसमें धातु के बर्तन दिखायी देते हों। कितने घरों में लोहे के तवे तक न थे। मिट्टी के बर्तनों को छोड़कर झोपड़े में और कुछ न दिखायी देता था। न ओढ़ना, न बिछौना, यहाँ तक कि बहुत-से घरों में खाटें तक न थीं और वह घर ही क्या थे? एक-एक, दो-दो छोटी कोठरियाँ थीं। एक मनुष्यों के लिए, एक पशुओं के लिए। उसी एक कोठरी में खाना, सोना, उठना-बैठना सब कुछ होता था। बस्तियाँ इतनी घनी थीं कि गाँव में खुली हुई जगह दिखायी ही नहीं देती थी। किसी के द्वार पर सहन नहीं, हवा और प्रकाश का शहरों की घनी बस्तियों में भी इतना अभाव न होगा। जो किसान बहुत संपन्न समझे जाते थे, उनके बदन पर साबित कपड़े न थे, उन्हें भी एक जून चबेना पर ही काटना पड़ता था। वह भी ऋण के बोझ से दबे हुए थे। अच्छे जानवरों को देखने को आँखें तरस जाती थीं। जहाँ देखो छोटे-छोटे मरियल, दुर्बल बैल दिखायी देते थे और खेतों में रेंगते और चरनियों पर औंघते थे। कितने ही ऐसे गाँव थे, जहाँ दूध तक न मयस्सर होता था।"

प्रेमचंद इस स्थिति के कारणों को भी पूरे विस्तार के साथ चित्रित करते हैं। वस्तुतः पूरा उपन्यास एक तरह से इन्हीं कारणों का खुलासा है। हमने पिछली इकाई में घटती हुई उत्पादकता, लगान-वृद्धि, बेगार, नजराना और सरकारी अधिकारियों को पहुँचाई जानेवाली रसद इत्यादि पर विचार किया था और इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि प्रेमचंद जमींदारी प्रथा तथा औपनिवेशिक शासन-तंत्र के शैतानी गठबंधन को शोषण के इन सभी रूपों के लिए आखिरी तौर पर जवाबदेह मानते हैं। जिस बात की चर्चा पिछली इकाई में नहीं हो पायी थी, वह है किसानों का प्रतिरोध। उस दौर का भारतीय किसान शोषण का बिल्कुल मूक शिकार नहीं रह गया था। किसान-प्रतिरोध की घटनाएँ जगह-जगह दिखलाई पड़ने लगी थीं और उनका सबसे बड़ा उभार - अवध का किसान-आंदोलन - प्रेमाश्रम के रचनाकाल में फूट पड़ने को तैयार था। प्रेमचंद ने किसान तबके के इस यथार्थ को पहचानने में चूक नहीं की है। रामविलास शर्मा ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि "प्रेमचंद की कला इस बात में है कि वे हिंदुस्तान के बदलते हुए किसान का चित्र खींच सके हैं। . . . पहाड़ की तस्वीर खींचना

मौजीलाल, बिसेसर शाह, सुक्खू चौधरी, डॉ. प्रियनाथ चोपड़ा, बैरिस्टर इर्फान अली, ईजाद हुसैन - इन सबका हृदय कथा के प्रवाह में किसी-न-किसी वजह से अपनी संकीर्णता छोड़कर विशाल होता जाता है। राय कमलानंद जमींदारी से विरक्त होकर साधु बन जाते हैं। पटवारी मौजीलाल अपने बेटे के निधन को ईश्वरीय दंड मानते हुए किसानों के पक्ष में गवाही देते हैं। बिसेसर साह और सुक्खू चौधरी शोषकों का साथ देना छोड़कर किसान-हितों के हामी हो जाते हैं। डॉ. प्रियनाथ चोपड़ा और बैरिस्टर इर्फान अली प्रेमशंकर के हृदय की विशालता देखकर अपनी करनी पर लज्जित होते हैं और अंततः प्रेमाश्रम की गतिविधियों में उनके सहकर्मी बन जाते हैं। ईजाद हुसैन भी कौमी एकता का ढोंग छोड़कर सच्ची समाज-सेवा में प्रेमशंकर के सहयोगी बन जाते हैं। इन सबके अलावा स्वयं प्रेमशंकर, ज्वाला सिंह, मायाशंकर-जैसे पात्र तो इस उपन्यास में हैं ही, जिन्हें अपने आदर्शों के पीछे बड़ी-बड़ी सुविधाओं का त्याग करते दिखलाया गया है।

हृदय-परिवर्तन और आदर्शों का जुनून हर जगह अस्वाभाविक नहीं लगता। प्रेमाश्रम जिस दौर की रचना है, उसमें भारतीय समाज एक गहरी उथल-पुथल से गुजर रहा था। अपनी सुविधाओं का त्याग कर देशव्रती बन जाने वाले लोगों की तब खासी तादाद हुआ करती थी। स्वयं प्रेमचंद ने फरवरी, 1921 में, अर्थात् प्रेमाश्रम का उर्दू मसौदा पूरा करने के आसपास असहयोग आंदोलन की लहर में अपनी 20 साल पुरानी सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया था। स्वाधीनता आंदोलन के इस आदर्शवादी जुनून को देखते हुए प्रेमाश्रम की पात्र-परिकल्पना का आदर्शवाद भी कई जगह युग-यथार्थ की ही अभिव्यक्ति प्रतीत हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन प्रेमचंद जिस तरह एक-के-बाद-एक सभी नकारात्मक चरित्रों को इस झोंक में बहा ले जाते हैं, वह स्वाभाविक नहीं लगता। अगर वास्तविक सामाजिक स्थितियाँ प्रेमचंद द्वारा परिकल्पित औपन्यासिक स्थितियों के अनुरूप होतीं, तो समाज के अंतर्विरोध चुटकियों में हल हो जाते और हम जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ। इसका मतलब यह कि आदर्शों की जो लहर तत्कालीन समाज में चल रही थी, उसे उपन्यासकार की कल्पना ने बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखा है और कल्पना के उसी रंग में रंगते हुए अपने कथानक एवं चरित्र-विकास को अस्वाभाविक बना दिया है।

(ख) किसानों की समस्याओं का समाधान : किसानों की दुरवस्था और शोषक तंत्र के प्रतिनिधियों के साथ उनके संबंधों के कठोर यथार्थवादी चित्र देने के बाद प्रेमचंद ने उस दुरवस्था का जो समाधान दिखलाया है, वह उनकी सदिच्छा के आरोपण से अधिक कुछ नहीं है। इस विषय पर पिछली इकाई में विचार किया जा चुका है। उसमें सिर्फ इतना और जोड़ने की जरूरत है कि तत्कालीन भारत की वास्तविकता इससे बहुत अलग थी। प्रेमाश्रम में प्रेमशंकर और मायाशंकर-जैसे विशाल-हृदय जमींदार उस समाधान को संभव करते हैं। जमींदारों के ऐसे त्याग से उनके जमींदारी इलाकों में रामराज्य के आ जाने की कोई गवाही उस दौर के भारत का इतिहास नहीं देता। अवध के किसान-आंदोलन के बीच जब-जब सुलह-वार्ता की कोशिशें हुईं, जमींदारों-ताल्लुकेदारों ने बेगार और नजराना लेने तक का अपना अधिकार छोड़ने से साफ मना किया। जमींदारों ने ही नहीं, कांग्रेसी नेतृत्व ने भी अपने भीतरघात से उस विराट आंदोलन की रीढ़ तोड़ देने में कोई कसर नहीं छोड़ी। अंततः एकमात्र उपलब्धि के रूप में बेदखली की दफा मंसूख करवाकर किसानों ने इस आंदोलन को स्थगित कर दिया। इस युग-यथार्थ के तहत प्रेमाश्रम की कथा के अंत को देखें, तो वह प्रेमचंद के आदर्शवाद का एक आदर्श उदाहरण प्रतीत होता है। कथा की यह आदर्शवादी परिणति किस प्रकार गांधी के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन की जरूरतों से मेल खाती थी, इसकी चर्चा हम पिछली इकाई में कर देख चुके हैं।

9.5 सारांश

प्रेमाश्रमकार ने अपने समय की सामाजिक वास्तविकताओं को कथात्मक रूप देने में चूक नहीं की है, लेकिन उस वास्तविकता की सीमाओं का ध्यान न रखते हुए उसने कथा को अपने आदर्शों के अनुरूप मनमानी परिणति तक पहुँचाया है। कथा के बहुलांश में प्रेमचंद एक यथार्थवादी कलाकार की तरह प्रकट होते हैं, किंतु उनका यथार्थवाद आदर्शोन्मुख है। उन्हीं

के शब्दों में कहें, तो प्रेमाश्रम में 'आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग' किया गया है। यह एक अलग बात है कि आज के पाठक-आलोचक के लिए प्राथमिकताएँ बदल गयी हैं। जिस यथार्थ-चित्रण को प्रेमचंद मात्र साधन की तरह इस्तेमाल करना चाहते थे, वह आज के पाठक-आलोचक के लिए प्राथमिक महत्व की वस्तु है और जो आदर्श-स्थापन उनका साध्य था, वह आज उनकी उपन्यास-कला का कमजोर पक्ष जान पड़ता है।

9.6 अभ्यास प्रश्न

1. 'प्रेमाश्रम में अपने युग के अंतर्विरोधों का यथार्थवादी चित्रण हुआ है, लेकिन कथानक एवं चरित्रों का विकास मुख्यतः आदर्शवाद की दिशा में है।' इस कथन पर विचार कीजिए।

2. प्रेमचंद की आदर्शोन्मुख यथार्थवाद-संबंधी धारणा को स्पष्ट करते हुए प्रेमाश्रम में उसका प्रतिफलन किस प्रकार हुआ है, इसकी चर्चा कीजिए।

इकाई 10 'प्रेमाश्रम' का औपन्यासिक शिल्प

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 'प्रेमाश्रम' की कथावस्तु एवं कथा संयोजन

10.3 'प्रेमाश्रम' में सामाजिक-सांस्कृतिक चित्रण

10.4 'प्रेमाश्रम' की पात्र - योजना

10.4.1 प्रमुख पुरुष पात्र

10.4.2 प्रमुख नारी पात्र

10.5 भाषिक - योजना

10.6 सारांश

10.7 अभ्यास प्रश्न

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम 'प्रेमाश्रम' का एक उपन्यास के रूप में मूल्यांकन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- 'प्रेमाश्रम' की कथा तथा उसमें घटना संयोजन आदि का परिचय दे सकेंगे;
- 'प्रेमाश्रम' की पात्र-योजना एवं प्रमुख पात्रों की चरित्रिक विशेषताओं की चर्चा कर सकेंगे;
- 'प्रेमाश्रम' में विविध पात्रों एवं स्थितियों के अनुसार परिवर्तित प्रेमचंद की भाषा का विवेचन कर सकेंगे; और
- 'प्रेमाश्रम' के शिल्प की अन्य विशेषताओं का परिचय दे सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

जब हम किसी उपन्यास का अध्ययन करते हैं तब हमारे समक्ष एक नया परिवेश, कुछ नये चरित्र, कोई कहानी या कई कहानियाँ एक साथ चित्रित होती हैं। हम भी उस कथानक या कथावस्तु, परिवेश के अंग हो जाते है। उपन्यास को समग्रता में समझने और जानने के लिए उसकी कथा, अन्तर्वस्तु, चरित्र, परिवेश, भाषा आदि को जानना और समझना बहुत जरूरी हो जाता है। यही जरूरत एक उपन्यास के रूप में उस कृति का मूल्यांकन करने की क्षमता प्रदान करती है। इस इकाई में हम प्रेमाश्रम का 'एक उपन्यास के रूप में' मूल्यांकन करेंगे। प्रेमाश्रम का प्रकाशन सन् 1922 में हुआ। अंग्रेजों के आने से पहले गाँव आत्मनिर्भर थे। अंग्रेजों ने भारत की परम्परा से चली आ रही आर्थिक व्यवस्था को समाप्त करके नयी व्यवस्था लागू की। इस व्यवस्था के अंतर्गत किसानों से भूमि के सभी अधिकार छीन कर जमींदारों को दे दिए गए और जमींदार को भूमि का अधिपति बना दिया गया। उनसे एक लगान की एक निश्चित राशि तय कर दी गई। लगान वसूलने के लिए जमींदार किसानों का शोषण करने लगे, उन पर मनमाना अत्याचार करने लगे। इस व्यवस्था से राष्ट्रीयता को भी धक्का पहुँचा क्योंकि जमींदार वर्ग अंग्रेजी राज के समर्थक बन गए। उनकी चापलूसी करने लगे। उन्होंने प्रतिरोधों और विद्रोहों में अंग्रेजों का साथ दिया। सरकार ने भी किसानों की दशा में सुधार करने की अपेक्षा जमींदारों को ही अधिक समर्थन दिया और उनके अधिकारों में वृद्धि की। मद्रास और बम्बई की रेयतवाड़ी व्यवस्था में भी किसान द्वारा लगान

न चुकाने पर उसे बेदखल कर दिया जाता था। स्थायी बन्दोबस्त व्यवस्था के चलते कृषक समाज की दशा शोचनीय हो गयी। परिवार के लिए भोजन की व्यवस्था चाहे न हो लेकिन उसे लगान की निश्चित राशि तो चुकानी ही पड़ती थी। ऐसी विषम परिस्थितियों में कृषक की दशा बदतर होती गयी। प्रेमचंद ने इस समाज को करीब से देखा था। उन्होंने प्रेमाश्रम में इस कृषक समाज की इसी शोचनीय दशा के चित्रण का सार्थक प्रयास किया। यह उपन्यास हमें उस युग के किसानों के कष्टों से साक्षात्कार तो करवाता ही है साथ ही हमें 'प्रेमाश्रम' की स्थापना और मायाशंकर जैसे जमींदार के रूप में नवीन चेतना की लहर और किसानों की खुशहाली की ओर भी देखने को मजबूर करता है। पाठक की पूरी सहानुभूति उन किसानों से है जो मनोहर, कादिर, बलराज, आदि के रूप में यहाँ विद्यमान हैं।

10.2 'प्रेमाश्रम'की कथावस्तु एवं कथा संयोजन

'प्रेमाश्रम' उपन्यास का लेखन ऐसे दौर में हुआ जब जमींदारों और ताल्लुकेदारों ने अंग्रेजी राज का समर्थन और सहयोग पाकर किसानों का शोषण करने, बेगारी कराने तथा लगान वसूलने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। इन सबसे भारतीय कृषक वर्ग त्रस्त था। प्राकृतिक आपदाएँ, बाढ़, महामारी, अकाल आदि के रूप में उन पर कहर ढातीं और बाकी कसर जमींदार पूरा करते। लेकिन एक समय आया कि कृषक वर्ग में जमींदरों के अत्याचारों और शोषण से तंग आकर विद्रोह की ज्वाला भड़की। प्राकृतिक आपदाओं पर तो उनका कोई वश नहीं था लेकिन जमींदार वर्ग का प्रतिरोध तो वे कर ही सकते थे। 'प्रेमाश्रम' ऐसे ही कुछ विद्रोही किसानों की कहानी भी कहता है। प्रेमाश्रम में जमींदारों के दो वर्ग हैं - एक वर्ग नियम कानून में बंधा हुआ है और किसानों पर अत्याचार करने की अपेक्षा उन्हें साथ लेकर चलता है। दूसरा वर्ग अंग्रेजी राज की शह में किसानों का शोषण कर ऐश्वर्य सुख का भोग करना चाहता है। पूरे उपन्यास में दूसरे वर्ग के जमींदार, ज्ञानशंकर का आतंक है लेकिन उपन्यास के अंत में विजय जमीदारों के प्रथम वर्ग की ही होती है किसानों का विद्रोह अनेक कष्टों और व्यथाओं के बाद उन्हें सुख की भूमि प्रदान करता है। प्रेमचंद की कल्पना ऐसे ही कृषक संसार की थी जो अपनी भूमि के स्वामी स्वयं हों।

'प्रेमाश्रम' की कथा लखनपुर में जमींदार के आतंक से शुरू होती हुई लखनऊ, गोरखपुर पहुँचती है और फिर अंत में लखनपुर की खुशहाली की तरफ मुड़ती है। इस पूरी कथा के जिम्मेदार लखनपुर के जमींदार ज्ञानशंकर हैं, जिनकी 'आशाओं' का स्वर्ग लखनपुर है। उनकी आशाएँ बड़ी-बड़ी हैं। वे 'अपने परिवार को फिर समृद्धि और सम्मान में शिखर पर ले जाना चाहते थे।'' इसके लिए वे लखनपुर के किसानों का शोषण करने के वे सभी हथकंडे अपनाते हैं जों उन्हें 'प्रेमचंद के उपन्यास साहित्य में तमाम खल पात्रों का सिरमौर' सिद्ध करते हैं। लेकिन लखनपुर के किसानों में भी जागृति की चेतना जोर मार रही है जिसकी शुरुआत मनोहर और बलराज करते हैं। वे इन अत्याचारों को चुपचाप सहने वालों में से नहीं हैं। उपन्यास के प्रारम्भ से ही इस विद्रोह की चिनगारी हमें दिखाई देती है। बड़े सरकार की बरसी के लिए घी की आवश्यकता है। लखनपुर के जमींदार ज्ञानशंकर का हुक्म है कि असामियों को घी के रूपये दो। रूपये सेर का भाव दिया जाएगा जबकि बाजार का भाव दस छटाँक का है। मनोहर रूपये लेने और घी देने से इन्कार कर देता है। जमींदार का चपरासी उसे धमकाता है- 'जब जमींदार की जमीन जोतते हो तो उसके हुक्म से बाहर नहीं जा सकते।' मनोहर भी कम नहीं। गर्म होकर कहता है ''जमीन कोई खैरात जोतते हैं? इसका लगान भी देते हैं। एक किस्त भी बाकी पड़ जाए तो नालिस होती है।'' उसके इस विद्रोह में उसका पुत्र बलराज उससे एक कदम आगे है - 'कोई हमसे क्यों घी माँगे? किसी का दिया खाते है कि किसी के घर माँगने जाते हैं? अपना तो एक पैसा नहीं छोड़ते, तो हम क्यों धौंस सहें?' इस विद्रोह का नतीजा निकलता है, जमींदार द्वारा मनोहर पर इजाफा लगान का दावा करके। यहीं से उपन्यास में जमींदार और असामी के संघर्ष का प्रारम्भ होता है। यहाँ हमें सन् 1921 के अवध - किसान - आंदोलन का आभास भी मिलता है। इस आंदोलन की मुख्य मांगें भी वहीं थीं जिनका चित्रण जमींदार किसान संघर्ष में 'प्रेमाश्रम'में किया गया है। इनमें बेगार पर रोक, बेदखली पर रोक, गैरकानूनी टैक्स पर रोक मुख्य थीं।

उपन्यास में आगे चलकर लखनपुर के जमींदार की महत्वाकांक्षा उसे लखनऊ की ओर प्रेरित करती है, जो उसका ससुराल है। यहाँ भी वारिस न होने पर वह पूरी रियासत हथियाना

चाहता है। इसके लिए उसे कई प्रपंच करने पड़ते हैं। वह अपने श्वसुर रायसाहब के बड़प्पन की ओर आकृष्ट होता है, समालोचक बनता है, समाज में अपना मान और आदर करवाता है। धीरे-धीरे कथा ज्ञानशंकर को गोरखपुर की तरफ खींच ले जाती है। वह अपनी साली के प्रति प्रेमासक्त होता है। उसकी भी संपत्ति वह अपने पुत्र को दिलाना चाहता है। अनेक हथकंडों से वह उसकी रियासत का मैनेजर बनता है। "उसके सद्प्रयत्नों, कार्य कुशलता और महत्वाकांक्षा के फलस्वरूप आय में वृद्धि और व्यय में कमी होती है।" तीन वर्ष तक उसके कारण सारी रियासत में हाहाकर मचा रहता है। यहाँ सब ठीक चल रहा था कि अचानक लखनपुर में फौजदारी हो जाती है। लखनपुर वापस लौटकर अत्याचारी जमींदार दैविक विपत्ति से जर्जर असामियों के घरों में आग लगवाता है, उनके जीवन स्रोत रूपी तालाब का पानी बन्द करवा देता है, उनके चरावर को रोकने को हुक्म देता है। अब गाँववाले एक हो जाते हैं। मनोहर और बलराज तो विद्रोही थे ही, गाँववालों में भी एका हो जाता है। वे भी जमींदार के शोषण का विरोध करने पर उतारू हो जाते हैं। जो गाँववाले मनोहर और बलराज की 'जान के घातक' थे वे अब उनकी बोली में अपनी आवाज़ मिलाने को तत्पर हो गए। यही नहीं उपन्यास में आगे चलकर जब गौस खाँ की हत्या के आरोप में पुलिस द्वारा डाक्टर प्रियनाथ से गलत रिपोर्ट बनवाकर बहुत से गाँव वालों की हत्या को आरोप में फँसाया जाता है। जिस दिन फैसला सुनाया जाने वाला था उस दिन गाँव वाले विद्रोह कर देते हैं। यहाँ तक डॉक्टर साहब उन्हें धमकाते हैं। पर 'यह न समझे कि साधारणत: जो लोग आँख के इशारे से काँप उठते हैं, वे विद्रोह के समय गोलियों की भी परवाह नहीं करते।' उपन्यास में प्रेमचंद की इस टिप्पणी पर रामविलास शर्मा का कहना है - 'विद्रोह - किसके प्रति विद्रोह? स्पष्ट ही अंग्रेजी राज के प्रति विद्रोह। असहयोग आंदोलन से पहले यह विद्रोह-भावना जनता में विद्यमान थी। विद्रोह के समय गोलियों की परवाह न करना, यह भावना गांधीवाद की देन थी; वह जनता की सहज देशभक्ति का विकास थी।' यानी किसान आंदोलन अपनी पूरी फॉर्म में बढ़ रहा था और 'प्रेमाश्रम' में उसका यह रूप प्रेमचंद ने दिखाने का प्रयत्न किया है। यही नहीं गाँववालों का विद्रोह उस डॉक्टर का हृदय-परिवर्तन भी कर देता है और उसकी गवाही बंदी गाँववालों के अनुकूल होती है। अंतत: गाँव वाले हत्या के आरोप से बरी भी हो जाते है। यहीं प्रेमचंद का आदर्शवाद है।

उपन्यास में एक और कथा जमींदार 'प्रेमशंकर' की भी चलती है। उनका भाई ज्ञानशंकर आततायी जमींदार के रूप में किसानों के शोषण में कोई कसर नहीं छोड़ता, वहीं दूसरी ओर अमरीका से पढ़कर आए प्रेमशंकर किसानों की सहायता करने और उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सचेत करते रहते हैं। वे 'प्रेमाश्रम'की स्थापना करते हैं जो प्रेमचंद के आदर्श के सर्वथा अनुकूल है। इस कथा के साथ ही राय साहब से संबंधित कथाएँ लखनऊ मसूरी और नैनीताल में चलती हैं। वे भी जमींदार वर्ग के है और अंग्रेज राज की नीति के कायल हैं। उपन्यास गोरखपुर की कथा गायत्री के माध्यम से कही गई है। वास्तव में "प्रेमाश्रम में एक से अधिक कथाएँ हैं। ज्ञानशंकर, प्रेमशंकर, कमलानंद और गायत्री जमींदार वर्ग के हैं। उपन्यास की एक कथा इनके जीवन और समस्याओं पर प्रकाश डालती है। मनोहर, बलराम, कादिर और अन्य पात्र दूसरे वर्ग के हैं। दूसरी कथा गरीबों की कठिनाइयों और परेशानियों का चित्रण करती है।' (हजारी प्रसाद द्विवेदी) देखा जाए तो प्रेमाश्रम में जमींदार और किसान के संघर्ष की कथा को ही प्राथमिकता दी गई है। जमींदारों के शोषण एवं किसानों के कष्टों एवं विपत्तियों का लेखा जोखा प्रस्तुत किया गया है, और अंतत: 'प्रेमाश्रम' की स्थापना का आदर्श प्रस्तुत किया गया है।

10. 'प्रेमाश्रम' में सामाजिक-सांस्कृतिक चित्रण

प्रेमाश्रम में जमींदार-कृषक संघर्ष कथा के अंतर्गत ही भारतीय संस्कृति के अनेक रूप भी हमें दिखाई देते हैं। संस्कृति के ये विविध पक्ष में कहीं रूढ़िवादी परंपराओं के रूप में चित्रित हैं तो कहीं तंत्र-मंत्र साधना के रूप में। प्रेमाश्रम के रईस जमींदार राय कमलानंद योग सिद्धि के द्वारा अपने यौवन को अक्षुण्ण बनाने की चाह रखते हैं। वे स्वयं कहते हैं - 'मैं अपने जीवन को चरम सीमा तक ले जाना चाहता था। इसके लिए मैंने कितना संयम किया, कितनी योगक्रियाएँ की, साधु-सन्तों की कितनी सेवा की, जड़ी-बूटियों की खोज में कहाँ-कहाँ मारा-मारा फिरा, तिब्बत और काश्मीर की खाक छानता फिरा।.....मैंने अपनी सारी सम्पति कार्य-सिद्धि पर अर्पण कर दी थी। योग और तन्त्र का अभ्यास इसी हेतु से किया था

कि अक्षय यौवन तेज का आनन्द उठाता रहूँ।'' तंत्र-मंत्र में प्रभाशंकर के पुत्रों, तेज और पद्म का भी विश्वास है। वे ऐसी सिद्धि प्राप्त करना चाहते थे, जिसके सामने धन और ऐश्वर्य की कोई हस्ती न हो। वे मंत्र जगाते हैं और जब उसे सिद्ध कर प्रयोग में लाते हैं तो अन्त मृत्यु के सिवा और कुछ नहीं होता। अन्ततः प्रेमचंद ने तंत्र मंत्र सिद्धि के संबंध में तेजशंकर के मुख से कहलवाया है - "जिस धूर्त पापी ने यह किताब लिखी है, उसे पाता तो इसी तलवार से उसकी गर्दन काट लेता। उसके भ्रम जाल में पड़कर मैंने अपना सर्वनाश किया।' और आगे प्रेमचंद कहते हैं - "मिथ्या विश्वास ने दो लहलहाते जीव-पुष्पों को पैरों से मसल डाला।" इस घटना के संबंध में डॉ. रामविलास शर्मा का कहना हैं - "पाठक को लग सकता है, यह घटना अतिरंजित है, अपवादस्वरूप है। नरबलि के समाचार तो जब-तब अखबारों में छपते ही रहते हैं, **प्रेमाश्रम** की घटना का भयंकर पक्ष यह है कि मंत्र सिद्ध करने के दौरान एक युवक ने अपने ही भाई का बध किया।'

प्रेमशंकर के विदेश से लौटने पर भी उनके विदेश गमन और बहिष्कार का प्रकरण भी उस युग के समाज को प्रतिबिम्बित करता है। प्रेमचंद के विदेश गमन और प्रायश्चित के संबंध में विचार है- 'एक ज़माना था कि भारत के भिक्षुओं ने विदेश यात्रा करके अपने देश और धर्म का गौरव बढ़ाया था। फिर पाखंड का यह चक्र चला कि विदेश जाना पाप हो गया।.....आज भी यहाँ (भारत) के अध्यात्मवादी लोग विदेश जाना पाप समझते हैं और उसके प्रायश्चित स्वरूप गोबर खाते हैं, सिर मुंड़ाते हैं और भोज देते हैं।.....इसी पाखण्ड ने और इन्हीं पाखण्डियों ने भारत को चौपट किया और आज भी उनका वैसा ही पाखंड राज है।' स्पष्ट है कि प्रेमचंद इस पाखण्ड की निन्दा करते हैं और इसे स्वीकार नहीं करते। प्रेमशंकर के माध्यम से उन्होंने अपने इस चिंतन की पुष्टि 'प्रेमाश्रम' में की है। प्रेमशंकर विदेश से लौटने के बाद प्रायश्चित नहीं करने का संकल्प लेते हैं। यद्यपि उनका भाई तथा पत्नी दोनों प्रायश्चित के समर्थक हैं क्योंकि वे बिरादरी के बाहर नहीं हैं लेकिन प्रेमशंकर ने इसका स्पष्ट विरोध किया है। वे कहते है - 'शिक्षा का यह फल होना चाहिए कि तुम बिरादरी के सूत्रधार बनो, उसको सुधारने का प्रयास करो, न यह कि उसके दबाव से अपने सिद्धान्तों को भी बलिदान कर दो।.....मैंने दर्शन शास्त्रों पर कितने ही व्याख्यान दिए, अपने रस्म-रिवाज और वर्णाश्रम धर्म का समर्थन करने में सदैव तत्पर रहा, और मेरा मन इसे कभी नहीं मान सकता कि यहाँ किसी को मुझे विधर्मी समझने का अधिकार है।'' यहाँ स्पष्ट है कि रस्म-रिवाज, वर्णाश्रम धर्म-पर्दा प्रथा आदि भी धर्म और समाज के अभिन्न अंग थे और उनको मानने के कारण प्रेमशंकर को स्वयं पर गर्व है। यहाँ उनका दोहरा व्यक्तित्व है। एक तरफ तो प्रायश्चित को नकार रहे हैं और दूसरी तरफ रस्म-रिवाजों को भी अपना रहे हैं।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचंद ने ग्रामीण समाज का अत्यंत स्वाभाविक चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है, जहाँ मनोहर, बिसेसर, के साथ कादिर मियाँ भी भजन गाते हैं। यह सब ग्रामीण वातावरण में अत्यंत स्वाभाविक एवं सहज लगता है कहीं कोई बनावट नहीं लगती। उस समय के जो संस्कार और परंपराएँ ग्रामीण समाज में जीवित थीं उनका अंकन 'प्रेमाश्रम' में बड़ी कुशलता के साथ किया गया है।

10.4 'प्रेमाश्रम' की पात्र योजना

प्रेमाश्रम के पात्र जमींदार वर्ग के भी हैं और किसान वर्ग के भी, नौकरशाह भी हैं और अंग्रेजी शिक्षा के हिमायती भी। यहाँ जमींदार वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में गायत्री, प्रेमशंकर, ज्ञानशंकर प्रभाशंकर और राय कमलानंद हैं। किसानों के प्रतिनिधि मनोहर, बलराज, कादिर और बिलासी आदि हैं। हाकिम वर्ग में ज्वालासिंह, दयाशंकर आदि आते है। ये पात्र अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'प्रेमाश्रम' के सभी पात्र अपनी-अपनी समस्याओं से जूझते हैं और उनका समाधान भी निकालते हैं। कोई आत्महत्या की ओर अग्रसर होता है तो किसी का हृदय परिवर्तन हो जाता है और वह सन्मार्ग को अपनाता है। यही नहीं, कोई अपने अधिकार की लड़ाई में हत्या करने की ओर भी प्रेरित होता है। प्रेमचंद ने स्वयं कहा है कि 'मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र–मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।' इस उपन्यास में भी प्रेमचंद ज्ञानशंकर, राय कमलानंद, गायत्री, विद्या, मनोहर आदि के चरित्र के रहस्यों को परत-दर-परत खोलते गए हैं। उनके विचार, मानसिक स्थिति, उनके चरित्र के विविध पक्षों से हमें

परिचित कराते चले हैं। यहाँ हम 'प्रेमाश्रम' के चरित्रों को दो वर्गों में विभाजित करके उनकी विशेषताओं पर दृष्टि डालेंगे।

10.4.1 प्रमुख पुरुष पात्र

प्रेमाश्रम के प्रमुख पुरुष पात्रों में जमींदार, किसान, हाकिम, वकील, डॉक्टर आदि लगभग,सभी वर्गों के प्रतिनिधि हैं। जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि प्रेमशंकर, ज्ञानशंकर, प्रभाशंकर और राय कमलानंद जमींदार का ज्वालासिंह तथा दयाशंकर अफसर वर्ग का, मनोहर, बलराज, कादिर, सुक्खू चौधरी, आदि कृषक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

प्रभाशंकर :- लाला प्रभाशंकर पुराने जमींदार हैं और प्रेमशंकर तथा ज्ञानशंकर उनके भतीजे हैं। लाला प्रभाशंकर उस जमींदार वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो नियम कानून में बँधे है। वे सरल प्रकृति के मनुष्य है। किसानों के साथ उनका व्यवहार कठोर और अनियंत्रित नहीं है। मनोहर जब घी के रूपये लेने से इन्कार करता है और ज्ञानशंकर के दरबार में उसकी पेशी होती है तब बिगड़ी हुई बात को प्रभाशंकर अपने 'निर्द्वन्द्वं स्वभाव' के अनुसार निपटाना चाहते हैं - "तुम लोग हमारे पुराने असामी हो, क्या नहीं जानते कि असामियों पर सख्ती करना हमारे यहाँ का दस्तूर नहीं है। ऐसा ही कोई काम आ पड़ता है तो तुमसे बेगार ली जाती है और तुम हमेशा उसे हँसी-खुशी देते रहते हो।" लाला प्रभाशंकर जहाँ एक ओर दयालु और सरल प्रकृति के जमींदार हैं वहीं पारिवारिक स्तर पर भी वे बड़े भाई के पुत्रों को अपनी संतान से भी अधिक प्रेम करने वाले व्यक्ति हैं। यहाँ तक कि स्वार्थान्ध होकर जब उनका भतीजा बँटवारे की इच्छा जाहिर करता है तब भी उनकी सरल प्रकृति उनसे यही कहलाती है - "घर तुम्हारा है, मैं भी तुम्हारा हूँ, जो टुकड़ा चाहो मुझे दे दे, मुझको आपत्ति न होगी।" उनकी यही सरलता बाद में उनके कष्टों का कारण बनती है। क्योंकि उनके संस्कार और मूल्य उनके पुत्रों को भी नहीं मिल पाते।

प्रभाशंकर अंग्रेजी राज के समर्थन से किसानों पर अत्याचार एवं शोषण का रास्ता नहीं अपनाते। उनका नाता किसानों के साथ सहानुभूति का है अतः असामियों द्वारा उनके विरुद्ध 'प्रेमाश्रम' में संघर्ष भी नहीं है। लेखक ने कहीं भी लगान लेने में सख्ती करने, बेगारी कराने या किसानों पर अत्याचार कर उनका शोषण करने में प्रभाशंकर को जिम्मेदार नहीं ठहराया है। जबकि वे भी उसी लखनपुर के जमींदार है जिसे उनका भतीजा बँटवारे में ले लेता है और किसानों का शोषण करने की और उन पर जमींदार के अत्याचार करने की सारी सीमाएँ लाँघ जाता है।

प्रेमशंकर : 'प्रेमाश्रम' में किसान और जमींदार का संघर्ष है। इस संघर्ष के फलस्वरूप 'प्रेमाश्रम' की स्थापना होती है, और इसका श्रेय प्रेमशंकर को है। प्रेमशंकर भी जमींदार वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। वे उपन्यास के खास पात्र और निर्दयी जमींदार ज्ञानशंकर के भाई हैं। प्रेमशंकर को किसानों से सहानुभूति है। वे किसानों के दुःख दर्द में भागी बनते हैं और जमींदार के अत्याचार और शोषण से टूटे और त्रस्त किसानों की यथासंभव सहायता भी करते हैं - धन से, श्रम से। प्रेमाश्रम की स्थापना भी उन्होंने किसानों के हित के लिए ही की है।

प्रेमशंकर छः साल बाद अमेरिका से लौटे हैं। अमेरिका में कृषि शास्त्र का अभ्यास किया और 'दो साल तक एक कृषिशाला में काम भी किया है।' वे अपना सब कार्य स्वयं करते है। विदेश होकर आए हैं तभी उन्हें पराधीनता का पूरा ज्ञान है। उनके विदेश भागने का कारण उनका स्वाधीनता प्रेम था। उनके स्वराज्य आंदोलन में अग्रसर होते ही पुलिस उन्हें फँसाना शुरू कर देती है। यह ज्ञात होते ही कि उन पर अभियोग की तैयारी हो रही है वे विदेश भाग जाते हैं। विदेश जाकर ही उन्हें अनुभव होता है कि "जिन विचारों के लिए मैं यहाँ राजद्रोही समझा जाता था उससे कहीं स्पष्ट बातें अमेरिका वाले अपने शासकों को नित्य सुनाया करते हैं, बल्कि वहाँ शासन की समालोचना जितनी ही निर्भीक हो, उतनी ही आदरणीय समझी जाती है।" लेकिन उनका यह स्पष्ट मानना है कि "यहाँ स्वदेश के देहातों और छोटे शहरों का जीवन उनसे कहीं सुखकर है मेरा विचार भी सरल जीवन व्यतीत करने का है। हाँ, यथासाध्य कृषि की उन्नति करना चाहता हूँ।" वे एक कृषि प्रयोगशाला स्थापित करना चाहते हैं। जिससे वे कृषि की उन्नति तथा सुधार कर सकें। इस कार्य के लिए वे पूरी तन्यमता से तत्पर होते हैं। वे कृषि-प्रयोगशाला की आवश्यकता की ओर उच्च वर्ग का ध्यान आकर्षित करने के लिए समाचार पत्रों में कई लेख छपवाते हैं। इसके फलस्वरूप लखनऊ

की ताल्लुकेदार एसोसियन उन्हें कृषि संबंधी निबंध - पढ़ने के लिए आमंत्रित भी करती है। लखनऊ पहुँचकर उनके स्वाभिमान को धक्का पहुँचता है। उन्हें लगता है कि 'रइसों के सामने हाथ फैलाकर उन्होंने अपने आत्माभिमान को चोट पहुँचाई।' और यहीं से वे अपना अलग रास्ता अपना लेते है। जो किसानों के दु:ख दर्द में बराबर की हिस्सेदारी का है। "किसी गाँव में हैजा फैलने की खबर मिलती कहीं कीड़े, ऊख के पौधे का सर्वनाश किये डालते थे, कहीं आपस में लठियाव होने का समाचार मिलता। प्रेमशंकर डाकियों की भाँति इन सभी स्थानों पर पहुँचते और यथासाध्य कष्ट-निवारण का प्रयास करते।" यानी प्रेमशंकर के रूप में प्रेमचंद ने एक ऐसे आदर्श जमींदार का अंकन किया जिसने स्वाधीनता संग्राम में भी अपना योगदान दिया। जिसने स्वाभिमान से जीना सीखा, जो किसानों का शोषण नहीं करता अपितु उनकी यथा संभव सहायता करता है। उन्हें उनके अधिकारों के प्रति सचेत करता है। यहाँ तक कि उन पर किसान सभा का आदमी होने का भी संदेह किया जाता है जो किसानों को भड़काते हैं।

प्रेमशंकर परमार्थ को सर्वोपरि मानते हैं। दूसरों के हित के लिए काम करने में उन्हें अपनी तनिक भी परवाह नहीं। बाढ़ आने पर प्रेमशंकर गाँव के निवासियों को बचाने का ऐसा उत्साह दिखाते हैं कि सारे गाँव वाले भी उनके साथ हो लेते हैं - "यह रक्षक - दल सारी रात पशुओं के उद्धार का कार्य करता रहा। उनका साहस अदम्य और उद्योग अविश्रान्त था।" लेकिन यह परोपकार उन्हें भारी पड़ता है। "प्रेमशंकर अपने झोंपड़े पर पहुँचे तब दो सौ से अधिक पशुओं को आनन्द से बंधे जुगाली करते हुए देखा। लेकिन इतनी कड़ी मेहनत कभी न की थी। ऐसे थक गए कि खड़ा होना मुश्किल था। अंग-अंग में पीड़ा हो रही थी। आठ बजते-बजते उन्हें ज्वर हो आया।" लेकिन इससे भी उनके उत्साह में कोई कमी न हुई। अशक्तता की स्थिति में भी वे बाढ़ के बाद गाँव वालों के कष्टों पर विचार करते हैं और बाँध बनाने का संकल्प लेते हैं। यूँ तो बांध बनाना उस गाँव के जमींदार का कार्य है। लेकिन वे गयाजी में बैठे रहते है और उनका मुन्शी समय पर आकर लगान वसूल कर जाता है। अत: प्रेमशंकर स्वयं बांध का कार्य हाथ में लेते हैं। श्रम और धन से गाँव की सहायता करते हैं। यही नहीं जब लखनपुर गाँव के किसानों को एक तरफ महामारी का शिकार बनना पड़ता है और दूसरी तरफ ज्ञानशंकर उन पर इजाफा लगान का दावा कर देता है, तब भी उसी गाँव के दूसरे जमींदार प्रेमशंकर उनकी सहायता करने को तत्पर होते हैं। मनोहर द्वारा गौस खाँ की हत्या किए जाने पर डॉ. प्रियनाथ की गवाही से लगभग सभी गाँववालों को मुकदमे में फँसा दिया जाता है। गाँव वाले डॉक्टर के दुश्मन हो जाते हैं। जब वे डॉक्टर साहब पर प्रहार करने को तत्पर होते हैं तो लाठी का प्रहार भी प्रेमशंकर स्वयं पर झेल लेते हैं और उनका यही परोपकार डाक्टर साहब का हृदय परिवर्तन कराता है। वे अपना बयान गाँव वालों के पक्ष में देते हैं और गाँववाले रिहा हो जाते हैं।

प्रेमशंकर की सहिष्णुता उन्हें अपने ही गाँव लखनपुर से अलग कर देती है और अंतत: भाई की चालाकी से वे उस गाँव से इस्तीफा भी दे देते हैं। लेकिन उनके चरित्र का यही गुण अंतत: उन्हें गायत्री, मायाशंकर, प्रभाशंकर, विद्या, श्रद्धा-सभी की दृष्टि में सम्माननीय बना देता है। यहाँ तक कि उनका स्वार्थान्ध भाई ज्ञानशंकर जो कुटिल, चालाक और अत्याचारी जमींदार है, का भी समय-समय पर क्षणिक हृदय-परिवर्तन प्रेमशंकर के सान्निध्य में जब-तब होता रहता है। प्रेमशंकर के रूप में प्रेमचंद ने ऐसे चरित्र का सृजन किया है जो केवल आदर्श की भूमि पर ही अवस्थित नहीं है। उसमें भी मानवीय दुर्बलताएँ हैं। वह एक गाल पर चाँटा खाकर दूसरा गाल आगे करने की नीति में विश्वास नहीं करता। उसकी भी सहिष्णुता कई बार जवाब दे जाती है। प्रेमशंकर और ज्ञानशंकर का मित्र डिप्टी ज्वालासिंह अपने कर्तव्य पालन में ज्ञानशंकर की अपील खारिज कर देता है और ज्ञानशंकर उनके चरित्र पर आरोप करते हुए लेख लिखता है। इस प्रकरण से ज्वाला सिंह टूट जाते है और प्रेमशंकर को कहते हैं कि "इन आक्षेपों से मुझे इतना दु:ख हुआ है कि उसे प्रकट नहीं कर सकता। कई बार इच्छा हुई कि विष खा लूँ।.....किन्तु यह सोचकर कि कदाचित् इससे इन आक्षेपों की पुष्टि हो जाएगी, रुक गया।" तब प्रेमशंकर बिना इस बात की परवाह किये कि उनके भाई ज्ञानशंकर पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा, ज्वालासिंह को सलाह देते हैं - "मैं स्वयं सहिष्णुता का भक्त हूँ। लेकिन यह असंभव है कि कोई मेरे चरित्र पर मिथ्या कलंक लगाए और मैं मौन धारण किये बैठा रहूँ। आप वकीलों से सलाह लेकर अवश्य मानहानि का मुकदमा चलाइए।"

प्रेमाश्रम में यूँ तो कोई नायक नहीं है लेकिन उपन्यास के दो प्रमुख पात्र प्रेमशंकर और ज्ञानशंकर एक दूसरे के मुकाबले खड़े हैं। ज्ञानशंकर उपन्यास का निगेटिव और खल पात्र है। वह भारत में ही रहकर अंग्रेजी पढ़ा है जबकि उसके बड़े भाई लेकिन प्रेमशंकर अमरीका से अंग्रेजी पढ़ कर आए हैं। प्रेमशंकर में वैसे तो नायकत्व के गुण दृष्टिगत होते हैं लेकिन ज्ञानशंकर के मुकाबले वे कमजोर ही सिद्ध हुए है। प्रेमशंकर जो कुछ भी करने के लिए उद्धत होते है उसमें वे खुलकर और पूरी लगन से जुट नहीं पाते। कृषि प्रयोगशाला बनाना चाहते हैं तो उसकी शुरुआत ही गलत तरीके से होती है। लखनपुर के किसानों की सहायता करना चाहते हैं तो भातृ-प्रेम आड़े आता है। यही नहीं जब चाचा प्रभाशंकर को भी धन की आवश्यकता पड़ती है तब भी वे असमंजस में रहते हैं कि मायाशंकर की पढ़ाई और यूरोप भ्रमण के लिए जो धन उनके पास बचा है उसे वे दें कि न दें। जबकि ज्ञानशंकर ने अपनी महत्वाकांक्षा के लिए छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा झूठ बोला, हत्या की, प्रेम का नाटक किया, पुत्र को दाँव पर लगाया, भाई के साथ छल किया और अंत भी अपनी मर्जी से ही चुना। इस उपन्यास में ज्ञानशंकर एक विशिष्ट भूमिका में हैं। 'प्रेमाश्रम' जमींदार किसान संघर्ष का श्रेष्ठतम उपन्यास है और ज्ञानशंकर सबसे निकृष्टतम जमींदार। ज्ञानशंकर के चरित्र के विविध पहलुओं पर हम अगली इकाई में विस्तार से विचार करेंगे।

प्रेमशंकर के माध्यम से उपन्यास में कहीं-कहीं प्रेमचंद के विचार भी इंगित होते हैं। प्रेमचंद उस जमींदारी प्रथा के विरोधी हैं जो अंग्रेजी राज द्वारा स्थापित की गई है। इस प्रथा के कारण भूमि पर किसानों का स्वामित्व समाप्त हो गया और जमींदारों को कानूनी अधिकार दे दिए गए। जमींदार वर्ग भूमि को अपनी मर्जी से खरीद या बेच सकता था। इस व्यवस्था में जमींदार और अंग्रेजी सरकार के सारे हित तो सुरक्षित थे लेकिन किसानों के हितों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। लगान वसूली जमींदारों के अधिकारों के अंतर्गत आने पर उन्होंने व उनके कारिन्दों ने किसानों का शोषण करना एवं उन पर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया प्रेमचंद इस व्यवस्था का विरोध कर किसानों को ही जमीन का मालिक बनाने के पक्षधर हैं। उनकी दृष्टि में कृषकों के विकास के लिए जमींदार प्रथा का खत्म होना अत्यावश्यक है। "प्रेमशंकर भी अक्सर कृषकों की आर्थिक दुरवस्था पर विचार किया करते थे। अन्य अर्थशास्त्रवेत्ताओं की भाँति वह कृषकों पर फजूलखर्ची, आलस्य, अशिक्षा या कृषि विधान से अनभिज्ञता का दोष लगाकर इस प्रश्न को हल न करते थे।....उनकी दरिद्रता का उत्तर दायित्व उन पर नहीं, बल्कि उन परिस्थितियों पर है, जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है। और वह परिस्थितियाँ क्या हैं? आपस की फूट, स्वार्थपरता और ऐसी संस्था का विकास, जो उनके पाँव की बेड़ी बनी हुई है; लेकिन जरा और विचार कीजिए तो यह तीनों टहनियाँ एक ही शाखा से फूटी हुई प्रतीत होंगी और यह वही संस्था है जिसका अस्तित्व कृषकों के रक्त पर अवलम्बित है।.... इस परस्पर विरोध का सब से दु:खजनक फल क्या है? भूमि का क्रमश: अत्यन्त अल्प भागों में विभाजित हो जाना और उसके लगान की अपरिमित वृद्धि।" यानी कुल मिलाकर प्रेमशंकर जमींदार-कृषक संघर्ष की जड़ अंग्रेजी राज की जमींदारी प्रथा को मानते हैं। इस व्यवस्था में सरकार ने लगान वसूली का कार्य चूँकि जमींदारों पर ही छोड़ दिया था अत: जमींदारों ने मनमाने ढंग से किसानों का शोषण किया और उन पर अत्याचार किए। इस शोषण का साक्षात् रूप हमें लखनपुर के जमींदार ज्ञानशंकर और वहाँ के किसानों के रूप में प्रेमाश्रम में दिखाई देता है लेकिन इस पूरी व्यवस्था का प्रत्यक्ष विरोध उपन्यास में कहीं भी प्रेमशंकर ने नहीं किया है। अप्रत्यक्ष रूप से वे किसानों की सहायता अवश्य करते हैं लेकिन उन्हें इस व्यवस्था के विरोध में संगठित करने का कोई प्रयास नहीं करते।

राय कमलानंद बहादुर :- 'प्रेमाश्रम' में हमें जमींदार वर्ग के विभिन्न प्रकार के प्रतिनिधित्व दृष्टिगत होते हैं जिनमें एक पृथक वर्ग के प्रतिनिधि राय कमलानंद हैं। इनका व्यक्तित्व प्रभाशंकर, ज्ञानशंकर और प्रेमशंकर से सर्वथा अलग है। इनकी दृष्टि और सोच भी अलग है। वे लखनऊ के बड़े रईस और ताल्लुकेदार हैं। प्रेमचंद ने उनका वर्णन इस प्रकार किया है - "राय साहब बड़े रसिक पुरुष थे। घुड़दौड़ और शिकार, सरोद और सितार से उन्हें समान प्रेम था। साहित्य और राजनीति के भी ज्ञाता थे।.....इधर दस बारह वर्षों से राजनीति में भी प्रविष्ट हो गए थे। कौंसिल भवन में उनका स्थान प्रथम श्रेणी में था।.....राष्ट्र या शासन के दास बनकर सर्वदा अपनी विचारशक्ति से काम लेते थे।" कुल मिलाकर रायसाहब सर्वगुण संपन्न और बहुज्ञ थे। लेकिन जमींदार के रूप में उनका वही चरित्र था जो अंग्रेजी सरकार

की व्यवस्था के तहत जमींदारों का था। यानी शोषण और अत्याचार में वे भी कम न थे। उनकी पुत्री विद्या उनके बारे में कहती है –"उस साल जब अकाल पड़ा और प्लेग भी फैला, तब हम लोग इलाके पर गये।.....उन दिनों बाबूजी की निर्दयता देखकर मेरे रोयें खड़े हो जाते थे। असामियों से रूपये वसूल न हो तो वह चिढ़कर असामियों पर गुस्सा उतारते। सौ-सौ मनुष्यों को एक पाँति में खड़ा करके हण्टर से मारने लगते। बेचारे तड़प-तड़प कर रह जाते; पर उन्हें तनिक भी दया न आती।" जिस जमींदार वर्ग के प्रतिनिधि राय साहब हैं उसके सभी गुण अत्याचार शोषण, लगान वृद्धि, अंग्रेजी राज का समर्थन, उनमें मौजूद है। वे कहते है- "मैं मानता हूँ कि जमींदार के हाथों किसानों की बड़ी दुर्दशा होती है। मैं स्वयं इस विषय में सर्वथा निर्दोष नहीं हूँ, बेगार लेता हूँ, डांड़-बाँध लेता हूँ, बेदखली या इजाफा का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देता, असामियों पर अपना रोब जमाने के लिए अधिकारियों की खुशामद भी करता हूँ, साम, दाम, दण्ड, भेद सभी से काम लेता हूँ, पर इसका कारण क्या है? वही पुरानी प्रथा किसानों की मूर्खता और अज्ञान।" लेकिन फिर भी वे किसानों कों उचित शिक्षा देने के पक्ष में नहीं है। उनका मानना है कि किसानों को उचित शिक्षा मिलते ही किसान जागरूक हो जाएँगे। खेती का ही व्यवसाय न अपनाकर अन्य धंधे अपनाने लगेंगे और जमींदारों के हाथ से सभी मौके निकल जाएँगे। यहा प्रेमचंद स्पष्ट करते हैं कि किसानों के शोषण का कारण उनकी अशिक्षा और पारस्परिक द्वेष तथा संघर्ष है। यही जड़ है उनके शोषण की। प्रेमाश्रम में भी जबं तक लखनपुर के किसान पारस्परिक द्वेष रखते हैं तथा एक दूसरे की जड़े काटते हैं तब तक उन पर जमींदार तथा उसके करिन्दों का अत्याचार होता रहता है, लेकिन जब उसमें एका हो जाता है तो उनके गाँव का रंग-ढंग बदल जाता है।

उपन्यास में आगे चलकर राय साहब का दूसरा रूप भी दृष्टिगत होता है। वे यौगिक क्रियाएँ करते हैं उनका योग 'गुफाओं और कन्दराओं में बैठकर तप और ध्यान का स्वांग' भरने वाला योग नहीं है। उनके अनुसार - "योग कोई दैहिक क्रिया नहीं है। आत्मशुद्धि, मनोबल और इन्द्रिय दमन ही सच्चा योग सच्ची तपस्या है। वासनाओं में पड़कर अविचलित रहना ही सच्चा वैराग्य है।" उनकी यही योग सिद्धि उन्हें ज्ञानशंकर द्वारा दिए गए विष से भी बचाती है। वे जान बूझकर विषपान कर जाते हैं क्योंकि वे 'शक्ति के उपासक' हैं और विष उनके लिए 'दूध और पानी' है। जिस समय प्रेमाश्रम की रचना हो रही थी, उस समय के समाज में तंत्र-मंत्र योग सिद्धि का अत्यधिक प्रचार था। समाज पर अपनी धाक जमाने के लिए और सदैव स्वस्थ रहने के लिए योग सिद्धियों का प्रचलन था। प्रेमचंद भी उस की उपेक्षा कैसे कर सकते थे। यहाँ भी राय साहब ने अपने अक्षुण्ण यौवन के लिए योग-सिद्धि का सहारा लिया है।

एक पिता के रूप में रायसाहब का चरित्र बहुत अधिक भावुक या संतान प्रिय तो नहीं दिखाई देता लेकिन जब उनका दामाद ज्ञानशंकर अपनी साली गायत्री के प्रति आसक्त होता है और उसका शीलभंग करना चाहता है तब रायसाहब के अन्दर का पिता जाग उठता है। वे साफ शब्दों में ज्ञानशंकर को गायत्री से 'प्रेम का स्वांग भरकर उसके जीवन रत्न पर हाथ बढ़ाने के लिए मना करते हैं। इतना ही नहीं वे ज्ञानशंकर की पत्नी और अपनी बेटी विद्या को चेतावनी देते हैं - सरल हृदय गायत्री की रक्षा का तुम्हारे ही ऊपर है। अगर उसके सतीत्व पर जरा भी धब्बा लगा तो तुम्हारे कुल का सर्वनाश हो जाएगा।"

मनोहर और बलराज : मनोहर और बलराज 'प्रेमाश्रम' में लखनपुर के कृषक वर्ग के प्रतिनिधि हैं। यही दोनों चरित्र उपन्यास में सबसे पहले जमींदारी शोषण के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। पूरे लखनपुर के निवासी मनोहर और बलराज के विरुद्ध हैं। केवल कादिर मियाँ उनका साथ देते हैं। वह भी विद्रोह में नहीं बल्कि मालिकों के गुस्से से उन्हें बचाने में।

वास्तव में जमीन किसान की है लेकिन अंग्रेजों की सहायता से जमींदार उस ज़मीन के स्वामी बन बैठते हैं। किसानों द्वारा जोते जाने वाली ज़मीन पर जमींदारों का प्रभुत्व हो जाता है। अंग्रेजों द्वारा की गई इस व्यवस्था में भूमि पर किसानों का स्वामित्व समाप्त हो गया और जमींदारों को कानून से अधिकार मिल गया। इन्हीं अधिकारों का दुरुपयोग जमींदारों ने किया और किसानों का तरह-तरह से शोषण किया जाने लगा – जिनमें लगान में वृद्धि बेगारी, आदि प्रमुख थे। यही नहीं पारिवारिक उत्सवों पर भी किसानों द्वारा ही धन या सामान लिया जाने लगा। दैवी प्रकोपों में तो किसानों की मदद करने के लिए जमींदार वर्ग आगे कभी न

आते लेकिन उनका शोषण करने में पीछे भी न रहते। ऐसे समय में जब जमींदारों को मनमानी करने की छूट थी और सरकार का समर्थन भी प्राप्त था, 'प्रेमाश्रम' के मनोहर और बलराज विद्रोह के लिए उद्यत होते हैं।

उपन्यास के प्रारंभ में ही मनोहर जमींदार के कारिन्दे से घी के रूपये लेने से साफ मना कर देता है। जमींदार को पिता की बरसी पर घी चाहिए। इसके लिए वह रूपये सेर के भाव पर किसानों को रूपये बँटवाता है लेकिन बाजार भाव दस छटाँक का है। मनोहर को यह बात अखरती है। बाकी सब गाँव वाले तो चुपचाप रूपये ले लेते हैं लेकिन मनोहर जमींदार के आदमी से उलझ पड़ता है। जिसके फलस्वरूप उसकी पेशी जमींदार के यहाँ होती है। उस पर लगान वृद्धि की जाती है। प्रेमचंद ने यहाँ एक किसान की दयनीय दशा का चित्रण किया है। मनोहर ने कोई गलती नहीं थी। लेकिन उसकी बात न सुनी जाकर जमींदार को अपनी इज्जत और रोब बढ़ाने और बरकरार रखने के लिए किसानों की उठती आवाज को दबाना जरूरी है और इसे लगान वृद्धि करके ही दबाया जा सकता है। लेकिन मनोहर कहाँ दबने वाला था। "जिस दिन से वह ज्ञानशंकर की कठोर बातें सुनकर लौटा था, उसी दिन से विकृत भावनाएँ उसके हृदय और मस्तिष्क में गूँजती रहती थीं।.....वह ईंट का जवाब पत्थर से देना चाहता था। वह जानता था कि सबलों से बैर बढ़ाने में मेरा ही सर्वनाश होगा, किन्तु इस समय उसकी अवस्था उस मनुष्य की सी हो रही थी, जिसके झोंपड़े में आग लगी हो और वह उसके बुझाने में असमर्थ होकर शेष भागों में भी आग लगा दे कि किसी प्रकार वि त्ति का अंत हो।" यही नहीं गौस खाँ जब बेदखली के सम्मन की धमकी देते हैं तो वह कहता है - "यहाँ हमारे खेतों की मेड़ों पर कोई आया तो उसके बाल बच्चे उसके नाम को रोएँगे।"

एक किसान जो कि जमींदार की जमीनें जोतता है, बेगारी भी करनी ही पड़ती है, उसके पास अपना कहने के लिए कोई जमीन नहीं, अगर कभी सिर उठाए तो जमींदार सिर कुचलने को तैयार बैठा हैं ऐसे किसान मनोहर में भी स्वाभिमान कूट कूट कर भरा है। जमींदार का कारिन्दा गौस खाँ उसकी पत्नी बिलासी को गाँव के चरांवर में मवेशी चराने से मना करता है। बिलासी नहीं मानती। गौस खाँ और उसके आदमी बिलासी के सभी मवेशी कांजी हाउस ले जाने लगते हैं। बिलासी धमकी देती है - "कहे देती हूँ, इन जानवरों के पीछे लोहू की नदी बह जायेगी माथे गिर जाएँगे।" वे नहीं मानते। बिलासी को लहू लुहान कर देते हैं। मनोहर अपनी पत्नी की 'मान मर्यादा का रक्षक' है। अपने पुत्र के रुष्ट होने पर 'भयंकर संकल्प और घातक निश्चय' लेकर समझाता है - "अभी जाओगे तो बात बढ़ेगी और कुछ हाथ नहीं लगेगा। चार आदमी तुम्हें को बुरा कहेंगे। अपमान का बदला इस तरह नहीं लिया जाता।" यहाँ स्वाभिमान और क्रोध की चिनगारी मनोहर और बलराज दोनों में हैं। दोनों बिलासी की दशा से क्रोधित हैं। यहाँ प्रेमचंद दोनों की दशाओं का चित्रण करते हुए कहते हैं - एक ही अग्नि दोनों के हृदय में प्रज्ज्वलित थी,एक ओर सुलगती हुई, दूसरी ओर दहकती हुई। एक ओर वायु के वेग से चंचल, दूसरी और निर्बलता से निश्चल। एक ही भावना दोनों के हृदय में थी, एक में उद्दम-उच्छृंखल, दूसरे में गम्भीर और स्थिर।" मनोहर अपने 'मरजाद' की रक्षा करना चाहता है। उसका मानना है कि "बेइज्जत होकर जीने से मर जाना अच्छा है।" और इस आत्मसम्मान की रक्षा वह गौस खाँ की हत्या करके ही करता है। एक साधारण किसान द्वारा जमींदार के कारिन्दे की हत्या? वह भी उस युग में जब किसानों को अत्याचार और शोषण के बल पर अंगेजी राज के दलाल जमींदार पैरों तले ही रखते थे। एक किसान का ऐसा विद्रोह प्रेमचंद ही उस युग में दिखा सकते थे।

मनोहर गौस खाँ की हत्या के लिए आत्मसमर्पण कर देता है क्योंकि वह नहीं चाहता कि गाँव के अन्य लोग उसके कारण फँसें। लेकिन जमींदार गाँव के लगभग सभी बालिगों को हत्या के आरोप में जेल करवा देता है। गाँव वाले मनोहर पर क्रोधित होते हैं उसे धिक्कारते हैं। यद्यपि कादिर गाँववालों को कहता है कि मनोहर ने जो कुछ किया उसमें उनके हक की भी रक्षा है। तब भी गाँववाले मनोहर को दोषी ठहराते है। मनोहर टूट जाता है। उसकी सहनशक्ति जवाब दे जाती है और उसका अंत आत्महत्या में होता है।

बलराज मनोहर का पुत्र है। मनोहर और बलराज के विरोध में अन्तर है। बलराज अखाड़े जाता है और लाठी के जोर पर काम करता है। मनोहर में पुत्र के प्रति ममत्व है। वह बलराज को हमेशा अपने संरक्षण में रखने का प्रयत्न करता है। जमींदार का गुलाम बनना

बलराज को पसंद नहीं - "अब तो शहरों में मजूरों की मांग है, रूपया रोज खाने को मिलता है, रहने को पक्का घर अलग। अब हम जमींदार की धौंस क्यों सहें, क्यों भरपेट खाने को तरसें?" बलराज को देश विदेश की भी जानकारी है। उसके पास जो पत्र आता है उसमें लिखा है - "रूस देश में कास्तकारों का ही राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं। उसी के पास कोई और देश बलगारी है। वहाँ अभी हाल की बात है, कास्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।" डॉ. रामविलास शर्मा का बलराज के चरित्र के संबंध में कहना है कि "प्रेमचंद ने बलराज की हिन्दुस्तान के किसान - नौजवान का प्रतिनिधि बनाया है। वह कसरत कुश्ती का शौकीन है, गाना बजाना, दोस्ती में गपशप करना उसे पसंद है। दुनिया का अनुभव कम है, इसलिए उतावलापन उसमें ज्यादा है। वह एक नए आदर्श से प्रभावित है, जिसके अनुसार हर इंसान को इंसान की तरह रहने का हक मिलना चाहिए।" यह नौजवान किसान बेगारी नहीं करना चाहता। उसकी इतनी हिम्मत है कि वह डिप्टी साहब के उस चपरासी से भी नहीं डरता जिससे सारा गाँव थर्राता है। उसे परमात्मा ने हाथ पैर दिए हैं। मेहनत कर के खुद भी खा सकता है और दो को खिला सकता है। वह 'पसीने की रोटी' खाएगा और 'अकड़कर' चलेगा।

बलराज के **स्वाभिमान** और उसकी **स्पष्ट वादिता** से हाकिम के कारिन्दे उस पर कुपित हो जाते हैं। वे लश्कर ले जाकर बलराज की ऐंठन और गर्मी उतारना चाहते हैं - लेकिन बलराज भी चुप नहीं बैठता। उसका कहना है - "मियाँ हमारी गरमी पाँच-पाँच रुपल्ली के चपरासियों के मान की नहीं है,.....।" प्रेमाश्रम का बलराज उद्दण्ड अवश्य प्रतीत होता है, लेकिन उसकी यह उद्दण्डता उन परिस्थितियों ने बनाई है जिसमें उसका पालन हुआ है। वह देखता है कि गाँव के सभी लोग जमींदार से, जमींदार के कारिन्दों से, हाकिम से, यहाँ तक कि हाकिम से चपरासी से भी दबते हैं। कोई उन्हें पलट कर जवाब नहीं देता। वह सोचता है - "मालूम होता था किसी के मुँह में जीभ ही नहीं है। तभी तो यह दुर्गति हो रही है। अगर कुछ दम हो तो आज इतने पीसे कुचले क्यों जाते?" और उसमें वह **दम** है। तभी वह इतनी हिम्मत करता है कि डिप्टी साहेब को उनके आदमियों की करतूतें सुनाए। कैम्प में ही सैयद ईजाद हुसैन की कठोर बातें सुनकर वह गम्भीर होकर साफ-साफ कह देता है - "आप क्या चाहते हैं कि हम लोगों पर अन्याय भी हो और हम फरियाद भी न करें?" बलराज के रूप में प्रेमचंद ने उस युग के एक ऐसे कृषक नौजवान का चित्रण किया है जो अन्याय को सहेगा नहीं अपितु बराबर उसका जवाब देगा। उपन्यास के अंत में जब पहले की जमींदारी किसानी व्यवस्था समाप्त हो, नई व्यवस्था लागू होती है तब बलराज जिला सभा का सदस्य बन जाता है और बोर्ड के जलसे में वह प्रस्ताव रखता है कि "कोई हाकिम देहात जाकर गाँव वालों से किसी तरह की खिदमत का काम न लें - पानी, भरना, घास छीलना, झाड़ू लगाना। जो रसद दरकार हो, वह गाँव के मुखिया से कह दी जाय और बाजार भाव से उसी दम दाम चुका दिया जाय।.....सरकारी काम प्रजा को कष्ट देकर और उनका अपमान करके नहीं होना चाहिए।" उसका यह प्रस्ताव स्वीकृत भी हो जाता है। जिस बेगारी के लिए, जिस अपमान के लिए वह उपन्यास के प्रारंभ में जूझता है उन सबका निपटारा उसके प्रस्ताव ने कर दिया है। यही नहीं उसने लखनपुर में अपना वाचनालय बनाया है जिसमें अच्छे-अच्छे पत्र भी आते हैं। उसकी मेहनत और नयी दिशा से अब ड्योढ़ी पैदावार होती है। लखनपुर गाँव में उसके प्रयत्नों से जागृति आ गई है। यही गाँव प्रेमचंद के स्वप्न का गाँव है, जहाँ सारी पैदावार 'लगान और महाजन' की भेंट न हो अपितु किसान को उसकी मेहनत का पूरा फल मिले।

प्रेमाश्रम में कुछ पात्र हाकिम वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं और कुछ ऐसे गाँव वाले किसानों का जो सारा अत्याचार और शोषण सहते हुए भी चुप हैं, वास्तव में यह उनकी मजबूरी है। हाकिम वर्ग में डिप्टी ज्वालासिंह का चरित्र सबसे अधिक उभरकर आया है। न तो वह कहीं भी कर्तव्य पथ से विचलित हुआ है और न कहीं उसने अपना आत्मसम्मान और सज्जनता दाँव पर लगाई है। वह सहृदय व्यक्ति है और गाँववालों के साथ उसे सहानुभूति है। जमींदार की दोस्ती और खुशामद भी उसे कर्तव्य से विचलित नहीं करती। वह अपने निर्णय स्वयं अपने विवेक से लेता है दोस्ती या प्रेम के वशीभूत होकर नहीं, चाहे इसके लिए उसे नौकरी से इस्तीफा ही क्यों न देना पड़े। वे 'जो कुछ करते हैं न्याय के बल पर करते है। पुलिस क्या, ईश्वर का अनुचित दबाव भी नहीं मान सकते।' (प्रेमाश्रम)।

किसानों से उसे सहानुभूति है। उनके दु:ख दर्द में वह प्रेमशंकर के साथ ही शरीक होता है। यहाँ तक कि जब मनोहर की आत्महत्या के बाद बलराज और कादिर को काले पानी की और शेष अभियुक्तों को सात-सात वर्ष के सपरिश्रम कारावास की सजा सुनाई जाती है तो वह अवधि रहते उनकी तरफ से अपील करने के लिए नौकरी से इस्तीफा तक दे देते हैं। पत्नी द्वारा इस्तीफे का विरोध करने पर कहते हैं, 'वहाँ मुझे कितनी ऐसी ही बातें करनी पड़ेंगी जो दासत्व की बेड़ियाँ पहने हुए वहीं कर सकता। रूपये के लिए चन्दे माँगना, वकीलों से मिलना-जुलना, लखनपुर वालों के कष्ट-निवारण की आयोजना करना, यह सभी काम करने पड़ेंगे। पुलिसवालों की निगाह पर चढ़ जाऊँगा, अधिकारी वर्ग तन जाएँगे, तो इस बेड़ी को काट ही क्यों न दूँ? मुझे पूरा विश्वास है, मैं स्वाधीन होकर जितनी जाति-सेवा कर सकता हूँ, उतनी इस दशा में कभी न कर सकूँगा।' और अन्तत: ज्वालासिंह भी प्रेमशंकर के प्रेमाश्रम को ही अपना निवास बनाते हैं।

'प्रेमाश्रम'में **कादिर मियाँ** हैं। उन्हें मनोहर से सहानुभूति है, बलराज से प्रेम है, गाँव के किसानों की दशा से दु:खी हैं लेकिन खुला विरोध नहीं कर पाते। उन्हें दूसरे गाँव की उस बूढ़ी मरीज से भी सहानुभूति है जिसे लश्कर वाले उसकी गाड़ी से उतार कर उस गाड़ी में अपना सामान लाद देते हैं। उस बेबस बुढ़िया और उसके बेटे को भी कादिर मियाँ ही पनाह देते हैं। लेकिन कादिर मियाँ जमींदार का सीधा प्रतिरोध करने के लिए तैयार नहीं हैं। मनोहर और जमींदार की बहस में भी वह प्रेम और दीनता से निपटारा करना चाहते हैं। कादिर मियाँ के बारे में प्रेमचंद लिखते हैं - 'उसके हृदय में राग और द्वेष के लिए स्थान न था और न इस बात की परवाह थी कि मेरे विषय में कैसे-कैसे मिथ्यालाप हो रहे हैं। वह गाँव में विद्रोह को भड़का सकता था; खाँ साहब और उनके सिपाहियों की खबर ले सकता था। गाँव में ऐसे कई नवयुवक थे जो इस अनिष्ट के लिए आतुर थे। किन्तु कादिर उन्हें सँभाले रखता था।' कादिर मनोहर और बलराज को प्रतिरोध करने से रोकता रहता है। वह सहिष्णुता को सर्वोपरि मानता है। लेकिन जब मनोहर गौस खाँ की हत्या करता है और गाँव वाले उसे धिक्कारते हैं तो वही कादिर कहता है - 'यारो! ऐसी बातें न करो, बेचारे ने तुम लोगों के लिए तुम्हारे हक की रक्षा करने के लिए यह सब किया।.....हम सब के सब कायर हैं, वही एक मर्द है।' यानी आज तक जो जमींदार का अन्याय सहकर गाँव वाले चुप थे और कादिर भी सहनशीलता के कारण और ईश्वर का अन्याय समझकर प्रतिरोध नहीं करता था वह मान जाता है कि ऐसा न करना कायरता की निशानी है। यहाँ प्रेमचंद का संदेश उन किसानों के लिए है यहाँ जो शोषण और अत्याचार सहकर भी आंदोलन में भाग नहीं लेते। यहाँ प्रेमचंद का मानना है कि प्रतिरोध करने पर ही किसानों को उनके अधिकार मिल सकते हैं अन्यथा नहीं।

10.4.2 प्रमुख नारी पात्र

प्रेमाश्रम में कुल मिलाकर पाँच प्रमुख नारी पात्र हैं। ये हैं- गायत्री, विद्या, श्रद्धा, बिलासी और शीलमणि। इसमें गायत्री, विद्या और श्रद्धा का संबंध जमींदार वर्ग से है। शीलमणि डिप्टी ज्वालासिंह की पत्नी है और बिलासी गाँव के कृषक वर्ग के प्रतिनिधि मनोहर की पत्नी है। पाँचों महिला पात्रों के चरित्र की अलग-अलग विशिष्टताएँ हैं।

गायत्री राय कमलानंद की पुत्री और विद्या की बड़ी बहन है। उसके पति की मृत्यु हो चुकी है और वह गोरखपुर की जमींदारी संभालती है। धर्म और ईश्वर भक्ति में उसकी रुचि है। गायत्री जमींदारी के कार्य को पूरी तन्मयता और परिपक्वता से संभालती है। वह भी उन्हीं जमींदारों में से है जो सरकार की राह पर असामियों पर अत्याचार करते हैं और उनका शोषण करते हैं - 'असामियों में यह धुन न जाने कैसे समा गयी, कि जहाँ देखो वहीं उपद्रव करने पर तत्पर दिखाई देते हैं। सरकार को इन पर कड़ा हाथ रखना चाहिए। जरा सी शह मिली और यह काबू से बाहर हुए। अगर इस इलाके में असामियों की छूट हो गयी तो मेरा 20-25 हजार का नुकसान हो जाएगा।.... छूट भी हो जाय मगर लूँगी असामियों से हीं।'' यही नहीं किसानों से धन वसूलने की प्रक्रिया के संबंध में वह अपनी बहन से कहती है - 'तुम्हारे जीजा कैसे सज्जन थे, द्वार पर से किसी भिक्षुक को निराश न लौटने देते। सत्कार्यों में हजारों रूपये खर्च कर डालते थे।.....लेकिन उन्हें भी असामियों पर सख्ती करनी पड़ती थी। मैने स्वयं उन्हें असामियों की मुश्कें कस के देखा है। जब कोई अन्य उपाय पिटवाते न

सूझता तो उनके घरों में आग लगवा देते थे और अब मुझे भी वही करना पड़ता है।' लेकिन उपन्यास में आगे चलकर जमींदार गायत्री के चरित्र के एक अन्य रहस्य का उद्घाटन होता है। बाढ़ में कई गाँव डूब जाते हैं। किसान जमींदार से छूट की प्रार्थना करते हैं। सरकारी कर्मचारी बिना किसी छानबीन के लिख देते हैं कि छूट की आवश्यकता नहीं। परन्तु गायत्री विश्वास नहीं करती। वह गाँव का दौरा करके स्वयं निर्णय लेना चाहती है। यही नहीं आगे चलकर वह कानूनगो से कहती है -'अगर अपनी तरफ से प्रजा की कुछ भलाई न कर सकें तो कम-से-कम अपने हाथों से उनका अहित तो न करना चाहिए।" यानी एक कठोर जमींदार में भी उन कृषकों से सहानुभूति भी है, जिनका शोषण करने में उसके कारिन्दे कोई कसर नहीं छोड़ते।

गायत्री के व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष उसके और ज्ञानशंकर के संबंधों में स्पष्ट हुआ है। उसका हृदय वासनायुक्त प्रेम से अनभिज्ञ था क्योंकि उनका पति दुराचारी था और गायत्री उसके 'मनोभावों की तह' तक कभी नहीं पहुँच सकी। वह आध्यात्मिक श्रद्धा से ही पति का स्मरण किया करती थी। ज्ञानशंकर के संपर्क में आने के बाद ही वह प्रेम के इस पक्ष से अवगत होती है। वह अपने प्रेम को राधा और कृष्ण के प्रेम के तहत देखती है जहाँ वासना नहीं केवल निर्मल हृदय का प्रेम है। लेकिन जब उसे ज्ञानशंकर के कलुषित हृदय की भावनाओं का ज्ञान होता है तब देर हो चुकी होती है। वह प्रेम के इस कलुषित खेल के कारण अपनी बहन विद्या को भी खो देती है। विद्या की मृत्यु के बाद गायत्री का हृदय परिवर्तन होता है। वह ज्ञानशंकर की संकीर्णता और स्वार्थपरता से अवगत होती है। प्रेमचंद ने लिखा है कि 'गायत्री की कथा प्रेम से शुरू होकर आत्म-ग्लानि पर समाप्त होती है।' वह मानती है कि जिसे वह भक्ति कहती थी वह उसकी आत्म दुर्बलता और ज्ञानशंकर की काम–तृष्णा का परिणाम था। उसकी यही आत्मग्लानि उसे बद्रीनाथ की यात्रा के लिए प्रेरित करती है। चित्रकूट में उसका अपने पिता राय कमलाचंद से साक्षात्कार होता है जो सिद्ध पुरुष बन गए हैं। ग्लानि, लज्जा और निराशा से भरी वह शिखर से गिर कर प्राणोत्सर्ग कर देती है। लेकिन मृत्यु से पहले अपने दत्तक पुत्र मायाशंकर को सुपात्र प्रेमशंकर के हाथों में सौंप जाती है। उसके अपने पिता ज्ञानशंकर के नहीं।

विद्या और **श्रद्धा** यूँ तो जमींदार परिवार से ही संबद्ध हैं लेकिन उनके विचार अलग हैं। विद्या गायत्री की बहन है किन्तु उसका स्वभाव गायत्री के विपरीत है। प्रेमचंद ने विद्या को एक पतिपरायणा सरल स्त्री के रूप में चित्रित किया है जो अपने पति ज्ञानशंकर को भी सरलता के और सही मार्ग पर चलने को उद्यत करती रहती है। वह भारतीय नारी के उस रूप का प्रतीक है जो पति के दुर्गुणों को अनदेखा कर केवल उसमें सद्गुण तलाशने का प्रयत्न करती है और जब उसका मोहपाश टूटता है तब उसके समक्ष मृत्यु के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं रह जाता है। विद्या ज्ञानशंकर की असलियत जानकर विषपान कर लेती है।

प्रेमचंद की नारी संबंधी मान्यता है कि 'मेरी नारी का आदर्श एक ही स्थान पर त्याग, सेवा और पवित्रता का केंद्रित होना है। त्याग बिना फल की आशा के हो, सेवा सदैव बिना असन्तोष प्रकट हुए हो, और पवित्रता सीज़र की पत्नी की भाँति ऐसी हो जिसके लिए पछताने की आवश्यकता न पड़े।' श्रद्धा का व्यक्तित्व ऐसी ही गौरव युक्त नारी का है जो अपना आत्माभिमान पूरे उपन्यास में नहीं छोड़ती। वह धर्मभीरु है और पति प्रेमशंकर के विदेश से लौटने पर उनके प्रायश्चित करने को धर्म मानती है। पति के ऐसा न करने पर वह उनके साथ कोई संबंध रखने में संकोच करती है। प्रेमचंद लिखते है - 'श्रद्धा को सामाजिक अवस्था और समयोचित आवश्यकताओं का ज्ञान था। परम्परागत बन्धनों को तोड़ने के लिए विचार-स्वातंत्र्य और दिव्य ज्ञान की ज़रूरत है उससे वह रहित थी। वह एक साधारण हिंदू अबला थी। वह अपने प्राणों से, अपने प्राण प्रिय स्वामी से हाथ धो सकती थी, किन्तु अपने धर्म की अवज्ञा करना अथवा लोकनिन्दा को सहन करना उसके लिए असंभव था।' लेकिन उसे अपने पति प्रेमशंकर पर पूर्ण विश्वास भी है। ज्ञानशंकर द्वारा उनकी निंदा करने पर तथा यह समझाने पर कि वह लखनपुर का आधा गाँव प्रेमशंकर से अपने नाम लिखवा ले, वह कहती है - 'वह मेरे स्वामी हैं, जो कुछ करेंगे, उसी में मेरी भलाई है।' अंत में स्वीकार कर लेती है कि सच्चा प्रायश्चित तो परोपकार है। गायत्री का भी सही मार्गदर्शन करने में श्रद्धा का ही हाथ है वह गायत्री को समझाती है - "भगवान ने तुम्हें धन दिया है। उससे अच्छे काम करो। अनाथों और विधवाओं को पालो, धर्मशालाएँ बनवाओ, तालाब और कुएँ खुदवाओ, भक्ति को

छोड़ कर ज्ञान के मार्ग पर चलो।' उपन्यास में श्रद्धा विद्या और गायत्री तीनो अपनी-अपनी परिस्थितियों से दु:खी हैं लेकिन केवल श्रद्धा के पास ही इनसे टक्कर लेने की शक्ति और सही निर्णय लेने की दृष्टि है।

बिलासी कृषक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। वह लखनपुर के किसान मनोहर की पत्नी और बलराम की माँ है। 'प्रेमाश्रम'में यदि जमींदारों के अत्याचारों के प्रतिरोध में किसी महिला ने आवाज़ उठाई है तो वह बिलासी है। उपन्यास का एक अंश उदाहरण के लिए देखते हैं। जमींदार के कारिन्दे गाँव के चरावर पर रोक लगा देते हैं। कोई अपना मवेशी चराने वहाँ नहीं जा सकता। बिलासी पहुँचती है। गौस खाँ उसके मवेशियों को काँजीहाउस ले जाने की धमकी देते हैं। वह नहीं मानती। गौस खाँ और उसके कारिन्दे मवेशियों को घेर कर ले जाने लगते हैं। 'जब जानवर कोई बीस कदम निकल गए तब वह उन्मत्त की भांति दौड़ी और हाँफते हुए बोली, मैं कहती हूँ कि इन्हें छोड़ दो, नहीं तो ठीक नहीं होगा।

फैजू - हट जा रास्ते से! कुछ सामत तो नहीं आई है? बिलासी रास्ते में खड़ी हो गयी और बोली, ले कैसे जाओगे? दिल्लगी है?

गौस खाँ - न हटे तो इसकी मरम्मत कर दो।

बिलासी - कहे देती हूँ, इन जानवरों के पीछे लोहू की नदी बह जायगी, माथे गिर जायेंगे।

फैजू - हटती है या नहीं चुड़ैल?

बिलासी - तू हट जा, दाढ़ीजार!

इतना उसके मुँह से निकलना था कि फ़ैजू ने आगे बढ़कर बिलासी की गर्दन पकड़ी और उसे इतने ज़ोर से झोंका दिया कि वह दो कदम पर जा गिरी।'

इतनी मुँहजोर किसान महिला इससे पहले के किसी उपन्यास में अवतरित नहीं हुई थी। यह हिम्मत बिलासी ने की और जो उसने कहा था वही हुआ। गौस खाँ की हत्या का कारण यही प्रकरण था। यद्यपि उपन्यास में आगे चलकर बिलासी को गाँव वालों की उपेक्षा और उपहास का कारण बनना पड़ता है। उनके कटु वचन भी सहने पड़ते हैं। प्रतिरोध की उसे बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। जो उस युग के समाज में नारी की स्थिति का उद्‌घाटन है।

10.5 भाषिक - योजना

'प्रेमाश्रम'की भाषिक योजना भी सूझ बूझ के साथ गढ़ी गई है। प्रेमाश्रम में जमींदार और किसान दोनो ही वर्ग के प्रतिनिधि हैं। जमींदार भी ऐसे हैं जो अंग्रेजी पढ़े लिखे हैं, अंग्रेजों के साथ उठते-बैठते हैं। किसान ठेठ देहाती हैं। यद्यपि सूझ-बूझ की बातें वे भी करना जानते हैं। कुछ किसान पढ़े लिखे हैं। उनके यहाँ पत्र आता है जिसमें देश-विदेश की जानकारी भी रहती है। इन सभी वर्गों के चरित्रों के लिए तथा चरित्रों के रहस्यों को खोलने के लिए प्रेमचंद ने भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। इन सभी पक्षों के लिए उपन्यास में उपयुक्त भाषा की योजना की गई है। यद्यपि प्रेमचंद जन-साधारण की सहज और सरल भाषा में लेखन करना स्वीकार करते हैं लेकिन जहाँ साहित्य में चिन्तन और विवेचन हो वहाँ सरल सहज भाषा को छोड़कर गम्भीर और गूढ़ शब्दों का प्रयोग करना भी आवश्यक हो जाता है। प्रेमाश्रम में भी यही पक्ष दिखाई देता है। चरित्रों, अवसरों और विवेचन के अनुसार भाषा भी परिवर्तित होती गई है।

उपन्यास के प्रारम्भ में ही प्रेमचंद ने जो वर्णन किया है उससे पाठक को लखनपुर की स्थिति और उसके निवासियों का ज्ञान होता है - 'सन्ध्या हो गई है। दिन-भर के थके माँदे बैल खेतों से आ गये हैं। घरों से धुएँ के काले बादल उठने लगे। लखनपुर में आज परगने के हाकिम की पड़ताल थी। गाँव के नेतागण दिन-भर उनके घोड़े के पीछे-पीछे दौड़ते रहे थे। इस समय वह अलाव के पास बैठे हुए नारियल पी रहे हैं और हाकिमों के चरित्र पर अपना-अपना मत प्रकट कर रहे हैं। लखनपुर बनारस नगर से बारह मील पर उत्तर की ओर एक बड़ा गाँव है। यहाँ अधिकांश कुर्मी और ठाकुरों की बस्ती है, दो-चार घर अन्य जातियों के भी है।' इस पूरे

विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कथा लखनपुर की है। शाम के समय घरों में भोजन बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है। गाँव के लोग पूरे दिन के कार्य से फारिग होकर अब हाकिमों के चरित्र की चर्चा में मशगूल है। यानी आगे क्या होने वाला है उसका भान पाठक को इस विवेचन से हो जाता है। इसी तरह लखनपुर के निवासियों की विपत्तियों का वर्णन भी प्रेमचंद ने सूचनात्मक रूप में किया है लेकिन उससे वहाँ के निवासियों के कष्टों का बड़ा ही स्वाभाविक और त्रासद रूप हमारे समक्ष उपस्थित होता है 'कितने ही घर प्लेग से उजड़ गये। कई घरों में आग लगी। कई चोरियाँ हुई। उन पर दैविक घटनायें अलग हुई। कभी आँधी आती, कभी पानी बरसता। फाल्गुन महीने में एक दिन ओले पड़ गये। सारी खेती नष्ट हो गयी।' इस विवरण में एक तरफ तो गाँववालों पर जमींदार का कोप और दूसरी तरफ उनके अपने कष्टों और व्यथा की चर्चा की गई है, जो पाठक के हृदय को अंदर तक आप्लावित कर देती है। ऐसी कठिन परिस्थितियों में ये किसान अपना जीवन बिताते हैं फिर भी हार नहीं मानते।

इसी तरह लेखक द्वारा पात्रों के चरित्रों की विशेषताओं की चर्चा और पात्रों की भाषा से भी हमें उस पात्र की विशिष्टता के बारे में जानकारी मिलती है। कहीं कहीं तो यह विवरण के रूप में है कहीं-कहीं संवाद में स्पष्ट होता है। ज्ञानशंकर और प्रभाशंकर की बातचीत के एक अंश को देखते हैं। ज्ञानशंकर एक ओर तो अपने चाचा को आतिथ्य-सत्कार और पालन के लिए धिक्कारते हैं और दूसरी ओर प्रेमचंद उनकी विशेषता का विवरण देते हुए लिखते हैं - 'ज्ञानशंकर ने नयी सभ्यता की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया, उनका वह स्वयं व्यवहार न कर सकते थे। केवल उनमें मानसिक भक्ति रखते थे। प्राचीन-प्रथा को मिलाना उनकी सामर्थ्य से परे था। निन्दा और परिहास से सिद्धांत में चाहे न डरते हों, पर प्रत्यक्ष उसकी अवज्ञा न कर सकते थे।' आतिथ्य-सत्कार और कुटुम्ब-पालन को मन में चाहे अपव्यय समझते हों, पर उनके मित्रों तथा सम्बन्धियों को कभी उनकी असज्जनता की शिकायत नहीं हुई।' गायत्री, प्रेमशंकर, विद्या, ज्वालासिंह आदि के चरित्र के विशिष्ट पहलुओं की जानकारी भी हमें लेखक द्वारा दिए गए इन्हीं विवरणो के तहत मिलती है।

संवादों के अंतर्गत भी प्रेमचंद ने पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। यहाँ ग्रामीण पात्र भी हैं, जमींदार भी, शहरी भी, अफसर वर्ग के भी। प्रेमाश्रम के ग्रामीण पात्रों का एक संवाद देखते हैं। बिलासी अपने मवेशियों को लेकर उस चरावर में आती है जहाँ जमींदार ने मनाही कर रखी है। उन्हें देखकर बिन्दा और कर्तार का वार्तालाप है -

"बिन्दा - **होबे करी** तो **कौनो** डर है? अब की **जस जर आवा** है कि **ठठरी होय गवा** है।

कर्तार - बड़े कस-बल का पट्ठा है। सुक्खू चौधरी का तालाब जहाँ बन रहा था। वहीं एक दिन अखाड़े में उससे मेरी पकड़ हो गयी थी। मैं उसे पहले ही झपाटे में नीचे लाया, लेकिन ऐसा तड़प के नीचे से निकला कि मैं झोंके में आ गया। सँभल ही न सका। बदन नहीं लोहा है।

बेन्दा - निगाह का बड़ा सच्चा जवान है। क्या मजाल कि कोऊ की बिटिया-**मेहरिया** को ओर आँख उठा के **ताके**।

कर्तार - वह देखो फैजू और और गौस खाँ भी उधर ही आ रहे है। आज **कुसल** नहीं दीखती।

बेन्दा - यह गाये - भैसें तो मनोहर की **जान परत** हैं। बिलासी **लीने आवत** हैं।'

इस उपन्यास का परिवेश लखनपुर है। अतः वहाँ के निवासी भी स्थानीय भाषा का प्रयोग करते हैं। इसी भाषा का व्यवहार यहाँ प्रेमचंद ने दिखाया है। अगर उनके ग्रामीण किसान पात्र अवधी मिश्रित हिन्दी का प्रयोग करते है तो जमींदार और अफसर वर्ग की भाषा शहरी हिंदी है। एक उदाहरण देखते हैं -

ज्वालासिंह - गवाह कमजोर थे। मुकदमा बिल्कुल बनावटी था।

ज्ञानशंकर - यहा सुनकर असीम आनन्द हुआ। आपको हजारों धन्यवाद। चचा साहेब तो खुशी से बावले हो जाएंगे।

ज्वालासिंह इस दबी चुटकी से पीड़ित होकर बोले-यह कानून की बात है। मैंने कोई अनुग्रह नहीं किया।'

ठेठ ग्रामीण पात्र और जमींदार वर्ग के पात्रों के संवाद के ये उदाहरण हमने आपको प्रेमचंद की भाषा के उतार चढ़ाव का संकेत देने के लिए प्रस्तुत किए हैं। यही नहीं जहाँ गौस खाँ, नूर आलम, फैजू और इर्फान खाँ आदि के संवाद है वहाँ भाषा बिल्कुल अलग, उर्दू से भरी हुई है-

'नूर आलम - तुम इस गुमान में होगे कि हाकिम को तुम्हारे बुढ़ापे पर तरस आ जायगी और वह तुमको बरी कर देगा। मगर इस धोखे में न रहना। वह हटकर रिपोर्ट लिखूँगा और ऐसी **मोतबिर शदाहत पेश** करूँगा कि कोई बैरिस्टर भी ज़बान न खोल सकेगा।'

आइए और एक और उदाहरण देखते हैं। यहाँ इर्फान अली, ज्वालासिंह, प्रेमशंकर और ईजादहुसैन का वर्तालाप है-

'ईजाद हुसैन - खुदा आपको सबाब अता करे। अगर इजाजत हो तो जनाब का नाम भी ट्रस्टियों में दाखिल कर लिया जाय।

प्रेमशंकर - मैं इस इज्जत के लायक नहीं हूँ।

ईजाद - नहीं जनाब, मेरी यह इल्तजा आपको कबूल करनी होगी। खुदा ने आपको एक दर्दमन्द दिल अता किया है। क्यों नहीं, आप लाला जटाशंकर मरहूम के **खलक** है, जिनकी गरीब परवरी से सारा शहर मालामाल होता था। यतीम आपको दुआएँ देंगे और अंजुमन हमेशा आपकी ममनून रहेगी।

इर्फान अली ने ज्वालासिंह से पूछा - आपका कयाम यहाँ कब तक रहेगा?

ज्वाला - कुछ अर्ज़ नहीं कर सकता। आया तो इस इरादे से हूँ कि बाबू प्रेमशंकर की गुलामी में जिन्दगी गुजार दूँ। मुज़ालमत से इस्तीफा देना तय कर चुका हूँ।'

इस अंश में चारों व्यक्ति उर्दू मिश्रित हिन्दी का ही व्यवहार कर रहे हैं। यहाँ प्रेमचंद ने भाषा को व्यक्ति विशेष की ज़बान न बनाकर पूरे वार्तालाप में उसे ढाल दिया है। कहीं भी यह हमें प्रेमशंकर या ज्वालासिंह के संवादों में अटपटा नहीं लगता। यही नहीं कादिर खाँ लखनपुर में गाँववालों से उसी भाषा में वार्तालाप करता है जो उस गाँव का प्रत्येक व्यक्ति सामान्य रूप से बोलचाल में अपनाता है। उर्दू के ठेठ शब्दों का प्रयोग नहीं करता अपितु स्थानीय भाषा के ही शब्दों का प्रयोग अधिक करता है। 'दुखरन बोले - आजकल रात को मटर में सियार और हिरन बड़ा उपद्रव मचाते हैं। जाड़े के मारे उठा नहीं जाता।'

प्रेमचंद ने प्रेमाश्रम से पहले किसान जमींदार संघर्ष पर कोई उपन्यास न लिखा था। इस उपन्यास में पहली बार किसानों के संघर्ष की गाथा कही गई। अंत में उनकी विजय भी दिखाई गई। शोषक वर्ग और किसानों के विरुद्ध गवाही देने वालों के हृदय-परिवर्तन भी हुए। जिस प्रकार इस उपन्यास का विषय नया था और एक विशिष्ट परिवेश को प्रस्तुत करना था तो प्रेमचंद के लिए आवश्यक था कि वे उन्हीं की भाषा में उन्हीं की बात कहें। इस प्रयास में प्रेमचंद पूरी तरह सफल रहे हैं।

10.6 सारांश

इस इकाई में हमने प्रेमाश्रम के औपन्यासिक शिल्प पर विचार किया। प्रेमाश्रम की कथा जमींदार - किसान संघर्ष पर आधारित है। यह कथा लखनपुर से शुरू होकर लखनऊ और गोरखपुर पहुँचती है तथा लखनपुर के उज्ज्वल भविष्य में आकर सामाप्त हो जाती है। लखनपुर प्रेमचंद के स्वप्न का गाँव बन जाता है जहाँ किसान अपनी भूमि का स्वयं मालिक है। जमींदार का अत्याचार और शोषण अब उसे नहीं सहना है। यहाँ प्रेमचंद दिखाते हैं कि ऐसा होने से लखनपुर के किसान अत्यंत जागरूक हो गए है। अब उन्हें बोर्ड की मेम्बरी भी मिल गई है। वे अपनी प्रस्ताव बोर्ड में रखते हैं और वह पारित भी हो जाता है। यही नहीं खेती मे भी सुधार हो गया है। अब सारी पैदावार किसान की है उसे लगान और महाजन की भेंट नहीं करना पड़ता। प्रेमचंद यहाँ यह रेखांकित करना चाहते हैं कि यदि किसान स्वयं अपनी भूमि का स्वामी हो जाय तो पैदावार भी अधिक होगी और अनेक स्तरों पर जागृति आएगी।

प्रेमाश्रम में जमींदार, वकील, किसान, अफसर आदि सभी वर्गों के पात्र हैं। इन सभी वर्ग के पात्रों का अपना अलग अलग विशिष्ट चरित्र उभरा है। जमींदार वर्ग के पात्रों में भी दो तरह के वर्ग के प्रतिनिधि हैं। एक वर्ग अंग्रेजी सरकार की बन्दोबस्ती व्यवस्था के तहत कार्य करता है और किसानों का शोषण करने के लिए हर तरह के हथकंडे अपनाता है। इस वर्ग के प्रतिनिधि ज्ञानशंकर, राय साहब और गायत्री हैं, जबकि दूसरा वर्ग अभी भी पुराने नियमों को मानता है और किसानों से उन्हें सहानुभूति है। यह इस वर्ग के प्रतिनिधि प्रेमशंकर, प्रभाशंकर और मायाशंकर हैं। ग्रामीणों में भी एक वर्ग पुराने विचारों वाले किसानों का है जो अन्याय को ईश्वर की देन मानकर और अपना भाग्य समझकर स्वीकार करते हैं और झेलते हैं इनमें कादिर मियाँ प्रमुख हैं जबकि दूसरा वर्ग नयी चेतना से प्रभावित है। वह पत्रों के द्वारा देश विदेश की जानकारी भी रखता है इस वर्ग में बलराज और मनोहर प्रमुख है। इस इकाई में हमने इन चरित्रों की विशेषताओं पर विस्तार से चर्चा की है। प्रेमाश्रम की भाषा भी पात्रानुकूल ही है। प्रेमचंद ने जहाँ ग्रामीण पात्रों के वार्तालाप दिए हैं वहाँ उनकी भाषा स्थानीय है, लेकिन पढ़े-लिखे उच्च वर्ग की भाषा उनसे बिल्कुल अलग है। उसमें देहातीपन नहीं है।
उपन्यास के परिवेश से ही उसकी भाषा का गठन होना स्वाभाविक है। यह उपन्यास 1918-19 के लगभग लिखा गया। इसकी कथा, लखनऊ, बनारस और गोरखपुर के आसपास घूमती है अतः वहाँ के कृषकों का वास्तविक जीवन, उनकी व्यथा, गीत, लावनी, ख्याल आदि भी उपन्यास में सजीव हो उठे हैं।

10.7 अभ्यास प्रश्न

1. 'प्रेमाश्रम' की भाषा पर लेख लिखिए।
2. मनोहर तथा बलराज के चरित्र की तुलना कीजिए।
3. इकाई 11 की सहायता लेते हुए प्रेमशंकर और ज्ञानशंकर के चरित्र की विशेषताएँ बताते हुए उनकी तुलना कीजिए।
4. विद्या, श्रद्धा और गायत्री की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए उनकी विशिष्टता को रेखांकित कीजिए।

इकाई 11 ज्ञानशंकर का चरित्र

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 ज्ञानशंकर के चरित्र-विधान में प्रेमचंद की दृष्टि

11.3 प्रमुख पारिवारिक सदस्यों के साथ ज्ञानशंकर का संबंध

- 11.3.1 ज्ञानशंकर और प्रेमशंकर
- 11.3.2 ज्ञानशंकर और प्रभाशंकर
- 11.3.3 ज्ञानशंकर और राय साहब कमलानंद
- 11.3.4 ज्ञानशंकर और गायत्री तथा विद्या

11.4 ज्ञान शंकर : एक जमींदार के रूप में

11.5 ज्ञान शंकर की चारित्रिक विशेषताएँ

11.6 ज्ञान शंकर की जीवन–दृष्टि

11.7 सारांश

11.8 अभ्यास प्रश्न

11.0 उद्देश्य

इस खंड कीं इकाई 10 में आपने एक उपन्यास के रूप में 'प्रेमाश्रम' का अध्ययन किया। वहाँ हमने 'प्रेमाश्रम' की पात्र-योजना पर भी चर्चा की है। इस इकाई में हम प्रेमाश्रम के प्रमुख पात्र 'ज्ञानशंकर' के चरित्र के विविध पहलुओं पर चर्चा करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- ज्ञानशंकर की चरित्र रचना में प्रेमचंद की दृष्टि की पहचान कर सकेंगे;
- परिवार के विविध सदस्यों के साथ ज्ञानशंकर के संबंध का परिचय दे सकेंगे;
- लखनपुर के ग्राम समाज के साथ जमींदार ज्ञानशंकर के संबंधों की चर्चा कर सकेंगे;
- ज्ञानशंकर के चरित्र की विशेषताओं की जानकारी दे सकेंगे; और
- जीवन के प्रति ज्ञानशंकर के दृष्टिकोण की व्याख्या कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

'प्रेमाश्रम' के औपन्यासिक शिल्प के अन्तर्गत इकाई-10 में हमने प्रेमाश्रम की पात्र योजना एवं इनकी चारित्रिक विशेषताओं की चर्चा की। इस इकाई में हम 'प्रेमाश्रम' के प्रमुख पात्र तथा अपने वर्ग के प्रतिनिधि चरित्र 'ज्ञानशंकर' के चरित्र पर चर्चा करेंगे। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास के नायकत्व के संबंध में समय-समय पर प्रश्नचिह्न लगता रहा है। सच है कि प्रेमाश्रम में कोई नायक या नायिका नहीं है। इसमें कुछ विशिष्ट चरित्र हैं जो अपने-अपने वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ज्ञानशंकर का महत्व इस बात में है कि वे पूरे उपन्यास की कथा के प्राण हैं। इस संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है –'प्रभाशंकर को इस ग्रंथ से अगर निकाल दिया जाए तो मूल कथा बिना रीढ़ की हो जाएगी, जबकि ज्ञानशंकर को निकाल देने से वह निर्जीव हो जाएगी।' प्रेमचंद उपन्यास के प्रारंभ में ही ज्ञानशंकर की महत्वाकांक्षाओं की जानकारी देते हैं - 'वह अपने परिवार को फिर समृद्धि और सम्मान के शिखर पर ले जाना चाहते थे। घोड़े और फिटन की उन्हें बड़ी आकांक्षा थी।..... वह अपने दीवानखाने को नाना प्रकार की सामग्रियों से सजाना चाहते थे। ..... चैन से जीवन व्यतीत हो यही उनका ध्येय

था।' अपने इसी ध्येय या अभीष्ट की सिद्धि में उपन्यास के प्रारंभ से अंत तक ज्ञानशंकर लगे रहते हैं। गायत्री से प्रेम, प्रेमशंकर को बिरादरी बाहर करना, प्रभाशंकर से मनमुटाव, राय कमलानन्द को विष देना, लगान में इजाफा आदि उनकी इसी अभीष्ट सिद्धि की सीढ़ियाँ हैं। और उनकी महत्वाकांक्षाएँ पूर्ण भी होती हैं लेकिन इसकी कीमत उन्हें आत्महत्या के मार्ग पर चल कर चुकानी पड़ती है। 'प्रेमाश्रम' का निर्माण होता है, और उनका सुपुत्र उनकी राह न अपनाकर प्रेमशंकर की राह को अपनाता है। ये सब घटनाएँ ज्ञानशंकर के इर्द-गिर्द चलती हैं। अतः यहाँ हम 'प्रेमाश्रम' के प्रमुख पात्र ज्ञानशंकर के चरित्र की विशेषताओं का उपन्यास के अन्य प्रमुख चरित्रों से उनके संबंधों के परिप्रेक्ष्य में विवेचन करेंगे।

11.2 ज्ञानशंकर के चरित्र-विधान में प्रेमचंद की दृष्टि

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचंद ने नायक या नायिका के विधान की कल्पना नहीं की। अतः 'ज्ञानशंकर' के रूप में हम प्रेमाश्रम के प्रमुख पात्र की कल्पना कर सकते हैं जो वास्तव में खलनायक है। प्रेमचंद 'प्रेमाश्रम' में किसान जीवन के सभी पहलुओं को उजागर करना चाहते थे। जमींदारों द्वारा किसानों के शोषण और उन पर किए गए अत्याचारों की वास्तविकता को जाहिर करने के लिए जिस चरित्र की आवश्यकता थी उसे उन्होंने ज्ञानशंकर के रूप में चरितार्थ कर दिखाया है। प्रेमचंद ने प्रेमाश्रम में यह स्पष्ट किया कि किसानों पर होने वाले अन्यायों और अत्याचारों की जड़ कहाँ है? वह जड़ जमींदार और जागीरदार तथा उसका हितैषी वर्ग है। इस वर्ग का प्रतिनिधि 'ज्ञानशंकर' है जो कठोर और निर्दयी है। 'वह लखनपुर के किसानों का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी है। लेकिन उनके सामने वह अपने पैरों पर खड़ा नहीं होता। उसे कानून और पुलिस की बैसाखियों में खड़ा रखने वाली ताकत अंग्रेजी राज की है।' (डॉ.रामविलास शर्मा) वह किसानों का शोषण करने और उन पर अत्याचार करने के सारे हथकंडे अपनाता है। उपन्यास के प्रारंभ में ही मनोहर की ढीठता से क्रोधित होते हुए ज्ञानशंकर का कथन है - 'दुष्ट कहीं का! तू समझता होगा कि मैं दखलकार हूँ। जमींदार क्या कर ही क्या सकता है? लेकिन मैं तुझे दिखा दूँगा कि जमींदार क्या कर सकता है!' ज्ञानशंकर के साथ संबंधों के माध्यम से ही उपन्यास के कुछ विशिष्ट पात्रों की मनःस्थिति और असलियत का पता प्रेमचंद पाठक को देते हैं। गायत्री की कामासक्ति, राय कमलानंद के चरित्र के विविध पक्ष, मनोहर की दीनता, लाला प्रभाशंकर का निर्द्वन्द्व स्वभाव आदि का परिचय भी हमें ज्ञानशंकर के माध्यम से प्राप्त होता है। ज्ञानशंकर अपनी स्वार्थलोलुपता, कुटिलता, दोहरे व्यक्तित्व, ईर्ष्या आदि के माध्यम से हमें उपन्यास के अन्य पात्रों की अंतरात्मा तथा उनके सोचने के ढंग से परिचित कराता चलता है।

वास्तव में 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर जमींदार के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जो अंग्रेजों का समर्थन पाकर गैरकानूनी तरीकों से किसानों का शोषण करते हैं। 'यहाँ दो तरह के जमींदार हैं। एक तरह के वे हैं जो पुरानी सामंती परम्परा के अनुसार व्यवहार करते हैं, उनका शोषण अनियंत्रित नहीं है, वह कानून अथवा पुराने जमाने से चले आते नियमों की सीमा में होता है।' (रामविलास शर्मा) लाला प्रभाशंकर इसके उदाहरण हैं। दूसरे तरह के जमींदारों में ज्ञानशंकर का चरित्र है जिनके शोषण से किसान सबसे ज्यादा शोषित और प्रताड़ित हुए। किसानों का विरोध और मायाशंकर जैसे चरित्र की उद्भावना ज्ञानशंकर जैसे खल पात्र के आधार पर ही हो सकती थी। जिसने ज्ञानशंकर का हृदय परिवर्तन करा उसे आत्महत्या की ओर अंततः प्रेरित किया।

11.3 प्रमुख पारिवारिक सदस्यों के साथ ज्ञानशंकर के संबंध

प्रेमाश्रम में ज्ञानशंकर के चरित्र की विविध पर्तों को प्रेमचंद ने अन्य व्यक्तियों के साथ उनके संबंधों और उनके सोचने के ढंग में खोला है। जहाँ भी वे उनके किसी मित्र या संबंधी से करा परिचय या मिलन कराते हैं वहीं वे ज्ञानशंकर के चरित्र के विविध पक्षों को उजागर करा चलते हैं। आइए, हम सबसे पहले उनके परिवार के निकट-सदस्यों से उनके संबंधों पर विचार करें और ज्ञानशंकर के चरित्र की विशेषताओं से परिचित हों।

11.3.1 ज्ञानशंकर और प्रेमशंकर

प्रेमशंकर ज्ञानशंकर के अग्रज हैं जो कई वर्ष से लापता थे। ज्ञानशंकर ने मान लिया था कि अब वह जीवित नहीं हैं। अचानक उनके वापस लौटने की खबर से पहले तो वे प्रसन्न होते हैं लेकिन यह प्रसन्नता क्षणिक है क्योंकि तभी उनके मन में जायदाद के बँटवारे का भाव आने लगता है - 'इतने दिनों के वियोग के बाद भाई से मिलने की आशा ने चित्त को गड्ड-मड्ड कर दिया। ..... प्रफुल्लता एक ही क्षण में लुप्त हो गई थी और नयी चिन्ताएँ आँखों के सामने फिरने लगी थीं, जैसे कोई जीर्ण रोगी किसी उत्तेजक औषधि के असर से एक क्षण के लिए चैतन्य होकर फिर उसी जीर्णावस्था में विलीन हो जाता है। उन्होंने अब तक जो मनसूबे बाँधे थे, जीवन का जो मार्ग स्थिर किया था, उसमें अपने सिवा किसी अन्य के लिए कोई जगह न रखी थी।..... सम्भव है, जायदाद का फिर से बँटवारा करना पड़े। दीवानखाने में दो परिवारों का निर्वाह होना कठिन था। लखनपुर के भी दो हिस्से करने पड़ेंगे।' इस पूरे उद्धरण में लेखक ने ज्ञानशंकर की मानसिक स्थिति का पूरा जायज़ा लिया है। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि ज्ञानशंकर के घर में, जिसमें उसके भाई का भी हिस्सा है, उसके अपने सगे इकलौते भाई के लिए भी स्थान नहीं है।

ज्ञानशंकर, प्रेमशंकर से भ्रातृ प्रेम का आचरण भी अपनी कूटनीति के तहत ही करता है। उसकी कूटनीति है - प्रेमशंकर का बिरादरी से बहिष्कार करने को हवा देना। इस संदर्भ में वह अपनी भाभी श्रद्धा को भी अपने साथ मिलाने और प्रेमशंकर से घृणा करवाने में कोई कसर नहीं छोड़ता - 'बनारस आते ही लाला पर चारों ओर से बौछारें पड़ने लगेंगी, उनके वहाँ पैर ही न जमने पाएँगे। प्रकट में मैं उनसे भ्रातृवत् व्यवहार करता रहूँगा, बिरादरी की संकीर्णता और अन्याय पर आँसू बहाऊँगा, लेकिन परोक्ष में उसकी कील घुमाता रहूँगा। महीने-दो-महीने में आप ही भाग खड़े होंगे। शायद श्रद्धा भी उनसे खिंच जाए। उसे कुछ उत्तेजित करना पड़ेगा। धार्मिक प्रवृत्ति की स्त्री है।' अंततः ज्ञानशंकर की इच्छानुरूप उसके भाई प्रेमशंकर अलग हो गए। लेकिन अलग रहने के लिए भी तो धन की आवश्यकता थी, जब उन्होंने ज्ञानशंकर से केवल अपने हिस्से का मुनाफा माँगने का निश्चय किया तो ज्ञानशंकर के पैरों तले ज़मीन खिसक गई। वह जायदाद तो उनके जीवन का आधार थी। इसमें कैसे वे नाई से हिस्सा बँटा सकते थे। वही तो उनकी वैभव प्राप्ति और महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का साधन थी। उसमें प्रेमशंकर का हिस्सा बाँटना उन्हें असह्य था। उनमें तो यही इच्छा थी कि प्रेमशंकर, लखनपुर उनके नाम लिख दें। अंततः उन्होंने प्रेमशंकर से यह कहलवाकर ही दम लिया - 'रहा लखनपुर के संबंध में मेरा इरादा। मैं यह सुनना ही नहीं चाहता कि मैं उस गाँव का जमींदार हूँ ..... अगर सरकारी पत्रों में मेरा नाम दर्ज हो गया हो तो मैं इस्तीफा देने को तैयार हूँ।'

यहाँ स्पष्ट है कि ज्ञानशंकर के मन में अपने भाई के प्रति न कोई स्नेह है न प्रेम। वे लखनपुर की जमींदारी का एकछत्र अधिकार चाहते हैं, जिसके लिए कोई भी हथकंडा अपनाने से नहीं चूकते। यहाँ तक कि जब प्रेमशंकर की मदद से लखनपुर के गाँव वाले अपील की पैरवी के लिए उठ खड़े होते हैं तो ज्ञानशंकर के अपने भाई प्रेमशंकर से संबंध में विचार स्पष्ट होते हैं - 'उनकी कूटनीति ने मेरे सारे मनसूबों के मिट्टी में मिला दिया।' आगे चलकर वह कहता है - 'मुझे उनकी सूरत से घृणा हो गयी। उन्होंने असामियों का पक्ष लिया है तो मैं भी दिखा दूँगा कि मैं क्या कर सकता हूँ।' लेकिन जब ज्ञानशंकर की महत्वाकांक्षाएँ पूर्ण हो गयीं तब उन्हें अपने भाई पर प्रेम भी उमड़ पड़ा - ' ..... आपको इस उजाड़ में झोंपड़ी बनाकर रहने की क्या जरूरत है? चलकर घर पर रहिए और ईश्वर की दी हुई सम्पत्ति भोगिए।'

जीवन के अंतिम क्षण में भी जब उसके हाथ से वैभव, सम्पत्ति और अधिकार सब निकल जाता है, उस क्षण उसे अपने भाई के 'प्रेमाश्रम' की ही याद आती है - 'मन ने कहा, तुम भी 'प्रेमाश्रम' में क्यों नहीं चले जाते? ग्लानि ने जबाब दिया, कौन मुँह लेकर जाऊँ...।' यानी अन्तिम क्षण में उन्हें अहसास है कि प्रेमशंकर के साथ उन्होंने अन्याय किया। इसकी ग्लानि भी उन्हें है।

11.3.2 ज्ञानशंकर और प्रभाशंकर

उपन्यास में प्रेमचंद ने ज्ञानशंकर और प्रभाशंकर के संबंधों को ऐसे चाचा-भतीजे के संबंध के रूप में चित्रित किया है जिसमें भावुक चाचा प्रभाशंकर अपने स्वार्थी, बदमिजाज और ईर्ष्यालु भतीजे ज्ञानशंकर के हर सही-गलत रवैये को सहकर भी उसका विरोध नहीं कर पाता। उनकी इसी सहनशीलता ने ज्ञानशंकर को और भी उच्छृंखल बना दिया। वह नहीं चाहता कि रियासत पर उसकी दयाहीन स्वार्थपरता और अन्याय का लाभ उसके अलावा उसके चाचा भी उठाएँ - 'सैकड़ों गरीबों का गला तो मैं दबाऊँ और चैन सारा घर करे। वह इस सारे अन्याय का लाभ अकेले ही उठाना चाहते थे, और लोग भी शरीक हों यह उन्हें स्वीकार न था। अब उन्हें रात-दिन यही दुश्चिन्ता रहती थी कि किसी तरह चचा साहेब से अलग हो जाऊँ।' और यही नहीं उपन्यास में आगे चलकर प्रेमचंद बताते हैं कि 'ज्ञानशंकर दम्भ और द्वेष के आवेग में बहने लगे। एक नौकर चचा का काम करता तो दूसरे को खामख्वाह अपने किसी-न-किसी काम में उलझा रखते। इसी फेर में पड़े रहते कि चचा के आठ प्राणियों पर जितना व्यय होता है, उतना मेरे तीन प्राणियों पर हो।' यह वही चचा प्रभाशंकर हैं जिन्होंने घर का सारा प्रबंध अपने बड़े भाई (ज्ञानशंकर के पिता) के समय में संभाला। 'दोनों भाइयों में इतना प्रेम था कि उनके बीच कभी कटु वाक्यों की नौबत न आयी थी। ..... प्रभाशंकर स्वयं कितना ही कष्ट उठाएँ अपने भाई से कभी भूलकर शिकायत न करते।' उन्हीं से ज्ञानशंकर कहते हैं - 'आपने सारी जायदाद चौपट कर दी, हम लोगों को कहीं का न रखा।' उन्हें चाचा से मूल शिकायत यह थी कि 'सदा आतिथ्य सत्कार और मर्यादा-रक्षा पर जान देते रहे। अगर इस उत्साह का एक अंश भी अधिकारी वर्ग के सेवा-सत्कार में समर्पण करते तो आज मैं डिप्टी कलक्टर होता।' और इस पर चाचा के विचार हैं - 'तुमको बस अपना पेट भरने की, अपने शौक की, अपने विलास की धुन है। यह जायदाद बनाने के नहीं बिगाड़ने के लक्षण हैं। अन्तर इतना ही है कि हमने दूसरों के लिए बिगाड़ा, तुम अपने लिए बिगाड़ोगे।'

वास्तव में यहाँ प्रेमचंद ने नए और पुराने मूल्यों में द्वन्द्व दिखाया है। साथ ही जमींदारों के दो वर्गों का खुलासा भी किया है। जिसकी हम बिन्दु 11.2 में चर्चा कर चुके हैं। लाला प्रभाशंकर सज्जन व्यक्ति हैं। वे अपने बड़े भाई के पुत्रों को अपने पुत्रों से बढ़कर मानते हैं। किन्तु उनकी इस भावना का ज्ञानशंकर के हृदय में कोई स्थान नहीं है। वह अपने चाचा से द्वेष का भाव रखता है। जब प्रभाशंकर के पुत्र दयाशंकर को रिश्वत और झूठे मुकदमों के आरोप में मुअत्तल किया जाता है तब भी ज्ञानशंकर को उनसे कोई सहानुभूति नहीं है। वह तो यहाँ तक प्रयत्न करता है कि दयाशंकर बरी न होने पाएँ लेकिन उसका प्रयत्न विफल होने पर जब दयाशंकर की रिहाई का आदेश होता है तो निश्छल चाचा इसे भी ज्ञानशंकर की ही कृपा समझते हैं। ज्ञानशंकर की दोहरी नीति और ईर्ष्यालु चरित्र इस पूरे प्रसंग में स्पष्ट दिखाई देता है। ज्ञानशंकर के भाई प्रेमशंकर पर कष्ट आने पर तथा उसके हिरासत में लिए जाने पर प्रभाशंकर विचलित हो जाते हैं और ज्ञानशंकर को फटकारते हैं। 'लेकिन ज्ञानशंकर अपने चचा के इस निश्छल भतीजा-प्रेम को भी गलत संदर्भ में ग्रहण करता है - 'केवल मेरी अवहेलना करने के लिए यह इतने प्रगल्भ हो रहे हैं।'

प्रभाशंकर, ज्ञानशंकर के चरित्र की सभी विशेषताओं को एक ही संवाद में स्पष्ट करते हैं - 'वह पश्चिमी सभ्यता का मारा हुआ है, जो लड़कों को बालिग होते ही माता-पिता से अलग कर देती है। उसने वह शिक्षा पाई है, जिसका मूल तत्व स्वार्थ है। उसमें अब दया, विनय, सौजन्य कुछ भी नहीं रहा। वह अब केवल अपनी इच्छाओं का, इन्द्रियों का दास है।'

यहाँ पर मूल्यों का द्वन्द्व साफ तौर पर दिखाई देता है। यद्यपि प्रभाशंकर के जीवन मूल्य और अगली पीढ़ी के प्रेमशंकर के जीवन मूल्य भी लगभग एक से ही हैं लेकिन ज्ञानशंकर स्वार्थी है और इच्छाओं का दास है। इसीलिए उसका विवेक उसे सही दिशा दिखा नहीं पाता। वह चाचा की सौहार्दता को भी दिखावा और बनावटीपन समझता है।

11.3.3 ज्ञानशंकर और राय साहब कमलानंद

राय कमलानंद रईस और ताल्लुकेदार वर्ग के प्रतिनिधि हैं और अंग्रेजी एवं उच्च समाज के साथ उनका उठना बैठना है। राय साहब 'बड़े रसिक पुरुष' थे। साहित्य राजनीति आदि में भी उनकी पैठ थी। ज्ञानशंकर रायसाहब के दामाद थे। रायसाहब के पुत्र की मृत्यु का समाचार

सुन कर ज्ञानशंकर लखनऊ (रायसाहब के घर) पहुँचते हैं। उनके लखनऊ पहुँचने का कारण राय साहब से सहानुभूति नहीं है अपितु राय साहब की अपार सम्पत्ति का वारिस बनने की उनकी कामना है। प्रारंभ में तो राय साहब से मिलने पर ज्ञानशंकर उनसे प्रभावित होते हैं - 'ज्ञानशंकर को उनके बुद्धि-चमत्कार और ज्ञान-विस्तार पर अचम्भा होता था। यदि आँखों देखी बात न होती तो किसी एक व्यक्ति में इतने गुणों की चर्चा सुनकर उन्हें विश्वास न होता। इस सत्संग से उनकी आँखें खुल गईं। उन्हें अपनी योग्यता और चतुरता पर बड़ा गर्व था। इन सिद्धियों ने उसे चूर-चूर कर दिया। ... सबसे बड़े कुतूहल की बात तो यह थी कि ऐसे दारुण शोक के बोझ के नीचे राय साहब क्योंकर सीधे खड़े रह सकते थे!' लेकिन धीरे-धीरे ज्ञानशंकर को राय साहब से अश्रद्धा होने लगी - 'कोई योगी, सिद्ध महात्मा भी जवान बेटे का दाग दिल पर रखते हुए इतना अविचलित नहीं रह सकता। अहंकार ने आत्मा का दमन कर दिया।'

राय कमलानंद का केवल एक ही पुत्र था। उनके पुत्र निधन के बाद ज्ञानशंकर को लगा कि राय साहब की सारी जायदाद, जिसकी वार्षिक आय लगभग एक लाख रुपये थी, ज्ञानशंकर के `टे मायाशंकर को मिल जाएगी। इस महत्वाकांक्षा के कारण उसे डर था कि कहीं राय साहब दूसरी शादी न कर लें। यही नहीं वह राय साहब के समक्ष अपनी इस शंका को भी प्रस्तुत भी करता है। राय साहब जब यह स्पष्ट कर देते हैं कि विवाह करने का उनका कोई इरादा नहीं और मायाशंकर को अपना उत्तराधिकारी बनाने की बात भाग्य पर छोड़ देते हैं तो ज्ञानशंकर उसे भी गलत अर्थ में लेते हैं। उन्हें निराशा होती है - 'यद्यपि युक्तियों से यह मुझे शान्त करना चाहते हैं, पर वास्तव में इन्होंने विवाह करने का निश्चय कर लिया है। .... मन में कहा आप मेरे साथ दोरंगी चाल चल रहे हैं। मैं साबित कर दूँगा कि कम-से-कम इस व्यवहार में मैं आपसे हेठा नहीं हूँ।' यद्यपि ज्ञानशंकर की अन्तरात्मा उसे धिक्कारती भी है 'मेरे लिए यह कितनी लज्जा की बात है कि अपने स्वार्थ के लिए उनका बुरा चेतूँ, उनके कुल के अन्त होने की अमंगल - कामना करूँ।' लेकिन राय साहब की 'अतुल सम्पत्ति' पाने की कामना उसके अन्तर को सुपात्र को दबा देती है।

राय साहब ज्ञानशंकर के संपर्क में रहते हुए उसकी महत्वाकांक्षाओं और स्वार्थ परकता को अच्छी तरह पहचान और समझ जाते हैं। प्रेमशंकर को जायदाद से हटाने की उसकी मंशा पर वे कोई विचार नहीं देते, यहाँ तक कि अपनी बेटी गायत्री की संपत्ति भी ज्ञानशंकर को ही मिले, इससे भी उन्हें आपत्ति नहीं। लेकिन जब उन्हें पता चलता है कि ज्ञानशंकर गायत्री की सम्पत्ति के साथ प्रेम भी चाहते हैं तो वे कहते हैं - 'मैं उसके सतीत्व को उसकी जायदाद से कहीं ज्यादा मूल्यवान समझता हूँ और उस पर किसी को लोलुप दृष्टि पड़ना सहन नहीं कर सकता।' राय साहब की बातों से ज्ञानशंकर को ग्लानि तो नहीं हुई लेकिन भय हुआ कि 'यही जीवन का फल है। इसीलिए दुनिया भर के मनसूबे बाँधे थे। वह दुष्ट कमलानंद मेरी गर्दन पर छुरी फेर रहा है।' राय साहब ज्ञानशंकर की 'ऋद्धि प्राप्ति' के मार्ग में बाधक थे अतः ज्ञानशंकर ने राय साहब को विष देने में भी हिचकिचाहट न दिखाई।

रायसाहब और ज्ञानशंकर के संबंधों और संवादों के माध्यम से हमें दो जमींदारों की परस्पर तुलना करने का अवसर मिला है। राय साहब जहाँ रईस, ताल्लुकेदार, समाज में उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित, संसार की सभी सुविधाओं का भोग करने वाले हैं, किन्तु चरित्रवान हैं वहीं ज्ञानशंकर इन सबके लिए लालायित हैं और उसकी यह महत्वाकांक्षा उसके चरित्र का हनन कर देती है। वह इन सबको पाने के लिए विष देने का निकृष्टतम कदम उठाने से भी नहीं चूकता। वास्तव में ज्ञानशंकर का असंयम ही उसे निकृष्ट कार्यों की ओर प्रेरित करता है। वह वैभव और संपत्ति के लिए लालायित है। राय साहब से उसे उम्मीदें हैं लेकिन ये उम्मीद जल्दी पूरी होगी इस पर उसे शंका है। जब उसकी असलियत राय साहब के समक्ष स्पष्ट हो जाती है तब तो वह चोट खाया सांप बन जाता है।

13.3.4 ज्ञानशंकर और गायत्री तथा विद्या

गायत्री और ज्ञानशंकर के प्रारंभिक संबंधों के बारे में प्रेमचंद लिखते हैं - 'वह उन्हें छोटे भाई के तुल्य समझती थी।... साली के नाते प्रथानुसार उनसे दिल्लगी भी करती, उन पर भावमय चोटें करती और हँसती थी।' उसका यही 'सरल और सीधा' व्यवहार ज्ञानशंकर को

प्रेम का आह्वान लगता था। यद्यपि लेखक ने उपन्यास में कई स्थानों पर गायत्री और ज्ञानशंकर के संबधों में गायत्री की उस मनःस्थिति का परिचय दिया जिसमें वह ज्ञानशंकर के मोहपाश में न फँसने के लिए स्वयं को समझाती है। किन्तु अंततः वह अपने को ज्ञानशंकर के आकर्षण से मुक्त नहीं रख पाती। उसे यह पूरी तरह ज्ञात है कि ज्ञानशंकर उसके लावण्य एवं ऐश्वर्य के प्रति आसक्त है, लेकिन फिर भी वह इसे आध्यात्मिक प्रेम समझती है, जिसमें वासना नहीं है। लेकिन जहाँ तक ज्ञानशंकर का प्रश्न है, वे गायत्री की सम्पत्ति का वारिस बन अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति करना चाहते हैं और उसी का माध्यम प्रेम को बनाते हैं जो अंततः कामवासना से ही प्रेरित है। वस्तुतः इन दोनों के संबंधों के माध्यम से लेखक ने ज्ञानशंकर के चरित्र के प्रेमासक्त और कामवासना से प्रेरित पक्ष को प्रस्तुत किया है जो अंततः उसकी धन लोलुपता की महत्वाकांक्षा की ही सिद्धि करता है।

विद्या और ज्ञानशंकर यूँ तो पति-पत्नी हैं, लेकिन ज्ञानशंकर के हृदय में विद्या के लिए आदर या स्नेह नहीं है। विद्या विचारों में ज्ञानशंकर से सहमत नहीं है। उसकी हर गलत बात और कदम का वह विरोध करती है। 'उसे बाबू ज्ञानशंकर को अपने चचा से वाद-विवाद करते देखकर खेद होता था, और अवसर मिलने पर वह उन्हें समझाने की चेष्टा करती थी।' लेकिन ज्ञानशंकर को अपने दंभ में उसकी बात सुनने की फुर्सत कहाँ थी - 'वह इतने शिक्षित होकर भी स्त्री का आदर उससे अधिक न करते थे, जितना अपने पैर के जूतों का। अतएव उनका दाम्पत्य जीवन भी, जो चित्त की शान्ति का एक प्रधान साधन है, सुखकर न था।'

प्रेमाश्रम में विद्या एक पतिव्रता स्त्री की तरह अपने पति ज्ञानशंकर पर पूर्ण विश्वास करती है। यहाँ तक कि जब उसके पिता राय कमलानन्द उसे उसके पति के चरित्र की कलुषता से परिचित कराते हैं तब भी वह विश्वास नहीं करती - 'मैं जिस पुरुष की स्त्री हूँ, उस पर सन्देह करके अपना परलोक नहीं बिगाड़ सकती। वह आपके कथनानुसार कुचरित्र सही, दुरात्मा सही, कुमार्गी सही, परन्तु मेरे लिए पूज्य और देवतुल्य हैं।' जब वह अपने पति की चरित्रहीनता और कुकृत्यों को स्वयं अपनी आँखों से देखती है तो भी वह उसका विरोध नहीं कर पाती और प्राण दे देती है।

पूरे उपन्यास में प्रेमचंद ने विद्या और ज्ञानशंकर के संबंधों में कहीं भी विश्वास और प्रेम का निदर्शन नहीं किया है। यद्यपि प्रेमशंकर और श्रद्धा, प्रभाशंकर और उनकी पत्नी के आपसी संबंधों में दाम्पत्य जीवन के सुख-दुःख दिखाई देते हैं। उनके संवादों में एक दूसरे के प्रति अधिकार और प्रेम द्रष्टव्य है, लेकिन विद्या और ज्ञानशंकर के व्यवहार में नहीं।

11.4 ज्ञानशंकर : एक जमींदार के रूप में

जैसा कि हम पहले ही उल्लेख कर आए हैं कि प्रेमाश्रम में ज्ञानशंकर जमींदार वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। हमने इकाई के प्रारंभ में 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में जमींदारों के दो वर्गों की चर्चा की है। एक वर्ग तो उन जमींदारों का है जो पहले से चले आ रहे नियमों और कानूनों की सीमा में रहकर किसानों के साथ व्यवहार करते हैं। वे असामियों पर सख्ती करने के विरुद्ध हैं। इस वर्ग में लाला प्रभाशंकर आते हैं। दूसरे वर्ग के जमींदारों के प्रतिनिधि हैं ज्ञानशंकर, जो किसानों के शोषण में कोई कमी नहीं उठा रखते। इनको अंग्रेजी राज का संरक्षण प्राप्त है। उसी की शह में वे इजाफा लगान, बेदखली आदि करते हैं। प्रेमाश्रम के किसानों की मूल लड़ाई इसी दूसरे वर्ग के जमींदारों के विरुद्ध है। प्रेमाश्रम में प्रेमचंद ने स्पष्ट रूप से दोनों वर्गों के जमींदारों के अन्तर को सपष्ट किया है - 'जब तक इलाके का प्रबन्ध लाला प्रभाशंकर के हाथों में था, वह गौस खाँ को अत्याचार से रोकते थे। अब ज्ञानशंकर मालिक और मुख्तार थे। उनकी स्वार्थप्रियता ने खाँ साहब को अपनी अभिलाषाएँ पूर्ण करने का अवसर प्रदान कर दिया था। वर्षान्त पर उन्होंने बड़ी निर्दयता से लगान वसूल किया। ... शिकमी असामियों को समूल उखाड़ दिया और उनकी भूमि पर लगान बढ़ाकर दूसरे आदमियों को सौंप दिया। ..... सारे इलाके में हाहाकार मच गया।' और यह सब ज्ञानशंकर की शह में ही सम्पन्न हुआ।

वास्तव में ज्ञानशंकर अपनी रियासत लखनपुर से ज्यादा से ज्यादा धन कमाने की ताक में रहता है। 'वह एक नए जमाने का ज़मींदार है जब महायुद्ध खत्म हो चुका था और सारे हिन्दुस्तान में दमन और लूट-खसोट का दौरदौरा था।' (डॉ. रामविलास शर्मा) इस नए जमाने के ज़मींदार को अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए धन बटोरने की चिन्ता थी। वह गाँव वालों से निर्दयता से पेश आता है। जब वह लखनपुर गाँव पर इजाफा लगान का दावा करता है तो गाँव में आग सी लग जाती है। गाँव में एका हो जाता है और वे जमींदार का विरोध करने के उद्देश्य से बैठी पंचायत से कहते हैं - 'हम तुम्हारे साथ हैं, जिस रास्ते कहोगे चलेंगे और इस धरती पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर देंगे।' आगे चलकर प्रेमचंद इस विरोध में एक और जागृति की चेतना जोड़ते हैं - 'निस्संदेह गाँव वालों को मालूम था कि जमींदार को इजाफा करने का पूरा अधिकार है, लेकिन वे यह भी जानते थे कि यह अधिकार उसी दशा में होता है, जब जमींदार अपने प्रयत्न से भूमि की उत्पादक शक्ति बढ़ा दे।' ज्ञानशंकर इस 'एका' को देखकर चौंकते तो हैं लेकिन जानते हैं कि वे ही सफल होंगे। उन्हें गाँव वालों की सफलता के कोई आसार नहीं लगते। पहली बार गाँव वालों में जमींदार के अत्याचार के खिलाफ आवाज उठी है। इससे पहले तो जमींदार का विरोध केवल मनोहर और बलराज तक ही सीमित था। अब सारा गाँव एक हो गया है।

गाँव में प्लेग फैल गया है। एक तरफ कचहरी और दूसरी तरफ महामारी। गाँव वालों की दशा खराब है - 'हुजूर, रोते नहीं बनता, बड़ी दुर्दशा हो रही है। उस पर मालिकों की निगाह भी टेढ़ी हो गई है। सौ काम छोड़कर कचहरी दौड़ना पड़ता है। कभी-कभी तो घर में लाश छोड़कर जाना पड़ता है।' ज्वालासिंह को गाँव वालों से सहानुभूति है - 'उन गरीबों में अब अपील करने की सामर्थ्य नहीं। ज्ञानशंकर डिग्री पाते ही जारी कर देंगे। किसी के बैल नीलाम होंगे, किसी के घर बिकेंगे, किसी की फसल खेत में खड़ी-खड़ी कौड़ियों के मोल नीलाम हो जाएगी।' किसानों की इस दशा का जिम्मेदार जमींदार ही है जो केवल धन प्राप्ति को ही ध्येय मानता है, किसानों के कष्टों और उनकी परिस्थितियों से उसका कोई संबंध नहीं। उसे तो निश्चित की गई लगान की रकम चाहिए।

ज्ञानशंकर की अपील खारिज होने का समय गाँव वालों के लिए भी विपत्ति का समय ही था। प्लेग से कई घर खत्म हो गए थे। आँधी, पानी और ओलों से सारी खेती नष्ट हो गई थी। महामारी के समय गाँव वालों ने जमींदार के बाग में ही झोंपड़े डाले। अपील की पैरवी करने के लिए प्रेमशंकर ने गाँव वालों की मदद की। कादिर खाँ ने मुकदमें की पैरवी करने की ठानी। 'जमींदार ज्ञानशंकर असामियों को इस दुःसाहस का दण्ड देने के लिए उधार खाए बैठे थे। अभी गाँव के लोग झोंपड़ी में ही थे कि गौस खाँ अपने तीनों चपरासियों को लिए हुए आए और झोंपड़ों में आग लगवा दी। बाग की भूमि जमींदार की थी। असामियों को वहाँ झोंपड़े बनवाने का कोई अधिकार न था। इससे भी ज्ञानशंकर को संतोष न हुआ। लखनपुर के तालाब का पानी, जिससे पूरे गाँव वालों का काम चलता था, भी रोक दिया गया। लोगों को कभी स्वप्न में भी अनुमान न हुआ था कि ज़मींदार इतनी जबर्दस्ती कर सकता है, उनका चिरकाल से इस पर अधिकार था।' यही नहीं ज्ञानशंकर स्वयं स्वीकार करता है कि 'ज़मींदारी करने के लए बड़ी सख्ती की जरूरत है। जमींदार नजर-नजराना, हरी-बेगार, डाँड़-बाँध सब कुछ छोड़ सकता है, लेकिन लगान तो नहीं छोड़ सकता। वह भी बगैर अदालती कार्रवाई के नहीं वसूल होता।' अंग्रेजी शासन के तहत जो ज़मींदारी व्यवस्था कायम हुई थी, उसके पूरे प्रभाव को ज्ञानशंकर के चरित्र में देखा जा सकता है।

प्रेमाश्रम में ज्ञानशंकर की निर्दयता और स्वार्थपरता का अंकन कर प्रेमचंद ने गाँव वालों की जागृति और उनमें उठती चेतना की नई लहर को भी रेखांकित किया है जो उस समय के राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन को भी मजबूती प्रदान करता है। वास्तव में जमींदारों द्वारा किया जाने वाला शोषण अंग्रेजी राज की शह पर ही था अतः उस राज की समाप्ति ही स्वाधीनता थी। इस अंग्रेजी राज का विरोध तभी हो सकता था जब उनकी छत्रछाया में पल रहे जमींदारी राज का विरोध किसानों द्वारा हो।

11.5 ज्ञानशंकर की चारित्रिक विशेषताएँ

अभी तक हमने ज्ञानशंकर और उपन्यास में चित्रित अन्य विशिष्ट चरित्रों के साथ संबंधों की चर्चा की। इस चर्चा के अन्तर्गत ज्ञानशंकर के चरित्र के कुछ प्रमुख पक्ष हमारे समक्ष उभर कर आए। आइए, अब हम ज्ञानशंकर के चरित्र की कुछ अन्य विशेषताओं की चर्चा करें।

उपन्यास के प्रारंभ में प्रेमचंद ज्ञानशंकर के बी.ए. पास होने तथा हर समय हारमोनियम बजाने का उल्लेख करते हैं। लेकिन जब उनका बड़ा भाई घर छोड़ भाग निकला तब ज्ञानशंकर का असली रूप सामने आया - 'ज्ञानशंकर ने बाप और चचा से लड़ाई ठानी। उनकी फजूलखर्चियों की कड़ी आलोचना किया करते। ... न चचा का प्रबंध भतीजे को पसन्द था न भतीजे का चचा को।' लेकिन आगे चलकर ज्ञानशंकर यह भी स्पष्ट करते हैं कि फजूलखर्ची कहाँ करनी चाहिए - 'अगर इस उत्साह का एक अंश भी अधिकारी-वर्ग के सेवा-सत्कार में समर्पण करते तो आज मैं डिप्टी कलक्टर होता।' यानी उदारता दिखाओ लेकिन वहाँ जहाँ स्वार्थ-पूर्ति हो। आगे चलकर जब उनकी पत्नी विद्या के भाई का देहांत होता है और विद्या उनके नाम पर एक घोड़ा दान देना चाहती है तो वे इस अपव्यय को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। क्योंकि उन्हें आशा है कि शायद विद्या के पिता वारिस न होने पर सारी सम्पत्ति का वारिस उन्हें ही बना दें।

ज्ञानशंकर की **महत्वाकांक्षाएँ** ही उसे सारे बुरे कर्मों की ओर प्रेरित करती हैं। वह सफल भी होता है। उसके हृदय में 'भावी उन्नति की बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ हैं। चैन से जीवन व्यतीत हो, यही उनका ध्येय है।' उसके इसी ध्येय की पूर्ति पर पूरे उपन्यास की कथा चलती है। अपनी इसी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए ज्ञानशंकर अपने चचा प्रभाशंकर से बँटवारा करते हैं, गायत्री से प्रेम का नाटक खेलते हैं, राय साहब को विष देते हैं, सगे भाई को भी उसके हिस्से की जायदाद से अलग करते हैं, गाँव के किसानों पर तरह-तरह के अन्याय करते हैं और अपने पुत्र को भी अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति में अपना हथियार बनाते हैं। अंततः उनकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति भी होती है, लेकिन किस कीमत पर! प्रेमचंद ने स्वयं ज्ञानशंकर के माध्यम से बताया है, 'हाकिमों में मान था, रईसों में प्रतिष्ठा थी, विद्वज्जनों में आदर था, मर्मज्ञ लेखक थे, कुशल वक्ता थे। सुख भोग की सब सामग्रियाँ प्राप्त थीं। जीवन की महत्वाकांक्षाएँ पूरी हो गयी थीं। ... अभी तीन साल पहले मैं एक हजार सालाना नफे के लिए सारे गाँव को फाँसी पर चढ़वा देना चाहता था। ... एक तुच्छ बात के लिए चचा से अलग हो गया, यहाँ तक कि अपने सगे भाई का भी अहित सोचता था। ..... निस्संदेह इस सफलता के लिए मुझे स्वांग भरने पड़े, हाथ रंगने पड़े, पाज, छल, कपट सब कुछ करने पड़े, किंतु अंधेरे खोह में उतरे बिना अनमोल रत्न कहाँ मिलते हैं।' स्पष्ट है कि उसने जो कुछ भी किया, अपने मंतव्य को पूरा करने के लिए किया। उपन्यास के अंत में वे हार जाते हैं तो भाग्यवादी बन जाते हैं - 'हा वैभव लालसा! तेरी बलिवेदी पर मैंने क्या नहीं चढ़ाया? अपना धर्म अपनी आत्मा तक भेंट कर दी। ... मैं समझता था, मैं स्वयं अपना भाग्यविधाता हूँ। विद्वानों ने भी ऐसा कहा है, पर आज मालूम हुआ कि मैं उसके हाथों का खिलौना था। ..... मनुष्य कितना दीन, कितना परवश है? भावी कितनी प्रबल, कितनी कठोर!' वैसे तो उपन्यास में कहीं-कहीं ज्ञानशंकर की अन्तरात्मा उसे बुरे कर्मों से दूर रहने के लिए धिक्कारती भी है। सही और गलत कार्य का विवेक भी उसे है, 'राय साहब अपनी जायदाद के मालिक हैं। उन्हें विवाह करने की पूर्ण स्वतंत्रता है, वह अभी हृष्ट-पुष्ट हैं उम्र भी ज्यादा नहीं। ..... मेरे लिए यह कितनी लज्जा की बात है कि अपनी स्वार्थ के लिए उनका बुरा चेतूँ, उनके कुल के अन्त होने की अमंगल-कामना करूँ।' लेकिन वैभव प्राप्ति की लालसा उसके बुरे विचारों को ही बढ़ावा देती है।

जिस वैभव और सम्पत्ति के लिए ज्ञानशंकर कोई भी दुष्कर्म करते हुए नहीं हिचकता वही विषय लिप्सा अंततः उसे आत्महत्या के मार्ग पर अग्रसर करती है। जीवन के अंतिम क्षणों में प्रेमचंद ने उसका हृदय-परिवर्तन दिखाया है। उसके माध्यम से ही प्रेमचंद की दृष्टि हमारे समक्ष प्रकट होती है जो ज्ञानशंकर के पूरे जीवन का निचोड़ भी है - 'जो तिमंजिला भवन मैंने एक युग में अविश्रान्त उद्योग से खड़ा किया, वह क्षण मात्र में इस भाँति भूमिस्थ हो

गया, मानो उसका अस्तित्व न था, उसका चिह्न तक दिखाई नहीं देता।..... विषय-लिप्सा तूने मुझे कहीं का न रखा।... इसके बिना भी आदमी सुख रह सकता है, बल्कि सच पूछो तो सुख इनसे मुक्त रहने में ही है।' यही प्रेमचंद का आदर्शवाद है। प्रेमचंद यहाँ संतोष और मन की शांति को प्राथमिकता देते हैं। साथ ही उन्होंने यह भी दर्शाया कि बुरे व्यक्ति का अंत यही होना था। हृदय-परिवर्तन और आत्महत्या।

ज्ञानशंकर के **विचार और व्यवहार में अन्तर** उसकी विशेषता है। एक तरफ तो वह अपने मित्र के समक्ष अपने आदर्श विचार व्यक्त करता है कि वह ऐसे अधिकार पर लात मारता है जिसमें अन्याय करने को कहा जाए, और दूसरी तरफ गाँव के किसानों के तनिक सा विरोध करने पर इजाफा लगान का दावा करने की बात कहता है। कथनी और करनी का यह अन्तर उसके व्यक्तित्व पर शुरू से अंत तक छाया है। नैनीताल में जब वह अंग्रेजियत में फिट नहीं बैठ पाता तो अंग्रेजियत के पीछे लट्ठ लिए फिरने वालों की निन्दा ही करने लगता है। जो जमींदार केवल घी के रूपये न लेने पर गरीब किसान पर इजाफा लगान के दावे का व्यवहार करता है, उसके विचार हैं - 'किसी को खबर नहीं कि गरीबों पर क्या बीत रही है। किसी के हृदय में दया नहीं। कोई राजा है, कोई ताल्लुकेदार, कोई महाजन, सभी गरीबों का खून चूसते हैं, गरीबों के झोंपड़ों में सेंध मारते हैं और यहाँ आकर देश की अवनति का पचड़ा गाते हैं। भला ही है कि अधिकारी वर्ग इन महानुभावों को मुँह नहीं लगाते। कहीं वह इनकी बातों में आ जाएँ और देश का भाग्य इनके हाथों में दे दें तो जाति का कहीं नामोनिशान भी न रहे।' आगे चलकर लेखक उनकी कथनी और करनी के विषय में संकेत देता है कि 'सेवा और दया के जो पवित्र भाव उन्होंने चित्रित किये थे, उनका स्वयं उनकी आत्मा पर भी असर हुआ। पर शोक! इस अवस्था का शीघ्र अन्त हो गया।' यानी सभा में गरीबों के हित और रईसों की खिलाफत करने वाला समालोचक हृदय से वही जमींदार है जो लखनपुर पर अन्याय करने की हदें पार कर जाता है। 'गरीबों का खून चूसने' और उनके 'झोंपड़ों में सेंध मारने' में कोई कसर नहीं छोड़ता। आगे चलकर जब ज्ञानशंकर गायत्री की रियासत का मैनेजर बनना स्वीकार करता है तो उसके विचार हैं - 'मैं ऐसी समृद्धिपूर्ण रियासत को दूसरों के हाथ में नहीं देखना चाहता। गायत्री के बाद जब उस पर दूसरों का ही अधिकार होगा तो मेरा क्यों न हो'। यानी वह रियासत का कार्य सँभालना चाहता है तो रियासत या गायत्री की भलाई के लिए नहीं, बल्कि उसे अपने हक में लेने के लिए।

ज्ञानशंकर की गायत्री के प्रति प्रेमासक्ति भी ज्ञानशंकर की महत्वाकांक्षा की पूर्ति का साधन है। ज्ञानशंकर और उसके श्वसुर राय कमलानंद के वार्तालाप का अंश देखते हैं -

'राय - तुमने यह जाल किसके लिए फैलाया है?

ज्ञान - गायत्री के लिए।

राय - तुम उससे क्या चाहते हो?

ज्ञान - उसकी सम्पत्ति और उसका प्रेम।'

यहाँ सम्पत्ति प्रमुख है, प्रेम गौण। ज्ञानशंकर गायत्री के साथ जो भी प्रेम का खेल खेलता है वह अपने पुत्र मायाशंकर को उसकी अपार संपत्ति का वारिस बनाने के लिए। उसका मानना है - 'यह सांसारिक उन्नति का काल है। धर्माधर्म का विचार संकीर्णता का द्योतक है। सांसारिक उन्नति हमारा अभीष्ट है। प्रत्येक साधन जो अभीष्ट सिद्धि में सहायक हो, ग्राह्य है।' यही विचार ज्ञानशंकर को विवेकशून्य बनाते हैं। वह गायत्री की ओर आकृष्ट होता है, गायत्री के प्रति ज्ञानशंकर की भावना के संबंध में लेखक ने लिखा है - "यह प्रेम न था, वशीकरण की इच्छा थी। इस इच्छा और प्रेम में बड़ा भेद है, इच्छा अपनी ओर खींचती है, प्रेम स्वयं खिंच जाता है। .... ज्ञानशंकर के हृदय में यही वशीकरण चेष्टा किलोलें कर रही थी।' लेकिन आगे चलकर ज्ञानशंकर की कामुकता और उद्विग्नता के कारण उसे धोखा भी खाना पड़ता है। वह पुरुषोचित उद्दण्डता को वशीकरण का सिद्धमंत्र मानता है लेकिन यह उद्दण्डता उसे भारी पड़ती है - 'गायत्री जरा संभल गई, उसने ज्ञानशंकर की ओर सजल आँखों से देखा। कहना चाहती थी, जो कुछ तुमने किया उसका बदला तुम्हें परमात्मा देंगे।' लेकिन अंततः वह अपने प्रति गायत्री के हृदय में प्रेम का स्रोत बहा ही देता है। इसके लिए

उसे राधा-कृष्ण की भक्ति का भी सहारा लेना पड़ा तो उसे संकोच नहीं। गायत्री को 'लेशमात्र भी अनुमान न होता था कि यह भक्ति मुझे वासना की ओर खींचे लिए जाती है।' यहाँ ज्ञानशंकर का कामवासना से प्रेरित व्यक्तित्व उसके चरित्र की विशेषता का प्रमुख बिन्दु है। अपनी पत्नी को तो वह आदर तक नहीं दे पाता और पत्नी की बहन के प्रति उसका आकर्षण है क्योंकि वह उसे अपार सम्पत्ति, ओहदा और अधिकार भी दे सकती है। उसका यह प्रेम और वासना स्वार्थ प्रेरित है।

11.6 ज्ञानशंकर की जीवन-दृष्टि

जीवन के प्रति ज्ञानशंकर का दृष्टिकोण स्पष्ट है। वे जीवन में ऐश्वर्य, विलासिता और सुखोपभोग की कामना करते हैं। इसी कामना सिद्धि में उनके सभी कार्य व्यापार शामिल हैं। गाँव के किसान यदि उनकी बात नहीं मानते तो उन्हें अपना मान और अधिकार घटता प्रतीत होता है। वे 'दण्ड' से कार्य लेते हैं। इजाफा लगान का दावा करते हैं, उनके झोंपड़ों में आग लगवाते हैं, उनके जीवन स्रोत तालाब का पानी बन्द करवाते हैं, इस पर भी जी नहीं भरता तो उन्हें जेल की हवा भी खिलाते हैं। जीवन में सुख -सुविधाओं के साधन जुटाना और रईस समाज में मान, सम्मान का अधिकारी बनना उनका लक्ष्य है। इस लक्ष्य में जो भी आड़े आता है उसे वे मार्ग से हटाते हैं। प्रेमशंकर, प्रभाशंकर, राय कमलानंद, विद्या ये सब ऐसे ही चरित्र हैं जो उन्हें सुमार्ग पर लाने के लिए चेष्टारत हैं। वे ज्ञानशंकर की दृष्टि में परिवर्तन लाना चाहते हैं , उन्हें सन्मार्ग की ओर प्रेरित करना चाहते हैं। लेखक विद्या और ज्ञानशंकर के संबंध में कहता है - '...इस सुव्यवस्थारूपी (सीर के लिए बेगार) मधुर गान में एक कटु स्वर भी था, जिससे उसका लालित्य भंग हो जाता था। यह विद्यावती का असहयोग था। उसे अपने पति की स्वार्थपरता एक आँख न भाती थी।' राय साहब भी ज्ञानशंकर को सुमार्ग पर लाने हेतु कहते हैं - 'अपने सुप्रबंध से, कार्य कुशलता से, किफायत से, हितेच्छा से, उसके (गायत्री) कृपापात्र बन जाओ, न कि उसके भोलेपन, उसकी सरलता और मिथ्या भक्ति को अपनी कूटनीति का लक्ष्य बनाओ और प्रेम का स्वांग भरकर उसके जीवन-रत्न पर हाथ बढ़ाओ।' लेकिन ज्ञानशंकर कहाँ सुनने वाले थे। उन्हें तो जीवन में शीघ्रातिशीघ्र अपार सम्पत्ति, ऐश्वर्य, सुख, मान, अधिकार सब कुछ चाहिए। समय की प्रतीक्षा करना उन्हें ग्राह्य नहीं। राय साहब ज्ञानशंकर को अपनी आत्मा और ईमान बलिदान न करने की सलाह देते हैं क्योंकि उन्होंने तकदीर की अनेक लीलाएँ देखी हैं। वे उसे इच्छाओं और कुवासनाओं की गुलामी न करने की सलाह देते हैं। परन्तु ज्ञानशंकर की जीवन दृष्टि में इन बातों के लिए स्थान कहाँ। उन्हें तो लखनपुर की पूरी जायदाद चाहिए अतः प्रेमशंकर और प्रभाशंकर को अलग कर देते हैं। उन्हें वैभव और संपत्ति की लालसा है। जिस पुत्र के लिए वे यह धन एकत्र कर रहे हैं, उसका क्या मानना है, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं। उनकी यही दृष्टि जीवन के अंतिम क्षण में उन्हें निराशा देती है जहाँ मृत्यु के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है।

11.7 सारांश

ज्ञानशंकर के रूप में प्रेमचंद ने जिस जमींदार का चित्रण किया है, वह अत्यंत कठोर और निर्दयी है। वह डिप्टी कलक्टर नहीं बन सका, इसका उसे दुःख है, लेकिन वह धन, मान-सम्मान चाहता है और इसके लिए वह सभी तरह के हथकंडे अपनाता है। ज्ञानशंकर का चरित्र पूरे उपन्यास पर छाया हुआ है।

ज्ञानशंकर के अन्य चरित्रों के साथ संबंध और उसके चरित्र के विविध पक्ष इस ओर इशारा करते हैं कि वह स्वार्थांध है। अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए वह कुछ भी कह सकता है, कर सकता है। उसकी दृष्टि में सम्पत्ति, वैभव, अधिकार और मान ही सब कुछ है। इसके लिए यदि उसे अपने प्रिय जनों पर भी अत्याचार करना पड़े तो वह तत्पर है। लखनपुर, जो उसकी आशाओं का स्वर्ग है, का भी वह पूरी तरह सम्पत्ति निचोड़ करना चाहता है। इसके लिए गाँव वालों पर अन्याय करने में उनके घर जलवाने में, उनका पानी तक बन्द करवाने में उसने कोई कसर नहीं छोड़ी। रामविलास शर्मा जी के शब्दों में कह सकते हैं - 'ज्ञानशंकर अपने वर्ग का प्रतिनिध पात्र है। वह जितना धूर्त है, उतना चतुर नहीं। इसलिए उसकी बहुत कम योजनाएँ सफल हो पाती हैं। वह जितना धन का लोभी है, उतना ही कामी भी। इसलिए

उसकी कामुकता कभी-कभी उसका बना-बनाया खेल बिगाड़ देती है। ..... वह कपटी, छली और दगाबाज़ है, लेकिन उसमें हिम्मत चोरों के बराबर भी नहीं है। उसकी कायरता पाठक की सहानुभूति दूर कर देती है। वह जितना कायर है, उतना कठोर और निर्दयी भी है। वह लखनपुर के किसानों का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी है।'

11.8 अभ्यास प्रश्न

1. ज्ञानशंकर का चरित्र प्रेमचंद की किस दृष्टि का परिणाम है? स्पष्ट कीजिए।
2. ज्ञानशंकर के प्रभाशंकर और प्रेमशंकर के साथ संबंधों का विवेचन कीजिए।
3. विद्या और ज्ञानशंकर के चरित्र दो ध्रुव के समान हैं। उनके परस्पर संबंध के आधार पर इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
4. जीवन के प्रति ज्ञानशंकर के दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिए।

खण्ड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1. प्रेमचंद और उनका युग - डॉ. रामविलास शर्मा
2. प्रेमचंद : चिन्तन और कला - सं. - इंद्रनाथ मदान
3. किसान, राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद : 1918-22; डॉ. वीरभारत तलवार
4. प्रेमचंद और भारतीय किसान - डॉ. रामबक्ष

परिशिष्ट : प्रेमाश्रम

कब लिखी गई : - 'प्रेमाश्रम' का रचनाकाल 1992 ई. है। इससे पूर्व प्रेमचंद सेवासदन की रचना कर चुके थे। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास को उन्होंने उर्दू में 'गोशए आफ़ियत' नाम प्रकाशित करवाया था। इस उपन्यास का मुख्य मुद्दा किसान आंदोलन से जुड़ा हुआ है। जमीन के उत्पाद के अधिशेष पर जमींदारों का अधिकार नहीं होकर किसानों का आधिपत्य हो, इसी बिंदु को उपन्यास में रेखांकित किया गया है। प्रेमचंद ने उपन्यास की कथावस्तु में देश के किसान आंदोलनों के अतिरिक्त रूस की बोल्शेविक क्रांति का परिप्रेक्ष्य भी रखा है। उपन्यास के रचनाकाल के समय संयुक्त प्रांत में 330 किसान सभाओं का गठन हुआ था। अवध-किसान-सभा के किसानों से बेदखली जमीन न जोतने और बेगार न करने की अपील की। इस प्रकार के सामाजिक आंदोलन को रूस की बोल्शेविक क्रांति से प्रेरणा मिल रही थी। उपन्यास में इस क्रांति के विचारों की छाया अमूर्त रूप से मौजूद है।

अंतर्वस्तु

प्रेमाश्रम उपन्यास की अंतर्वस्तु पर विचार करते हुए, हमें निराला के बादल राग की पंक्ति का स्मरण में कौंध जाती है। निराला के शब्दों में ....

जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ए विप्लव के वीर!
चूस लिया है उसका सार,
हाड़ मात्र ही हैं आधार,
ए जीवन के पारावार!

निराला की इस कविता में क्रांति दूत बादल का अभिनंदन किया गया है। कवि क्रांति के द्वारा शोषण मुक्त समाज में किसान की बेहतर स्थिति की कामना करता है। निराला ने किसान की करुण स्थिति को मार्मिक बिंबों में प्रस्तुत किया है। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास पढ़ने के बाद किसान की करुण स्थिति का बिंब कुछ इसी प्रकार का उभरता है। यह उपन्यास जमींदारी शोषण का बेमिसाल उदाहरण है। उपन्यास का आरंभ ही हाकिम के लखनपुर दौरे से होता है। हाकिम गाँव के किसान के लिए दुख और परेशानी का सबब बनकर आते हैं। हाकिम के खानपान के प्रबंध के लिए और उनके आराम के लिए किसानों से सामान ही नहीं वसूले जाते थे, उनसे बेगारी भी करायी जाती थी। हाकिम के कर्मचारी द्वारा किसानों पर जुल्म और अत्याचार किया जाता था। जमींदारी प्रथा के मजबूत होने के साथ ही किसानों पर शोषण बढ़ा। किसानों को अपने खेत पर केवल मालगुजारी ही नहीं देनी होती थी, उनसे तरह तरह के नजराने और लगान भी वसूल जाते थे। ये नजराने और लगान जमींदार अपनी विलासिता के लिए वसूलते थे।

उपन्यास में जमींदार के दो परिवार - लाला जटाशंकर और प्रभाशंकर का परिवार तथा राय कमलानंद के परिवार को चित्रित किया गया है। इसके साथ लखनपुर गाँव के किसान और काश्तकार पर हो रहे अत्याचार की कहनी चलती है। जमींदारी प्रथा के कई पहलुओं को प्रेमचंद उभारते हैं। लाला प्रभाशंकर एक पुराने मानसिकता वाले जमींदार हैं। वे संयुक्त परिवार में विश्वास रखते हैं तथा झूठी शान शौकन को जीवन का ध्येय समझते हैं। ज्ञानशंकर नई पीढ़ी का जमींदार है। वह एकल परिवार को व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक मानता है। जमींदारी उसके लिए पूँजी का माध्यम है। वह अधिक से अधिक धन जमा करना चाहता है। धन के बल पर अपने अधिकार स्वार्थ और उपभोग की वस्तु को जुटाता है। प्रभाशंकर में किसान के प्रति और अपने परिवार के प्रति आत्मीयता है। लेकिन ज्ञानशंकर में केवल प्रचंड स्वार्थ है। प्रेमचंद ने दो पीढ़ी की मानसिकता के द्वंद्व का बहुत ही वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया है।

ज्ञानशंकर, प्रेमशंकर और दयाशंकर तीनों एक पीढ़ी के पात्र हैं। तीनों की मानसिकता में बड़ा

फर्क है। प्रेमशंकर की शिक्षा दीक्षा अमरीका में हुई है। वह कृषि विज्ञान में शोध कर चुका है। उसके विचार और रहन सहन की शैली में सादगी है। वह गांधी की तरह भौतिकता और धन के आग्रह से मुक्त होकर मानव कल्याण और जन सेवा को आदर्श मानता है। वह जीवन के वैभव को त्यागकर सेवा के लिए एक अलग आश्रम की स्थापना करता है। उसके उच्च आदर्श से सामान्य जन ही नहीं ज्वालासिंह जैसे अधिकारी, डॉ. प्रियनाथ जैसे डाक्टर और मिर्जा ईजाद हुसेन जैसे वकील भी प्रेरित होते हैं। ये सभी धन के लोभ को छोड़कर सामान्य जन के कष्ट को कम करने के लिए प्रेमशंकर के 'प्रेमाश्रम' के लिए समर्पित हो जाते हैं। प्रेमशंकर के माध्यम से प्रेमचंद यह स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं कि आत्मबल के द्वारा मनुष्य जीवन के सच्चे आदर्श को प्राप्त कर सकता है।

लखनपुर गाँव जमींदारी शोषण का प्रतीक है। गाँव के सामान्य किसान और काश्तकार की शोषण में महाजन, पटवारी, दारोगा, वकील और न्यायाधीश सभी सम्मिलित थे। राजकाज की व्यवस्था ही ऐसी थी कि उसमें सामान्य जन की हिस्सेदारी नहीं थी। व्यवस्था को जनता पर थोप दिया गया था। इस व्यवस्था का एक पूरा तंत्र था, जो शोषण और अन्याय के लिए जिम्मेदार था। गाँववालों में एक जुटता नहीं रहने दी जाती थी। कुछ लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण शोषक के साथ भी हो जाते थे। सुक्खू चौधरी बिसेसर शाह और दुखरन भगत थोड़े मुनाफे के लिए जमींदारी का साथ देते हैं। लेकिन जब समूचे गाँव की व्यथा एक हो जाती है, तो सभी को बात समझ में आती है। वास्तव में गाँव के भोले किसानों के बीच फूट डालना साधारण बात थी। लेकिन जब लगान और बेगार से समूचा गाँव तंग हो गया तो मनोहर द्वारा गौस खाँ की हत्या को भी गाँववाले जायज ठहराने से नहीं चूकते हैं। वस्तुतः किसान के लिए स्थिति इतनी विषम हो गई थी कि उनके सामने विद्रोह के अतिरिक्त दूसरा रास्ता नहीं था। बलराज और मनोहर इसी प्रकार की सामाजिक स्थिति के उपज थे। वे जमींदारों के वर्चस्व को चुनौती देते हैं। लखनपुर के किसानों पर अत्याचार और बेदखली का दावा अन्ततः किसान और जमींदारों के वर्चस्व की लड़ाई में परिणत हो जाता है। इसमें प्रेमचंद का स्पष्ट मानना है कि किसान से केवल मालगुजारी ली जाए, जमींदारों के तंत्र जब तक उस पर हावी होंगे किसी भी काश्तकार की हालत में सुधार नहीं हो सकता। इसलिए वे बीच के दलालों से किसान को सुरक्षित रखना अनिवार्य समझते हैं। जब समूचा गाँव एक होकर जमींदार का मुकाबला करता है, तो किसानों की जीत होती है। शोषण तंत्र के अत्याचार का रहस्य खुलता है। उपन्यास के अंत में बलराज को बोर्ड के जलसे में जाते हुए दिखाया गया है। उपन्यासकार इस बात का संकेत देता है, कि किसान को कुछ राजनैतिक अधिकार भी प्राप्त हुए हैं। 'प्रेमाश्रम' में इसे उन्होंने तीव्र संघर्ष से प्राप्त किया था।

उपन्यास में राजनीति और सामाजिक आंदोलन के अतिरिक्त पात्रों की व्यक्तिगत दुनिया की वास्तविकता को भी लेखक ने विश्वसनीय ढंग से अभिव्यक्त किया है। ज्ञानशंकर के माध्यम से लेखक ने एक ऐसे दुष्ट व्यक्ति की परिकल्पना को साक्षात् किया है, जिसमें उपभोग की आकांक्षा हवस की सीमा तक पहुँच गयी है। वह धन और जायदाद के मामले में ही नहीं स्त्री के मामले में भी धोखेबाज प्रतीत होता है। वह गायत्री को अपने प्रेमजाल में फँसाता है। कृष्ण भक्ति का आडंबर रचकर उससे प्रेम का नाटक करता है। उसकी नजर गायत्री के शरीर पर ही नहीं उसकी धन दौलत पर भी है। अपनी पत्नी विद्या के मरने पर उसकी भावहीन प्रतिक्रिया उसके आंतरिक भावशून्यता को प्रकट करती है। अपने पुत्र माया शंकर को वह गायत्री का उत्तराधिकारी बनाने का सफल प्रयत्न करता है। वह अपने श्वसुर की जायदाद को हड़पने के लिए उन्हें विष दे देता है। यह उसके चरित्र का अत्यंत घिनौना पक्ष है। लेकिन उसके अहंकार का अंत आत्महत्या में होता है। प्रेमचंद इस बात को स्थापित करते हैं कि असीम महत्वाकांक्षा का अंत आत्महत्या में होता है।

प्रेमाश्रम में नारी की विवशता को गहराई से रेखांकित किया गया है। विद्या पति की दुष्टता को जानती हुई भी उससे अलग रहने का साहस नहीं कर पाती है। गायत्री बाल विधवा है। वह नैतिक अनुशासन में यह पातिव्रत्य धर्म का पालन करना चाहती है। उसके जीवन का एक पक्ष बिल्कुल सूना रह गया है। अवकाश और अवसर पाते ही उसके जीवन का राग तत्व जग उठता है। गायत्री प्रेम में आत्मविभोर हो जाती है। उसके प्रेम और समर्पण को देखते

हुए पातिव्रत्य धर्म की नैतिकता कितनी खोखली और अनैतिक जान पड़ती है। प्रेमचंद उसके मानवीय द्वंद्व को जीवन जीने की आकांक्षा के आवरण में प्रस्तुत करते हैं। लेखक अप्रत्यक्ष रूप में नारी के लिए पुरुष के द्वारा बनाए गए सामाजिक संविधान पर प्रश्नचिह्न लगाता प्रतीत होता है।

महत्व

'प्रेमाश्रम' उपन्यास में साधनहीन किसान की विवशता और जमींदारी उत्पीड़न को संपूर्णता में प्रस्तुत किया गया है। लेखक इस प्रश्न को उठाता है कि जिस किसान के पास कफन के लिए पैसे नहीं हैं, उन पर लगान वृद्धि का दावा करना कितना न्यायसंगत है? लेखक उपन्यास में जमींदारों के समाज और लखनपुर के ग्रामीण समाज के वर्णन और विवरण द्वारा उसकी आंतरिक स्थिति को प्रत्यक्ष करते हैं। जमींदारों की साधन सपन्नता के मूल में किसान का उत्पीड़न है। भूमि के उत्पाद का अधिकांश भाग जमींदार हड़प जाते हैं। किसान अपनी आवश्यक आवश्यकताओं से भी वंचित रह जाते हैं। भूमि के अधिशेष का असमान वितरण किसान की दयनीयता के लिए जिम्मेदार हैं। इस अधिशेष को पाकर किसान उपन्यास के अंत में खुशहाल दिखाई पड़ते हैं। समस्या सिर्फ इतना ही नहीं है। लेखक ने सामाजिक विषमता के प्रश्न को भी उठाया है। वास्तव में जमींदारी प्रथा के उन्मूलन होने पर भी किसान की आर्थिक स्थिति में कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं हुआ। विकास के साथ-साथ शोषण के चेहरे और तरीके बदल गए हैं। जमींदार का स्थान पूँजीपतियों ने ले लिया है। अब लगान इजाफा और बेदखली शोषण का रूप नहीं है, अपितु कृषि उत्पाद और श्रम का मूल्य अन्य उत्पाद के मुकाबले बहुत कम दिया गया है। किसानों की इतनी बचत नहीं होती है कि वे आत्म सम्मान से जीवन जी सकें। वे अभी भी आत्महत्या करने पर मजबूर होते हैं। ऐसे कठिन दौर में 'प्रेमाश्रम' उपन्यास हमें शोषक के चेहरे को पहचानने के लिए प्रेरित करता है। और उनके खिलाफ संघर्ष करने के लिए चुनौती देता है। प्रेमचंद का महत्व इस बात में है कि वे अपने समय के शोषक और शोषित को पहचानने में थोड़ी भी भूल नहीं करते हैं। उन्होंने समाज और इतिहास के उन बिंदुओं को उजागर किया है, जो गैर बराबरी और विषमता के जिम्मेदार हैं।

प्रेमचंद ने उपन्यास में किसानों की अदम्य जिजीविषा को रेखांकित किया है। किसान लाचार और विवश होने पर भी थकते नहीं हैं। कादिर, मनोहर, सुक्खू चौधरी और दुखरन भगत बूढ़े होने पर भी टकराव की स्थिति में सिर नहीं छिपाते हैं। यह भारतीय किसान के साहस और दृढ़ निश्चय को संकेतित करता है। मूर्ख और निरक्षर होने पर भी व्यवस्था के तंत्र उन्हें झुका नहीं पाते हैं। उपन्यास के किसान अपनी मर्यादा और आत्मसम्मान की रक्षा के लिए मर मिटने की सीख देते हैं। किसानों में यह आत्मबल उनके कठोर परिश्रम और मेहनत से उपजता है। केवल धन और पूँजी को पाने के लिए तमाम गंदे तरीकों का इस्तेमाल करने वाले लोगों के सामने 'प्रेमाश्रम' के किसानों का भोला आत्म विश्वास कितना अधिक मानवीय प्रतीत होता है।

वस्तुतः प्रेमचंद जीवन शैली के प्रति बड़े ही सहज थे। उनके उपन्यास में एक सामान्य भारतीय मनुष्य के सहज बोध और विश्वासों को अभिव्यक्त किया गया है। इसे प्रेमचन्द ने गहरे जीवनानुभवों से अर्जित किया था। ये अनुभव उनके सूक्ष्म समाजिक निरीक्षण के परिणाम थे। वास्तव में प्रेमचंद भौतिक सभ्यता के दुर्गुणों को रेखांकित करते हुए, उच्च मानवीय मूल्यों को स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। उनकी आस्था पवित्र मानवता में है। इसको पाने के लिए वे हमें निरंतर प्रेरित करते हैं। आश्रम की स्थापना भी उनके इसी विचार का मूर्त रूप है। प्रेमचंद का मानना है भोग की अपेक्षा त्याग, वासना की अपेक्षा प्रेमभाव तथा सेवा भाव का विकास होने पर ही जीवन को बेहतर बनाया जा सकता है।

उनके उपन्यास में जो पात्र जीवन शैली और दृष्टिकोण में असहज होते हैं, वे कहीं न कहीं भौतिक सभ्यता के असंतुलन का भी शिकार होते हैं।

प्रेमचंद की भाषा शैली के विषय में राम विलास शर्मा ने लिखा है "प्रेमचंद की कला का रहस्य एक शब्द में उनका देहातीपन है, ग्रामीण होने के कारण वह समाज के हृदय में पैठकर उसके सभी तारों से संबंध स्थापित कर सके हैं। अपनी भाषा के लिए, अपने चित्रण के लिए, वह आवश्यकतानुसार अपने देहात के अनुभव पर निर्भर हो सकते थे और उसने उन्हें कभी धोखा नहीं दिया। देश के गरीबों के प्रति उनकी सहानुभूति उनसे उनके प्रगाढ़ परिचय और उनके चित्रण की सच्चाई ने ही उन्हें सफल कलाकार बनाया है।" वस्तुतः प्रेमचंद की भाषा में किसी प्रकार अलंकरण नहीं मिलता है। भाषा में भदेसपन है। यह उन्होंने अपने अनुभव से प्राप्त किया था। उन्होंने अनुभव को जिस रूप और जिस प्रकार में प्राप्त किया था उसे यथातथ्य ढंग से अभिव्यक्त कर दिया। यह उनकी भाषा की विशेषता है। प्रेमाश्रम उपन्यास में भी उन्होंने ग्रामीण और शहरी जीवन के विविध अनुभवों को प्रत्यक्ष किया है। ग्रामीण किसान जिस प्रकार का व्यवहार करते हैं उसी प्रकार के उनके आवेग, अनुभव और वातावरण को शब्द चित्र में निर्मित करना किसी महान कलाकार के द्वारा ही संभव हो सकता है। वे भाषा की ऊपरी परत को तोड़कर भंगिमा के द्वारा पात्र के अंतर्द्वन्द्व उसके हर्ष और विषाद को पाठक के सामने प्रत्यक्ष करते हैं। ज्ञानशंकर के मन की आत्मपीड़ा और आत्म साक्षात्कार को इस उद्धरण में देख सकते हैं "मायाशंकर का कसूर नहीं, प्रेमशंकर का दोष नहीं — सब मेरे प्रारब्ध की कूटलीला है। मैं समझता था, मैं स्वयं अपना विधाता हूँ। विद्वानों ने ऐसा ही कहा है, पर मालूम हुआ कि मैं उसके हाथों का खिलौना था। उसके इशारों पर नाचनेवाली कठपुतली था। जैसे बिल्ली चूहे को खेलती है, जैसे मछुआ मछली को खेलाता है, उसी भाँति इसने मुझे अभी तक खेलाया। कभी पंजे में धीरे से पकड़ लेता था, कभी छोड़ देता था।" इसी प्रकार ज्ञानशंकर के कपट और वासना संबंधित मनोभाव को लेखक ने प्रत्यक्ष किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेमचंद मनोभाव को विविध बिंबों और वर्णनों के माध्यम से रचने में सिद्धहस्त हैं। वे विविध प्रकार के पात्रों की अलग–अलग मनोदशाओं को अपनी भाषा में बाँध लेते हैं। विद्या का आक्रोश, गायत्री की कचोट, राय कमलानंद का आवेश, मनोहर की ग्लानि, प्रेमशंकर की सहिष्णुता आदि कितने प्रकार के पात्रों की मनःस्थितियों को प्रेमचंद ने प्रेमाश्रम में रचा है। वे भाव और आवेग को रचते ही नहीं हैं, अपितु पाठक में उसकी विश्वसनीयता भी स्थापित करते हैं।

प्रेमचंद अपने शब्दचित्र के द्वारा किसी प्रकार के वातावरण को रचने में माहिर हैं। वह चाहे ठेठ देहात के मौसम का चित्र हो अथवा जमींदार की हवेली का चित्र हो। उसे वे समान अधिकार के साथ अभिव्यंजित करते हैं। लखनपुर में जब ज्वालासिंह हाकिम के रूप में प्रवेश करते हैं, उस समय के दृश्य को प्रेमचंद इस प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं "आठ बज चुके थे, किंतु अभी तक चारों ओर कुहरा छाया हुआ था। लखनपुर के किसान आज छुट्टी सी मना रहे थे। जगह जगह अलाव के पास बैठे हुए लोग कल की घटना की आलोचना कर रहे थे। बलराज की धृष्टता पर टिप्पणियाँ हो रही थीं। इतने में ज्वालासिंह चपरासियों और कर्मचारियों के साथ गाँव में आ पहुँचे। गौस खाँ और उनके दोनों चपरासी पीछे पीछे चले आते थे। उन्हें देखते ही स्त्रियाँ अपने अधमँजे बर्तन छोड़-छोड़कर घरों में घुसीं। बालक वृंद भी इधर उधर दबक गए। कोई द्वार पर कूड़ा उठाने लगा, कोई रास्ते में पड़ी हुई खाद उठाने लगा।...." ग्रामीण जीवन के ऐसे कितने ही स्वाभाविक चित्र उपन्यास में मिलेंगे। केवल गाँव के ही नहीं शहर के जमींदारों के रहन शहन तथा अधिकारियों की जीवन शैली का प्रेमचंद चित्र ही नहीं खींचते हैं, उस पर व्यंग्य भी करते हैं।

प्रेमाश्रम उपन्यास की भाषा में बोली का मिठास है। वस्तुतः प्रेमचंद की भाषा का गठन ही देहाती बोली के आधार पर हुआ है। उसमें हमें मुहावरे, कहावतें, उपमाओं और हास्य की छटा का पुट मिलता है। गाँव देहात तथा शहर में पात्रों की सामाजिक स्थिति के अनुकूल उनकी भाषा अपना शब्द और आवरण बदलती है। देहात के पात्रों में देशज शब्दों और तद्भव शब्दों की आत्मीयता मिलती है। शहर के पात्रों में एक खास किस्म की औपचारिकता मिलती है।

उपन्यास को कैसे पढ़ें

'प्रेमाश्रम' उपन्यास को पढ़ते हुए पाठक उपन्यास की समस्या के साथ-साथ उसकी बुनावट को ध्यान में रखें। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास की मुख्य समस्या जमींदार और किसान के बीच की समस्या है। उपन्यास पढ़ते हुए पाठक उपन्यास में चित्रित समाज का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करे। 'प्रेमाश्रम' में सामाजिक गठन के विविध स्तरों की ओर लेखक ने संकेत किया है। उस सामाजिक गठन को समझने के बाद शोषण की प्रक्रिया के संबंध में अपनी धारणा को निश्चित करें। मनोहर और बलराज किस प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों के बीच पैदा होते हैं, उसका विश्लेषण सूक्ष्मता से करें।

पाठक उपन्यास पढ़ते हुए पात्रों के मनोभाव के अंतर्द्वन्द्व और विवशता को भी समझने की चेष्टा करे। इसके साथ-साथ घटना की अनिवार्यता के बीच पात्रों के मनोभाव और आवेग को समझें। उपन्यास के संदर्भ में उन सामाजिक रूढ़ियों को भी समझें, जो सामाजिक विकास में बाधा पहुँचाते हैं। पाठक उपन्यास के पाठ का अर्थ ग्रहण करते हुए उसकी सामाजिक प्रासंगिकता के संदर्भ को खोजने का प्रयत्न करें।

व्याख्या के लिए अंश

1. आपकी शिष्टता का आधार ही आत्मघात है। आपके घर में चाहे उपवास होता हो; किन्तु कोई मेहमान आ जाय तो आप ऋण लेकर उसका सत्कार करेंगे। मैं ऐसे मेहमान को दूर से ही प्रणाम करूँगा। आपके यहाँ जाड़े में मेहमान लोग प्रायः बिना ओढ़ना-बिछौना लिये ही चले आते हैं। आप स्वयं जाड़ा खाते हैं, पर मेहमानों के ओढ़ने-बिछौने का प्रबन्ध अवश्य करते हैं! मेरे लिए यह अवस्था दुस्सह है। किसी मनुष्य को चाहे वह हमारा निजी सम्बन्धी ही क्यों न हो, यह अधिकार नहीं है कि वह इस प्रकार मुझे असमंजस में डाले। मैं स्वयं किसी से यह आशा नहीं रखता। मैं तो इसे भी सर्वथा अनुचित समझता हूँ, कि कोई असमय और बिना पूर्व सूचना के मेरे घर आये, चाहे वह मेरा भाई ही क्यों न हो। आपके यहाँ नित्य दो-चार निठल्ले नातेदार पड़े खाट तोड़ा किये, आपकी जायदाद मटिया-मेट हो गयी, पर आपने कभी इशारे से भी उनकी अवहेलना नहीं की। मैं ऐसी घास-पात को कदापि न जमने दूँगा, जिससे जीवन के पौधे का ह्रास हो। लेकिन वह प्रथा अब काल-विरुद्ध हो गयी। यह जीवन-संग्राम का युग है, और यदि हमको संसार में जीवित रहना है तो हमें विवश होकर नवीन और पुरुषोचित सिद्धान्तों के अनुकूल बनना पड़ेगा।

2. यह कहते-कहते लाला प्रभाशंकर का गला भर आया। हृदय पर जमा हुआ बर्फ पिघल गया, आँखों से जल-बिन्दु गिरने लगे। किन्तु ज्ञानशंकर के मुख से सान्त्वना का एक शब्द भी न निकला। वह इस कपटाभिनय का रंग भी गहरा न कर सके। प्रभाशंकर की सरलता, श्रद्धालुता और निर्मलता के आकाश में उन्हें अपनी स्वार्थान्धता, कपटशीलता और मलिनता अत्यन्त कालिमापूर्ण और ग्लानिमय दिखाई देने लगी। वह स्वयं अपनी ही दृष्टि में गिर गये, इस कपट-काण्ड का आनन्द न उठा सके। शिक्षित आत्मा इतनी दुर्बल नहीं हो सकती, इस विशुद्ध वात्सल्य ध्वनि ने उनकी सोई हुई आत्मा को एक क्षण के लिए जगा दिया। उसने आँखें खोलीं, देखा कि मन मुझे काँटों में घसीटे लिये चला जाता है। वह अड़ गयी, धरती पर पैर जमा दिये और निश्चय कर लिया कि इससे आगे न बढ़ेंगे।

3. किन्तु शनैः-शनैः ज्ञानशंकर को राय साहब की इस बहुज्ञता से अश्रद्धा होने लगी। आठों पहर अपनी हीनता का अनुभव करना असह्य था।। उनके विचार में अब राय साहब का इन आमोदप्रद विषयों में लिप्त रहना शोभा नहीं देता था। यावज्जीवन विलासिता में लीन रहने के बाद अब उन्हें विरक्त हो जाना चाहिए था। इस आमोदलिप्सा की भी कोई सीमा है? इसे सजीवता नहीं कह सकते, यह निश्चलता नहीं, इसे धैर्य कहना ही उपयुक्त है। धैर्य कभी सजीवता और वासना का रूप नहीं

धारण करता। वह हृदय पर विरक्ति, उदासीनता और मलिनता का रंग फेर देता है। वह केवल हृदयदाह है, जिससे आँसू तक सूख जाता है। वह शोक की अन्तिम अवस्था है। कोई योगी, सिद्ध, महात्मा भी जवान् बेटे का दाग दिल पर रखते हुए इतना अविचलित नहीं रह सकता। यह नग्न इंद्रियोपासना है। अहंकार ने आत्मा का दमन कर दिया, ममत्व ने हृदय के कोमल भावों का सर्वनाश कर दिया है! ज्ञानशंकर को अब राय साहब की एक-एक बात में क्षुद्र विलासिता की झलक दिखाई देती। वह उनके प्रत्येक व्यवहार को तीव्र समालोचना की दृष्टि से देखते।

4. चरित्रोन्नति के लिए भी विविध प्रकार की परिस्थितियाँ अनिवार्य हैं। दरिद्रता को काला नाग क्यों समझें? चरित्र-संगठन के लिए यह सम्पत्ति से कहीं महत्वपूर्ण है। यह मनुष्य में दृढ़ता और संकल्प, दया और सहानुभूति के भाव उदय करती है। प्रत्येक अनुभव चरित्र के किसी-न-किसी अंग की पुष्टि करता है, यह प्राकृतिक नियम है। इसमें कृत्रिम बाधाओं के डालने से चरित्र विषम हो जाता है। यहाँ तक कि क्रोध और ईर्ष्या, असत्य और कपट में भी बहुमूल्य शिक्षा के अंकुर छिपे रहते हैं। जब तक सितार का प्रत्येक तार चोट न खाये, सुरीली ध्वनि नहीं निकल सकती। मनोवृत्तियों को रोकना ईश्वरीय नियमों में हस्तक्षेप करना है। इच्छाओं का दमन करना आत्म-हत्या के समान है। इससे चरित्र संकुचित हो जाता है। बन्धनों के दिन अब नहीं रहे, यह अबाध, उदार, विराट उन्नति का समय है। त्याग और बहिष्कार उस समय के लिए उपयुक्त था, जब लोग संसार को असार, स्वप्नवत् समझते थे। यह सांसारिक उन्नति का काल है। धर्माधर्म का, विचार संकीर्णता का द्योतक है। सांसारिक उन्नति हमारा अभीष्ट है। प्रत्येक साधन जो अभीष्ट सिद्धि में हमारा सहायक हो, ग्राह्य है। इन विचारों ने ज्ञानशंकर को विवेक-शून्य बना दिया था। हाँ, वर्तमान अवस्था का यह प्रभाव था कि वह निन्दा और उपहास से डरते थे, हालाँकि यह भी उनके विचार में मानसिक दुर्बलता थी।

5. इसलिए कि सेठ जगतराम और मिस्टर मनचूरजी का विभव देश का विभव नहीं है। आपकी यह कम्पनी धनवानों को और भी धनवान बनायेगी, पर जनता को इससे बहुत लाभ पहुँचने की सम्भावना नहीं। निस्संदेह आप कई हजार कुलियों को काम में लगा देंगे, पर यह मजदूर अधिकांश किसार ही होंगे और मैं किसानों को कुली बनाने का कट्टर विरोधी हूँ। मैं नहीं चाहता कि वे लोभ के वश अपने बाल-बच्चों को छोड़कर कम्पनी की छावनियों में जाकर रहें और अपना आचरण भ्रष्ट करें। अपने गाँव में उनकी एक विशेष स्थिति होती है। उनमें आत्म-प्रतिष्ठा का भाव जाग्रत रहता है। बिरादरी का भय उन्हें कुमार्ग से बचाता है। कम्पनी की शरण में जाकर वह अपने घर के स्वामी नहीं, दूसरे के गुलाम हो जाते हैं, और बिरादरी में बन्धनों से मुक्त होकर नाना प्रकार की बुराइयाँ करने लगते हैं। कम-से-कम मैं अपने किसानों को इस परीक्षा में नहीं डालना चाहता।

6. किसान कुली बनकर कभी अपने भाग्य-विधाता को धन्यवाद नहीं दे सकता, उसी प्रकार जैसे कोई आदमी व्यापार का स्वतन्त्र सुख भोगने के बाद नौकरी की पराधीनता को पसन्द नहीं कर सकता। सम्भव है कि अपनी दीनता उसे कुली बने रहने पर मजबूर करे; पर मुझे विश्वास है कि वह इस दासता से मुक्त होने का अवसर पाते ही तुरन्त अपने घर की राह लेगा और फिर उसी टूटे-फूटे झोपड़े में अपने बाल-बच्चों के साथ रहकर संतोष के साथ कालक्षेप करेगा। आपको इसमें कुछ सन्देह हो तो आप कृषक-कुलियों से एकान्त में पूछकर अपना समाधान कर सकते हैं। मैं अपने अनुभव के आधार पर यह बात कहता हूँ कि आप लोग इस विषय में योरोपवालों का अनुकरण करके हमारे जाती जीवन के सद्गुणों का सर्वनाश कर रहे हैं। योरोप में इंडिस्ट्रियलिज्म (औद्योगिकता) की जो उन्नति हुई उसके विशेष कारण थे। वहाँ के किसानों की दशा उस समय गुलामों से गयी-गुजरी थी, वह जमींदार के बन्दी होते थे। इस कठिन कारावास के देखते हुए धनपतियों की कैद गनीमत थी। हमारे किसानों की आर्थिक दशा चाहे कितनी ही बुरी क्यों न हो, पर वह किसी के गुलाम नहीं हैं। अगर

कोई उन पर अत्याचार करे तो वह अदालतों में उससे मुक्त हो सकते हैं। नीति की दृष्टि में किसान और जमींदार दोनों बराबर हैं।

7. इस भाँति ज्ञानशंकर की ईर्ष्या देशानुराग के रूप में प्रकट हुई। असफल लेखक समालोचक बन बैठा। अपनी असमर्थता ने साम्यवादी बना दिया। यह सभी रंगे हुए सियार हैं, लुटेरों का जत्था है। किसी को खबर नहीं कि गरीबों पर क्या बीत रही है। किसी के हृदय में दया नहीं ! कोई राजा है, कोई ताल्लुकेदार, कोई महाजन, सभी गरीबों का खून चूसते हैं, गरीबों के झोपड़ों में सेंध मारते हैं। और यहाँ आकर देश की अवनति का पचड़ा गाते हैं। भला ही है कि अधिकारी वर्ग इन महानुभावों को मुँह नहीं लगाते। कहीं वह इनकी बातों में आ जायें और देश का भाग्य इनके हाथों में दे दें तो जाति का कहीं नाम-निशान भी न रहे। यह सब दिन-दहाड़े लूट खायँ। कोई इन भलेमानसों से पूछे, आप जो यहाँ लाखों रुपये सैर-सपाटों में उड़ा रहे हैं, उससे जाति को क्या लाभ हो रहा है? यही धन यदि जाति पर अर्पण करते तो जाति तुम्हें धन्यवाद देती और तुम्हें पूजती, नहीं तो उसे खबर भी नहीं कि तुम कौन हो और क्या करते हो। उसके लिए तुम्हारा होना-न-होना दोनों बराबर है। प्रार्थी को इस बात से सन्तोष नहीं होता कि तुम दूसरों से सिफारिश करके उसे कुछ दिला दोगे, उसे सन्तोष होगा जब तुम स्वयं अपने पास से थोड़ा-सा निकालकर उसे दे दो।

8. आप इस त्रिमूर्ति को देखकर चौंकते होंगे। पर मेरे लिए यह मिट्टी के खिलौने हैं। विषयासक्त आँखें इनके रूप-लावण्य पर मिटती हैं, मैं उस ज्योति को देखता हूँ जो इनके घट में व्याप्त है। बाह्य रूप कितना ही सुन्दर क्यों न हो, मुझे विचलित नहीं कर सकता। वह भकुए हैं, जो गुफाओं और कन्दराओं में बैठकर तप और ध्यान के स्वाँग भरते हैं। वह कायर हैं, प्रलोभनों में मुँह छिपाने वाले, तृष्णाओं से जान बचाने वाले हैं। वे क्या जानें कि आत्म-स्वातन्त्र्य क्या वस्तु है! चित्त की दृढ़ता और मनोबल का उन्हें अनुभव ही नहीं हुआ। वह सूखी पत्तियाँ हैं, जो हवा के एक झोंके से जमीन पर गिर पड़ती हैं। योग कोई दैहिक क्रिया नहीं है। आत्मशुद्धि, मनोबल और इन्द्रिय-दमन ही सच्चा योग, सच्ची तपस्या है। वासनाओं में पड़कर अविचलित रहना ही सच्चा वैराग्य है।

9. ज्ञान पुराने जमाने में लोगों के विचार ऐसे रहे हों, पर नया युग इसे नहीं मानता। वह स्त्री को सम्पूर्णतः स्वाधीन ठहराता है। वह मनसा, वाचा, कर्मणा किसी के अधीन नहीं है। परमात्मा से आत्मा का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसके सामने मानवकृत सम्बन्ध की कोई हस्ती नहीं हो सकती। पश्चिम के देशों में आये दिन धार्मिक मतभेद के कारण तलाक होते हैं।

गायत्री-उन देशों की बात न चलाइए, वहाँ के लोग तो विवाह को केवल सामाजिक सम्बन्ध समझते हैं। आपने ही एक बार कहा था कि वहाँ कुछ ऐसे लोग हैं जो विवाह-संस्कार को मिथ्या समझते हैं। उनके विचार में स्त्री-पुरुषों की अनुमति ही विवाह है, लेकिन भारतवर्ष में कभी इन विचारों का आदर नहीं हुआ।

10. तो आपके कथन का निष्कर्ष यह है कि हम अपनी मनोवृत्तियों का अनुसरण करें, जिस ओर इच्छाएँ ले जायें उसी ओर आँखे बन्द किये चले जायें। उनके दमन की चेष्टा न करें। आपने पहले भी एक बार यही विचार प्रकट किया था। तब से मैंने इस पर अच्छी तरह गौर किया है, लेकिन हृदय इसे किसी भाँति स्वीकार नहीं करता। इच्छाओं को जीवन का आधार बनाना बालू की दीवार बनाना है। धर्म-ग्रन्थों में आत्म-दमन और संयम की अखण्ड महिमा कही गयी है; बल्कि इसी को मुक्ति का साधन बताया गया है। इच्छाओं और वासनाओं को ही मानव-पतन का मुख्य कारण सिद्ध किया गया है और मेरे विचार में यह निर्विवाद है। ऐसी दशा में पश्चिम वालों का अनुसरण करना नादानी है। प्रथाओं की गुलामी इच्छाओं की गुलामी से श्रेष्ठ है।

11. मनोहर ऐसे उद्दीप्त उत्साह से अपने काम में दत्तचित्त था, मानो उसकी युवावस्था का विकास हो गया है। धान के पोलों के ढेर लगते जाते थे। न आगे ताकता था न पीछे, न किसी से कुछ बोलता था, न किसी की कुछ सुनता था, न हाथ थकते थे, न कमर दुखती थी। बलराज ने चिलम भरकर रख दी। तम्बाकू रखे-रखे जल गया। बिलासी खांड़ का रस घोल कर सामने लायी। उसने उसकी ओर देखा तक नहीं, कुत्ता पी गया। कुआर की धूप थी, देह से चिनगारियाँ निकलती थीं, पसीने की धारें बहती थीं; किन्तु वह सिर तक न उठाता था। बलराज कभी खेत में आता, कभी पेड़ के नीचे जा बैठता, कभी चिलम पीता। एक ही अग्नि दोनों के हृदय में प्रज्वलित थी, एक ओर सुलगती हुई, दूसरी ओर दहकती हुई। एक ओर वायु के वेग से चंचल, दूसरी ओर निर्बलता से निश्चल। एक ही भावना दोनों के हृदय में थी, एक में उद्दाम-उच्छृंखल दूसरे में गम्भीर और स्थिर।

12. घर पहुँचकर वह फिर उन्हीं विचारों में मग्न हुए। कुछ समझ में न आता था कि जीवन का क्या लक्ष्य बनाया जाये? क्षुद्र लौकिकता से चित्त को घृणा होती थी और उत्कृष्ट नियमों पर चलने के नतीजे उलटे होते थे। उन्हें अपनी विवशता का ऐसा निराशाजनक अनुभव कभी न हुआ था। मानव-बुद्धि कितनी भ्रमयुक्त है, उसकी दृष्टि कितनी संकीर्ण! इसका ऐसा स्पष्ट प्रमाण कभी न मिला था। यद्यपि वह अहंकार को अपने पास न आने देते थे, पर वह किसी गुप्त मार्ग से उनके हृदयस्थल में पहुँच जाता था। अपने सद्कार्यों को सफल होते देखकर उनका चित्त उल्लसित हो जाता था और हृदय-कर्णों में किसी ओर से मन्द स्वरों में सुनायी देता था-मैंने कितना अच्छा काम किया! लेकिन ऐसे प्रत्येक अवसर पर एक ही क्षण के उपरान्त उन्हें कोई ऐसी चेतावनी मिल जाती थी, जो उनके अहंकार को चूर-चूर कर देती थी। मूर्ख! तुझे अपनी सिद्धान्त-प्रियता का अभिमान है! देख, वह कितने कच्चे हैं। तुझे अपनी बुद्धि और विद्या का घमण्ड है? देख, वह कितना भ्रांतिपूर्ण है। तुझे अपने ज्ञान और सदाचार का गरूर है! देख, वह कितनी अपूर्ण और भ्रष्ट है। क्या तुम्हें निश्चय है कि तुम्हारी ही उत्तेजनाएँ गौस खाँ की हत्या का कारण नहीं हुई? तुम्हारे ही कटूपदेशों ने मनोहर की जान नहीं ली? तुम्हारे ही वक्र नीतिपालन ने ज्ञानशंकर को, श्रद्धा को तुम से विमुख नहीं किया?

13. वह स्वयं निश्चय न कर सकती थी कि मैं क्या चाहती हूँ? वास्तव में वह राधा और कृष्ण के प्रेम तत्व को समझने में असमर्थ थी। उसकी भौतिक दृष्टि उस प्रेम के ऐन्द्रिक स्वरूप से आगे न बढ़ सकती थी और उसका हृदय इन प्रेम सुख कल्पनाओं से तृप्त न होता था। वह उन भावों को अनुभव करना चाहती थी। विरह और वियोग, ताप और व्यथा, मान और मनावन, रास और विहार, आमोद और प्रमोद का प्रत्यक्ष स्वरूप देखना चाहती थी। पहले पति-प्रेम उसका सर्वस्व था। नदी अपने पेटे में ही हलकोरें लिया करती थी। अब उसे उस प्रेम का स्वरूप कुछ मिटा हुआ, फीका, विकृत मालूम होता था। नदी उमड़ गयी थी। पति-भक्ति का वह बाँध जो कुलमर्यादा और आत्मगौरव पर आरोपित था, इस प्रेम-भक्ति की बाढ़ से टूट गया। भक्ति लौकिक बन्धनों को कब ध्यान में लाती है? वह अब उन भावनाओं और कल्पनाओं को बिना किसी आत्मिक संकोच के हृदय में स्थान देती थी, जिन्हें वह पहले अग्नि-ज्वाला समझा करती थी। उसे अब केवल कृष्ण-क्रीड़ा के दर्शन-मात्र से सन्तोष न होता था। वह स्वयं कोई-न-कोई रास रचना चाहती थी, जो उसके हृदयस्थल में चीलों की भाँति अबाध्य रूप से उड़ा करते थे और उसका कृष्ण कौन था, वह स्वयं यह स्वीकार करने का साहस न कर सकती थी, पर उसका स्वरूप ज्ञानशंकर से बहुत मिलता था। वह अपने कृष्ण को इसी रूप में प्रगट देखती थी।

14. कुछ नहीं, यह मानव-प्रकृति है। मनुष्य को स्वभावतः दबाव से, रोब [illegible] चाहे वह उसी के उपकार के लिए क्यों न हो, चिढ़ होती है। किसान अपने मूर्ख पुरोहित के पैर धो-धो पीयेगा, लेकिन कारिन्दा को, चाहे वह विद्वान ब्राह्मण ही क्यों न हो, सलाम करने में भी उसे संकोच होता है। यों चाहे वह दिन-भर धूप में खड़ा रहे, लेकिन

कारिन्दा या चपरासी को देखकर चारपाई से उठना भी असह्य होता है। वह आठों पहर अपनी दीनता और विवशता के भार से दबा रहना नहीं चाहता। अपनी खुशी से नीम की पत्तियाँ चबायेगा, लेकिन जबरदस्ती दूध और शर्बत भी न पीयेगा। यह जानते हुए भी हम उन पर सख्ती करने के लिए बाध्य हैं।

15. अंग्रेज अगर दोनों हाथों से धन बटोरते हैं तो बटोरने दीजिए। वे इसी उद्देश्य से इस देश में आये हैं। उन्हें हमारे जाति-प्रेम का दावा नहीं है। हम तो जाति-भक्ति की हाँक चलाते हुए भी देश का गला घोंटे देते हैं। हम अपने जातीय व्यवसाय के अधःपतन का रोना रोते हैं। मैं कहता हूँ आपके हाथों यह दशा और असाध्य हो जायगी। हम अगणित मिलें खोलेंगे, बड़ी संख्या में कारखाने कायम करेंगे, परिणाम क्या होगा? हमारे देहात वीरान हो जायेंगे, हमारे कृषक कारखानों के मजूर बन जायेंगे, राष्ट्र का सत्यानास हो जायेगा। आप इसी को जातीय उन्नति की चरम सीमा समझते हैं, मेरी समझ में यह जातीयता का घोर अधःपतन है। जाति की जो कुछ दुर्गति हुई है हमारे हाथों हुई है। हम ज़मींदार हैं, साहूकार हैं, वकील हैं, सौदागर हैं, डाक्टर हैं, पदाधिकारी है। इनमें कौन जाति की सच्ची वकालत करने का दावा कर सकता है? आप जाति के साथ बड़ी भलाई करते हैं, तो कौंसिल में अनिवार्य शिक्षा का प्रस्ताव पास करा देते हैं। अगर आप जाति के सच्चे नेता होते, तो यह निरंकुशता कभी न करते। कोई अपनी इच्छा के विरुद्ध स्वर्ग भी नहीं चाहता। हममें तो कितने ही महोदयों ने बड़ी-बड़ी उपाधियाँ प्राप्त की हैं। पर इस उच्च शिक्षा ने हममें सिवा विलास-लालसा और सम्मान-प्रेम, स्वार्थ-सिद्धि और अहम्मन्यता के और कौन-सा सुधार कर दिया।

16. क्षण मात्र में ज्ञानशंकर के विचारों ने पलटा खाया। जब तक उन्हें शंका थी कि राय साहब दम तोड़ रहे हैं तब तक वह उनकी प्राण-रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना कर रहे थे। जब बाहर खड़े-खड़े निश्चय हो गया कि राय साहब के प्राणान्त हो गये तब वह अपनी जान की खैर मनाने लगे। अब उन्हें सामने देखकर क्रोध आ रहा था कि यह मर क्यों न गये! इतना तिरस्कार, इतना मानसिक कष्ट व्यर्थ सहना पड़ा! उनकी दशा इस समय उस थके-माँदे हलवाहे की-सी हो रही थी जिसके बैल खेत से द्वार पर आकर विदक गये हों, दिन-भर के कठिन परिश्रम के बाद सारी रात अन्धेरे में बैलों के पीछे दौड़ने की सम्भावना उसकी हिम्मत को तोड़े डालती हो।

17. तुम इस भ्रम में पड़े हुए हो कि मनुष्य अपने भाग्य का विधाता है। यह सर्वथा मिथ्या है। हम तकदीर के खिलौने हैं, विधाता नहीं। वह हमें अपने इच्छानुसार नचाया करती है। तुम्हें क्या मालूम है कि जिसके लिए तुम सत्यासत्य में विवेक नहीं करते, पुण्य और पाप को समान समझते हो, वह उस शुभ मुहूर्त तक सभी विघ्न-बाधाओं से सुरक्षित रहेगा? सम्भव है कि ठीक उस समय जब जायदाद पर उसका नाम चढ़ाया जा रहा हो एक फुन्सी उसका तमाम कर दे। यह न समझो कि मैं तुम्हारा बुरा चेत रहा हूँ। तुम्हें आशाओं की असारता का केवल एक स्वरूप दिखाना चाहता हूँ। मैंने तकदीर की कितनी ही लीलाएँ देखी हैं और स्वयं उसका सताया हुआ हूँ। उसे अपनी शुभ कल्पनाओं के साँचे में ढालना हमारी सामर्थ्य से बाहर है।

18. ज्ञानशंकर ने केवल अपनी दुष्कामना पूरी करने के लिए मेरे सामने भक्ति का यह रंगीन जाल फैलाया। मेरे विषय में उनका वह लेख लिखना, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में मुझे आगे बढ़ाना, उनकी वह अविरल स्वामि-भक्ति, वह तत्परता, वह आत्म-समर्पण सब उनकी अभीष्ट-सिद्धि के यन्त्र थे। मुझे मेरे अंहकार ने डुबाया, मैं अपने ख्याति प्रेम के हाथों मारी गयी। मेरा वह धर्मानुराग, मेरी वह विवेकहीन मिथ्या भक्ति, मेरे वह आमोद-प्रमोद, मेरी वह आवेशमयी कृतज्ञता जिस पर मुझे अपने संयम और व्रत को बलिदान करने में लेशमात्र भी संकोच न होता था, केवल मेरे अहंकार की क्रीड़ाएँ थी। इस ब्याध ने मेरी प्रकृति के सबसे भेद्य स्थान पर निशाना मारा। उसने मेरे व्रत और नियम को धूल में मिला दिया केवल अपने ऐश्वर्य-प्रेम के हेतु मेरा सर्वनाश कर दिया। स्त्री अपनी कुप्रवृत्ति का दोष सदैव पुरुष के सिर पर रखती है,

अपने को वह दलित और आहत समझती है। गायत्री के हृदय में इस समय ज्ञानशंकर का प्रेमालाप, वह मृदुल व्यवहार, वह सतृष्ण चितवनें तीर की तरह लग रही थीं! वह कभी-कभी शोक और क्रोध से इतनी उत्तेजित हो जाती कि उसका जी चाहता कि उसने जैसे मेरे जीवन के भ्रष्ट किया है, वैसे ही मैं भी उसका सर्वनाश दूँ।

19. हाँ सुनिये, मैं अनुवाद करता जाता हूँ। देखिये, पुलिस की कैसी तीव्र आलोचना की है। यह अभियोग पुलिस के कार्यक्रम का एक उज्ज्वल उदाहरण है। किसी विषय का सत्यासत्य निर्णय करने के लिए आवश्यक है, साक्षियों पर निष्पक्ष भाव से विचार किया जाए और उनके आधार पर कोई धारणा स्थिर की जाय; लेकिन पुलिस के अधिकारी वर्ग ठीक उल्टे चलते हैं। ये पहले एक धारणा स्थिर कर लेते हैं और तब उसको सिद्ध करने के लिए साक्षियों और प्रमाण की तलाश करते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी दशा में वह कार्य से कारण की ओर चलते हैं और अपनी मनोनीत धारणा में कोई संशोधन करने के बदले प्रमाणों को ही तोड़-मरोड़कर अपनी कल्पनाओं के साँचे में ढाल देते हैं। यही उल्टी चाल क्यों चली जाती है? इसका अनुमान करना कठिन है; पर प्रस्तुत अभियोग में कठिन नहीं। एक समूह जितना भार सँभाल सकता है उतना एक व्यक्ति के लिए असाध्य है।

20. महाराज साहब, मैं अमूल्य उपदेशों के लिए अन्तःकरण से आपका अनुग्रहीत हूँ। जो आपने मेरे आनेवाले कर्त्तव्यों के विषय में प्रदान किये हैं और आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं यथासाध्य उन्हें कार्य में परिणत करूँगा। महोदय ने कहा है कि ताल्लुकेदार अपनी प्रजा का मित्र, गुरु और सहायक है। मैं बड़ी विनय के साथ निवेदन करूँगा कि वह इतना ही नहीं कुछ और भी है, वह अपनी प्रजा का सेवक भी है। यही उसके अस्तित्व का उद्देश्य और हेतु है अन्यथा संसार में उसकी कोई जरूरत न थी, उसके बिना समाज के संगठन में कोई बाधा न पड़ती। वह इसलिए नहीं है कि प्रजा के पसीने की कमाई को विलास और विषय–भोग में उड़ाये, उनके टूटे-फूटे झोंपड़ों के सामने अपना ऊँचा महल खड़ा करे, उनकी नम्रता को अपने रत्न-जटित वस्त्रों से अपमानित करे, उनकी सन्तोषमय सरलता को अपने पार्थिव वैभव से लज्जित करे, अपनी स्वाद–लिप्सा से उनकी क्षुधा पीड़ा का उपहास करे।

21. मुझे भय है कि मेरी बातें कहीं तो अनुपयुक्त और समय-विरुद्ध और कहीं क्रांतिकारी और विद्रोहमय समझी जायेंगी; लेकिन यह भय मुझे उन विचारों को प्रकट करने से रोक नहीं सकता, जो मेरे अनुभव के फल हैं और जिन्हें कार्यरूप में लाने का मुझे अवसर मिला है। मेरी धारणा है कि मुझे किसानों की गर्दन पर अपना जुआ रखने का कोई अधिकार नहीं है। यह मेरी नैतिक दुर्बलता और भीरुता होगी, अगर मैं अपने सिद्धांत को भोग-लिप्सा पर बलिदान कर दूँ। अपनी ही दृष्टि में पतित होकर कौन जीना पसन्द करेगा? मैं आप सब सज्जनों के सम्मुख उन अधिकारों और स्वत्वों का त्याग करता हूँ जो प्रथा, नियम और समाज-व्यवस्था ने मुझे दिये हैं। मैं अपनी प्रजा को अपने अधिकारों के बन्धन से मुक्त करता हूँ।

22. अब मैं अपना स्वामी हूँ, मेरी आत्मा स्वच्छन्द है। अब मुझे किसी के सामने घुटने टेकने की जरूरत नहीं। इस दलाली की बदौलत मुझे अपनी आत्मा पर कितने अन्याय करने पड़ते, इसका मुझे कुछ थोड़ा अनुभव हो चुका है। मैं ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ कि उसने मुझे इस आत्म-पतन से बचा लिया। मेरा अपने समस्त भाइयों से निवेदन है कि वह एक महीने के अन्दर मेरे मुख्तार के पास जाकर अपने-अपने हिस्से का सरकारी लगान पूछ लें और वह रकम खजाने में जमा कर दें। मैं श्रद्धेय डाक्टर इर्फानअली से प्रार्थना करता हूँ कि वह इस विषय में मेरी सहायता करें और जाब्ते और कानून की जटिल समस्याओं को तै करने की व्यवस्था करें। मुझे आशा है कि मेरे समस्त भ्रातृवर्ग आपस में प्रेम से रहेंगे और जरा-जरा-सी बातों के लिए अदालत की शरण न लेंगे। परमात्मा आपके हृदय में सहिष्णुता, सद्भाव और सुविचार उत्पन्न करें और आपको अपने नये कर्त्तव्यों का पालन करने की क्षमता प्रदान करे। हाँ, मैं यह जता देना चाहता

हूँ कि आप अपनी जमीन असामियों को नफे पर न उठा सकेंगे। यदि आप ऐसा करेंगे तो मेरे साथ घोर अन्याय होगा, क्योंकि जिन बुराइयों को मैं मिटाना चाहता हूँ, आप उन्ही का प्रचार करेंगे। आपको प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि आप किसी दशा में इस व्यवहार से लाभ न उठायेंगे, असामियों से नफा लेना हराम समझेंगे।

23. इधर तो मित्र-भवन की मण्डली नाटक खेल रही थी, मस्तानों की तानें और प्रियनाथ की सरोद-ध्वनि रंग भवन में गूँज रही थी। उधर बाबू ज्ञानशंकर नैराश्य के उन्मत्त आवेश में गंगातट की ओर लपके चले जाते थे, जैसे कोई टूटी हुई नौका जल तरंगों में बहती चली जाती हो। आज प्रारब्ध ने उन्हें परास्त कर दिया। अब तक उन्होंने सदैव प्रारब्ध पर विजय पायी थी। आज पासा पलट गया और ऐसा पलटा कि सँभलने की कोई आशा न थी। अभी एक क्षण पहले उनका भाग्य-भवन जगमगाते हुए दीपकों से प्रदीप्त हो रहा था, पर वायु के एक झोंके ने उन दीपकों को बुझा दिया। अब उनके चारों तरफ गहरा, घना, भयावह अन्धेरा था जहाँ कुछ न सूझता था।

व्याख्या के लिए निर्देश

किसान कुली बन कर ..... दोनों बराबर हैं।

प्रेमचंद के कथा साहित्य में सामयिक जीवन की गति और हलचल का समग्र चित्र मिलता है। प्रेमाश्रम उपन्यास में कथाकार ने किसान के शोषण को मार्मिक रूप में अभिव्यंजित किया है। वास्तव प्रेमचंद की चिंता का केंद्र केवल किसानों का शोषण ही नहीं है, औद्योगिक सभ्यता के कारण किसानी संस्कृति पर जो संकट आया है, वह भी उनके विचार के केंद्र में है। इससे प्रेमचंद लगातार मुकाबला करते हैं। 'प्रेमाश्रम' के बाद की उपन्यास रचना 'रंगभूमि' में तो इसकी सीधी टकराहट को दिखाया गया है।

प्रस्तुत गद्यांश का प्रसंग राय कमलानंद और एजेन्ट के बीच की बातचीत से उद्धृत है। राय साहब जमींदार हैं, वे जमींदारी व्यवस्था में ही किसान के बेहतर जीवन शैली की कल्पना करते हैं। लेखक का मानना है कि औद्योगिक व्यवस्था में किसान की स्थिति बेहतर होने बजाय और अधिक निकृष्ट होगी।

रायसाहब किसान के जीवन को मजदूर के जीवन से श्रेष्ठ मानते हैं। शहर के घुटन भरे वातावरण में जीवन जीने की अपेक्षा गाँव के मुक्त वातावरण में जीना उनके लिए विचार से अधिक अच्छा है। लेकिन राय साहब यह नहीं देखते कि सामाजिक विकास क्रम में औद्योगीकरण की प्रक्रिया अनिवार्य है। औद्योगिकीकरण के बिना आर्थिक उत्पादन का आधार केवल कृषि ही होगा। कृषि व्यवस्था भी उन्नत तभी हो सकती है, जब वैज्ञानिक खोज के साथ उसका संतुलन बना रहेगा। जीवनयापन की समस्या का हल करने के लिए विकास की प्रक्रिया को अपनाना अनिवार्य हो जाता है। निस्संदेह इसके कारण विभिन्न प्रकार की दूसरी समस्याओं का आगमन भी होता है। लेकिन भावुकता के कारण पारंपरिक जीवन शैली से लिपटे रहना यथास्थितिवादी मानसिकता का लक्षण है।

रायसाहब अपने अनुभव के आधार पर इस बात को सिद्ध करना चाहते हैं कि शहर का कुली अवकाश पाते ही किसानी जीवन को अपनाकर संतोष प्राप्त करेगा। उनकी दृष्टि में गरीबी के कारण किसान कुली बनता है न कि उसमें कुली बनने आकांक्षा होती है। रायसाहब इस बात को नहीं समझते कि यदि केवल कृषि आर्थिक आधार होगा तो भूमि पर जनसंख्या का भी अधिक भार होगा। इसका संबंध गरीबी से है। कोई भी गाँव का किसान शहर का कुली नहीं बनता चाहता, लेकिन जब सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होता है, तो विवश होकर उसे यह कार्य करना पड़ता है। इससे न किसान बड़ा हो जाता है और न कुली छोटा हो जाता है।

राय साहब योरोप के औद्योगिकीकरण की तुलना भारत में हो रहे औद्योगीकरण करते हैं। उनके अनुसार योरोप के किसान की बदतर हालत के कारण योरोप में औद्योगिक सभ्यता का विकास हुआ। उनके मत में वहाँ के किसान जमींदार के गुलाम और बंदी होते थे। उन्हें किसी

प्रकार की स्वतंत्रता नहीं दी गई थी। लेकिन भारत में ऐसी स्थिति नहीं है। एक जमींदार यहाँ के किसान को किस आधार पर मुक्त मानता है। इसकी चर्चा उनके वक्तव्य में नहीं है। आर्थिक आधार को नजर अंदाज करके वे नीति के आधार में जमींदार और किसान को बराबर मानते है। ऐश्वर्य ओर विलास में डूबे व्यक्ति के मुँह से नीति का उपदेश खोखला प्रतीत होता है। जिस अदालत की दुहाई, वे देते हैं, उसी अदालत में जमींदार के द्वारा न्याय का गला घोंट दिया जाता है। व्यवस्था और तंत्र के सामने लाचार किसान बेचारा और बेसहारा प्रतीत होता है।

विशेष :-

1. प्रेमचंद में किसानी जीवन के प्रति मोह और आकर्षण है। यह बहुत हद तक स्वाभाविक है। क्योंकि वे उसी जीवन को अपनी पहचान मानते हैं। वे इतिहास के परिवर्तन को तटस्थ द्रष्टा की भाँति अध्ययन कर रहे होते हैं। प्रेमचंद की इस रचना को पढ़ते हुए चेखव के 'चेटी ओर्चाड' का स्मरण होता है। उसमें भी नई व्यवस्था के आगमन और पुरानी व्यवस्था के टूटने का दृश्य बड़ा ही कारुणिक है। प्रेमचंद में भी इसी प्रकार की करुणा मिलतगी है।

2. इस प्रसंग में औद्योगिक सभ्यता और किसानी सभ्यता के अंतर को बड़े ही स्थूल ढंग से अभिव्यक्त किया गया है।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-08
हिन्दी उपन्यास
I- प्रेमचन्द का विशेष अध्ययन

खंड

4

रंगभूमि

इकाई 12
'रंगभूमि' और औद्योगिकीकरण की समस्या 5

इकाई 13
'रंगभूमि' पर स्वाधीनता आंदोलन और गांधीवाद का प्रभाव 17

इकाई 14
'रंगभूमि' का औपन्यासिक शिल्प 29

इकाई 15
सूरदास का चरित्र 39

परिशिष्ट 49

खंड परिचय

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम - 14 हिन्दी उपन्यास - 1 (प्रेमचन्द का विशेष अध्ययन) का चौथा खंड आपके समक्ष अध्ययन के लिए प्रस्तुत है। यह खंड प्रेमचंद के बृहदाकार उपन्यास 'रंगभूमि' पर आधारित है। प्रेमचंद ने राष्ट्रीय समस्याओं एवं स्वाधीनता आंदोलन को दृष्टि में रखकर जिन उपन्यासों की रचना की थीं, उनमें 'रंगभूमि' का विशिष्ट स्थान है। इस उपन्यास का प्रकाशन सन् 1924 ई. में हुआ था। रंगभूमि' पर आधारित प्रस्तुत खंड में चार इकाइयाँ है।

इकाई - 12 'रंगभूमि और औद्योगिकीकरण की समस्या' है। इस इकाई में हमने रंगभूमि की मूल विषयवस्तु औद्योगिकीकरण की समस्या की चर्चा की है। प्रेमचन्द ने औद्योगिकीकरण का विरोध करते हुए उपन्यास में उसके दुष्परिणामों की भी चर्चा की है जैसे गाँव का उजड़ना, किसान का मजदूर बनना, औद्योगिकीकरण के नाम पर विलास सामग्री और नशा-खोरी की वस्तुओं का उत्पादन आदि।

इकाई - 13 'रंगभूमि पर स्वाधीनता आंदोलन और गांधीवाद का प्रभाव' है। रंगभूमि की रचना प्रेमचंद ने असहयोग आंदोलन के कुछ दिनों बाद की। अत: इस उपन्यास पर असहयोग आंदोलन का प्रभाव माना जाता रहा है। इस इकाई में हमने स्वाधीनता आंदोलन के स्वरूप की चर्चा की है तथा उपन्यास पर असहयोग आंदोलन और गांधीजी के प्रभाव का विश्लेषण किया है।

इकाई - 14 'रंगभूमिका औपन्यासिक शिल्प' है। इस इकाई में रंगभूमि में निहित 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की चर्चा की गई है तथा साथ ही रंगभूमि की विशिष्ट भाषिक संरचना का परिचय दिया गया है।

इकाई -15 'सूरदास का चरित्र' है। 'सूरदास' रंगभूमि का अत्यंत विशिष्ट पात्र है। इस इकाई में हमने सूरदास की इसी विशिष्टता के विविध पक्षों को रेखांकित किया है। साथ ही, सूरदास के माध्यम से उपन्यास में अभिव्यक्त प्रेमचंद के विचारों की भी चर्चा की है।

इन इकाइयों के माध्यम से आप रंगभूमि' के कुछ प्रमुख विषयों पर विचार कर सकेंगे। इकाइयों के साथ ही 'परिशिष्ट' में भी रंगभूमि के कुछ बिन्दुओं पर चर्चा की गई है। खंड के अंत में प्रेमचंद तथा 'रंगभूमि' उपन्यास से संबद्ध कुछ उपयोगी ग्रंथों की सूची दी गई है, जो उपन्यास के विशेष अध्ययन में आपकी सहायक होंगी। इन्हें आप पुस्तकालय से प्राप्त कर सकते हैं।

इन सभी इकाइयों का अध्ययन करने से पहले यह आवश्यक है कि आप 'रंगभूमि' उपन्यास को पढ़ें। उपन्यास का अध्ययन करते समय जहाँ-जहाँ शब्दों के अर्थ समझ में न आएँ उन पर निशान लगा लें। 'परिशिष्ट' में हमने कठिन शब्दों के अर्थ दिए हैं। प्रत्येक इकाई के अंत में अभ्यास के लिए दिए गए प्रश्नों का भी उत्तर लिखने का प्रयास करें।

इकाई 12 'रंगभूमि' और औद्योगिकीकरण की समस्या

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 औद्योगिकीकरण तथा भारत में उसका महत्व

12.3 उपन्यास की मुख्य विषय वस्तु

- 12.3.1 सूरदास का विरोध
- 12.3.2 मि. जॉनसेवक के तर्क.
- 12.3.3 प्रेमचंद का दृष्टिकोण
- 12.3.4 मिं. जॉनसेवक एवं सूरदास का संघर्ष

12.4 अंग्रेजी राज की भूमिका

12.5 सारांश

12.6 अभ्यास प्रश्न

12.0 उद्देश्य

प्रेमचंद के उपन्यासों की जब भी हम चर्चा करते हैं, तो हमें 'गोदान' के बाद 'रंगभूमि' (1925 ई.) का नाम याद आता है। एक तो, इसलिए कि यह हिन्दी का पहला राजनीतिक उपन्यास है। दूसरे, प्रेमचंद का यह अन्तिम उपन्यास है, जिसे उन्होंने पहले उर्दू में लिखा तथा बाद में इसका हिन्दी में अनुवाद किया। तीसरे, इस उपन्यास में प्रेमचंद ने औद्योगिकीकरण की समस्या को पहली बार चित्रित किया। इस इकाई में हम भारत में औद्योगिकीकरण की परिस्थितियों के संदर्भ में 'रंगभूमि' का विश्लेषण करेंगे।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- रंगभूमि की मुख्य विषय-वस्तु औद्योगिकीकरण बनाम ग्राम समाज को पहचान सकेंगे;
- प्रेमचंद जिन कारणों से औद्योगिकीकरण का विरोध करते हैं, उनका विश्लेषण कर सकेंगे;
- औद्योगिकीकरण अंग्रेजी राज का समर्थन है, उसका विरोधी नहीं, इस बात की चर्चा कर सकेंगे; और
- इतने विरोध - समर्थन - संघर्ष के बावजूद देश में औद्योगिकीकरण बढ़ने की स्थिति का विवेचन कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

प्रेमचंद ने 1 अक्टूबर 1922 से 'रंगभूमि' लिखना शुरू किया। 12 अगस्त 1924 तक पूरा उपन्यास लिख लिया गया। जनवरी 1925 में यह पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो गया। असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद प्रेमचंद ने यह उपन्यास लिखा। इस उपन्यास के बीज प्रेमचंद को एक अंधे भिखारी से मिले। "वाराणसी में इस समय एक और विवाद भी चल रहा था। इसकी पृष्ठभूमि थी सरकार द्वारा शिवपुर के पास खेती की जमीन को टकों

के दाम लेकर उद्योगपतियों को देना। जिन लोगों की जमीन हथियाई गई थी, उन्हें बड़ा क्रोध आया था। इसका प्रभाव जनता पर भी पड़ा। कुछ समालोचकों का विचार है कि इस वाद विवाद को लेकर ही प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' लिखा।'' (कलम का मजदूर प्रेमचंद, पृ. 15) निश्चय ही, असहयोग आन्दोलन का जबर्दस्त प्रभाव इस उपन्यास की रचना पर पड़ा है। औद्योगिकीकरण जैसे आर्थिक प्रश्न के बावजूद यह एक राजनीतिक उपन्यास है। आकार की दृष्टि से देखा जाये तो यह प्रेमचंद का सबसे बड़ा उपन्यास है। कुछ आलोचकों ने इस उपन्यास के नायक सूरदास को गाँधीजी का प्रतिरूप सिद्ध करने का प्रयास भी किया है। इसका विश्लेषण हम आगे की इकाइयों में करेंगे।

12.2 औद्योगिकीकरण तथा भारत में उसका महत्व

रंगभूमि में चित्रित औद्योगिकीकरण की स्थिति का विश्लेषण करने से पूर्व हमें यह जान लेना चाहिए कि औद्योगिकीकरण मूलत: क्या है और भारत के संदर्भ में उसका क्या महत्व है? जाहिर है कि प्रेमचन्द उपनिवेशकालीन दौर के लेखक हैं, इसलिए उन्होंने साम्राज्यवादी नीतियों के भीतर चल रहे औद्योगिकीकरण को अपना विषय बनाया है।

मानव शास्त्रियों और इतिहासकारों का मत है कि आरम्भिक अवस्था में आदि मानव जंगलों में रहता था तथा जंगली जानवरों की तरह ही शिकार करके अपना जीवन निर्वाह करता था। उसका जीवन भी अन्य हिंसक जानवरों का सा ही था। धीरे-धीरे मनुष्य में यह भावना पनपी कि इन जानवरों को मारकर नहीं, वरन् इनको पालकर सुगमता से जीवन जीया जा सकता है। उन्होंने हिंसक और अहिंसक जानवरों में भेद किया तथा अहिंसक जानवरों के सहयोग से जीने की नयी आदत डाली। पशु चारण का यह युग मानव-इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। यहीं से मनुष्य स्वयं अन्य जंगली जानवरों से गुणात्मक रूप से अलग हो गया। हमारे प्राचीन साहित्य में उनकी सामूहिक स्मृतियों का वर्णन बहुत बाद तक मिलता है। पशु चारण के काल में भी मनुष्य मूलत: घूमन्तू प्राणी के रूप में विचरण करता था। पशुओं के लिए उपयुक्त चारे-पानी की खोज में वह भी उनके साथ भटकता रहता था। इस अनुभव से परेशान होकर मनुष्य ने खेती करना और घर बनाकर स्थायी रूप से एक जगह पर रहना आरंभ किया। इतिहासकारों और समाज वैज्ञानिकों का मत है कि इस अवस्था तक संसार के सभी भू-भागों के मानव-समुदायों के विकास में समानता मिलती है। इसके बाद एक नये युग का आरंभ हुआ। जिसे विचारकों ने औद्योगिक समाज का नाम दिया है। इस औद्योगिकीकरण के बाद मानव-समुदाय में स्तर भेद बहुत प्रबल रूप में सामने आया।

आप जानते हैं कि संसार में उद्योग-धन्धों का विकास सबसे पहले यूरोप में हुआ। इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण घटना है। इसी कारण पूँजीवाद का विकास हुआ। पूँजीवाद के विकास की चरम अवस्था के रूप में साम्राज्यवाद का उदय हुआ। इसके बाद सारा संसार दो भागों में बँट गया - साम्राज्यवादी देश और उनके उपनिवेश। अपने माल को बेचने के लिए इंग्लैंड, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल आदि देशों ने बड़े-बड़े साम्राज्य विकसित किये। इन्होंने अपने-अपने उपनिवेशों के परंपरागत शिल्प और बाजार को नष्ट किया। उपनिवेशों को कच्चा माल तैयार करने तथा साम्राज्यवादियों के तैयार माल को खरीदने का बाजार बना दिया गया। भारत अंग्रेजी उपनिवेश था। इसलिए यहाँ माल तैयार नहीं होता था। उद्योग धन्धे भी विकसित नहीं होने दिये गये।

अंग्रेजों ने अपने हित को सुरक्षित और व्यापक बनाने के लिए परंपरागत भारतीय समाज के ढाँचे को तोड़ा, कुछ जरूरी उद्योगों को विकसित होने दिया। कच्चा माल ढोने और तैयार माल पहुँचाने के लिए रेल मार्गों को विकसित किया। परन्तु अधिकतर मामलों में इन उद्योगों को हतोत्साहित किया गया। इस प्रक्रिया से समाज में होने वाले परिवर्तनों की ओर

बुद्धिजीवियों का ध्यान जाना स्वाभाविक था। प्रेमचंद ने इसी परिप्रेक्ष्य में उद्योगों की समस्याओं पर विस्तार से लिखा।

इस संदर्भ में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' में उस युग के यथार्थ का यथातथ्य वर्णन ही नहीं किया हैं, वरन् कुछ आशंकाओं और भावी घटनाओं की संभावनाओं का वर्णन भी किया है। इनमें से कुछ बातें आगे चलकर सत्य साबित हुईं तथा कुछ आशंकाएँ निर्मूल सिद्ध हुईं। मसलन एंग्लो-इंडियन समाज आगे चलकर औद्योगिकीकरण की दिशा में आगे बढ़ेगा यह प्रमाणित नहीं हो सका।

साम्राज्यवाद के दौर में किसी भी समाज का स्वाभाविक विकास नहीं होता। इसलिए उस युग के हमारे समाज में भी अस्वाभाविक परिवर्तन होने लगे। उद्योग धन्धों का स्वाभाविक विकास नहीं होने से तत्कालीन बुद्धिजीवियों ने इसके प्रति सन्देह के भावों को व्यक्त किया। उद्योगों के विकास से ही देश का विकास होता है। इस मान्यता का समर्थन करते हुए भी बुद्धिजीवियों, लेखकों और राजनेताओं ने इसका खुले दिल से समर्थन नहीं किया, क्योंकि इसके पीछे उन्हें साम्राज्यवादी साजिश दिखायी दे रही थी।

12.3 उपन्यास की मुख्य विषय-वस्तु

सभी दृष्टियों से विचार करने के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस उपन्यास में औद्योगिकीकरण बनाम ग्राम समाज का मुद्दा सबसे अहम् है। उपन्यास की आरम्भिक पंक्तियाँ लेखकीय मंतव्य को प्रकट करने के लिए उपयोगी हैं - "शहर अमीरों के रहने और क्रय-विक्रय का स्थान है। उसके बाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनोद की जगह है। उसके मध्य भाग में उनके लड़कों की पाठशालाएँ और उनके मुकदमेबाजी के अखाड़े होते हैं, जहाँ न्याय के बहाने गरीबों का गला घोंटा जाता है।'' और "शहर के आसपास गरीबों की बस्तियाँ होती हैं।''

रंगभूमि की कथा भूमि 'पांडेपुर' ऐसी ही एक बस्ती है। शहर का यह नक्शा आजादी के पूर्व का नक्शा है, जब देश में उद्योग धन्धों का विकास नहीं हुआ था। हम आज के शहरों का - विशेषत: औद्योगिक शहरों का नक्शा याद करें, तो हमें 'गरीबों की बस्तियाँ' अर्थात् 'पाण्डेपुर' नहीं दिखायी देता। अब शहर के बाहर उद्योग स्थापित हो चुके हैं। गरीबों की बस्तियाँ औद्योगिक नगर में रूपांतरित हो चुकी हैं। प्रेमचंद की बारीक नजर इस परिवर्तन पर उस दिन पड़ी, जब शहर के नक्शे के लिए यथार्थ जीवन की भावी दिशाओं की ओर संकेत कर देना बड़ी बात होती है। इसीलिए बड़ा लेखक बड़ा कहलाता है।

'रंगभूमि' के पहले प्रकरण में सूरदास (अंधा भिखारी) और मि. जॉनसेवक (उद्योगपति) का संवाद है। जब भी लेखक उपन्यास लिखता है, तो सबसे पहले उपन्यास की भूमिका लिखता है। भूमिका में वह अपनी रचना के पात्रों से परिचय करवाता है, उपन्यास की मूल विषय-वस्तु से परिचय कराता है और अपना पक्ष संकेतित कर देता है। इस संवाद पर चर्चा करने से पूर्व इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि प्रेमचंद ने उद्योगपति के रूप में मि. जॉनसेवक को क्यों चुना? वह ईसाई क्यों है? मि. जॉनसेवक का ईसाई होना मात्र संयोग नहीं है। प्रेमचंद ने जानबूझकर उसे ऐसा बनाया।

प्रेमचंद की दृष्टि में यह जॉनसेवक अंग्रेजी राज के समर्थक के रूप में है। उनमें से अधिकतर लोगों का मत है कि उनका "कल्याण अंग्रेजों के साथ मेलजोल करने' में हैं। हालांकि यह समाज की "अन्य जातियों से शिक्षा में कहीं आगे बढ़े हुए हैं'' परन्तु इनका 'राजनीति पर', कोई प्रभाव नहीं है। (रंगभूमि) हालांकि एंग्लो इंडियन लोग भारतीय ही हैं। उनका उद्धार देशवासियों से भ्रातृभाव रखने में है, उन पर रौब जमाने में नहीं''। परन्तु यह विचार मुख्य नहीं है। प्रेमचंद अंग्रेजों का विरोध तो करते ही हैं, उनके सहायक वर्गों,

समूहों और जातियों का भी विरोध करते हैं। इसी कारण उन्होंने 'रंगभूमि' के प्रमुख उद्योगपति को एंग्लो-इण्डियन ईसाई के रूप में चित्रित किया। हालांकि भारतीय उद्योगों के विकास में इनका योगदान नगण्य-सा है। प्रेमचंद इस पात्र को विरोधी की नजर से देखते हैं। वे औद्योगिकीकरण का इस देश भक्ति के कारण भी विरोध करते हैं, क्योंकि उद्योग धन्धों के मालिक सरकार समर्थक हैं।

मि. जानॅसेवक एक सिगरेट का कारखाना खोलना चाहते हैं। इस कारखाने के लिए उन्हें शहर के आसपास जमीन की जरूरत है। चारों ओर घूमने के बाद उन्हें पांडेपुर में सूरदास की जमीन पसन्द आती है। "वह पांडेपुर के आगे पक्की सड़क पर स्थित है। रेल का स्टेशन वहाँ से निकट है और आस-पास बहुत से गाँव हैं। रकबा दस बीघा है। जमीन परती पड़ी हुई है। हाँ, बस्ती के जानवर उसमें चरने आया करते हैं। उसका मालिक एक अंधा फकीर है।" (वही, पृ. 51-52) यह एक तथ्यात्मक वाक्य है। प्रेमचंद ने जमीन के चयन में पूँजीपतियों की नजर किन बिन्दुओं पर जाती है? इसकी ओर संकेत किया है।

सूरदास इस जमीन को बेचना नहीं चाहता। यह उपन्यास का मुख्य संघर्ष है। संपूर्ण उपन्यास की कथा को नियंत्रित करने का काम पांडेपुर की यह जमीन करती है। इसी जमीन को लेने, न लेने में सारे पात्रों का जीवन निकल जाता है। बड़ा भारी राजनीतिक संघर्ष होता है। अनेक व्यक्ति मारे जाते हैं। स्वयं सूरदास मारा जाता है। विनय अपने आपको गोली मार लेता है। सोफिया आत्महत्या कर लेती है। राजा महेन्द्रप्रताप सूरदास की मूर्ति के नीचे दब कर मर जाता है। पाण्डेपुर की बस्ती उजड़ जाती है। मिसेज सेवक अर्द्धविक्षिप्त हो जाती हैं। प्रभुसेवक अमेरिका चला जाता है। रहे मिस्टर जॉन सेवक। "वह निराशामय धैर्य के साथ प्रातः काल से संध्या तक अपने व्यावसायिक धंधों में रत रहते हैं। उन्हें अब संसार में कोई अभिलाषा नहीं है, कोई इच्छा नहीं हैं, धन से उन्हें निःस्वार्थ प्रेम हैं, कुछ वही अनुराग, जो भक्तों को अपने उपास्य से होता है। धन उनके लिए किसी लक्ष्य का साधन नहीं है, स्वयं लक्ष्य है। न दिन को दिन समझते हैं, न रात को रात। कारबार दिन-दिन बढ़ता जाता है। लाभ भी दिन-दिन बढ़ता जाता है या नहीं, इसमें सन्देह है।" (वही, पृ. 486)

इन पंक्तियों में लेखक नें पूँजीपति पात्र की हृदयहीनता का वर्णन किया है। आम लोगों के लिए धन साधन है, साध्य कुछ और होता है। हम धन सिर्फ धन के लिए नहीं चाहते। धन इसलिए चाहते हैं ताकि हम उससे सुख-सुविधाएँ जुटा सकते हैं। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। परन्तु पूँजीपति के लिए धन ही साधन है। वह उससे तथाकथित सच्चा प्रेम करते हैं। अंतिम पंक्ति में प्रेमचंद यह भी संकेत करते जाते हैं कि कारोबार से लाभ बढ़ना संदेहास्पद है। सामान्यतः तो ऐसा होना चाहिए। परन्तु अंग्रेजी राज के भीतर रहने के कारण संभव है कि ऐसा न हो। इन पंक्तियों से प्रेमचंद एक उद्योगपति के जीवन का वर्णन भी करते जाते हैं।

प्रेमचंद जानते हैं कि जमीन यदि उद्योगपति को पसन्द आ गयी तो वह ले लेगा। सूरदास भी जानता है। 'मैं दूँ तो भी जमीन निकल जायेगी, न दूँ तो भी निकल जायेगी। रूपये वाले सब कुछ कर सकते हैं। परन्तु सूरदास संघर्ष का निर्णय लेता है। मि. जॉनसेवक का नौकर ताहिरअली समझाता है, "अभी साहब को जानते नहीं हो, तभी बढ़-बढ़कर बातें कर रहे हो। जिस वक्त साहब जमीन लेने पर आ जायँगे, ले ही लेंगे, तुम्हारे रोके न रुकेंगे।... सीधे से, रजामंदी के साथ दोगे तो अच्छे दाम पा जाओगे; शरारत करोगे, तो जमीन भी निकल जायेगी, कौड़ी भी हाथ न लगेगी। रेलों के मालिक क्या जमीन अपने साथ लाये थे? हमारी ही जमीन तो ली है? क्या उसी कायदे से यह जमीन नहीं निकल सकती।"

यहाँ प्रेमचंद ने उद्योगपतियों की शक्ति, उनके प्रभाव और कार्यप्रणाली की ओर संकेत किया है। अंग्रेजी राज में कानून बनाकर, आवश्यकता पड़ने पर मनमाना कानून बनाकर कुछ

भी किया जा सकता है। अपनी इस बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने रेलों के लिए जमीन उपलब्ध करवाने की ओर संकेत किया है।

12.3.1 सूरदास का विरोध

उपन्यास के आरंभ में मि. जॉनसेवक सूरदास से जमीन खरीदना चाहते हैं। जो सब लोग तय करें, वह कीमत देने के लिए तैयार हैं। परन्तु सूरदास नहीं देना चाहता। इस हठ से यह जमीन प्रतीकात्मक बन जाती है। सूरदास न बेचने के लिए जो तर्क देता है, वे तर्क बहुत महत्वपूर्ण हैं।

पहली बात तो यह कि जमीन उसकी है। वह चाहे तो बेचे। चाहे तो न बेचे। दूसरा यह कि कोई जबर्दस्ती किसी को अपनी जमीन बेचने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। यह न्याय नहीं है। दूसरे, यह जमीन उसे विरासत में मिली है। बाप दादों की निशानी है। उसे बेचने का अधिकार भी नहीं है। कुछ अपनी कमायी हुई तो है नहीं। विरासत से मिली हुई संपत्ति उत्तराधिकारियों को मिलनी चाहिए। इसके अलावा इस जमीन पर गाय चरती हैं, इससे पुण्य होता है। फिर सूरदास की आकांक्षा है कि वह इस पर कुआँ और मन्दिर बनवाना चाहता है, ताकि पीढ़ियों तक उसका नाम अमर रहे। इन सब बातों का यदि उसे उत्तर मिल भी जाए (मि. जॉनसेवक ने उत्तर दिया भी है) तो भी वह कारखाने के लिये जमीन बेचना नहीं चाहता। इससे किसान मजदूर बन जायेंगे, जिससे उनका नैतिक पतन होगा। इस कारखाने से "मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जायेगी, रोजगारी लोगों को फायदा भी खूब होगा। लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी-शराब का भी तो परचार बढ़ जाएगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायेंगी, परदेसी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधरम होगा।"। यहाँ सूरदास का विरोध 'सिगरेट' के कारखाने से नहीं, उद्योग धन्धे मात्र से है। यदि यह जमीन इस काम के लिए बिकी, तो उसके पाप का कुछ भागीदार सूरदास भी तो होगा।

सूरदास के अलावा अन्य शिक्षित समुदाय, देश प्रेमी लोग भी इस कारखाने के प्रति आशंकाएँ रखते हैं। पहली बात तो यह है कि तंबाकू तो मादक पदार्थ है। उसके उत्पादन से देश को क्या फायदा होगा? उल्टे स्वास्थ्य की हानि होगी। दूसरे, इससे अनाज महँगा हो जायेगा क्योंकि किसान गेहूँ के बदले तंबाकू का उत्पाद करने लगेंगे। सभी बातों का यदि संतोषजनक उत्तर भी दिया जाए तो फिर यह बताया जाना चाहिए कि ऐसी कंपनी अब तक क्यों नहीं खुली?

'रंगभूमि' के इस विवाद का यदि बारीक विश्लेषण किया जाए, तो हमें यह समझते देर नहीं लगेगी कि प्रेमचंद उद्योग-धन्धों के विकास के इतने पक्के विरोधी नहीं लगते, जितना सूरदास है। यहाँ लेखक और पात्र के विचारों में मतभेद है। प्रेमचंद उद्योगपतियों की स्वार्थपरता को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें विलास-सामग्री के उत्पादन में भी देश का फायदा नहीं दीखता। यदि सिगरेट के कारखाने की जगह आधारभूत उद्योगों का विकास किया गया होता, तो प्रेमचंद विरोध नहीं कर पाते। सूरदास का विरोध कारखाने मात्र से है, प्रेमचंद का विरोध 'सिगरेट के कारखाने' से है। इसके अलावा प्रेमचंद यह भी जानते हैं कि सही हो या गलत, भविष्य उद्योगों का है, उद्योग-धन्धों के विकास को रोका नहीं जा सकता और उपन्यास में वे बराबर इस यथार्थ की ओर संकेत करते जाते हैं। संपूर्ण मानवीय सहानुभूति, नैतिक श्रेष्ठता एवं व्यापक जनसमर्थन के बावजूद मि. जॉनसेवक की विजय नहीं होती है। इस यथार्थ का भी प्रेमचंद ने वर्णन किया है। इसलिए प्रेमचंद जब भी मि. जॉनसेवक का वर्णन करते हैं; बहुत सावधानी से करते हैं। वे कभी भी किसी अवसर पर उसका अनादर नहीं करते। प्रेमचंद की मि. जॉनसेवक के बारे में टिप्पणी देखिए - "जॉनसेवक उन मनुष्यों में थे, जिनका व्यक्तित्व शीघ्र ही दूसरों को आकर्षित कर लेता है। उनकी बातें इतनी विचारपूर्ण होती थीं कि दूसरे अपनी बातें भूलकर उन्हीं की सुनने लगतें

थे। और यह बात न थी कि उनका भाषण, शब्दाडंबर मात्र होता हो। अनुभवशील और मानव चरित्र के बड़े अच्छे ज्ञाता थे। ईश्वरदत्त प्रतिभा थी, जिसके बिना किसी सभा में सम्मान नहीं प्राप्त हो सकता।''

12.3.2 मि. जॉनसेवक के तर्क

सूरदास के सारे तर्क मि. जॉनसेवक के सामने हुए थे। उन्होंने सभी तर्कों का युक्ति युक्त उत्तर दिया था। इसके बाद वे कारखाने के समर्थन में अपना पक्ष रखते थे। वे हमेशा ऐसा उत्तर' देते थे। 'जो स्वार्थ और आत्मा, दोनों ही को स्वीकार हो।' भारत में अंग्रेजी राज्य के समर्थक लोग हमेशा यह तर्क दिया करते थे कि अंग्रेज हमारे देश के हित में अमन चैन कायम करने के लिए शासन करते हैं। मि. जॉनसेवक कभी नहीं कहते थे कि कारखाने से उनका फायदा होगा। वे हमेशा यही तर्क रखते थे कि कारखाने से "देश और जाति की उन्नति होगी, गरीबों का उपकार होगा, हजारों आदमियों की रोटियाँ चलेगी।''

कुंवर भरतसिंह जैसे देशप्रेमी से बातचीत करते हुए उन्होंने कहा, "हमारी जाति का उद्धार कला-कौशल और उद्योग की उन्नति में है। इस सिगरेट के कारखाने से कम से कम एक हजार आदमियों के जीवन की समस्या हल हो जायेगी और खेती के सिर से से उनका बोझ टल जाएगा। जितनी जमीन को एक आदमी अच्छी तरह जोत-बो सकता है, उसमें घर-भर का लगा रहना व्यर्थ है।'' देश प्रेम की भावना से इसका समर्थन करते हुए जॉनसेवक कहते हैं, "हम देखते हैं कि इस देश में विदेश से करोड़ों रूपये के सिगरेट और सिगार आते हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि इस धन-प्रवाह को विदेश जाने से रोकें।'' जॉनसेवक एक बार पांडेपुर पहुँचे और वहाँ के सभी निवासियों की शंकाओं का समाधान कर दिया। नायकराम सूरदास का पक्का समर्थक है। उसके हजारों यात्री आते हैं। वे सब इसी जमीन पर पड़े रहते हैं। वहीं खाना बताते हैं और सोते हैं। जॉनसेवक ने आश्वासन दिया 'जात्रियों के लिए, सड़कों के किनारे, खपरैल के मकान बनवा दिये जायेंगे। कारखाने के अहाते में बजरंगी की गाय चर सकती है। फिर अभी तुम्हें अपना सारा दूध लेकर शहर जाना पड़ता है। हलवाई तुमसे दूध लेकर मलाई, मक्खन, दही बनाता है, और तुमसे कहीं ज्यादा सुखी है।.....जब यहाँ कारखाना खुल जायेगा तो हजारों आदमियों की बस्ती हो जायेगी, तुम दूध की मलाई बेचोगे, दूध अलग बिकेगा। इस तरह तुम्हें दोहरा नफ़ा होगा। तुमहारे उपले घर बैठे बिक जायेंगे।'' ठाकुरदीन की पान की दुकान है, उसकी 'बिक्री चौगुनी हो जायेगी।' जगधर के खोंचा है, 'खोंचे वाले की खासी बिक्री होगी।' भैरों की ताड़ी की दुकान है, 'चाहो तो पानी को शराब बनाकर बेचो।' इन सब के व्यक्तिगत स्वार्थों के साथ साहब ने मदरसा खोलने का आश्वासन भी दे डाला। और इस तरह सारा मौहल्ला जो अब तक सूरदास का समर्थक था, वह कारखाने का समर्थक हो गया। जॉनसेवक ने अपने बुद्धिचातुर्य से सूरदास को अकेला कर दिया।

इसी तर्क पद्धति से जॉनसेवक आगे चले। उन्होंने कहा कि कारखाने से म्युनिसिपैलिटी और सरकार दोनों को 'हजारों रूपये साल की आमदनी होगी'। और इसी क्रम में उन्होंने राजा महेन्द्र कुमार और अंग्रेज जिलाधीश मि. क्लार्क को भी अपने पक्ष में कर लिया। प्रेमचंद ने धीरे-धीरे स्पष्ट किया कि पूँजीवाद जब भी आया है, हमेशा मानवीय तर्क लेकर ही आया है।

तो अब तक इतनी फायदेमंद कंपनी क्यों नहीं खुली? लोगों का ध्यान इस ओर क्यों नहीं गया? जॉनसेवक तर्क को आगे बढ़ाते हैं। "इसलिए कि अभी तक शिक्षित समाज में व्यवसाय बुद्धि पैदा नही हुई। लोगों की नस-नस में गुलामी समायी हुई है। कानून और सरकारी नौकरी के सिवा और किसी ओर निगाह जाती ही नहीं। दो-चार कम्पनियाँ खुलीं भी, किन्तु उन्हें विशेषज्ञों के परामर्श और अनुभव से लाभ उठाने का अवसर न मिला। अगर

मिला भी, तो बड़ा महँगा पड़ा। मशीनरी मँगाने में एक के दो देने पड़े, प्रबन्ध अच्छा न हो सका। विवश होकर कम्पनियों को कारोबार बन्द करना पड़ा। यहाँ प्राय: सभी कम्पनियों का यही हाल है। डायरेक्टरों की थैलियाँ भरी जाती हैं, हिस्से बेचने और विज्ञापन देने में लाखों रूपए उड़ा दिए जाते हैं, बड़ी उदारता से दलालों का आदर-सत्कार किया जाता है, इमारतों में पूँजी का बड़ा भाग खर्च कर दिया जाता है, मैनेजर भी बहु-वेतन भोगी रखा जाता है, मैनेजर अपना पुरस्कार भोगता है, दलाल अपनी दलाली लेता है; मतलब यह कि सारी पूँजी ऊपर ही ऊपर उड़ जाती है।''

उपन्यास के घटना-क्रम के विभिन्न मोड़ों में जॉनसेवक और सूरदास का यह विवाद महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह चिंतन उपन्यास की पृष्ठभूमि है, उसका आधार है। इसी आधार से हम उपन्यास की सारी कथा रचना और पात्रों की मनोरचना को समझ सकते हैं।

12.3.3 प्रेमचंद का दृष्टिकोण

इस विवाद में सम्पूर्ण लेखकीय सहानुभूति सूरदास के साथ है। तब भी, प्रेमचंद मि. जॉनसेवक को 'खलनायक' नहीं मानते। ईश्वर सेवक और मिसेज सेवक के बारे में उनकी राय स्पष्ट है। उनकी धार्मिकता और घोर स्वार्थपरता में कोई विरोध नहीं है। मिसेज सेवक क्षुद्र महिला है-कट्टर हीनभाव से ग्रसित। ईश्वर सेवक प्रभु-मसीह के भक्त, अत्यंत कंजूस और स्वार्थी हैं। लेखक को इन पात्रों के वर्णन में कोई दुविधा नहीं है। परन्तु मि. जॉनसेवक इनसे अलग है। प्रेमचंद जानते हैं कि यह नया चरित्र है। इस चरित्र से उनके पाठक परिचित नहीं होंगे, इसलिए इसका चरित्र फुर्सत से गढ़ना चाहिए। भरतसिंह और राजा महेन्द्र कुमार से हम परिचित हैं। परंतु यह पात्र (जॉनसेवक) तो समाज में भी नया है और साहित्य में तो इसे पहली बार ही चित्रित करना है।

प्रेमचंद ने मि. जॉनसेवक के चरित्र को उद्घाटित करते हुए स्पष्ट किया है। उद्योगपतियों के पास धन की शक्ति तो है, साथ ही उनका जीवट और बुद्धि-चातुर्य भी अन्य वर्गों से अधिक है। प्रेमचंद को जब भी मौका मिलता है (और वे मौका निकालते हैं) तब वे मि. जॉनसेवक का व्यक्तित्व, उसके क्रियाकलाप, उसके काम करने का तरीका, उसके आगे बढ़ने की नीति, उसके सोचने का ढंग - सब का वर्णन करते हैं। एक बार अपने पुत्र को समझाते हुए वे कहते हैं - ".....याद रखो, ऐसे विषयों में सदैव मार्मिक अवसर पर निगाह रखनी चाहिए। यही सफलता का मूल मन्त्र है। शिकारी जानता है, किस वक्त हिरन पर निशाना मारना चाहिए। वकील जानता है, अदालत पर कब उसकी युक्तियों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ सकता है.....।''

प्रभुसेवक की उद्दंडता के इस मार्मिक अवसर का मि. जॉनसेवक ने उपयोग किया और मुहल्ले वालों के सामने क्षमाप्रार्थी के रूप में पहुँच गये। उन्होंने बातों ही बातों में सारे लोगों को सूरदास से अलग कर दिया। मि. जॉनसेवक ने जब सरकारी कानून से सूरदास की जमीन का अधिग्रहण कर लिया, तो किसी व्यक्ति ने सूरदास का साथ नहीं दिया। वह अकेला संघर्ष करता रहा और पराजित हुआ।

उद्योग धन्धों के विकास के कारण धार्मिक नैतिकता के सामने प्रश्न चिन्ह लग जाता है। प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' में विस्तार से धर्म के सवाल पर चर्चा की है। इस चर्चा का एक पक्ष राजनीति से सम्बन्ध रखता है, जिसका विश्लेषण हम आगे की इकाई में करेंगे। यहाँ उद्योगों के मालिकों की अमानवीयता और धर्म के मानव-प्रेम के बीच उत्पन्न विवाद के बारे में मि. जॉनसेवक के विचारों को जान लेना उपयोगी होगा। हम देखते हैं कि सूरदास को अपनी धार्मिक नैतिकता से कोई समस्या नहीं होती, उल्टे वह उसकी शक्ति का स्रोत है। परन्तु मि. जॉनसेवक और राजा महेन्द्र कुमार के परिवार में यह समस्या है।

जॉनसेवक मानते हैं कि 'धर्म केवल स्वार्थ संगठन है। संभव है, तुम्हें ईसा पर विश्वास हो, शायद तुम उन्हें खुदा का बेटा या कम से कम महात्मा समझते हो, पर मुझे तो यह भी विश्वास नहीं है। मेरे हृदय में उनके प्रति उतनी ही श्रद्धा है, जितनी किसी मामूली फकीर के प्रति।.....लेकिन इतना अविश्वास होने पर भी मैं रविवार को सौ काम छोड़कर गिरजे अवश्य जाता हूँ। न जाने से अपने समाज में अपमान होगा, उसका मेरे व्यवसाय पर बुरा असर पड़ेगा।''

'धर्म और व्यापार को एक तराजू पर तौलना मूर्खता है। धर्म धर्म है, व्यापार व्यापार, परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं।..... धर्म तो व्यापार का शृंगार है। वह धनाधीशों ही को शोभा देता है। खुदा आपको कमाई दे, अवकाश मिले, घर में फालतू रूपये हों, तो नमाज पढ़िए, हज कीजिए, मस्जिद बनवाइए, कुएँ खुदवाइए। तब मजहब है, खाली पेट खुदा का नाम लेना पाप है।''

इन पंक्तियों में प्रेमचंद ने धर्म के प्रति पूँजीवादी दृष्टि का खुलासा किया है। धर्म के प्रति यह परंपरागत भारतीय दृष्टि नहीं हैं। धर्म वैयक्तिक आस्था की वस्तु है, परन्तु पूँजीपति वर्ग के लिए वह भी स्वार्थ का संगठन है। इसलिए सोफिया और प्रभुसेवक जहाँ धर्म की दार्शनिक-तार्किक व्याख्या करते रहते हैं, मिसेज सेवक और ईश्वर सेवक ईश्वर भक्ति में लीन रहते हैं, वहाँ मि. जॉनसेवक इसका व्यापारिक उपयोग करते हैं। ताहिर अली की धार्मिक भीरुता का प्रेमचंद ने कभी समर्थन नहीं किया। यहाँ यह भी उल्लेख किया जाना आवश्यक है कि प्रेमचंद ने अपने धर्म संबंधी चिंतन के अधिकांश हिस्से को मि. जॉनसेवक के माध्यम से व्यक्त किया है। सूरदास के माध्यम से उन्होंने धर्म के मानवीय एवम् आदर्शवादी पक्ष को उपस्थित किया है। व्यवहार जगत् में धर्म की स्थिति क्या है? सूरदास सोचता है, "बड़े आदमी सब एक होते हैं, चाहे हिन्दू हों या तुर्क।''

इस पृष्ठभूमि में मि. जॉनसेवक को कारखाना खोलना है। उससे पहले पांडेपुर की जमीन लेनी है। सूरदास ने जमीन देने से साफ मना कर दिया तो जॉनसेवक चतारी के राजा महेन्द्र कुमार के पास पहुँचते हैं। जो म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन हैं। कुंवर भरतसिंह से अपने सम्बन्धों की सीढ़ी बनाकर वहाँ जाते हैं उनकी तारीफों के पुल बाँधते हैं। जिलाधीश मि. क्लार्क से अपने सम्बन्धों का संकेत देते हैं। पांडेपुर में ताहिरअली के साथ हुई मारपीट की घटना को मनमाना रूप देकर उन्हें अपने पक्ष में करने में सफल हो. जाते हैं। और इस तरह मुआवजा देकर बोर्ड में प्रस्ताव पास करके सूरदास की जमीन मि. जॉनसेवक को दे दी जाती है। सूरदास अकेला रह जाता है। वह अकेला विरोध करता है। नगर में घूम-घूम कर मि. जॉनसेवक और राजा महेन्द्र कुमार के विरुद्ध आवाज उठाता है। इस कारण दोनों की खूब बदनामी होती है। इस बीच सोफिया की प्रेरणा से मि. क्लार्क एक आदेश जारी करके बोर्ड के प्रस्ताव को निरस्त कर देते हैं। यह सूरदास की पहली नैतिक विजय है। यह नैतिक विजय तो है, परंतु वास्तविक विजय नहीं।

12.3.4 मि. जॉनसेवक एवं सूरदास का संघर्ष

मि. जॉनसेवक इन परिस्थितियों का आकलन करते हैं। नयी व्यूह रचना करते हैं। उनके घर में चर्चा हो रही है, लोग निराश हैं। इस अवसर पर जॉनसेवक एक लम्बा वक्तव्य देते हैं। जिससे उसकी कर्मठता एवम् संघर्षशीलता का पता चलता है। प्रेमचंद ने लिखा है-

"जॉनसेवक ने उसकी हँसी उड़ाते हुए कहा-हाँ, बहुत अच्छी बात है, हम सब मिलकर उस अंधे के पास चलें और उसके पैरों पर सिर झुकायें। आज उसके डर से जमीन

छोड़ दूँ, परसों यह बंगला छोड़ दूँ और इसके बाद मुँह छिपाकर यहाँ से कहीं चला जाऊँ क्यों, यही सलाह है न? फिर शांति-ही-शांति है, न किसी से लड़ाई, न झगड़ा। यह सलाह तुम्हें मुबारक रहे। संसार शांति-भूमि नहीं, समर भूमि है। यहाँ वीरों और पुरुषार्थियों की विजय होती है, निर्बल और कायर मारे जाते हैं। मि. क्लार्क और राजा महेन्द्र कुमार की हस्ती ही क्या है, सारी दुनिया भी अब जमीन को मेरे हाथों से नहीं छीन सकती। मैं सारे शहर में हलचल मचा दूँ, सारे हिन्दुस्तान को हिला डालूँगा। अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता की यह मिसाल देश के सभी पत्रों में उद्धृत की जायेगी, कौंसिलों और सभाओं में एक नहीं, सहस्र-सहस्र कंठों से घोषित की जायेगी और उसकी प्रतिध्वनि अंग्रेजी पार्लियामेंट तक में पहुँचेगी। यह स्वाजातीय उद्योग और व्यवसाय का प्रश्न है। इस विषय में समस्त भारत के रोजगारी, क्या हिंदुस्तानी और क्या अंग्रेज, मेरे सहायक होंगे, और गवर्नमेंट कोई इतनी निर्बुद्धि नहीं है कि वह व्यवसायियों की सम्मिलित ध्वनि पर कान बंद कर ले। यह व्यापार-राज्य का युग है। योरोप में बड़े-बड़े शक्तिशाली सम्राज्य पूँजीपतियों के इशारे पर बनते-बिगड़ते रहते हैं, किसी गवर्नमेंट का साहस नहीं है कि उनकी इच्छा का विरोध करे। तुमने मुझे समझा क्या है, मैं वह नरम धारा नहीं हूँ। जिसे क्लार्क और महेन्द्र खा जायेंगे।''।

इन पंक्तियों में प्रेमचंद उद्योगपतियों की जीवंतता का वर्णन करते हुए बताना चाहते हैं के उद्योगपति सबका सहयोग लेते हैं, परन्तु किसी पर निर्भर नहीं है। उनका दुनिया में रहने और जीने का दृष्टिकोण सूरदास से अलग है। वह जीवन को समर भूमि मानते हैं। युद्ध में पक्ष और विपक्ष दो ही पक्ष होते हैं। जब तक आप पक्ष में हैं, तभी तक अपने हैं। जब आपने पक्ष बदल लिया, विपक्ष में हो गये, तब आप भी हमारे वैसे ही शत्रु हैं, जैसे दूसरे हैं। यहाँ किसी दया माया और पुराने सम्बन्धों की दुहाई नहीं दी जा सकती। डरकर, जी-हजूरी करके, खुशामद करके आगे नहीं बढ़ा जा सकता। समर्थ बनकर ही विकास हो सकता है। यह पूँजीपति की भीतरी आवाज है। यह लम्बा उद्धरण मि. जॉनसेवक के जीवन और उसकी कार्य प्रणाली को भी प्रकट करता है। मि. जॉनसेवक ने सबसे पहले राजा महेन्द्र कुमार को मि. क्लार्क के निर्णय के विरुद्ध गवर्नर के पास अपील भिजवाने के लिए तैयार किया। अपील भिजवा दी गयी। साल भर तक अखबारों में युद्ध होता रहा। 'दलीलें कट-कट कर रावण की सेना की भाँति फिर जीवित हो उठती थीं। डॉ. गांगुली और कुंवर भरतसिंह ने मि. जॉनसेवक का समर्थन किया। और अन्ततः जमीन मि. जॉनसेवक को मिल गयी और मि. क्लार्क का तबादला कर दिया गया। यह उनकी कार्यशैली की विजय थी, और इस तरह कारखाना बनने लगा। सूरदास की एक न चली। अबकी बार वह कोई विरोध नहीं कर सका।

जमीन को बचाने के इस संघर्ष में किसी ने सूरदास का साथ नहीं दिया। अलबत्ता मि. जॉनसेवक के समर्थन में राजा महेन्द्र कुमार, कुंवर भरत सिंह, मि. गांगुली और अन्ततः अंग्रेज सरकार सभी आ गये। यहाँ तक कि इस मुद्दे पर कोई आंदोलन भी नहीं हुआ। स्वयं प्रेमचंद ने भी बहुत आये गये ढंग से इस तथ्य का उल्लेख किया।

'रंगभूमि' का आधा भाग सूरदास बनाम जॉनसेवक का है। यहाँ देश की गरीब जनता बनाम पूंजीपति वर्ग का द्वन्द्व है। इस क्रम में लेखक ने पांडेपुर की बस्ती में जनता के जीवन का यथार्थवादी वर्णन किया है। इस द्वन्द्व में सरकार तटस्थ दिखायी देती है। वह शक्ति-संतुलन में समर्थ है। वह किसी भी पक्ष की तरफ झुक सकती है। वह सूरदास का भी समर्थन कर सकती है और जॉनसेवक का भी पक्ष ले सकती है। वह जिसका पक्ष लेगी, वही जीतेगा, इसका अहसास भी होता है। आपने देखा ही है कि क्लार्क ने एक सहानुभूति देकर सूरदास को विजयी बना दिया है।

12.4 अंग्रेजी राज की भूमिका

प्रेमचंद ने अद्‌भुत कलात्मक मोड़ में सरकार को अंततः पूँजीपति वर्ग के पक्ष में खड़ा दिखाया है, और अब यह संघर्ष सूरदास बनाम जॉनसेवक का नहीं है, न गरीब जनता बनाम पूँजीपति वर्ग का संघर्ष है। हालांकि इसका आरंभ व्यक्तिगत कारण से हुआ। जमीन सूरदास की है जिसे जॉनसेवक कारखाना बनाने के लिए खरीदना चाहता है। विवाद इन दोनों के बीच है। जॉनसेवक जब इसे वर्गीय प्रश्न बना देता है, तब सरकार तटस्थ नहीं रह पाती और तब सरकार दखल देती है। जब सरकार दखल देने लगती है तो जॉनसेवक पीछे हट जाता है और सूरदास को अब राजा महेन्द्र कुमार और अंग्रेजी राज से, अंग्रेजी पुलिस और फौज से लड़ना है। इस आड़ में जॉनसेवक सुरक्षित है। इस तरह पांडेपुर की लड़ाई अंग्रेजी राज के विरुद्ध स्वाधीनता आंदोलन का अंग बन जाती है। विनय की सेवा समिति और अन्य लोग सूरदास के पक्ष में खड़े हो जाते हैं। और तब से यह उपन्यास आर्थिक क्षेत्र से निकलकर राजनीतिक अर्थग्रहण करने लगता है। उपन्यास में कथा का यह विकास अत्यंत महत्वपूर्ण है।

इससे पूर्व कथा में कई रोचक मोड़ आते हैं। शेष प्रकरणों से तो हमारा कोई मतलब नहीं, परन्तु मि. जॉनसेवक के कारखाने की घटनाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। प्रेमचंद ने उन आशंकाओं को फलित होते हुए दिखाया है, जो सूरदास ने जमीन नहीं देने के विवाद के बीच हुई चर्चाओं में व्यक्त की थी। मिल बनकर तैयार हो रही है। अनेक मजदूर आकर बस्ती में किराएदार के रूप में रहने लगे। लेखक ने वर्णन किया "मिल के परदेसी मजदूर, जिन्हें न बिरादरी का भय था न सम्बन्धियों का लिहाज़, दिन-भर तो मिल का काम करते, रात को ताड़ी-शराब पीते। जुआ नित्य होता था। ऐसे स्थानों पर कुलटाएँ भी आ पहुँचती हैं। यहाँ भी एक छोटा-मोटा चकला आबाद हो गया था।" ऐसे में यहाँ के किशोरों का बिगड़ना स्वाभाविक है। एक दिन रात को बजरंगी का बेटा घीसू और जगधर का बेटा विद्याधर सूरदास की झोंपड़ी में घुस गए। एक लड़के को सुभागी ने पकड़ा और दूसरे को सूरदास ने। इस चारित्रिक पतन का कारण यह मिल है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी तरह एक दिन एक घसियारिन घर जा रही थी, मिल के मजदूर उस पर अश्लील गाने गा कर फब्तियाँ कसने लगे। सूरदास ने मना किया तो उसे धक्का देकर गिरा दिया। इस तरह की घटनाएँ और समस्याएँ जब मि. जॉनसेवक के पास पहुँची तो मि. जॉनसेवक ने निश्चय किया कि "पांडेपुर की बस्ती खाली करा ली जाये"

अन्ततः जिस कानून से सूरदास की जमीन ली गयी, उसी कानून से पांडेपुर की बस्ती खाली करने का आदेश भी ले लिया गया और अब यह सरकार का काम है कि बस्ती को खाली करवाया जाए। मि. जॉनसेवक इसमें क्या कर सकते हैं। राज महेन्द्र कुमार ने बस्ती के निवासियों को समझाया -

"सरकार को एक खास सरकारी काम के लिए इस मुहल्ले की जरूरत है। उसने फैसला किया है कि तुम लोगों को उचित दाम देकर यह जमीन ले ली जाए, लाट साहब का हुक्म आ गया है। तख़मीने के अफसर साहब इसी काम के लिए तैनात किये गये हैं। कल से उनका इजलास यहीं हुआ करेगा।.....आज से तीन महीने के अन्दर तुम्हें अपने-अपने मकान खाली कर देने पड़ेंगे। मुआवजा पीछे मिलता रहेगा। जो आदमी इतने दिनों के अन्दर मकान न खाली करेगा, उसके मुआवजे के रूपये जब्त कर लिये जायेंगे, और वह जर्बदस्ती घर से निकाल दिया जाएगा। अगर कोई रोक-टोक करेगा, तो पुलिस उसका चालान करेगी, उसको सजा हो जायेगी.....मैं सिर्फ सरकारी हुक्म की तामील कर रहा हूँ।" उसके बाद प्रेमचंद ने सरकारी आतंक और अत्याचार का खुलकर वर्णन किया है, जिसका विश्लेषण हम अगली इकाई में करेंगे। देखते-देखते यह आदेश कार्यरूप में परिणत हो गया। जर्बदस्ती पांडेपुर की बस्ती खाली करा ली गयी। यहाँ फिर सूरदास की झोंपड़ी

एक समस्या बनकर सामने आई। उसकी झोंपड़ी का मुआवजा एक रूपया तय हुआ। सूरदास ने झोंपड़ी खाली करने और मुआवजे की रकम लेने से इन्कार कर दिया। शहर के लोगों ने सूरदास का समर्थन किया। पुलिस आयी- गोली बारी हुई। जिलाधीश का तबादला हुआ और मि. क्लार्क पुनः यहाँ आ गये। उन्होंने सूरदास को गोली मार दी। इस विरोध और संघर्ष के बीच सूरदास की प्रतिमा के लिए चन्दा इकट्ठा किया जाने लगा। 'मि. जॉनसेवक ने स्वेच्छा से एक हजार रुपये दिये।' सूरदास की मूर्ति स्थापित कर दी गयी, जिसके नीचे दबकर राजा महेन्द्र मारे गये 'अब मि. जॉनसेवक का कारोबार दिन-दिन बढ़ता जाता है। लाभ भी दिन-दिन बढ़ता जाता है, इसमें सन्देह है।' और यह सन्देह बहुत महत्वपूर्ण है। हालांकि 'वह अपने पटने में एक तंबाकू की मिल खोलने का आयोजन कर रहे हैं, क्योंकि बिहार-प्रांत में तंबाकू कसरत से पैदा होता है।''

प्रेमचंद इस उपन्यास में यह नहीं मानते कि अंग्रेजी राज के समाप्त होते ही औद्योगिकीकरण की समस्या स्वतः समाप्त हो जायेगी। वे मानते हैं कि अंग्रेजों को तो यहाँ से जाना ही है। राजा-महाराजाओं की हस्ती भी मिट जाने वाली है, परन्तु औद्योगिकीकरण की समस्या, शहरीकरण और कच्ची बस्तियों के सवाल आगे भी बने रहेंगे। इनको अलग से निपटाना होगा। जॉनसेवक अंग्रेजों की कठपुतली नहीं है। वह उनका सहयोग लेता है, अपने हित में उनका उपयोग करता है तब भी उनको ठेंगे पर रखता है। वह चतारी का राजा नहीं है। वह स्वतंत्र पात्र है, जो अंग्रेजों के जाने के बाद भी बचा रहेगा। इस उपन्यास में हमें स्थान-स्थान पर यह संकेत मिलते हैं।

12.5 सारांश

इस इकाई में किये गये विश्लेषण के आधार पर निम्नलिखित बिन्दु हमारे समक्ष स्पष्ट हुए हैं :

- 'रंगभूमि' एक राजनीतिक उपन्यास है, जिसमें औद्योगिकीकरण बनाम ग्राम समाज का मुद्दा मुख्य है।
- बनारस के पास पांडेपुर में अंधे भिखारी सूरदास की जमीन है। उद्योगपति मि. जॉनसेवक इस जमीन को खरीदना चाहते हैं। सूरदास इसे बेचना नहीं चाहता। विवाद का मुख्य मुद्दा यही है।
- सूरदास अपनी जमीन इसलिए नहीं बेचना चाहता क्योंकि यह बाप दादों की निशानी है। स्वयं की कमायी हुई नहीं है। अतः बेचने का उसे अधिकार नहीं है।
- उस जमीन पर मुहल्ले की गायें चरती हैं, जिससे पुण्य होता है।
- कारखाना खुलने से किसान मजदूर बन जायेंगे तथा शहर की बुराइयाँ - शराब खोरी, वेश्यावृत्ति, गुंडागर्दी आदि हमारे मुहल्ले में आ जायेंगी।
- जॉनसेवक कारखाने के पक्ष में तर्क देते हैं:-

  इससे देश और समाज की उन्नति होगी। बेरोजगारों को रोजगार मिलेगा।

  सिगरेट के आयात पर खर्च होने वाली राशि अपने देश में ही रहेगी।

  सरकार और म्युनिसिपैलिटी की आय में भी वृद्धि होगी।

  इस तरह कारखाना सभी वर्गों और लोगों के लिए फायदेमन्द है। अनेक तर्क देकर जॉनसेवक सभी को अपने पक्ष में कर लेते हैं।

- प्रेमचंद मानते हैं कि विरोध समर्थन के बावजूद देश में औद्योगिकीकरण को रोका नहीं जा सकता।
- सूरदास और जॉनसेवक के संघर्ष में कुछ देर तटस्थ रहते हुए अंततः अंग्रेज सरकार उद्योगपति मि. जॉनसेवक के पक्ष में खड़ी हो जाती है।
- तब यह संघर्ष सरकार बनाम आम जनता का रूप धारण करके स्वाधीनता आन्दोलन में घुल मिल जाता है।

12.6 अभ्यास प्रश्न

1. उपन्यास की मुख्य विषय-वस्तु से संबंधित घटनाओं को संक्षेप में लिखिए।
2. प्रेमचंद औद्योगिकीकरण का क्यों विरोध करते हुए दिखायी देते हैं? आप उनसे कहाँ तक सहमत हैं?
3. मि. जॉनसेवक के व्यक्तित्व का विश्लेषण कीजिए।
4. अंग्रेजी राज की औद्योगिक नीति इस उपन्यास में कहाँ तक अभिव्यक्त हुई है?
5. व्यापार और धर्म के सम्बन्धों के बारे में अलग-अलग पात्रों के विचार स्पष्ट कीजिए।

इकाई 13 'रंगभूमि' पर स्वाधीनता आंदोलन और गांधीवाद का प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 स्वाधीनता आंदोलन का स्वरूप एवं पृष्ठभूमि

13.2.1 गांधीजी और असहयोग आंदोलन

13.3 'रंगभूमि' में अंग्रेज

13.4 अंग्रेजों के समर्थकों की स्थिति

13.5 'रंगभूमि' में स्वाधीनता आंदोलन

13.5.1 डॉ. गांगुली और कौंसिल

13.5.2 वीरपाल सिंह और सशस्त्र संघर्ष

13.5.3 रानी जाह्नवी और धार्मिक दृष्टिकोण

13.5.4 विनय और सेवा समिति

13.6 सूरदास और असहयोग

13.7 सारांश

13.8 अभ्यास प्रश्न

13.0 उद्देश्य

'रंगभूमि' उपन्यास की रचना असहयोग आंदोलन के तुरंत बाद हुई। 12 फरवरी, 1922 को गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन रोक दिया था। उसके कुछ दिनों बाद 1 अक्टूबर 1922 ई. से प्रेमचंद ने इस उपन्यास का लेखन शुरू किया। इसलिए कई आलोचकों का मत है कि 'रंगभूमि' पर इस आंदोलन का जबर्दस्त प्रभाव है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- अंग्रेजी राज और उसकी कार्यप्रणाली की चर्चा कर सकेंगे;
- अंग्रेजी राज के सहयोगी वर्गों और लोगों के चरित्र को समझा सकेंगे;
- स्वाधीनता आन्दोलन के विभिन्न रूपों की पहचान कर सकेंगे, जिनमें वैधानिक आन्दोलन, सशस्त्र संघर्ष, समाज-सुधार, असहयोग आदि शामिल हैं;
- उपन्यास से प्रेमचंद के परिवर्तित दृष्टिकोण की चर्चा कर सकेंगे; और
- असहयोग आन्दोलन और गांधीजी के प्रभाव को भी समझ सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

दिसम्बर, 1920 में नागपुर में सम्पन्न कांग्रेस अधिवेशन में असहयोग आन्दोलन स्वीकृत हुआ, जिसका नेतृत्व महात्मा गांधी ने किया। इसी आंदोलन के बाद प्रेमचंद पर गांधीजी का प्रभाव पड़ा। प्रेमचंद पर ही नहीं, सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य पर असहयोग के बाद ही उनका प्रभाव पड़ा था क्योंकि राष्ट्र के नेता के रूप में गांधीजी को इसी आन्दोलन में पहली बार

देखा था। इसलिए जो लोग 'प्रेमाश्रम' पर गांधीवाद का प्रभाव देखते हैं, वे ऐतिहासिक रूप से गलती करते हैं। उनके प्रभाव में 'रंगभूमि' उपन्यास की रचना हुई।

प्रेमचंद बहुत सजग राजनीतिक दृष्टि सम्पन्न लेखक थे। उन्होंने भारत में अंग्रेजी राज के प्रभावों पर गंभीर मनन किया था, तथा इसी कारण वे स्वाधीनता आन्दोलन के सक्रिय समर्थक थे। उनकी इस भावधारा की अभिव्यक्ति उनके संपूर्ण लेखन में मिलती है।

13.2 स्वाधीनता आंदोलन का स्वरूप एवं पृष्ठभूमि

वैसे तो स्वाधीनता-आन्दोलन का आरंभ अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ ही हो गया था, तब भी 1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना के साथ ही इसकी विधिवत शुरुआत मानी जा सकती है। कांग्रेस के आरंभिक नेता अंग्रेजों की प्रजापालकता और न्यायप्रियता के हामी थे। पट्टाभिसीतारामय्या ने कांग्रेस के आरंभिक नेताओं के वक्तव्यों का सार प्रस्तुत करते हुए लिखा है - "अंग्रेज लोग बड़े न्यायी हैं और अगर उन्हें ठीक तौर पर वाकिफ रखा जाए तो वे सत्य और हक के पक्ष से जुदा न होंगे, हमारे सामने असली मसला अंग्रेजों का नहीं बल्कि अध गोरों का है, बुराई पद्धति में है; न कि व्यक्ति में, कांग्रेस बड़ी राजभक्त है; ब्रिटिश ताज से नहीं बल्कि हिन्दुस्तानी नौकरशाही से उसका झगड़ा है, ब्रिटिश विधान ऐसा है जो लोगों की स्वाधीनता का सब जगह रक्षण करता है और ब्रिटिश पार्लियामेंट प्रज़ातंत्र पद्धति की माता है; ब्रिटिश विधान संसार के सब विधानों से अच्छा है; कांग्रेस राजद्रोह करने वाली संस्था नहीं है; भारतीय राजनीतिज्ञ सरकार का भाव लोगों तक और लोगों का सरकार तक पहुँचाने का स्वाभाविक साधन है, हिन्दुस्तानियों को सरकारी नौकरियाँ अधिकाधिक दी जानी चाहिए, ऊँचे पदों के योग्य बनाने के लिए उन्हें शिक्षा दी जानी चाहिए।" इन माँगों के साथ कांग्रेस प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करने का काम करती है।

1905 ई. में बंगाल के विभाजन के बाद कांग्रेस ने स्वदेशी आन्दोलन चलाया। बंग-भंग विरोधी यह आन्दोलन 1911 ई. तक चलता रहा। तब तक कलकत्ता ही ब्रिटिश भारत की राजधानी था, इसलिए आन्दोलन का केन्द्र भी बंगाल ही था। 1912 ई. में दिल्ली ब्रिटिश भारत की राजधानी बनी। इससे राजनीतिक आन्दोलन हिन्दी भाषी प्रान्तों में भी फैले।

इसके बाद प्रथम विश्वयुद्ध (1914-1918 ई.) हुआ। इसी दौरान रूस में (1917 ई.) क्रांति हुई। जलियाँ वाला कांड 1919 ई. में घटित हुआ। कांग्रेस में गरम दल नरम दल का विभाजन हुआ, फिर एकीकरण हुआ। तरह-तरह के राजनीतिक संघर्ष के विकल्पों के बीच महात्मा गांधी का भारतीय राजनीति में प्रवेश हुआ। चम्पारन और खेड़ा के किसान - आन्दोलनों का सफल नेतृत्व करके गांधीजी धीरे-धीरे राष्ट्रीय कांग्रेस के सर्वे सर्वा बन गये।

13.2.1 गांधीजी और असहयोग आंदोलन

असहयोग आंदोलन पूर्णत: गांधीजी के नेतृत्व में लड़ा गया। इस आन्दोलन में सरकार के विरोध स्वरूप कुछ नहीं कहा गया। केवल सरकार का सहयोग नहीं करने की बात कही गई। गांधी जी ने इसकी रूपरेखा प्रस्तुत की। 1921-22 ई. में यह आन्दोलन सारे भारत में फैल गया - विशेष रूप से हिन्दी भाषी प्रान्त इसके केन्द्र बने। इसके प्रभाव से छात्रों ने स्कूल छोड़ दिए। सरकारी कर्मचारियों ने नौकरी छोड़ दी, वकीलों ने वकालत छोड़ दी। हालांकि सभी लोगों ने यह नहीं किया, तथापि सरकार के साथ सम्बद्ध होने से जो गौरव मिलता था, वह समाप्त हो गया। यहाँ तक कि सरकार के साथ होना अपमान का प्रतीक बन गया।

इसके अलावा असहयोग आन्दोलन ने पहली बार स्पष्ट किया कि देश की मुक्ति के बिना देश का सुधार नहीं हो सकता। हम अंग्रेजों के अधीन रहकर देश का उद्धार नहीं कर

सकते। इसलिए स्वाधीनता आन्दोलन का लक्ष्य है भारत की अंग्रेजों से मुक्ति। हालांकि चौरा-चौरी की घटना (1922 ई.) के बाद गांधीजी ने यह आन्दोलन स्थगित कर दिया, परन्तु इससे देश में जबर्दस्त आशावाद का उदय हुआ तथा अंग्रेजी राज अपने नग्नतम रूप में बुद्धिजीवियों और जनता के सामने आया। प्रेमचंद ने रंगभूमि की रचना असहयोग आन्दोलन के स्थगन के बाद की थी। तब भी इस उपन्यास में हमें उस आन्दोलन की महक मिलती है।

गांधीजी ने कहा कि सरकार का राज्य हमारे 'सहयोग' पर निर्भर है। अत: किसी भी सरकारी संस्था से सहयोग बन्द कर दो तो बारह महीने के अन्दर ही स्वराज्य मिल जाएगा। सरकारी नौकरियाँ, कचहरी और स्कूल-कॉलेजों का बहिष्कार इस कार्यक्रम का मुख्य अंग था। गांधीजी के इस आन्दोलन के प्रभाव से प्रेमचंद ने 16 फरवरी, 1921 को सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने असहयोग और गांधीजी के प्रभाव पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "गांधीजी ताजी हवा के उस प्रबल प्रवाह की तरह थे, जिसने हमारे लिए पूरी तरह फैलना और गहरी सांस लेना संभव बनाया। वह रोशनी की उस किरण की तरह थे, जो अंधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आंखों के सामने से परदे को हटा दिया। वह उस बवंडर की तरह से थे, जिसने बहुत सी चीजों को, खासतौर से मजदूरों के दिमाग को उलट-पुलट दिया। गांधीजी ऊपर से आए हुए नहीं थे, बल्कि हिन्दुस्ताान के करोड़ों आदमियों की आबादी में से ही उपजे थे। उनकी भाषा वही थी, जो आम लोगों की थी और वह बराबर उस जनता की ओर और उसकी डरावनी हालत की ओर ध्यान आकर्षित करते थे।.....लेकिन ब्रिटिश राज्य के अन्दर हिन्दुस्तान में जो सबसे अहम लहर थी,- उसमें डर-कुचलने वाला, दम घोंटने वाला, मिटा देने वाला-डर था - फौज का, पुलिस का, चारों तरफ फैले हुए खुफिया विभाग का डर था; अफसरों की जमात का डर था; कुचलने वाले कानूनों और जेल का डर था; जमींदारों के कारिंदे का डर था; साहूकार का डर था; बेकारी और भूखे मरने का डर था, जो हमेशा ही नजदीक बने रहते थे। चारों तरफ समाये हुए इस डर के ही खिलाफ गांधी की शांत, किंतु दृढ़ आवाज उठी - 'डरो मत।'क्या यह ऐसी आसान बात थी? नहीं फिर भी डर के अपने कल्पना चित्र होते हैं और वे असलियत से भी ज्यादा डरावने रहते हैं और अगर ठंडे दिमाग से असलियत का विश्लेषण किया जाए और उसके नतीजों को खुशी से भुगतने को तैयार रहा जाए, तो उसका बहुत-सा आतंक अपने-आप खत्म हो जाता है।'' 'रंगभूमि' को पढ़ते समय हम प्रेमचंद की इस निडरता को कई स्थानों पर देखते हैं। सूरदास का चरित्र न डरने की साक्षात् प्रतिमा है। इस उपन्यास में प्रेमचंद ने अंग्रेजी राज की प्रकृति, उनके शोषण के बर्बर तरीके, उनके राजनीतिक आंतक का स्थान-स्थान पर वर्णन किया है।

13.3 "रंगभूमि" में अंग्रेज

प्रेमचंद ने पहली बार एक अंग्रेज जिलाधीश मि. क्लार्क को पात्र के रूप में प्रस्तुत किया। इसके माध्यम से उन्होंने अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति को अपने पाठकों के सामने रखा। संपूर्ण उपन्यास में प्रेमचंद ने अंग्रेजी राज का विरोध किया। उन्होंने उन अंग्रेजों के सहयोगी लोगों और वर्गों का भी विरोध किया, जो लोग भ्रमवश अंग्रेजी न्यायप्रियता का समर्थन करते रहे हैं, उपन्यास में उनका मोहभंग दिखाया गया है। सूरदास अनपढ़ गंवार है। बड़ी-बड़ी बातें नहीं जानता, फिर भी वह अंग्रेजों की तुलना में पुराने भारतीय राजाओं और सामन्तों की तारीफ करता है - "इसलिए तो मानते हैं कि हमारे राजे-महाराजों का राज होता, तो हमारा दुख-दर्द सुनते।'' मि. क्लार्क एक बार कहते हैं - "अंगरेज-जाति भारत को अनंत काल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाये रखना चाहती है। कंजरवेटिव हो या लिबरल, रेडिकल हो या लेबर, नेशनलिस्ट हो या सोशलिस्ट, इस विषय में सभी एक ही आदर्श का पालन करते हैं।'' प्रेमचंद का यह निष्कर्ष सूत्र रूप में सारे उपन्यास में छाया रहता है।

पात्र की दृष्टि से 'रंगभूमि' में मि. क्लार्क गौण पात्रों की या सहायक पात्रों की श्रेणी में आता है। लेकिन साम्राज्यवाद के प्रतिनिधि के रूप में यह अत्यंत महत्वपूर्ण पात्र है। इस पात्र के माध्यम से प्रेमचंद अंग्रेजों की कार्य प्रणाली और रीति नीति को समझने-समझाने का अवसर पा जाते हैं।

सूरदास की जमीन के झगड़े में मि. क्लार्क का रुख देखकर ही म्युनिसिपल कमेटी में प्रस्ताव पास करके जमीन का अधिग्रहण करके मि. जॉनसेवक को दे दी गयी। मि. क्लार्क के दिमाग में विचार आया तो उन्होंने वह जमीन वापिस सूरदास को दिला दी। डिप्टी साहब ने जब ऐतराज किया तो मि. क्लार्क बोले - "हमीं सरकार हैं, हमने वह कानून बनाया है, हमको सब अख्तियार है.....जिले के मालिक हम हैं, सूबे की सरकारें नहीं। यहाँ बलवा हो जायेगा तो हमको उसका इंतजाम करना पड़ेगा। सूबे की सरकार यहाँ न आएगी।'' इस प्रकरण में छोटे बड़े कर्मचारी दिल में सोचते हैं -"अंग्रेज हैं, कहीं गुस्से में मार बैठे, तो उसका क्या ठिकाना। जिले का बादशाह है, जो चाहे करे।''

प्रेमचंद मानते हैं और स्वयं मि. क्लार्क कहते हैं कि अंग्रेज अधिकारियों के व्यक्तित्व से शासन प्रणाली में कोई फर्क नहीं पड़ता। "हम यहाँ शासन करने के लिए आते हैं, अपने मनोभावों और व्यक्तिगत विचारों का पालन करने के लिए नहीं। जहाज से उतरते ही हम अपने व्यक्तित्व को मिटा देते हैं। हमारा न्याय, हमारी सहृदयता, हमारी सदिच्छा, सबका एक ही अभीष्ट है। हमारा प्रथम और अंतिम उद्देश्य शासन करना है।'' और शासन करने के लिए अंग्रेज क्या करते हैं? मि. क्लार्क इस पर भी टिप्पणी करते हैं - "हमारा साम्राज्य तभी तक अजेय रह सकता है, जब तक प्रजा पर हमारा आतंक छाया रहे, जब तक वह हमें अपना हितचिंतक, अपना रक्षक, अपना आश्रय समझती रहे, जब तक हमारे न्याय पर उसका अटल विश्वास हो। जिस दिन प्रजा के दिल से हमारे प्रति विश्वास उठ जाएगा। उसी दिन हमारे साम्राज्य का अंत हो जाएगा। अगर साम्राज्य को रखना ही हमारे जीवन का उद्देश्य है, तो व्यक्तिगत भावों और विचारों का यहां कोई महत्व नहीं। साम्राज्य के लिए हम बड़े-से-बड़े नुकसान उठा सकते हैं, बड़ी-से बड़ी तपस्याएँ कर सकते हैं। हमें अपना राज्य प्राणों से भी प्रिय है, और जिस व्यक्ति से हमें क्षति होने की लेशमात्र भी शंका हो, उसे हम कुचल डालना चाहते हैं। उसके साथ किसी भांति की रिआयत, सहानुभूति यहां तक कि न्याय का व्यवहार, भी नहीं कर सकते।'' प्रेमचंद 'रंगभूमि' के माध्यम से पाठकों के मन में निहित अंग्रेजी राज की प्रशंसा, समर्थन या सद्भाव - सभी को समाप्त करना चाहते हैं। इसलिए उन्होंने साम्राज्यवादी रीति-नीति का इतना सटीक, तथ्यात्मक एवं विश्वसनीय विश्लेषण किया है। जो लोग मानते हैं कि अंग्रेजों के कारण हमारे देश की वैज्ञानिक उन्नति हुई। उनसे प्रेमचंद सहमत नहीं। 'रेल, तार, जहाज, डाक' आदि विभूतियाँ अंग्रेजों के बिना भी आ सकती थीं। प्रेमचंद यहां तक अंग्रेजों का विरोध करते हैं कि उनसे संपर्क रखना भी अपने लिए अपमान समझते हैं - "हिंदू हों या मुसलमान, जिन्हें कुछ भी अपने जातीय गौरव का ख्याल है, अंग्रेजों के साथ मिलना-जुलना अपने लिए सम्मान की बात नहीं समझते। यहां तक कि हिन्दुओं में जो लोग अंग्रेजों से खान-पान रखते हैं, लोग उन्हें अपमान की दृष्टि से देखते हैं.....।''

यह तो हुई ब्रिटिश भारत की बात। देशी रियासतों पर भी अंगरेजी राज का आतंक कम नहीं है। देशी रियासतों में एक पोलिटिकल एजेंट रहता है। प्रेमचंद ने उसके अधिकारों का विस्तृत विवरण दिया है।

'रंगभूमि' में विनय उदयपुर चला जाता है, कुछ दिनों बाद मि. क्लार्क वहाँ पोलिटिकल एजेंट बनकर आता है। मि. क्लार्क स्वयं इस रहस्य का पर्दाफाश करते हुए कहता है - "रियासत का कहना ही क्या, वह राजा के खाने-सोने, आराम करने का समय तक नियत कर सकता है। राजा किससे मिले, किससे दूर रहे, किसका आदर करे, किसकी अवहेलना

करे, यह सब बातें एजेंट के अधीन हैं। वह यहां तक निश्चित कर सकता है कि राजा की मेज पर कौन-कौन से प्याले आएँगे, राजा के लिए कैसे और कितने कपड़ों की जरूरत है,...।'' उदयपुर का राजा स्वयं अपनी असहाय स्थिति का वर्णन करता है। इसलिए जो लोग रियासतों को अंग्रेजी राज से बेहतर समझते हैं, वे गलती करते हैं। उनकी हालत ब्रिटिश भारत से भी खराब है। इसी तरह जो लोग अंग्रेज जिलाधीश के स्थान पर देशी जिलाधीश को अच्छा समझते हैं, वे भी गलती करते हैं :- 'मि. क्लार्क के बाद मि. सेनापति जिलाधीश हो गये थे। सरकार का धन खर्च करते काँपते थे। पैसे की जगह धेले से काम निकालते थे। डरते रहते थे कि कहीं बदनाम न हो जाउँ, उनमें वह आत्मविश्वास न था, जो अंग्रेज अफसरों को होता है। अंगरेजों पर पक्षपात का संदेह नहीं किया जा सकता, वे निर्भीक और स्वाधीन होते हैं।'' सभी साम्राज्य के अस्त्र हैं और सब उसी की रक्षा में लगे रहते हैं और इसलिए सभी देश के दुश्मन हैं। यहाँ तक कि वे जनता को अधिक कष्ट देते हैं। अत: प्रेमचंद ऐसे छलावों का खण्डन करना आवश्यक समझते हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन करने में यही मि. क्लार्क प्रमुख भूमिका निभाता है। जॉन सेवक बनाम सूरदास के जमीन विवाद में एक बार वह सूरदास का पक्ष लेता है, जिसके कारण उसका तबादला कर दिया जाता है। वही विवाद कुछ दिनों बाद नया रूप ग्रहण करता है। मि. जॉन सेवक पाण्डेपुर की पूरी बस्ती को खाली करवाना चाहते हैं। विवाद होता है। असहयोग होता है। सूरदास अपने झोंपड़े को बचाने का संघर्ष करता है। उसी आन्दोलन को कुचलने के लिए मि. क्लार्क को वापिस बुलाया जाता है। और पुलिस तथा सेना के आतंक से आंदोलन कुचल दिया जाता है। यहाँ तक कि वह अपने हाथों से सूरदास को गोली मार देता है। उपन्यास की घटनाओं की यह परिणति अंग्रेज-विरोधी लेखकीय दृष्टि से आयी है।

13.4 अंग्रेजों के समर्थकों की स्थिति

रंगभूमि' में प्रेमचंद उन सभी पात्रों और वर्गों की आलोचना करते हैं, जो जाने-अनजाने अंग्रेजी राज का समर्थन करते हैं। अब अंग्रेजों का समर्थक रहकर जनता सेवा नहीं की जा सकती। यदि आपके मन में जन सेवा का भाव है, तो अंग्रेज विरोधी राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेकर ही उसकी अभिव्यक्ति की जा सकती है। अंग्रेजी राज के समर्थक बनकर आपको उपहास, निन्दा और बदनामी ही मिल सकती है।

इस उपन्यास से पूर्व 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचंद मानते थे कि किसान का सबसे बड़ा, शक्तिशाली एवं निर्दय शत्रु जमींदार है। 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर इस समझ से सर्जित पात्र है। इसकी चर्चा हम खंड तीन की इकाई-11 में कर चुके हैं। असहयोग आन्दोलन के बाद प्रेमचंद की इस समझ में परिवर्तन होता है। वे मानते हैं कि असली दुश्मन अंग्रेज हैं और वही शक्तिशाली भी हैं। जमींदार तो पतनशील वर्ग है, इस वर्ग की हस्ती तो मिट जाने वाली है। इसकी तथाकथित ताकत अंग्रेजी राज से आयी है। यह इस वर्ग की स्वतंत्र शक्ति नहीं है। वह इसका उपयोग जनता का दमन करने के लिए तो कर सकता है, परन्तु अंग्रेजी राज का विरोध नहीं कर सकता। अंग्रेजों के सामने इनके समर्थन या विरोध का कोई मूल्य नहीं है। उदयपुर के राजा हों या म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन राजा महेन्द्र कुमार सिंह, सभी अंग्रेजों के सामने भीगी बिल्ली बने हुए रहते हैं।

चतारी के राजा तो म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन हैं। उन्हीं के आदेश से पाण्डेपुर की बस्ती खाली करवायी जा रही है। वे चाहते हैं कि बस्ती के निवासियों को मुआवजे की राशि बस्ती खाली करने से पहले मिल जाए। वे बहुत कोशिश करते हैं, अधिकारियों के सामने गिड़गिड़ाते हैं। परन्तु कुछ नहीं होता। अंत में, थक-हार कर वे अपने रूपये निकाल कर बस्ती में वितरित करते हैं। पांडेपुर के निवासियों पर गोली न चलायी जाए,

इसके लिए वे मि. ब्राउन की बहुत चिरौरी करते हैं; परन्तु मि. ब्राउन उनकी एक नहीं सुनता। उनकी हैसियत की स्थिति यह है कि एक बार वे सेवा-समिति के सदस्यों को विदा करने स्टेशन पहुँच जाते हैं, तो अंग्रेजों की त्यौरियाँ बदल जाती हैं और उन्हें कमिश्नर के घर जाकर सफाई देनी पड़ती है।

राजा महेन्द्र कुमार सम्मान लोलुप मनुष्य थे। अंग्रेजों के साथ रहने के कारण उन्हें उपन्यास में कदम-कदम पर अपमानित होना पड़ा। उपन्यास के घटना-क्रम के विकास में वे बहुत महत्वपूर्ण पात्र हैं। सूरदास की जमीन मि. जॉन सेवक को इन्होंने ही दिलवायी, पाण्डेपुर की बस्ती खाली करवाने का आदेश इन्होंने दिया, सूरदास और सुभागी से इन्होंने जुर्माना लिया। जनता पर अन्याय करने में ये बड़े समर्थ दिखायी देते हैं। इनके चरित्र प टिप्पणी करते हुए एक बार मि. क्लार्क कहते हैं -'थुह, उनमें इतना नैतिक साहस नहीं है वह जो कुछ करते हैं, हमारा रुख देखकर करते हैं। इस वजह से उन्हें कभी असफलता नहीं होती। हाँ, उनमें यह विशेष गुण है कि वह हमारे प्रस्तावों का रूपांतर करके अपना काम बना लेते हैं और उन्हें जनता के सामने ऐसी चतुरता से उपस्थित करते हैं कि लोगों की दृष्टि में उनका सम्मान बढ़ जाता है। हिन्दुस्तानी रईसों और राजनीतिज्ञों में आत्मविश्वास का बड़ा अभाव होता है। वे हमारी सहायता से वह कर सकते हैं; जो हम नहीं कर सकते; पर हमारी सहायता के बिना कुछ भी नहीं कर सकते।' इसी प्रकरण में सोफिया सोचती है - 'इसे अपनी रियासत का घमण्ड है, मैं दिखा दूँगी कि यह सूर्य का स्वयं प्रकाश नहीं, चांद की पराधीन ज्योति है। इसे मालूम हो जाएगा कि राजा और रईस सब-के-सब शासनाधिकारियों के हाथों के खिलौने हैं, जिन्हें वे अपनी इच्छा के अनुसार बनते-बिगाड़ते रहते हैं।

इसी तरह एक रियासत के स्वामी कुँवर भरत सिंह हैं। प्रेमचंद ने इनका वर्णन बहुत सहानुभूति से किया है। ये राजा महेन्द्र कुमार की तरह अंग्रेजों के समर्थक नहीं है। परन्तु अपनी रियासत के कारण वे कभी भी अंग्रेजों का खुलकर विरोध नहीं करते। शांति के दिनों में वे अंग्रेजों से दूर रहते हैं, दुख-दर्द में जनता की सहायता करते हैं, परन्तु स्वाधीनता आन्दोलन की निर्णायक लड़ाई के क्षण में वे स्वाधीनता आन्दोलन का साथ छोड़ देते हैं। उनकी मानसिकता पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने लिखा - "वह संतान के लिए संपत्ति न चाहते थे, संपत्ति के लिए संतान चाहते थे। जायदाद के सामने संतान का स्थान गौण था। उन्हें अधिकारियों की खुशामद से घृणा थी, हुक्काम की हाँ में हाँ मिलाना हेय समझते थे, किन्तु हुक्काम की नजरों में गड़ना, उनके हृदय में खटकना, इस हद तक कि वे शत्रुता पर तत्पर हो जाएँ, उन्हें बेवकूफी मालूम होती थी।"

उपन्यास के अंत में वे वापिस विलासी जीवन बिताने लगते हैं। कुँवर भरत सिंह चूँकि जन विरोधी नहीं थे, इसलिए लेखक ने उनके चरित्र पर प्रतिकूल टिप्पणियाँ बहुत कम लिखी हैं। सिर्फ मि. गांगुली के माध्यम से यह निष्कर्ष दिया है - "अब आपको विदित हुआ होगा कि हम क्यों संपत्तिशाली पुरुषों पर भरोसा नहीं करता। वे तो अपनी संपत्ति का गुलाम है। वे कभी सत्य के समर में नहीं आ सकते।"

राजा महेन्द्र कुमार की स्थिति उनसे बहुत खराब थी। जैसा कि हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं कि वे सम्मान लोलुप मनुष्य थे। उनको कहीं सम्मान नहीं मिला। यहाँ तक कि अपनी पत्नी इन्दु की नज़र में भी वे गिर गये। सूरदास की मृत्यु के बाद उसकी मूर्ति स्थापित करने के लिए नगर में चन्दा इकट्ठा किया जा रहा था। सभी ने चंदा दिया। यहाँ तक कि मि. जॉन सेवक भी इस अवसर पर उदार हो गया। परन्तु राजा साहब ने इस प्रकरण का भरसक विरोध किया। मूर्ति स्थापित हो जाने के बाद उन्होंने स्वयं सूरदास की मूर्ति को तोड़ने का प्रयास किया और उसी के नीचे दबकर मर गये। यह उनके अंग्रेजी राज के समर्थक होने का दण्ड था, जो लेखक की तरफ से मिला। भले ही, उसके कार्यों की

यह स्वाभाविक परिणति हो। उदयपुर के राजा की स्थिति तो इनसे भी अधिक चिंताजनक है। इसका विश्लेषण भी हम पहले कर चुके हैं।

13.5 'रंगभूमि' में स्वाधीनता आंदोलन

रंगभूमि' उपन्यास के आरंभ में ऐसा नहीं लगता कि इसमें स्वाधीनता आन्दोलन का कहीं जिक्र होगा। उपन्यास शहरी-संस्कृति के विरोध की मानसिकता से शुरू होता है। विशेष रूप से लेखक ने धनी व्यक्तियों के व्यवहार पर कुछ प्रतिकूल टिप्पणियाँ की हैं। बीच-बीच में अंग्रेजों और ईसाइयों की मानसिकता का भी विरोध किया गया है।

वस्तुतः देखा जाए तो रंगभूमि' में दो कथाएँ मिलती हैं - एक का संबंध औद्योगिकीकरण से है और दूसरी का संबंध स्वाधीनता आन्दोलन से है। औद्योगिक विवाद का नायक सूरदास है तथा स्वाधीनता आन्दोलन का नायक विनय है। आगे चलकर दोनों कथाएँ घुलमिल जाती हैं और सूरदास उपन्यास के मुख्य नायक के रूप में उभरता है। आरंभ में लेखक शायद विनय को ही प्रमुख पात्र बनाना चाहता होगा, लेकिन उपन्यास की कथा की भूल-भुलैया में विनय अप्रासंगिक हो जाता है, यहाँ तक कि उसे आत्महत्या करनी पड़ती है। इधर सूरदास जमीन बचाने की निजी लड़ाई से शुरू होकर राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की लड़ाई का नायक बन जाता है।

प्रेमचंद ने अंग्रेजों का विरोध करने वाले अनेक पात्रों को सर्जित किया है। इनकी कार्य प्रणाली और विचार दृष्टि अलग-अलग है; परन्तु इनका उद्देश्य एक है। इसलिए इनके मतभेद के बावजूद एक दूसरे के प्रति सम्मान का भाव इनमें मिलता है। सशस्त्र संघर्ष का हिमायती वीरपाल सिंह, हिन्दू धर्म में आस्था रखने वाली रानी जाह्नवी, कौंसिल के सदस्य, डॉ. गांगुली, सेवा समिति के विनय-सोफिया और गांधी जी का समर्थक सूरदास - सभी अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप स्वाधीनता आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हैं। प्रेमचंद ने इन सभी पात्रों को बहुत सहानुभूति से उपन्यास में चित्रित किया है। सबकी अपनी समस्याएँ हैं, अपनी सीमाएँ हैं। लेखक का सबसे सहमत होना आवश्यक भी नहीं है।

13.5.1 डॉ. गांगुली और कौंसिल

डॉ. गांगुली वृद्ध और सहृदय हैं। उनका मत है कि "भारत का उद्धार अंगरेज जाति ही के द्वारा होगा।" इसलिए वे अंग्रेजों के द्वारा बनायी गई कौंसिलों में बहुत जोर-शोर से भाग लेते थे, तथा उनके भीतर न्याय की भावना जगाने का प्रयास करते थे। वे सच्चे देश भक्त हैं। इसलिए देश से जुड़े हुए मुद्दे को कौंसिल में जरूर उठाते हैं। उपन्यास में हालांकि वे बहुत थोड़ी-थोड़ी देर के लिए आते हैं, परन्तु वे अन्त तक उपन्यास में बने रहते हैं।

विनय की सेवा समिति बनाने में वे सहयोग करते हैं। रानी जाह्नवी के मन में देश प्रेम का भाव उन्होंने ही भरा। देशी उद्योगों के पक्ष में उन्होंने ही कौंसिल में प्रश्न पूछे। मि. क्लार्क के विरुद्ध शहर के रईसों की तरफ से ज्ञापन लिखवाने का कार्य उन्होंने किया। बाद में पांडेपुर की जमीन के विवाद में भी वे सक्रिय रहे। अंत में वे सूरदास के प्रशंसक और समर्थक हो जाते हैं।

उन्होंने कौंसिल में मि. क्लार्क का बहुत विरोध किया, परन्तु मि. क्लार्क का सरकार ने तिरस्कार नहीं किया। इसके विपरीत मि. गांगुली को सभा भवन से चले जाने का हुक्म दे दिया। मि. गांगुली उपन्यास के अंत होने तक इस निष्कर्ष पर पहुँचे - "आप पशुबल से मुझे चुप करना चाहते हैं, इसलिए कि आपमें धर्म और न्याय का बल नहीं है। आज मेरे दिल से यह विश्वास उठ गया। जो गत चालीस वर्षों से जमा हुआ था कि गवर्नमेंट हमारे ऊपर न्याय-बल से शासन करना चाहती है। आज उस न्याय-बल की कलई खुल गई, हमारी

आंखों से पर्दा उठ गया, और हम गवर्नमेंट को उसके नग्न, आवरणहीन रूप में देख रहे हैं। अब हमें स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि केवल हमको पीसकर तेल निकालने के लिए, हमारा अस्तित्व मिटाने के लिए, हमारी सभ्यता और हमारे मनुष्यत्व की हत्या करने के लिए, हमारे ऊपर राज्य किया जा रहा है।'' और उसके बाद डॉ. गांगुली कौंसिल से त्यागपत्र दे देते हैं और वे भी रानी जाह्नवी के साथ पंजाब के लिए रवाना हो जाते हैं। उपन्यास के अंत में पंजाब का अर्थ जलियाँवाला बाग हत्याकांड की ओर इशारा करने के लिए किया गया है, जहाँ देश सेवकों की जरूरत है।

13.5.2 वीरपाल सिंह और सशस्त्र संघर्ष

प्रेमचंद ने उदयपुर रियासत के अत्याचारों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष का भी वर्णन किया है। वीरपाल सिंह ने राज्य के अधिकारियों की हत्या एवं राजकोष को लूटने में अपने जीवन और संगठन को लगा दिया है। प्रेमचंद उसके भावों का समर्थन करते हैं। परन्तु उसकी कार्यप्रणाली का समर्थन नहीं करते। बेकसूर लोगों की हत्या से देश को आजादी नहीं मिल सकती। वह भी देशप्रेमी है, परन्तु भटका हुआ है। इस बात को चित्रित कर प्रेमचंद इस पात्र से अलग हट जाते हैं।

13.5.3 रानी जाह्नवी और धार्मिक दृष्टिकोण

रानी जाह्नवी भारत में अंग्रेजी राज को हिन्दुओं पर ईसाइयों के राज के रूप में देखती हैं। वह विनय की माता और कुँवर भरतसिंह की पत्नी हैं। डॉ. गांगुली के प्रभाव से उनमें देश-प्रेम और जाति-प्रेम का भाव जागृत होती है। वह मन, वचन और कर्म से हिन्दू धर्म की समर्थक हैं। उनका चरित्र ढुलमुल नहीं है। उनके विचार लगभग स्थिर हैं। वे अपने निश्चित मार्ग पर चलती रहती हैं।

प्रेमचंद उनके विचारों से एक सीमा तक सहानुभूति रखते हुए प्रतीत होते हैं। सोफिया के व्यक्तित्व विकास के आरंभिक दिनों में ईसाई धर्म के प्रति हल्का सा विरोध का स्वर सुनायी पड़ता है। ईसाई और हिन्दू धर्म की तुलना करते हुए सोफिया सोचती है - "मैने देखे हैं हिन्द घरानों में भिन्न-भिन्न मतों के प्राणी कितने प्रेम से रहते हैं। बाप सनातन-धर्मावलंबी है, तो बेटा आर्यसमाजी। पति ब्रह्मसमाज में हैं तो स्त्री पाषाण पूजकों में। सब अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं। कोई किसी से नहीं बोलता। हमारे यहाँ आत्मा कुचली जाती है। फिर भी यह दावा है कि हमारी शिक्षा और सभ्यता विचार-स्वातंत्र्य की पोषक है।'' इसी तरह मूर्तिपूजा के समर्थन में सोफिया कहती है - "मैं मूर्तिपूजा को सर्वथा मिथ्या समझती थी। मेरा विचार था कि ऋषियों ने केवल मूर्खों की आध्यात्मिक शांति के लिए यह व्यवस्था कर दी है; लेकिन इस ग्रंथ में मूर्तिपूजा का समर्थन ऐसी विद्वतापूर्ण युक्तियों से किया गया है कि आज से मैं मूर्तिपूजा की कायल हो गयी।'' सोफिया अध्ययन-मनन-चिन्तन के द्वारा मूर्तिपूजा की भी समर्थक बन जाती है। धीरे-धीरे उसके व्यक्तित्व और चिंतन में क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाता है। वह ईसाई धर्म का लगभग त्याग कर देती है और हिन्दू धर्म के अनुकूल जीवन जीने लगती है। विनय से प्रेम करती है, हालाँकि उससे विवाह नहीं हो पाता, परन्तु उसके मन में विनय के प्रति वैसा ही समर्पित आदर भाव है, जो भारतीय नारियों में होना चाहिए। इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर वह सेवा समिति में भाग लेती है तथा स्वाधीनता आन्दोलन में सहयोग करती है और आवश्यकता पड़ने पर सक्रिय हिस्सेदारी भी निभाती है।

उपन्यास में मि. जॉन सेवक एवं कुँवर भरतसिंह के परिवारों की धार्मिक दृष्टि से तुलना की गयी है। मिसेज सेवक कट्टर ईसाई है। रानी जाह्नवी कट्टर हिन्दू है। धार्मिक स्वतंत्रता का प्रश्न दोनों परिवारों में उठता है। सबसे पहले सोफिया के मन में यह प्रश्न उठता है। वह विद्रोह करती है और अपना घर (ईसाइयों का घर) छोड़कर कुँवर भरतसिंह के घर (हिंदुओं के घर) में आकर रह जाती है और प्रसन्न है। स्वतंत्रता का यही प्रश्न रानी जाह्नवी के घर में भी उठता है। रानी जी हिन्दू धर्म के अनुरूप अपनी बेटी इन्दु का

लालन-पालन करती है। उसे बताया जाता है कि पति ही परमेश्वर है। पति की आज्ञा का पालन करना हमारा धर्म है। पूरे उपन्यास में इन्दु प्रयास करती रहती है कि वह अपने पति राजा महेन्द्रकुमार का आदर करे। वह नहीं कर पाती। अंततः वह अपने पति का घर छोड़कर वापिस रानी जी के पास आ जाती है। इसे हिन्दू मान्यताओं की पराजय कह सकते हैं। लेकिन प्रेमचंद ने इसे राष्ट्रीय दृष्टि से देखा। जो व्यक्ति अंग्रेजों का समर्थक है, उसका आदर उसकी पत्नी भी नहीं कर सकती। भले ही उसके संस्कार कुछ भी हों। जो भी है, रानी जी का देश प्रेम प्रेमचंद की दृष्टि में वंदनीय है। वह कहती है - "मेरी कोख से भी कोई ऐसा पुत्र जन्म लेता, जो अभिमन्यु, दुर्गादास और प्रताप की भांति जाति का मस्तक ऊँचा करता। मैने व्रत किया कि पुत्र हुआ, तो उसे देश और जाति के हित के लिए समर्पित कर दूँगी।" और जब विनय हुआ, तो उसका लालन-पालन इसी आदर्श के अनुरूप किया गया। विनय जब-जब कर्तव्य पथ से विचलित होता है, तो सबसे अधिक अपनी माता का ही कोपभाजन बनता है। रानी जी विनय और सोफिया के प्रेम को स्वीकार नहीं करतीं। इसका कारण एक तो यह है कि सोफिया ईसाई है और दूसरे विनय को देश सेवा के लिए अपना जीवन-न्योछावर करना है।

उपन्यास के अंतिम घटना क्रम में विनय आत्महत्या कर लेता है। इससे कुँवर भरतसिंह टूट जाते हैं। सोफिया भी आत्महत्या की ओर अग्रसर होती है; परन्तु रानी जाह्नवी अपने रास्ते से विचलित नहीं होतीं। वह पंजाब जाने के लिए तैयार हो रही है। जलियाँवाला बाग की घटना का जिक्र किए बिना प्रेमचंद इन पात्रों को पंजाब जाने के लिए तैयार करते हैं। यह स्वाधीनता आन्दोलन का अगला कदम है।

प्रेमचंद ने धार्मिक दृष्टिकोण से 'रंगभूमि' में मि. जॉन सेवक के नौकर ताहिर अली के जीवन का विस्तृत वर्णन किया है। ताहिर अली भी मि. जॉन सेवक से प्रताड़ित होता है। संभव है प्रेमचंद ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को सुदृढ़ करने के लिए ईसाई बनाम हिन्दू-मुसलमान का द्वन्द्व सामने रखा हो। विनय के बलिदान के समय एक ओर युवक भी शहीद हो जाता है। "क्या कहा? मुसलमान है। कर्तव्य के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान का भेद नहीं, दोनों एक ही नाव पर बैठे हुए हैं, डूबेंगे तो दोनो डूबेंगे, बचेंगे तो दोनों बचेंगे।" ये विचार प्रेमचंद ने रानी जाह्नवी के माध्यम से व्यक्त किये, जो उनके चरित्र और चिंतन की दिशा के द्योतक हैं।

13.5.4 विनय और सेवा समिति

'रंगभूमि' में विनय प्रमुख पात्रों में से एक हैं। कई बार ऐसा लगता है मानो प्रेमचंद विनय को नायक बनाना चाहते हैं। विनय का जन्म जमींदार परिवार में हुआ, परन्तु उसे आधुनिक स्वतंत्रता प्रेमी वातावरण में शिक्षित किया गया। इस कारण उसके संस्कार और शिक्षा में अंतर्विरोध पैदा हो जाता है। इसी से वह कई बार अपने मान्य विचारों से विपरीत आचरण कर देता है। इससे उसे आत्मग्लानि और पश्चाताप होता है। इसी आत्मग्लानि में वह आत्महत्या कर लेता है।

कुँवर भरत सिंह और रानी जाह्नवी का इकलौता पुत्र विनय एक सेवा समिति चलाता है, जो दुर्घटना एवं मेले-त्यौहार के अवसर पर लोगों की सहायता करती है जिसमें लगभग 100 सदस्य हैं।

डॉ. गांगुली इस समिति के अध्यक्ष हैं तथा रानी जाह्नवी इसकी प्रेरणा-स्रोत हैं। स्वयंसेवकों के लिए तीन वर्षों का पाठ्यक्रम है, जिसके बाद सेवा-कार्य आरंभ होता है। विनय के इस कार्य में उसके पिता पूर्ण सहयोग करते हैं। सेवा-समिति की आमदनी का स्थायी स्रोत बनाने के लिए कुँवर भरत सिंह सिगरेट के शेयर खरीदते हैं।

आरंभ में यह समिति समाज सुधार के एवं समाज सेवा के कार्य करती है। कालांतर में वह राजनीतिक आंदोलन का संगठन बन जाती है। 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचंद

समाज सुधार तक अपने-आपको सीमित रखते हैं। 'रंगभूमि' में राष्ट्रीय आन्दोलन के भीतर समाज सुधार एवं सेवा के कार्य भी समाहित हो जाते हैं। यहाँ तक कि सच्ची समाज सेवा अंग्रेजी राज के विरोध से ही शुरू होती है। राजा महेन्द्र कुमार एक बार टिप्पणी करते हैं, - "सेवा समिति युवकों का दल है और यद्यपि इस समय उसने सेवा का आदर्श सामने रखा है और वह सेवा पथ पर ही चलने की इच्छा रखती है; पर अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि सेवा और उपकार बहुधा ऐसे रूप धारण कर लेते हैं, जिन्हें कोई शासन स्वीकार नहीं कर सकता और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसे उसका मूलोच्छेद करने के प्रयत्न करने पड़ते हैं। सेवा समिति के सदस्यों के उदयपुर जाने के अवसर पर अखबार में टिप्पणी छपती है - "अनुभव ने यह बात सिद्ध कर दी है कि सेवा समितियाँ चाहे कितनी शुभेच्छाओं से भी गर्भित हों, पर कालांतर में वे विद्रोह और अशांति का केन्द्र बन जाती हैं।" उदयपुर में विनय गाँव के लोगों को 'अपनी मदद आप करना सिखाता है। इस प्रांत के लोग अब वन्य जंतुओं को भगाने के लिए पुलिस के यहाँ नहीं दौड़े जाते, स्वयं संगठित होकर उन्हें भगाते हैं, जरा-जरा सी बात पर अदालतों के द्वार नहीं खटखटाने जाते, पंचायतों में समझौता कर लेते हैं, जहाँ कहीं कुएँ न थे, वहाँ अब पक्के कुएँ तैयार हो गए हैं, सफाई की ओर लोग ध्यान देने लगे हैं, दरवाजे पर कूड़े करकट के ढेर नहीं जमा किए जाते।" फिर उन्हें चिकित्सा का ज्ञान है, दवाई दे देते हैं। शिक्षा और मुफ्त सलाह देते हैं। हालत यह है कि राजकर्मचारी इसी से विनय और सेवा समिति के विरोधी हो रहे हैं। यह तो कोई राजनीतिक कार्य नहीं। तब भी चूँकि 'दारोगा जी की मुट्ठियाँ अब गर्म नहीं होती, कामदार और अन्य कर्मचारियों के यहाँ मुकदमें नहीं आते, कुछ हत्थे चढ़ता; यह प्रजा में विद्रोहात्मक भाव के लक्षण नहीं, तो और क्या है?" जब राजकर्मचारी इस सेवा भाव से ही रुष्ट हो गये हैं, तब इन कार्यों से तो क्रुद्ध हो जाना अवश्यम्भावी है। "कोई कोटे में कृषकों की सभाएँ बनाता फिरता है; कोई बीकानेर में बेगार की जड़ खोदने पर तत्पर हो रहा है, कोई मारवाड़ में रियासत के उन करों का विरोध कर रहा है, जो परंपरा से वसूल होते चले आए हैं।" सेवा समिति के ये कार्य अन्ततः अंग्रेजी राज के विरोध की दिशा में आगे बढ़ते हैं, इसे प्रेमचंद बताना नहीं भूलते।

इधर बनारस में सेवा समिति सक्रिय रहती है। सूरदास और सुभागी पर राजा महेन्द्र कुमार जुर्माना करते हैं। इन्द्रदत्त चंदा इकट्ठा करके सूरदास को छुड़ा लेता है। कुछ सदस्य राजपुताना गए हुए हैं और "कुछ पंजाब गए हुए हैं, जहां सरकारी फौज ने प्रजा पर गोलियां चला दी हैं।" इधर सूरदास भी सेवा समिति का प्रशंसक-समर्थक है। उसको जमीन के एक हजार रूपये मुआवजा मिलता है, जिन्हें वह सेवा समिति को दे देता है।

सेवा समिति के उद्देश्यों में हुए परिवर्तन को सब लोग लक्षित कर रहे हैं। प्रभुसेवक के अध्यक्ष बनने के बाद यह परिवर्तन तीव्र गति से होता है। "अब तक इस संस्था का कार्य-क्षेत्र सामाजिक था। मेलों-ठेलों में यात्रियों की सहायता, बाढ़-बूड़े में पीड़ितों का उद्धार, सूखे-झूरे में विपत्ति के मारे हुओं का कष्ट निवारण, ये ही इनके मुख्य विषय थे। प्रभुसेवक ने इसका कार्यक्षेत्र विस्तृत कर दिया, इसको राजनीतिक रूप दे दिया।" इस परिवर्तन से संस्था में अन्तर्विरोध बढ़ गये। कुँवर भरत सिंह ने प्रभुसेवक को हटा दिया। तब भी समिति के कार्य उसी दिशा में आगे बढ़ते रहे।

पांडेपुर की बस्ती खाली कराने के हुक्म के विरोध में जन आक्रोश बढ़ता है। सूरदास अपनी झोंपड़ी के लिए संघर्ष करता है। लोग साथ आते हैं। सरकार और जनता के बीच टकराव अवश्यंभावी है। सेवा समिति के लोग इस खूनी संघर्ष को टालना चाहते हैं। मामला बिगड़ता देखकर विनय आत्महत्या करके जनता को रोकने में सफल होते हैं। सेवा समिति के प्रयासों से पहली बार पुलिस असहयोग करती है और जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर देती है। सेवा समिति आगे चलकर क्या कार्य करेगी, इसको प्रेमचंद ने खुला छोड़ दिया है। यही सेवा समिति और उसके लोग आगे चलकर राजनीतिक दल के रूप में संगठित होंगे - इस आशावाद के साथ उपन्यास में यह प्रकरण बन्द होता है।

13.6 सूरदास और असहयोग

'रंगभूमि' में सूरदास एक व्यक्ति के रूप में आता है। वह एक निजी लड़ाई लड़ता है। वह अपने आपको नायक नहीं मानता। वह स्वाधीनता आन्दोलन का नेता या कार्यकर्ता नहीं है, परन्तु उसकी कार्यप्रणाली ऐसी है, जिससे स्वाधीनता आन्दोलन को दिशा मिल सकती है। सूरदास के चरित्र का विश्लेषण हम खंड की अंतिम इकाई में करेंगे। यहाँ हम इतना ही बताना चाहेंगे कि नैतिकता और सत्य से संघर्ष करने के अस्त्र सूरदास को असहयोग आन्दोलन के बाद में मिले। इसलिए सूरदास असहयोग से पहले की किसी रचना में नहीं आ सकता।

सूरदास अपनी जमीन बचाने के लिए लड़ता है और परास्त होता है। बाद में वह झोंपड़ा बचाने का संघर्ष करता है, उसमें भी हारता है। उसे भी पता है कि वह हारेगा। परन्तु वह इस लड़ाई को नैतिकता-अनैतिकता की लड़ाई में बदल देता है, तथा समाज के सामने (और पाठकों के सामने) यह प्रमाणित कर देता है कि राजा महेन्द्र कुमार, मि.जॉन सेवक, मि. क्लार्क अर्थात अंग्रेजी सरकार और उसके समर्थक लोग अनैतिक हैं। यह प्रमाणित कर देना सूरदास की नैतिक विजय है। यह प्रेमचंद का भी उद्देश्य है।

इस नैतिकता की रक्षा करते समय वह निडर रहता है। कोई समझौता नहीं, कोई दबाव नहीं। किसी सहारे और सहयोग की जरूरत नहीं। जमीन की लड़ाई में बस्ती वाले उसका साथ छोड़ देते हैं, तब भी वह संघर्ष करता है तथा मि. जॉन सेवक और राजा महेन्द्र कुमार का जीना हराम कर देता है।

उसी की लड़ाई में, उसी के व्यक्तित्व के प्रभाव से पुलिस के सिपाही असहयोग करते हैं। "राजा साहब और ब्राउन', दोनों खोये हुए से खड़े थे। उनकी आँखों के सामने एक ऐसी घटना घटित हो रही थी, जो पुलिस के इतिहास में एक नूतन युग की सूचना दे रही थी, जो परंपरा के विरुद्ध मानव प्रकृति के विरुद्ध, नीति के विरुद्ध थी। सरकार के वे पुराने सेवक, जिनमें से कितनों ही ने अपने जीवन का अधिकांश प्रजा का दमन करने ही में व्यतीत किया था, यों अकड़ते हुए चले जाये; अपना सर्वस्व, यहां तक कि प्राणों को भी, समर्पित करने को तैयार हो जायें।''

प्रेमचंद जानते हैं और उन्होंने दिखाया है कि इस असहयोग के बाद लड़ाई समाप्त नहीं होगी। नयी फौज आयेगी, गोरखा टुकड़ी आएगी। पांडेपुर खाली होगा। सरकार अपनी शक्ति का प्रदर्शन करेगी। परन्तु यह आरंभिक दृश्य बहुत महत्वपूर्ण है। इसके ऐतिहासिक महत्व को अनदेखा नहीं किया जा सकता। प्रेमचंद ने दिखाया कि प्रजा पक्ष एवं सरकार की इस पहली लड़ाई में सरकार जीती। सरकार जीत तो गई परन्तु जनता का मनोबल नहीं टूटा। वह फिर संघर्ष करेगी और स्वाधीनता लेकर रहेगी। सूरदास मरते-मरते एक ऐतिहासिक भविष्यवाणी करता है - "तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो, और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली गलौज, मार-पीट करते हैं, कोई किसी को नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं। बस, इतना ही फरक है। तालियां क्यों बजाते हो, यह तो जीतने वालों का धरम नहीं? तुम्हारा धरम तो है हमारी पीठ ठोकना। हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धांधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे, और एक न एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।''

असहयोग आंदोलन के बाद यह आशावाद बहुत ही महत्वपूर्ण है। प्रेमचंद की ऐतिहासिक दृष्टि भावी के नये रूप को देख रही थी।

13.7 सारांश

इस इकाई में हमने रंगभूमि में चित्रित स्वाधीनता आंदोलन के विविध पक्षों पर चर्चा की। इकाई में किए गए विश्लेषण में आपने अध्ययन किया कि :

- 'रंगभूमि' में पहली बार एक अंग्रेज मि. क्लार्क पात्र के रूप में आते हैं। इसके माध्यम से लेखक ने अंग्रेजी राज की साम्राज्यवादी नीतियों और उनकी कार्यप्रणाली का उद्घाटन किया।
- अंग्रेजों के समर्थक राजाओं और जमींदारों को प्रेमचंद ने उदयपुर के राजा एवं महेन्द्र कुमार सिंह के माध्यम से चित्रित किया।
- 'रंगभूमि' में स्वाधीनता आन्दोलन के प्रेमचंद ने विभिन्न रूपों को जिन बिन्दुओं के माध्यम से चित्रित करने का प्रयत्न किया वे हैं:
  - (अ) डॉ. गांगुली और कौंसिल
  - (ब) वीरपाल सिंह और सशस्त्र संघर्ष
  - (स) रानी जाह्नवी और धार्मिक दृष्टिकोण
  - (द) विनय और सेवा समिति
  - (य) विनय और असहयोग
- सूरदास की पराजय के बावजूद उपन्यास का स्वर आशावादी है।

13.8 अभ्यास प्रश्न

1. प्रेमचंद ने स्वाधीनता आन्दोलन के किन-किन रूपों से अपनी सहमति या असहमति व्यक्त की है? उदाहरण सहित उत्तर दीजिए।
2. विनय-सोफिया की प्रेम कहानी के औचित्य पर प्रकाश डालिए।
3. 'रंगभूमि' पर पड़े असहयोग आन्दोलन के प्रभाव को रेखांकित कीजिए।
4. निम्नलिखित पात्रों का चरित्र-चित्रण कीजिए -
   - क) महेन्द्र कुमार सिंह
   - ख) मि. क्लार्क
   - ग) प्रभुसेवक
   - घ) ताहिर अली

इकाई 14 'रंगभूमि' का औपन्यासिक शिल्प

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 'रंगभूमि' में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

14.3 प्रेमचंद की वर्णन कला

14.4 रंगभूमि का ढाँचा

14.5 रंगभूमि के पाठक

14.6 भाषिक संरचना

14.7 सारांश

14.8 अभ्यास प्रश्न

14.0 उद्देश्य

अब तक हमने 'रंगभूमि' के कथ्य का विश्लेषण किया है। इस इकाई में हम उपन्यास-कला की दृष्टि से 'रंगभूमि' का विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे। प्रेमचंद ने अपने इस विशिष्ट कथ्य को किस रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। इसकी जानकारी आपको इस इकाई में दी जायेगी। इस इकाई को पढ़कर आप:

- 'रंगभूमि' की कथा एवं पात्रों के चुनाव में प्रेमचंद की मौलिक दृष्टि की पहचान कर सकेंगे;
- 'रंगभूमि' का पाठक कौन है तथा उसका इस उपन्यास पर क्या प्रभाव पड़ा है, की चर्चा कर सकेंगे;
- इस उपन्यास की रचना में लेखक का उद्देश्य किस ढंग से सक्रिय रहा है, इसकी पहचान कर सकेंगे,
- उपन्यास के शिल्प में प्रेमचंद ने जिन विधाओं को शामिल कर लिया है, उन्हें बता सकेंगे, और
- प्रेमचंद के शिक्षक व्यक्तित्व और पत्रकार जीवन का इस उपन्यास पर क्या प्रभाव पड़ा है, इसकी जानकारी दे सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

रंगभूमि' प्रेमचंद का महत्वाकांक्षी उपन्यास है। इसी कारण इसका कलेवर इतना बड़ा है। उपन्यास की दृष्टि से देखा जाए, तो रंगभूमि कई अर्थों में ऐतिहासिक महत्व का उपन्यास है। सबसे पहली बात तो यह है कि यह हिन्दी का पहला राजनीतिक उपन्यास है। अब तक हिन्दी में रहस्य-रोमांच के उपन्यासों के अलावा कुछ समाज सुधार संबंधी उपन्यास लिखे गए। 'रंगभूमि' में पहली बार अपने समय की राजनीतिक हलचल को अपना विषय बनाया गया। पहली बार इसी उपन्यास में असहयोग आन्दोलन के प्रभाव का चित्रण किया गया। 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचंद ने राजनीतिक जीवन का चित्रण नहीं किया।

पहली बार, इसी उपन्यास में अंग्रेज पात्र मि. क्लार्क का पर्दापण हुआ; जिसके माध्यम से प्रेमचंद ने अंग्रेजी साम्राज्यवाद को मूर्तिमान किया। पहली बार एक दलित पात्र को उपन्यास का नायक बनाया गया, जो अंधा है। यही नहीं शारीरिक दृष्टि से भी सूरदास को सुन्दर नहीं कहा जा सकता। अनेक प्रतिभाशाली युवकों के बीच प्रेमचंद ने सूरदास को चुना। इस मौलिकता के कारण 'रंगभूमि' का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

14.2 'रंगभूमि' में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

प्रेमचंद अपने आपको शुद्ध यथार्थवादी लेखक नहीं मानते। उन्होंने 'आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद' की नयी अवधारणा सामने रखी। 22 जनवरी 1930 को श्री हरिहरनाथ को उन्होंने पत्र लिखा। उसमें लिखा : "मेरा सवाल है कि साहित्य का सबसे बड़ा उद्देश्य उन्नयन है, ऊपर उठाना। हमारे यथार्थवाद को भी यह बात आँख से ओझल न करनी चाहिए। मैं चाहता हूँ कि आप 'मनुष्यों' की सृष्टि करें, साहसी, ईमानदान, स्वतंत्रचेता मनुष्य, जान पर खेलने वाले, जोखिम उठाने वाले मनुष्य, ऊँचे आदर्शों वाले मनुष्य। आज इसी की जरूरत है।" कहना न चाहिए कि 'रंगभूमि' का सूरदास इसी तरह का मनुष्य है। इसे कोई चाहे तो आदर्श पात्र कहे, चाहे यथार्थवादी। इस रूप में प्रेमचंद अपने आपको 'आदर्शवादी' लेखक ही मानते हैं।

यह अलग बात है कि आदर्शवाद से उनका तात्पर्य अधिकतर लक्ष्यवाद रहा है। वे चाहते हैं कि साहित्य और समाज का एक ऊँचा लक्ष्य हो। वही साहित्य को गति और बल देता है। ऊँचे लक्ष्य के बिना बड़ा काम नहीं हो सकता। इस आदर्श आकांक्षा के साथ प्रेमचंद की इच्छा रही है कि साहित्य को जनता के वास्तविक जीवन से जुड़ा हुआ होना चाहिए। वे मानते हैं कि "साहित्य ही सच्चा इतिहास है; क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है वैसा कोई इतिहास में नहीं हो सकता।" साहित्य में यह ऐतिहासिक सत्य तभी आ सकता है जब रचना की आधारभूमि यथार्थवादी होती है। प्रेमचंद ने एक स्थान पर लिखा है - "यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहां इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति मात्र हों - जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना मुश्किल नहीं है, लेकिन उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।"

'रंगभूमि' में हमें प्रेमचंद के यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों के दर्शन होते हैं। प्रेमचंद जहाँ से कथा उठाते हैं, सामाजिक जीवन के जिस पक्ष को चित्रित करते हैं, वहाँ के तनाव और संघर्ष को शब्दबद्ध करते हैं, वह सब उनके यथार्थवाद से आता है। रंगभूमि में चित्रित औद्योगिकीकरण की समस्या और स्वाधीनता आन्दोलन की भावभूमि यथार्थवाद से आयी है। इस भूमि पर विचरण करने वाले पात्र विशेषत: सूरदास, विनय, इन्द्रदत्त, रानी जाह्नवी आदि उनकी आदर्शवादी मानसिकता से उपजे हैं। इनमें भी सूरदास उनकी इसी आकांक्षा से आया है।

इस उपन्यास में पक्ष और विपक्ष के दो बिन्दु हैं। कुछ पात्र हैं, जिनका लेखक ने विरोध किया है, कुछ अन्य पात्रों का उन्होंने समर्थन किया है। यदि ध्यान से देखा जाए तो पता चलता है कि विरोध पक्ष के पात्रों की कार्य प्रणाली और जीवन-विवेक यथार्थवादी हैं। मि. जॉनसेवक, चतारी के राजा महेन्द्र कुमार, मि. क्लार्क आदि इसी श्रेणी में आते हैं। जिन पात्रों का प्रेमचंद समर्थन करते हैं उनका जन्म उनकी आदर्शवादी आकांक्षाओं से हुआ है। उपन्यास में स्थान-स्थान पर आदर्श और यथार्थ का यह द्वन्द्व दिखायी देता है। कई बार तटस्थ पात्रों में भी ये दोनों तत्व मिल जाते हैं - उदाहरण के लिए प्रभुसेवक को लिया जा सकता है।

इस तरह हम कह सकते हैं कि प्रेमचंद का यथार्थवाद उनकी जीवन की समझ में हैं। उपन्यास के कथ्य में हैं, समस्या के समझने-समझाने में है। उसके प्रस्तुतीकरण में यथार्थवाद नहीं है। प्रस्तुतीकरण में, कला में प्रेमचंद आदर्शवादी हो जाते हैं। क्रूर यथार्थ पर आदर्शों की विजय दिखा देते हैं। हार के बावजूद सूरदास की नैतिक विजय हो जाती है और फिर पराजय के बावजूद उसमें आशावाद बना रहता है। कहा जा सकता है कि यह आशावाद आदर्शवाद से आया है। हालाँकि एक स्तर पर सूरदास का आशावाद ऐतिहासिक सच्चाई भी है और इसी कारण यथार्थ भी है। परन्तु यह तथ्य का, सतह का यथार्थ नहीं, वरन् सार तत्व का यथार्थवाद है। अंग्रेज विरोधी भारतीय मानसिकता एक यथार्थ है। अंग्रेजों का शोषण यथार्थ है, सामन्तों का अंग्रेजों का पिछलग्गू होना यथार्थ है। प्रेमचंद ने इसे दिखाया है।

प्रेमचंद जब अपने पात्रों का परिचय देते हैं, घटनाओं का वर्णन करते हैं, किसी का पक्ष रखते हैं तो अतिरंजना में बह जाते हैं। भूल जाते हैं कि उपन्यास की मूल संरचना में इसका हिस्सा बहुत थोड़ा है। 'रंगभूमि' में इसके ढेरों उदाहरण मिल जाएँगे। सोफिया एक बार घर छोड़कर चली जाती है। सभी चिंतित है और सोफिया का पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं। प्रेमचंद ने शेष पात्रों की चिंताओं और प्रयासों का तो वर्णन नहीं किया; सिर्फ कवि-हृदय प्रभुसेवक की बेचैनी का वर्णन इस प्रकार किया - "वह प्रातःकाल से दो घड़ी रात तक शहर का चक्कर लगाया करता। केवल दो बार भोजन करने घर पर आता था। ऐसा कोई स्कूल न था, जहाँ उसने सोफिया को न ढूँढ़ा हो। कोई जान-पहचान का आदमी, कोई मित्र ऐसा न था जिसके घर जाकर उसने तलाश न की हो। दिन भर की दौड़-धूप के बाद रात को निराश होकर लौट आता, और चारपाई पर लेटकर घंटों सोचता और रोता। कहाँ चली गयी?" यहाँ तक तो फिर भी गनीमत है। उसके बाद प्रेमचंद फिर लिखते हैं - "पुलिस के दफ्तर में दिन भर में दस बार जाता और पूछता, कुछ पता चला? समाचार पत्रों में सूचना दे रखी थी? वहाँ भी रोज कई बार दरियाफ्त करता।"

यह अतिरंजना है। यदि अखबार में खबर छपती तो कुँवर भरत सिंह के परिवार को तो पढ़ना ही था। देश-हितैषी परिवार है। देश-दशा से चिंतित लोग अखबार तो उस जमाने में भी पढ़ते ही थे। परन्तु झोंक में प्रेमचंद इस पहलू को भूल गए। उन्हें सिर्फ प्रभुसेवक की बेचैनी का वर्णन करना था। उसका रंग गाढ़ा करने के लिए यह अतिरंजना जरूरी लगी। इसी तरह रानी जाह्नवी ने मिसेज सेवक को अपने भवन की सैर करायी और सिर्फ मिसेज जॉनसेवक को ईर्ष्या से जलाने-भुनाने के लिए भवन में ऐशो-आराम की सामग्री की प्रदर्शनी लगवा दी। उदाहरण "आध घंटे तक मिसेज सेवक मानो इन्द्र लोक की सैर करती रहीं। भवन क्या था, आमोद, विलास, रसज्ञता और वैभव का क्रीड़ा स्थल था। संगमरमर के फर्श पर बहुमूल्य कालीन बिछे हुए थे। चलते समय उनके पैर धँस जाते थे। दीवारों पर मनोहर चित्रकारी, कमरों की दीवारों में बड़े-बड़े आदमकद आईने, गुलकारी इतनी सुंदर की आँखें मुग्ध हो जाएँ, शीशे की अमूल्य-अलभ्य वस्तुएँ, प्राचीन चित्रकारों की विभूतियाँ, चीनी के विलक्षण गुलदान, जापान, चीन, यूनान और ईरान की बला-निपुणता के उत्तम नमूने, सोने के गमले, लखनऊ की बोलती हुई मूर्तियाँ, इटली के बने हुए हाथी-दाँत के पलंग, लकड़ी के नफ़ीस ताक, दीवारगीरें, किश्तियाँ, आँखों को लुभाने वाली, पिंजड़ों में चहकती हुई भाँति-भाँति की चिड़ियाँ, आंगन में संगमरमर का हौज़ और उसके किनारे संगमरमर की परियाँ....."यहां वे भूल गये कि यह विलासी राजा का नहीं, देश सेवक राजपरिवार का घर है। उपन्यास के आरंभ में सूरदास "फिटन के पीछे दौड़ता चला आता था।" यहाँ तक तो फिर भी ठीक है। परन्तु प्रेमचंद ने लिखा - "इतनी दूर तक और इतने वेग से कोई मँजा हुआ खिलाड़ी भी न दौड़ सकता था।" इस अतिरंजनापूर्ण वर्णन शैली के उदाहरण उपन्यास में जगह-जगह मिल जाएँगे।

14.3 प्रेमचंद की वर्णन कला

'रंगभूमि' एक वर्णनात्मक उपन्यास है। ऐसा उपन्यास लेखक की दृष्टि से होकर गुजरता है। लेखक निरपेक्ष इसमें कुछ नहीं होता। उपन्यास की संपूर्ण कथा, घटनाओं के मोड़, पात्रों के आपसी संबंध, उनका चरित्र उनके मनोभाव और अन्तर्द्वन्द्व सभी लेखक की जानकारी में होते हैं। लेखक जब चाहे तब, उनके चरित्र में परिवर्तन कर सकता है। जब भी लेखक को किसी पात्र से असुविधा होने लगती है, वह उसको कथा-भूमि से हटा सकता है, आवश्यकता पड़ने पर वापिस बुला सकता है।

पाठक को कुछ भी पता नहीं है कि आगे क्या होने वाला है; परन्तु लेखक को सब पता है। अत: लेखक बताने वाली स्थिति में है, पाठक सुनने-जानने और पढ़ने की स्थिति में है। जो कुछ बताया जाए, उसे जान लो। अपनी तरफ से कल्पना करने की कोई संभावना नहीं है। लेखक इसकी गुजांइश ही नहीं छोड़ता। जितना जरूरी है, वह सब बता दिया गया है या समय आने पर बता दिया जाएगा। 'रंगभूमि' का पाठक प्रेमचंद से सहमत पाठक है। वह प्रश्न नहीं कर सकता। पाठक ज्यों ही प्रश्न करने लगता है, उसका उपन्यास पढ़ना मुश्किल हो जाता है। उदाहरण के लिए सुभागी के पति भैरो सूरदास पर आरोप लगाते हैं। लेखक के अनुसार ये आरोप मिथ्या है। मान लीजिए, ये आरोप सही हों। भैरो ने सुभागी को छोड़ा और सूरदास ने रख लिया। इसमें क्या गलत है? पाठक यदि इस दृष्टि से पूरे प्रकरण को पढ़ना चाहें, तो यह संभव नहीं है। ऐसा इसलिए संभव नहीं है, क्योंकि उनके संबंध लेखक द्वारा स्वीकृत नहीं है। इस संबंध से सूरदास को जिस ऊँचाई पर ले जाना चाहते हैं, वहाँ वे नहीं ले जा पाएँगें। इसलिए सूरदास और सुभागी में जो रिश्ता बताया गया है, उसे मानकर ही आगे उपन्यास पढ़ा जा सकता है। संबंध होने या न होने का उभय सम्भव स्थिति में प्रेमचंद नहीं छोड़ते।

इसी तरह प्रेमचंद ने विनय और सोफिया की लम्बी प्रेम कहानी लिखी। अनेक उतार-चढ़ावों से गुजरकर कई कठिन परीक्षाओं में डालकर भी प्रेमचंद ने इन दोनों की शादी नहीं करवायी। विनय और सोफिया से आत्महत्या करवा डाली, परन्तु विवाह नहीं करवाया, क्योंकि यह अन्तर्धार्मिक विवाह होता। विनय हिन्दू और सोफिया ईसाई है। विवाह कैसे हो सकता है? यह प्रश्न प्रेमचंद के मन में भी था। इसलिए उन्होंने यह नहीं होने दिया। अन्यथा विवाह हो सकता था। विनय और सोफिया राजी हैं। दोनों बालिग हैं। दोनों के परिवार सहमत हैं। दोनों साथ-साथ रहते हैं। फिर क्या दिक्कत है? असली दिक्कत प्रेमचंद की जीवन दृष्टि में है। वे इस घटना से सहमत नहीं हैं, इसलिए इसे टाल दिया गया। दरअसल प्रेमचंद अपने पात्र को दोषरहित और निष्पाप रखना चाहते हैं। परंपरागत नैतिक दृष्टि से भी और आधुनिक नैतिक दृष्टि से भी उसका जीवन 'आदर्श' होना चाहिए। उसमें मानवीय दुर्बलताएँ आनी नहीं चाहिए। क्षण भर के लिए यदि उसका मन डोल भी गया, तो भी अपने ऊपर उसे नियंत्रण रखना आना चाहिए। इसी कारण सूरदास ने अपने क्षणिक आवेग को प्रकट ही नहीं किया। विनय और सोफिया भी कुँवारे ही मर गये। यह उनका अपना आदर्शवाद है।

पात्रों के जीवन पर लेखक का ऐसा नियंत्रण उनके चरित्र के विकास में बाधक होता है। इसके साथ ही प्रेमचंद 'रंगभूमि' में कुछ पात्रों का उपयोग करते हैं। इसके कारण सभी पात्र स्वतंत्र रूप में विकसित नहीं हो पाते। उपयोगिता के तराजू पर तौलने से, कई पात्र थोड़ी देर में ही दृश्य से हटा लिये जाते हैं। जब तक विनय की जरूरत बनारस में थी, तभी तक विनय यहाँ रहा। लेखक को जब इसकी जरूरत न रही तो उसे उदयपुर भेज दिया, सोफिया को भेज दिया, मि. क्लार्क को भेज दिया। वहाँ उनकी उपयोगिता है। और जब जरूरत पड़ी तो वापिस बुला लिया गया। बेचारे मि. क्लार्क छोटे पद पर आ गये।

उपन्यास में मि. क्लार्क के हाथों से ही सूरदास को मरवाना था, इससे प्रेमचंद की अंग्रेजी साम्राज्यवाद विरोधी मानसिकता को तुष्ट करना था, इसलिए क्लार्क वापिस आता है। अन्यथा उसे वापिस आने की क्या आवश्यकता थी। सूरदास को तो मि. सेनापति भी मार सकते थे। माहिर अली को भी यह काम करने में कोई कष्ट नहीं होता। परन्तु इससे पाठकों में अंग्रेजों के प्रति रोष उत्पन्न नहीं होता। इसलिए मि. क्लार्क बुलवाये गये।

उपन्यास में विनय के शहीद होने की कोई संभावना नहीं थी। उसके चरित्र की दिशा मुड़ गयी थी परंतु अब उपन्यास को समेटना था और विनय को भी शहीदाना गौरव देना था। इसलिए उसे आत्महत्या के द्वारा शहीद कर दिया गया। इन्द्रदत्त का शहीद होना समझ में आता है। विनय का नहीं आता। विनय के बाद सोफिया के जीवन की कोई योजना लेखक के पास नहीं थी। इसलिए उस बेचारी को भी आत्महत्या करनी पड़ी। इससे करुणा का रंग गाढ़ा हुआ। प्रेमचंद यही चाहते होंगे; अन्यथा सोफिया को भी इन्दु के साथ-साथ पंजाब भेजा जा सकता था। जब इन्दु महेन्द्र के बिना रह सकती है तो सोफिया क्यों नहीं रह सकती। उसके लिए उपन्यासकार को कुछ सोचना चाहिए था। नायकराम पंडा को कुंवारा रख दिया और उसे जीवित भी रखा तो सोफिया को जीवित रखने में कोई हानि न थी।

उपन्यास को समाप्त करना चाहिए। पूरे जीवन को समेटना चाहिए। सभी का अंत तार्किक और विवेक सम्मत होना चाहिए। कथा और पात्र अपने-अपने निष्कर्षों तक पहुँच जाने चाहिए। इस कलात्मक मोह के कारण प्रेमचंद ने अनेक पात्रों को आत्महत्या के लिए विवश कर दिया। मि. गांगुली का मोहभंग हो गया। कुँवर भरतसिंह फिर भोग विलास में डूब गए। पांडेपुर के लोग इधर-उधर शहर में खप गए। तार्किक अंत की मजबूरी वर्णनात्मक उपन्यासों में अनेक सौन्दर्यशास्त्रीय दरारें छोड़ जाती हैं, जो रंगभूमि में भी हैं।

14.4 रंगभूमि का ढाँचा

'रंगभूमि' उपन्यास के तीन भाग हैं:

1. भूमिका
2. मुख्य कथा भूमि
3. उपसंहार

उपसंहार के बारे में अभी हम लिख चुके हैं। 488 पृष्ठ के उपन्यास में 73 पृष्ठों तक भूमिका चलती है, 361 पृष्ठों तक इसकी मुख्य कथा चलती है तथा 54 पृष्ठों में कथा को समेटने का प्रयास किया गया है। 'रंगभूमि' चूँकि बहुत बड़ा उपन्यास है। इसलिए इसकी भूमिका का फलक भी बहुत विस्तृत है। उपन्यास की कथा के पाँच मुख्य केन्द्र हैं :

1. सूरदास और पांडेपुर की बस्ती
2. कुँवर भरतसिंह का परिवार
3. मि. जॉनसेवक का परिवार
4. राजा महेन्द्र का परिवार
5. ताहिर अली का परिवार

कुँवर भरतसिंह और मि. जॉनसेवक के परिवार को जोड़ने की कड़ियाँ विनय और सोफिया हैं। इन्दु के कारण चतारी के राजा महेन्द्र कुमार कुँवर भरतसिंह से जुड़ जाते हैं। ताहिर अली मि. जॉन सेवक का नौकर है। ये सभी परिवार बनारस के जीवन से जुड़े हुए हैं।

मि. जॉन सेवक को सूरदास और पांडेपुर की जमीन चाहिए। इसलिए ये विरोध के कारण सम्बद्ध हैं। प्रेमचंद उपन्यास के आरंभ में इन सभी से परिचित कराने के लिए बारी-बारी से इनकी पृष्ठभूमि और मानसिकता की झलक दिखाते हैं। इस भूमिका में ही वे अपने दृष्टिकोण का परिचय भी दे देते हैं। किसी पात्र का व्यंग्य से, किसी की तारीफ करते हुए, किसी का उपहास करते हुए, किसी का उत्साह-उमंग में और किसी का करुणा के स्वर में परिचय देते हैं। इसी क्रम में इनके आपसी संबंध, तनाव और खींचतान के बीच उपन्यास के मुख्य संकट बिंदु से पाठक को अवगत कराने में सफल हो जाते हैं।

यह उपन्यास एक ही प्रवाह में नहीं चलता। अनेक कथा-प्रसंगों के कारण कुछ कथाएँ बीच में छूट-छूट जाती है। तब लेखक उन्हें पुनः उपन्यास में लाने के लिए फिर से छोटी-सी भूमिका बाँधते हैं और तब वह प्रकरण मुख्य कथा में शामिल हो जाता है। इसके लिए उन्होंने पूरे उपन्यास को 48 खण्डों में विभाजित किया है। यदि वे एक ही आधिकारिक कथा कहते, तो संभव है उपन्यास को खंडों में बाँटने की जरूरत नहीं पड़ती।

उपन्यास का मुख्य हिस्सा सूरदास की जमीन बनाम मि. जॉन सेवक का कारखाना है। इसी संघर्ष में सभी पात्र अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति पाते हैं। इस संघर्ष के बारे में हम इस खंड की पिछली इकाइयों में बहुत कुछ पढ़ चुके हैं। इसी मुख्य संघर्ष भूमि से जुड़ा होने के कारण सूरदास नायक है। वही उपन्यास की कथा को मोड़ता है, घटनाओं को गति देता है, उसी की सक्रियता से कथा आगे बढ़ती है। उसी के मरने से उपन्यास समाप्त होता है। वही केन्द्र है। मि. क्लार्क ने ठीक ही सोचा था कि "जब तक यह आत्मा जीवित रहेगी, अंगों की गति कभी बंद न होगी। इसलिए आत्मा ही का नाश कर देना आवश्यक है। उद्‌गम को बन्द कर दो, जल-प्रवाह बन्द कर दो, जल-प्रवाह बन्द हो जाएगा।..... मूल मंत्र अंधे को समर-स्थल से हटा देना था-यही जीवन का केन्द्र है, यही गति संचालक सूत्र है।" लेखक भी यही सोचता है। सूरदास को परिणति तक पहुँचाये बिना उपन्यास समाप्त नहीं किया जा सकता। इस मामले में प्रेमचंद और मि. क्लार्क दोनों एकमत और सहमत थे। सूरदास का मारा जाना जरूरी है। उसी से करुणा पैदा होगी। उसी से शांति और व्यवस्था स्थापित होगी। उसी से अंग्रेजी साम्राज्य का विरोध पनपेगा। उसी से समस्या का तत्कालीन हल निकलेगा।

आमतौर से प्रेमचंद रचना से पूर्व पात्र के चरित्र की कल्पना कर लेते हैं। उपन्यास लिखे जाने से पूर्व पात्र के बारे में अपना दृष्टिकोण तय कर लेते हैं। और तब पात्र उसी समभाव से उपन्यास में उतरता है और उसी रूप में पूरे उपन्यास में बना रहता है। इस तरह के स्थिर पात्रों को प्रेमचंद बहुत कुशलता से चित्रित करते हैं। उदाहरण के लिए सूरदास, राजा महेन्द्र कुमार, मि. गांगुली, ईश्वर सेवक, मि. जॉन सेवक, बजरंगी, जगधर, नायकराम पंडा, ताहिर अली आदि ... श्रेणी के पात्र हैं। प्रेमचंद जिन पात्रों को पसंद नहीं करते (मसलन, राजा महेन्द्र कुमार, जगधर, मिसेज सेवक आदि) उनका उपहास करते हैं, व्यंग्य करते हैं। वहाँ उनकी भाषा बहुत प्रभाव व्यंजक हो जाती है। शब्द दुहरे-तिहरे अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं। लेखक की चपलता, चुहलबाजी, चुस्कियाँ लेने का भाव पाठक को बाँधे रखता है। विशेष रूप से राजा साहब के आते ही प्रेमचंद प्रफुल्लित हो जाते हैं।

जहाँ उन्होंने रचना से पूर्व पात्रों के संपूर्ण व्यक्तित्व को निश्चित नहीं किया था उनके बारे में अपनी राय नहीं बनायी, या स्वयं असंमजस की स्थिति में रहे, वहाँ पात्र ढीला-ढाला रह जाता है। प्रभाव नहीं छोड़ पाता। उदाहरण के लिए भैरो और सुभागी के चरित्र को लिया जा सकता है। इनमें भी विशेष रूप से भैरो के चरित्र की संभावनाओं को प्रेमचंद प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत नहीं कर पाये। इसी तरह विनय और सोफिया के प्रेम की परिणति के बारे में प्रेमचंद आश्वस्त नहीं थे। इसके कारण यह पूरा प्रकरण अपेक्षित प्रभाव नहीं छोड़ता। कई बार ऐसा भी लगता है कि प्रेमचंद ने सामान्य मनोवैज्ञानिक जानकारियों के आधार पर इनकी रचना कर दी हो।

हालाँकि प्रेमचंद ऐसा कम करते हैं। वे किसी पात्र के बुनियादी ढाँचे को पहले से ही सोच लेते हैं और तब उसे उपन्यास में लाते हैं। कथा के विभिन्न मोड़ों पर वह पात्र अपने व्यक्तित्व को उद्घाटित करता चलता है। इसलिए उपन्यास के भीतर उनके किसी पात्र का विकास नहीं होता। वे जैसे होते हैं, वैसे ही बने रहते हैं। इसका कारण यह है कि प्रेमचंद की रचनात्मक दिलचस्पी उनके चरित्र में नहीं होती। वे जिस समस्या पर उपन्यास लिख रहे होते हैं, उसमें होती है। इसलिए किसी पात्र को बनाने-सँवारने में अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करते। उपन्यास के प्रारंभिक पृष्ठों में जोजेफ क्लार्क आगे चलकर उपन्यास में विलियम क्लार्क हो जाता है। क्या फर्क पड़ता है। मूल बात अंग्रेजी साम्राज्य के नौकरशाह के चरित्र की है, जो वैसा ही रहता है और रहेगा भी। इसी तरह उपन्यास में एक स्थान पर नायकराम पंडा को 3000/- रुपये मुआवजा मिलता है, वही मुआवजा झोंक में आगे के पृष्ठ में 5000/- हो जाता है। अब मुद्दा 3 या 5 का नहीं है। असल सवाल नायकराम पंडा की बेईमानी और मिलीभगत का है। वह प्रकट हो गया, तो सही है। असल में प्रेमचंद पात्रों को निर्मित करते हैं और फिर आगे बढ़ जाते हैं। प्रेमचंद के लिए रचना का उद्देश्य सबसे बड़ा है; पात्र उसमें सहायक के रूप में आते हैं। वही उनकी भूमिका है।

14.5 'रंगभूमि' के पाठक

प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' की रचना पाठकों का मन बहलाने के लिए नहीं की थी। वे इस उपन्यास के द्वारा पाठकों को वैचारिक दृष्टि से परिपक्व सक्रिय मनुष्य बनाना चाहते थे। इसलिए वे उपन्यास में पाठकों को बहुत-सी नयी-नयी बातों की जानकारी देते चलते हैं, साथ ही इस जानकारी के आधार पर उत्पन्न होने वाले विचारों को एक निश्चित दिशा देना चाहते हैं। लेखक के रूप में उनकी अपेक्षा रही है कि उनके पाठक उपन्यास पढ़कर स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी निभाएँ। यदि ऐसा संभव न हो सके, तो भी वे स्वाधीनता आन्दोलन के समर्थक बनें। यदि सक्रिय समर्थन भी न कर सकें, तो कम से कम मानसिक भावात्मक रूप से स्वाधीनता आन्दोलन के कार्यकताओं का आदर करना सीखें। इसके लिए प्रेमचंद अपने समाज के पक्ष और विपक्ष को अच्छी तरह से प्रस्तुत करते हैं तथा अपनी स्पष्ट राय से भी पाठकों को अवगत कराते चलते हैं। हालाँकि इसके आँकड़े तो उपलब्ध नहीं हैं कि कितने लोगों ने 'रंगभूमि' पढ़कर आन्दोलन में देर-सबेर भाग लिया; तब भी, जो लोग पहले से ही स्वाधीनता आन्दोलन के कार्यकर्ता बन चुके थे, उनको इस रचना से नैतिक बल मिला और वे संघर्ष में डटे रहे।

सम्पूर्ण भारत के सम्पूर्ण परिदृश्य को प्रस्तुत करने की आकांक्षा के कारण 'रंगभूमि' का फलेवर इतना अधिक बढ़ गया। प्रेमचंद सम्पूर्ण भारतवर्ष में अंग्रेजी राज के प्रभाव और आतंक को दिखाना चाहते थे, इसलिए कथा में विनय को उदयपुर भेजा। इससे देशी रियासतों की वास्तविकता को व्यक्त करने का अवसर मिल सका।

प्रेमचंद पेशे से अध्यापक थे। 'रंगभूमि' के लेखन के दौरान वे सरकारी सेवा में नहीं थे, फिर भी उनके शिक्षक का व्यक्तित्व उपन्यास में भी देखने को मिलता है। इसके साथ-साथ प्रेमचंद पत्रकार भी थे। संभवत: उनके व्यक्तित्व का ही फल रहा हो कि वे अपने उद्देश्य के प्रति रूप प्रत्येक छोटी-बड़ी बात को समझा-समझा कर कहते हैं। इसलिए 'रंगभूमि' में लेखक क्या कहना चाहता है? यह प्रश्न पाठक नहीं पूछता। वे अपने उद्देश्य को अभिव्यक्त करने में पूरी तरह से सफल रहे हैं। उनके विरोधी भी उनके न समझे जाने का विरोध नहीं करते। हालाँकि प्रेमचंद अपने विरोधियों के लिए रचना नहीं करते। या तो वे अपने समर्थकों के लिए लिखते हैं या तटस्थ लोगों के लिए लिखते हैं, जिन्हें स्वाधीनता आन्दोलन का समर्थक बनाया जा सके। 'रंगभूमि' के पाठकों को प्रेमचंद इन बिन्दुओं की समझ देते हैं-

(i) समाज की जानकारी

(ii) विभिन्न वर्गों का विश्लेषण

(iii) जीवन दृष्टि का निर्माण

(iv) भविष्य के नक्शे की तरफ संकेत

14.6 भाषिक संरचना

प्रेमचंद की भाषा राजा लक्ष्मण सिंह और भारतेन्दु हरिश्चंद्र की परंपरा की भाषा नहीं है, वरन् शिव प्रसाद सितारे हिंदी की परंपरा की भाषा है। प्रेमचंद ने सितारे हिन्द की भाषा का विकास किया है। हिन्दी में आगे चलकर इस भाषा का विकास अवरुद्ध हो गया। उनकी आरंभिक शिक्षा उर्दू में हुई थी, बाद में उन्होंने हिन्दी सीखी। लेखक के रूप में भी वे पहले उर्दू के लेखक बने, बाद में हिन्दी के लेखक बने। इसलिए उन्होंने आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया, जिसमे अरबी-फारसी के शब्दों को प्रयोग और लहजा बहुतायत में मिलता है। संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रेमचंद कम करते हैं।

'रंगभूमि' में कुछ पात्र शिक्षित समाज से आये हैं। परन्तु अधिकतर पात्र अशिक्षित समुदाय से सम्बंध रखते हैं। यहाँ तक की सूरदास और पांडेपुर की पूरी बस्ती निरक्षर है। इन पात्रों की भाषा को व्याकरण सम्मत रूप में ढालकर प्रस्तुत करना बहुत बड़ी चुनौती है। प्रेमचंद ने बड़े कलात्मक ढंग से इस समस्या को सुलझाया है। एक तो उन पात्रों की भाषा स्वाभाविक लगे, तथा सामान्य पढ़े-लिखे पाठकों को समझ में भी आ जाए। प्रेमचंद का पाठक शिक्षित वर्ग का है। उसे निरक्षरों की भावनाओं और उनकी भाषा से परिचित करवाना काफी जटिल कार्य है। प्रेमचंद ने इस चुनौती को स्वीकार किया है और रचना में इसका सफलता से निर्वाह किया।

रंगभूमि उपन्यास में भाषा और शैली के स्तर पर अत्यंत सादगी और सहजता दिखाई पड़ती है। लेखक ने जिस प्रकार से जीवन को अनुभव किया था, उसे लगभग उसी तरह से अभिव्यक्त कर दिया है। रंगभूमि में प्रेमचंद ने सामाजिक संपर्क एवं अनुभवों से भाषा का गठन किया है। प्रेमचंद ने उपन्यास में नौकरशाही, जमींदारी, कोर्ट कचहरी, मध्यवर्गीय परिवार और समाज के निम्न लोगों के बीच प्रचलित लोक व्यवहार की विश्वसनीयता के लिए प्रामाणिक भाषा की खोज की है। भाषा में इस प्रकार की प्रामाणिकता के लिए प्रेमचंद ने लोकजीवन के विविध व्यवहार के साथ-साथ उन सामाजिक ऐतिहासिक शक्तियों की प्रखरता को भी साकार किया है। सूरदास के अपराजेय संकल्प और धर्मभीरु संस्कार की एक झलक देखते हैं "सूरदास-इसकी चिंता न कीजिए। हानि, लाभ जीवन मरन जस अपजस विधि के हाथ है, हम तो खाली मैदान में खेलने के लिए बनाए गए हैं। सभी खिलाड़ी मन लगाकर खेलते हैं, सभी चाहते हैं कि हमारी जीत हो, लेकिन जीत एक ही की होती है, तो क्या इससे हारने वाले हिम्मत हार जाते हैं? वे फिर खेलते हैं, फिर हार जाते हैं, तो फिर खेलते हैं। कभी-न-कभी तो उनकी जीत होती ही है। जो आपको आज बुरा समझ रहे हैं, वे कल आपके सामने सिर झुकायेंगे। हाँ नीयत ठीक रहनी चाहिए। मुझे क्या उनके घर वाले बुरा न कहने होंगे, जो मेरे कारन जान से गये? "सूरदास के इस कथन को पढ़ने पर हमें उसकी मनोवृत्ति उसके विश्वास और उसकी सहजता का पता मिलता है। लेखक ने विशेष की सार्वभौमिकता को शब्दों के विशिष्ट चयन के माध्यम से प्रतिपादित किया है उसके लेखन के आरंभिक हिस्से में गोस्वामी तुलसीदास पंक्ति के सारभूत अंश रखे गए हैं।

इससे यह पता चलता है कि सूरदास में एक सहज ग्रामीण की भोली-भाली मानसिकता है। गाँव के एक अन्धे भिखारी की जैसी भाषा होनी चाहिए, वैसी ही भाषा 'रंगभूमि' का सूरदास बोलता है। 'कारन' आदि शब्दों का प्रयोग उसके देहातीपन का चित्रण करने के लिए सर्वथा उपयुक्त है। वह जीवन को खेल की तरह स्वीकारता है। इसलिए वह खेल भावना से ही इस जीवन के खेल को खेलता है। उसके जीवन के इस सहज भाव और बोध को उसके अनुभव से अलग हटकर नहीं देखा जा सकता है। और इसे प्रेमचंद एक विशिष्ट प्रकार की भाषा और शैली में साकार करते हैं। सूरदास जिस कस्बे से ताल्लुक रखता है, उस जीवन शैली और जीवन पद्धति के लिए प्रेमचंद विशिष्ट प्रकार के दृश्य बिंब को संयोजित करते हैं। सूरदास की झोपड़ी के विषय में प्रेमचंद लिखते हैं "यह सोचता हुआ वह अपने द्वार पर आया। बहुत ही सामान्य झोपड़ी थी। द्वार पर एक नीम का वृक्ष था। किवाड़ों की जगह बाँस की टहनियों की एक टट्टी लगी हुई थी। टट्टी हटायी। कमर से पैसों की छोटी से पोटली निकाली, जो दिन भर कमाई थी। तब झोपड़ी की छान टटोलकर एक थैली निकाली, जो उसके जीवन की सर्वस्व थी। उसमें पैसों की पोटली बहुत धीरे से रखी कि किसी के कानों में भनक न पड़े। फिर थैली को छान में छिपाकर वह पड़ोस के घर से आग मांग लाया। पेड़ों के नीचें कुछ सूखी टहनियाँ जमाकर रखी थी, उनसे चूल्हा जलाया। झोपड़ी में हल्का सा अस्थिर प्रकाश हुआ। कैसी विडम्बना थी। कितना नैराश्य पूर्ण द्रारिद्र्य था! न खाट, न बिस्तर, न बरतन न भांडे। एक कोने में एक मिट्टी का घड़ा था, जिसकी आयु का कुछ अनुमान उस पर जमी हुई काई से हो सकता था।" प्रेमचंद के नजर से छोटी से छोटी चीज भी ओझल नहीं हो पाती है। किसी परिस्थिति में पात्र अपने किस प्रकार के आवेग को प्रकट करेगा इसे भी प्रेमचंद ने बड़ी आत्मीयता से अभिव्यंजित किया है।

रंगभूमि के ग्रामीण पात्रों की भाषा में देशज और तद्भव शब्दों का प्रयोग मिलता है। प्रेमचंद शब्द प्रयोग के लहजे और भंगिमाओं को यथार्थ रूप में रचते हैं। इसलिए औरत की लड़ाई से लेकर धर्मोपदेश तक के विभिन्न प्रसंगों को विश्वसनीयता से पाठक के सामने उपस्थित कर देते हैं। रंगभूमि में लेखक ने जिस विश्वसनीयता से ग्रामीण पात्रों को रचा है, उसी विश्वसनीयता से शहरी कथा और पात्र को रचा है। इसलिए वे ग्रामीण पात्रों के भोलेपन को ही नहीं मध्यवर्गीय पात्रों के छल और कपट के साथ उसके चरित्र के नाटकीय परिवर्तन को भी गहराई से उभारते हैं।

14.7 सारांश

- 'रंगभूमि' प्रेमचंद का मौलिक और कई मामलों में ऐतिहासिक महत्व का उपन्यास है।
- इस उपन्यास में 'आदर्श' और 'यथार्थ' का समन्वय करने का प्रयास किया गया है। इसलिए इसे 'आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद' का उपन्यास कह सकते हैं।
- प्रेमचंद अतिरंजनापूर्ण शैली में वर्णन करते हैं।
- प्रेमचंद का उद्देश्य 'रंगभूमि' की कथा और उनके पात्रों पर हावी रहता है, जिससे उनका स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता।
- प्रेमचंद अपने पाठकों को स्वाधीनता आन्दोलन का समर्थक बनाना चाहते हैं। इस उपन्यास की रचना में उनका यही उद्देश्य निहित है
- प्रेमचंद ने आम बोलचाल की हिन्दी-उर्दू का मिला-जुला रूप प्रयोग में लिया।

14.8 अभ्यास प्रश्न

1. 'रंगभूमि' के उद्देश्य के कारण इसकी व्यापकता का ह्रास हुआ है।' इस कथन की समीक्षा कीजिए।
2. 'रंगभूमि' के कथानक की विशेषताएँ स्पष्ट कीजिए।
3. 'रंगभूमि' में आदर्शवाद किस रूप में व्यक्त हुआ है? चर्चा कीजिए।
4. 'रंगभूमि' में यथार्थवाद किस रूप में व्यक्त हुआ है? विवेचन कीजिए।
5. 'रंगभूमि' का उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।

इकाई 15 सूरदास का चरित्र

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 'रंगभूमि' में सूरदास का स्थान एवं महत्व

15.3 सूरदास और गांधी जी

15.4 सूरदास की विशिष्टता

15.5 सारांश

15.6 अभ्यास प्रश्न

खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

15.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम 'रंगभूमि' के नायक सूरदास के चरित्र को समझने का प्रयास करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- गांधीजी एवं सूरदास के चरित्रों की समानता एवं अंतर बता सकेंगे;
- सूरदास के माध्यम से व्यक्त प्रेमचंद के विचारों की चर्चा कर सकेंगे;
- सूरदास के चरित्र में निर्भयता और साहस किस रूप में आया है, इसका विश्लेषण कर सकेंगे; और
- सूरदास की नेतृत्व करने की क्षमता, विपरीत परिस्थितियों में भी आशावादी बने रहना आदि गुण उसके व्यक्तित्व को किस तरह से नायक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं, इसकी विवेचना कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

किसी भी उपन्यास का महत्व उसमें व्यक्त विचारों और सामाजिक जीवन के विवरणों से नहीं बढ़ता, वरन् उस रचना में अभिव्यक्त एवं चित्रित मानव-प्रतिभा के चित्रण से होता है। युगीन परिस्थितियों के परिवर्तन से समाज में परिवर्तन होता है। इसी कारण लेखक और समाज के विचारों में परिवर्तन एवं विकास होता रहता है। कई क्रांतिकारी विचार समाज में सहज ही स्वीकृत हो जाते हैं। कुछ विचार बाद में अप्रासांगिक हो जाते हैं। युग-परिवर्तन के बाद इन सबका ऐतिहासिक महत्व रह जाता है। इसके विपरीत उपन्यास के पात्र बरसों पाठक के मन-मस्तिष्क को आन्दोलित करते रहते हैं। इसलिए किसी रचना की श्रेष्ठता एवं गुणवत्ता का आधार उसमें सर्जित पात्रों की अविस्मरणीयता से भी होता है। इस दृष्टि से सूरदास 'रंगभूमि' का अत्यंत महत्वपूर्ण पात्र है। 'रंगभूमि' के महत्व का एक कारण सूरदास का चरित्र भी है।

इसे रंगभूमि में अकेला सूरदास ही नहीं है, अनेक पात्र हैं, जो अपनी उपस्थिति से रचना के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं। उपन्यास में कथा के दो केन्द्र हैं - बनारस और पांडेपुर।

बनारस में विनय, सोफिया, कुँवर महेन्द्र कुमार, मि. जॉनसेवक, डॉ. गांगुली आदि हैं। पांडेपुर में सूरदास के साथ-साथ भैरो, जगधर, सुभागी, नायकराम पंडा, बजरंगी, ताहिर अली आदि हैं। यदि कथा के केन्द्र के रूप में देखें तो एक तरफ विनय, सोफिया हैं, दूसरे हिस्से में सूरदास हैं। उपन्यास के घटनाक्रम में सूरदास नायक बनकर उभरता है, शेष पात्र उसके चरित्र के सहयोगी (पक्ष या विपक्ष) बनकर हमारे सामने आते हैं।

'रंगभूमि' में वर्णित कथा, उसमें व्यक्त लेखक की विचारदृष्टि, मुख्य विषय-वस्तु का विश्लेषण हम इस खंड की पिछली तीनों इकाइयों में कर चुके हैं। इस इकाई में हम अपना ध्यान सिर्फ़ सूरदास पर केन्द्रित करेंगे।

15.2 रंगभूमि में सूरदास का स्थान एवं महत्व

सबसे पहले हम इस प्रश्न से अपना चिंतन आरंभ करते हैं कि यदि इस उपन्यास में से सूरदास के जीवन को निकाल दें, तो इसका महत्व कितना कम हो जाएगा। मान लीजिए पांडेपुर की जमीन का मालिक सूरदास नहीं, वरन् बजरंगी या नायकराम पंडा है तो उपन्यास की मुख्य विषय-वस्तु के ग्रहण में या प्रभाव में कितना अंतर आ जाएगा? 488 पृष्ठों के इस उपन्यास में सूरदास मात्र 175 पृष्ठों में आता है। यहाँ भी वह अकेला नहीं आता, अन्य पात्रों और घटनाओं के संदर्भ में आता है। यदि प्रत्येक पृष्ठ में पाँच पात्रों का हिस्सा मान लिया जाए तो सूरदास के हिस्से में मात्र 35 पृष्ठ आते हैं। इन 35-40 पृष्ठों के जीवन के सहारे सूरदास पूरे उपन्यास में छाया रहता है। यदि उसे निकाल दिया जाए तो उपन्यास बेजान विवरण मात्र रह जाएगा।

उपन्यास की प्रत्येक निर्णायक घटना के मूल में सूरदास का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हाथ है। उपन्यास का आरंभ सूरदास की जमीन को खरीदने-हड़पने की योजना से होता है और अंत में पांडेपुर की बस्ती उजड़ने और सूरदास के झोंपड़े को हटाने से हुए असहयोग आन्दोलन से होता है। इसके बाद सूरदास की मृत्यु, उसके मूर्ति स्थापन आदि की घटनाओं के बाद उपन्यास समाप्त होता है। उपन्यास की कथा के सारे निर्णायक मोड़ सूरदास के कारण उपस्थित होते हैं।

सूरदास अंधा है और भिखारी है। प्रेमचंद ने जब भी सूरदास का जिक्र किया है, इसी रूप में किया है। हालांकि उपन्यास में उसे भीख मांगते हुए बहुत कम दिखाया गया है। उपन्यास के आरंभ में वह पहली बार मि. जॉनसेवक से मिलता है। उस समय भीख मांगता है, जो कि उसे नहीं मिलती। इसी तरह राजा महेन्द्र कुमार से भी पहली बार भीख मांगते हुए मिलता है। बाद में वह कभी भीख मांगता हुआ नहीं मिलता। बाद में वह न्याय मांगता हुआ, संघर्ष करता हुआ मिलता है। यहाँ से प्रेमचंद इस चरित्र को उठाते हैं और उसे जननायक तक पहुँचाते हैं। पूरे उपन्यास में सूरदास के चरित्र में भिखारी की दयनीयता के कहीं दर्शन नहीं होते। वह अंग्रेजी राज को टक्कर देने की क्षमता रखने वाला पात्र है। वह कहता है - "मैं हाकिमों को दिखा देता कि एक दीन अंधा आदमी एक फौज को कैसे पीछे हटा देता है, तोप का मुँह कैसे बंद कर देता है, तलवार की धार कैसे मोड़ देता है।"

प्रेमचंद ने जानबूझकर अंग्रेजी राज का विरोध करने के लिए इतने दीन-हीन से प्रतीत होने वाले पात्र को चुना। भिखारी से अधिक दीन और गरीब कोई नहीं होता। उसके पास आय का कोई साधन नहीं होता, तभी तो वह भीख मांगता है। दूसरे, अंधे से अधिक दयनीय कोई नहीं माना जाता। प्रेमचंद ने संघर्ष का एक पक्ष इसको रखा। दूसरे पक्ष में, मि. जॉनसेवक, राजा महेन्द्र कुमार सिंह और ब्रिटिश शासन की फौज-पुलिस का पूरा तामझाम है। इस संघर्ष में पाठक की, किसी भी तटस्थ व्यक्ति की सहानुभूति सूरदास को ही मिलती है। यहीं से सूरदास का विजय अभियान शुरू होता है।

एक गरीब, अंधे, बेकस आदमी को हराकर उसे लूटकर किसी के मन में वीरोचित भाव का उदय नहीं हो सकता। आप जीतकर भी हारे हुए लगेंगे। उपन्यास के आरंभ में भले ही सूरदास कटोरा लेकर भीख माँगने निकलता है, परन्तु थोड़ी देर बाद भिखारी सूरदास नहीं, वरन् मि. जॉनसेवक लगने लगता है। 'मुझ पर दया करो' यह वाक्य कभी सूरदास नहीं बोलता। चतारी के राजा साहब बोलते हैं। यदि यह जमीन नायकराम पंडा की होती या बजरंगी की होती तो यह भाव नहीं आ सकता था। यदि दोनों पक्ष बराबर के हों तो न्याय और अन्याय का विभाजन साफ-साफ नहीं दीखता। बेचारा अंधा, बेचारा भिखारी, उससे भीख माँगते हुए या उसका माल छीनते हुए, उसे परास्त करते हुए आप अपने मन में भी अपने आपको उचित नहीं ठहरा सकते। हर बार स्वयं आपके सामने भी आपका कार्य अन्यायपूर्ण ही लगता है। किसी भी मानवीय तर्क से आप अपने विवेक को संतुष्ट नहीं कर सकते। सूरदास के चरित्र की यही कल्पना उसे नायकत्व की तरफ ले जाती है।

यथार्थवादी उपन्यासकार कई बार ऐसे पात्रों को रचता है। भले ही वह कल्पित प्रतीत होता हो, परन्तु उसके होने से शेष पात्रों का नैतिक छोटापन अधिक उभरकर आता है। इस प्रकार की पात्र रचना से उपन्यास में मि. जॉनसेवक और राजा महेन्द्र कुमार की कुटिलता का रंग स्वत: गाढ़ा हो जाता है। वास्तव में सूरदास की उपस्थिति उपन्यास की शक्ति है, क्योंकि वह रचनात्मक और सार्थक मूल्यों की प्रतिमा है। पर पात्र की दृष्टि से वह कमजोर पात्र है। वह सक्रिय पात्र नहीं है। प्रेमचंद ने मन लगाकर सूरदास की प्रतिमा को बड़ा किया है। कितनी भी बड़ी हस्ती से बिना डर के भिड़ जाना सूरदास की शक्ति है।

उपन्यास में सूरदास कैनवस का काम भी करता है, जिसके कारण अन्य पात्रों का चरित्र खुलता है, उन्हें उद्घाटित होने का मौका मिलता है इस रूप में लेखक ने सूरदास के चरित्र का उपयोग किया है। सौन्दर्यशास्त्रीय नैतिकता के अनुसार रचना में किसी भी पात्र का उपयोग अच्छा नहीं माना जाता। भले ही वह उपयोग कितने ही पवित्र उद्देश्य के लिए किया गया हो। इससे रचना तो कमजोर होती ही है, वह पात्र भी कमजोर हो जाता है। भले ही हम सूरदास के इकलौते होने की चाहे कितनी तारीफ करें, उसकी परंपरा का न होना, उसका बेऔलाद रहना भारतीय दृष्टि से दोषपूर्ण ही माना जाएगा।

इस दृष्टि से यदि हम सूरदास के चरित्र को देखें तो तस्वीर का एक नया रूप उभर कर सामने आता है। उपन्यास के भीतर यदि नजर डालें तो देखते हैं कि सभी पात्र सूरदास की तारीफ करते हैं। कोई उसकी निंदा नहीं करता। यहाँ तक कि प्रेमचंद भी उसके समर्थन में ही कथा का विकास करते हैं। उसे ही आदर्श पात्र के रूप में उपस्थित करते हैं। उसे अच्छा, बड़ा, धर्मात्मा, चिंतक, विचारक सब मान लेते हैं, परन्तु कोई भी पात्र उसके जैसा बनना नहीं चाहता। सभी मानते हैं कि सूरदास ही वैसा बना रहे, हमको वैसा अच्छा नहीं बनना। सूरदास के लड़ने का ढंग, उसकी राजनीति सब श्रेष्ठ है। शहर पर उसका जबर्दस्त प्रभाव है। बड़े-बड़े लोग उसका नाम आदर से लेते हैं। सब उसकी तारीफ करते हैं, परन्तु कोई उसको उदाहरण मानकर उसका अनुगमन नहीं करता। वह नेता तो है, परन्तु उसका अनुयायी कोई नहीं। न कोई होना चाहता है, न प्रयास करता है।

आपके मन में प्रश्न उठा होगा कि ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिए है क्योंकि सूरदास इस दुनिया का पात्र नहीं है। वह यथार्थवादी पात्र नहीं है। वह आदर्श है। वह कल्पित है। प्रेमचंद भी उसे व्यवहार जगत का पात्र नहीं मानते, भले ही उसे वरेण्य मानते हों, परन्तु वास्तविक नहीं मानते। शेष पात्र, चाहे अच्छे-बुरे हों, इसी दुनिया के वासी हैं। मि. क्लार्क यथार्थवादी पात्र हैं, चतारी के राजा साहब, मि. जॉनसेवक, नायकराम पंडा, बजरंगी, जगधर सब इसी होती-जागती दुनिया के पात्र हैं। सूरदास नहीं है। वह अलौकिक पात्र है। गलती से इस दुनिया में आ गया है। उसके जैसा कार्य हम नहीं कर सकते। वह तो वही कर सकता है। उसकी शक्ति अविश्वसनीय है। वह स्वयं कल्पित पात्र है। यह अवश्य है कि उसकी

अविश्वसनीयता से शेष पात्र और सारा उपन्यास विश्वसनीय और यथार्थवादी लगता है। वह सबको यथार्थवादी बनाता है।

इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि सूरदास प्रेमचंद के विचारों का प्रतिनिधि पात्र नहीं है। सूरदास के जीवन की मुख्य समझ है कि जीवन खेल का मैदान है, रंगमंच है, यही रंगभूमि है। जिसे राजा की भूमिका मिलती है, वह राजा बनता है। जिसे अंधे की भूमिका निभानी है, उसे अंधा बनना है। सब अपने अपने धर्मों का पालन करते हैं। उनका वैसा करना ठीक है। भैरों ने सूरदास की झोंपड़ी जला दी, तो ठीक किया। सूरदास ने भैरों के रुपये लौटा दिये, यह भी ठीक किया। इसी तरह सब लोग अपनी-अपनी भूमिकाएँ निभाकर जीवन रूपी रंगभूमि से चलते बनें और यह जीवन हंसते-खेलते समाप्त हो जाए। यह सूरदास की जीवन दृष्टि का सार है। प्रेमचंद इसे संदेश की तरह प्रचारित नहीं करते। भले ही यह संदेश बुरा नहीं है, बल्कि अच्छा ही है। परन्तु सूरदास के अलावा कोई इसको अपनाता नहीं। प्रेमचंद भी जोर नहीं देते। यह है और अच्छा। बस! इसके प्रचारित-प्रसारित होकर जीवन में अपना लेने के बारे में स्वयं लेखक आश्वस्त नहीं है।

फिर लेखक की जीवनदृष्टि किसी एक पात्र के माध्यम से ही अभिव्यक्त नहीं होती। प्रसंगानुसार खल पात्रों के माध्यम से भी लेखक अपने विचारों को प्रकट कर सकता है। उदाहरण के लिए धर्म के बारे में प्रेमचंद के विचार मि. जॉनसेवक के माध्यम से प्रकट होते हैं। सूरदास की धार्मिकता अच्छी है, परन्तु वह उसकी अपनी है। उस धार्मिक भावना के प्रति प्रेमचंद सन्देह नहीं रखते। मि. ईश्वर सेवक की धार्मिकता सन्देहास्पद है। जब भी धर्म - संबंधी विवाद होता है, प्रेमचंद मि. जॉनसेवक के शब्दों में बोलना पसन्द करते हैं। इसलिए अन्य वर्णनात्मक उपन्यासों की तरह 'रंगभूमि' का नायक भी लेखक का प्रवक्ता पात्र नहीं है।

15.3 सूरदास और गांधी जी

कुछ आलोचकों ने सूरदास को गांधीवाद का प्रतीक पात्र बताया है। हंसराज रहबर ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है - "लेकिन प्रेमचंद ने जाने या अनजाने, गांधीवाद के इस प्रतीक को अंधा दिखाया है, जो वस्तुस्थिति से आँख मूँदकर और अपने आप में डूबकर लड़ता रहता है। मगर प्रेमचंद तो यथार्थवादी थे। उनकी आँखें बन्द नहीं थी। इसलिए आदर्शों के मुकाबले में उन्होंने अंत में यथार्थ ही की जीत दिखायी है। बढ़ते हुए पूँजीवाद के सामने सामन्त युग की पुरानी व्यवस्था और उसकी मान्यताएँ ठहर नहीं सकतीं। सत्याग्रह आन्दोलन के बावजूद पांडेपुर उजड़ जाता है और वहाँ जॉन सेवक का कारखाना लगता है। स्वयं सूरदास अपनी हार स्वीकार करता है-"तुम जीते मैं हारा"। इसके विपरीत गांधीवादी सत्याग्रही ही हार को हार नहीं मानता। सूरदास के चरित्र की यह असंगति प्रेमचंद की अपनी असंगति है।" जैसा कि हम पिछली इकाई में पढ़ चुके हैं कि सूरदास असहयोग आन्दोलन की देन है। असहयोग आन्दोलन से पूर्व सूरदास की कल्पना नहीं की जा सकती थी। अब असहयोग आन्दोलन गांधी जी की देन है। उन्होंने ही इस नये ढंग के राजनीतिक संघर्ष की रूपरेखा प्रस्तुत की। इसलिए हम कह सकते हैं - गांधीजी > असहयोग आंदोलन > सूरदास यह विकास क्रम बनता है। अत: हम मान सकते हैं कि सूरदास गांधीजी की देन है। तब भी, यह कहना मुश्किल है कि सूरदास गांधीजी का प्रतीक है।

प्रेमचंद ने असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद 'रंगभूमि' की रचना की थी। असहयोग आन्दोलन ने अंग्रेजी राज की जड़ें हिला दी थी। शक्तिशाली और अजेय समझा जाने वाला अंग्रेजी साम्राज्य इस आंदोलन के दिनों में अनेक अवसरों पर कुछ भी करने की स्थिति में नहीं रहा। शक्ति का मुकाबला शक्ति से हो, बन्दूक का मुकाबला बन्दूक से हो तो अंग्रेजी बन्दूक जीतेगी। यह समझकर गांधी जी ने इस संघर्ष को न्याय-अन्याय का संघर्ष बना डाला। 'रंगभूमि' में सूरदास के विरोधी जीत रहे हैं, सूरदास की जमीन हड़पने, पांडेपुर

खाली कराने, सूरदास का झोंपड़ा गिराने में सफल हो रहे हैं। परन्तु सूरदास यह समझाने में सफल रहा कि तुम अन्याय कर रहे हो, अधर्म कर रहे हो, बल का दुरुपयोग कर रहे हो। यह तुम्हारी नहीं, अन्याय की जीत है और अन्यायी की जीत अस्थायी होती है। अंतिम विजय सत्य की ही होती है और वह होकर रहेगी। मि. जॉन सेवक कानून बनवाकर जमीन ले लेते हैं। बाद में पांडेपुर की बस्ती खाली करवा ली जाती है। सूरदास कहता है - "अपना घर है, नहीं देते। जबर्दस्ती जो चाहे ले लो।'' सूरदास यह रेखांकित करने में सफल हो जाता है कि मि. जॉनसेवक, राजा महेन्द्र कुमार, मि. क्लार्क अन्याय कर सकते हैं, इसलिए कर रहे हैं - भला सोचो, कितना अंधेर है कि हम, जो सत्तर पीढ़ियों से यहां आबाद हैं, निकाल दिए जाएं और दूसरे यहां आकर बस जाएं। यह हमारा घर है, किसी के कहने से नहीं छोड़ सकते। जबर्दस्ती जो चाहे, निकाल दे, न्याय से नहीं निकल सकता। तुम्हारे हाथ में बल है, तुम हमें मार सकते हो, हमारे हाथ में बल होता, तो हम तुम्हें मारते। यह तो कोई इन्साफ नहीं है। सरकार के हाथ में मारने का बल है, हमारे हाथ में और कोई बल नहीं है, तो मर जाने का बल तो है।''

आरंभ में मि. जॉनसेवक सूरदास की जमीन खरीदना चाहते हैं। सूरदास बेचना नहीं चाहता। फिर भी जॉनसेवक जमीन लेना ही चाहते हैं। म्यूनिसिपैलिटी से कानून बनवाकर सूरदास की जमीन ले ली जाती है। पांडेपुर के लोग सूरदास का साथ नहीं देते। वह अकेला पड़ जाता है। परन्तु वह घबराता नहीं। पूरे शहर में घूम-घूमकर वह मि. जॉनसेवक और राजा महेन्द्र कुमार को बदनाम कर देता है। प्रेमचंद ने इस प्रकरण पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि 'सूरदास के आर्तनाद ने महेन्द्रकुमार की प्रतिष्ठा को जड़ से हिला दिया। वह आकाश से बातें करने वाला कीर्तिभवन क्षण भर में धाराशायी हो गया।' यह प्रभाव सूरदास में गांधीवादी दृष्टि से आया है। इसी तरह सुभागी और सूरदास पर मुकदमा चलता है। राजा महेन्द्र कुमार निर्णायक हैं। गवाहों के बयान हुए। दोनों दोषी पाये गये। दोनों पर जुर्माना हो गया। सूरदास ने भरी अदालत में आम जनता के सामने अपना पक्ष रखा - "दुहाई है, पंचो, आप इतने आदमी जमा हैं। आप लोगों ने भैरों और उसके गवाहों के बयान सुने, मेरा और सुभागी का बयान सुना, हाकिम का फैसला भी सुन लिया। अब आप लोगों से मेरी विनती है कि क्या आप भी मुझे अपराधी समझते हैं?.....अगर आपको विश्वास आ गया है तो मैं इसी मैदान में सिर झुकाकर बैठता हूं। आप लोग मुझे पांच पांच लात मारें। अगर मैं लात खाते-खाते मर भी जाऊं, तो मुझे दुख न होगा। ऐसे पापी का यही दंड है। कैद से क्या होगा। और अगर आपकी समझ से मैं बेकसूर हूं तो पुकारकर कह दीजिए। हम तुझे निरपराध समझते हैं। फिर मैं कड़ी से कड़ी कैद भी हंसकर काट लूंगा।'' अदालत कक्ष में दर्शकों से सीधे की गयी इस अपील से "अदालत के कमरे में सन्नाटा छा गया। राजा साहब, वकील, अमले, दर्शक, सब-के-सब चकित हो गये। किसी को होश न रहा कि इस समय क्या करना चाहिए। सिपाही दर्जनों थे, पर चित्र-लिखित से खड़े थे। परिस्थिति ने एक विचित्र रूप धारण कर लिया था, जिसकी अदालत के इतिहास में कोई उपमा न थी। शम्भु ने ऐसा छापा मारा था कि उससे प्रतिपक्षी सेना का पूर्व-निश्चित क्रम भंग हो गया।''

अकेला, निहत्था सूरदास ऐसी बाजियां कई बार पलट देता है। सूरदास के झोंपड़े में रात को बजरंगी का बेटा घीसू और जगधर का बेटा विद्याधर घुस जाते हैं। सुभागी और सूरदास दोनों को पकड़ लेते हैं। हो-हल्ला मचता है। सूरदास बच्चों को छोड़ देने की सलाह नहीं मानता। पुलिस आती है। गवाह नहीं मिलते। सारी सोची-समझी योजना को सूरदास उलट देता है और सारा गाँव गवाही देने के लिए तैयार हो जाता है।

सूरदास मानता है कि फल चाहे जो मिले, कोई साथ दे या न दे, निन्दा-स्तुति की परवाह किये बिना, कार्य वह करो, जो नीति, धर्म और आत्मा को ठीक लगे। यही सूरदास की शक्ति है। इन्दु कहती है - "वह अपनी धुन का पक्का, निस्पृह और सत्यनिष्ठ आदमी है,

किसी से दबना नहीं जानता।'' सूरदास के मुख्य विरोधी राजा महेन्द्र कुमार जब भी अकेले में आत्मचिंतन करते हैं, वस्तुगत ढंग से परिस्थितियों का विश्लेषण करते हैं, तो उनको लगता है कि "अंधे में फिर भी विवेक है, नहीं तो बनारस के शोहदे दिन-दहाड़े मेरा घर लूट लेते।''

इस तरह सूरदास के व्यक्तित्व की भीतरी शक्ति में असहयोग आन्दोलन का प्रभाव देखा जा सकता है। गांधीजी को साहित्य में दो-तीन तरह से प्रस्तुत किया जा सकता है। गांधीजी एक राजनीतिक कार्यकर्ता और स्वाधीनता आन्दोलन के मान्य नेता थे। सूरदास गांधीजी के इस पक्ष को प्रस्तुत नहीं करता। वह भिखारी है। गरीब है। अंधा है। मान्य तो है ही नहीं। इसी तरह वह दलित समाज का व्यक्ति है। ऐसी अनेक छोटी-मोटी भिन्नताएँ हैं, जो गांधीजी से उसे अलग करती हैं। गांधी जी एक बुद्धिजीवी भी थे। उन्होंने भारतीय बुद्धिजीवियों की बुद्धि के द्वार खोले। अब लेखकों ने गांधीजी की दृष्टि से वास्तविकताओं को देखना शुरू किया। गांधीजी के विचारों को हू-ब-हू प्रस्तुत करने का काम भी कुछ लेखकों ने किया था। प्रेमचंद ने नहीं किया। उन्होंने 'रंगभूमि' में ऐसी नयी वास्तविकता को देखा और दिखाया, जिसे स्वयं गांधीजी ने नहीं देखा था। यदि गांधीजी इन परिस्थितियों में होते तो वे भी लगभग सूरदास की तरह ही व्यवहार करते। सुभागी प्रकरण में ऐसी ही दृढ़ता का परिचय देते या हाकिम के आदेश की अपील पंचों के दरबार में ऐसे ही करते। यदि यह मानकर प्रेमचंद ने सूरदास का चित्रण किया हो, तो हम दोनों में कुछ भावनात्मक वैचारिक समानता देख सकते हैं।

सूरदास की निर्भयता, उसकी नेतृत्व करने की क्षमता विपरीत परिस्थितियों में भी आशावादी बने रहना आदि उसके व्यक्तित्व के गुण असहयोग आन्दोलन अर्थात गांधीजी से आये हैं। उसे इसी रूप में देखना चाहिए। वह न तो गांधी जी का प्रतीक पात्र है और न गांधीवादी दर्शन का प्रवक्ता ही है। वह नया पात्र है, जो असहयोग आन्दोलन से आया है। असहयोग से पहले हम सूरदास की कल्पना नहीं कर सकते और न उसके बाद आ सकते हैं। असहयोग आन्दोलन की ताजगी सूरदास में मिलती है - वही उमंग, वही उत्साह और वही निश्चिंतता उसका प्राण है। इस कारण हम सूरदास को दुबारा किसी उपन्यास में नहीं देखते। शेष पात्र नाम एवं रूप बदलकर आगे भी उपन्यासों में बने रहे। विनय-सोफिया, रानी, मि. क्लार्क सबसे आगे भी मिलना होता रहता है। लेकिन प्रेमचंद के अगले किसी उपन्यास में सूरदास के दर्शन नहीं होते। गांधीजी और गांधीवाद बाद में भी रहते हैं। लेकिन सूरदास का यह अद्‌भुत-अपूर्व चरित्र फिर नहीं मिलता।

15.4 सूरदास की विशिष्टता

पांडेपुर के कुछ लोग सूरदास का, झोंपड़ा जला देते हैं। जले हुए झोंपड़े के पास सूरदास और मिठुआ बैठे हुए हैं। दोनों बातचीत कर रहे हैं-

"मिठुआ - दादा, अब हम रहेंगे कहाँ?

सूरदास - दूसरा घर बनाएँगे।

मिठुआ - और जो कोई फिर आग लगा दे?

सूरदास - तो फिर बनाएँगे।

मिठुआ - और फिर लगा दे?

सूरदास - तो हम फिर बनाएंगे।

मिठुआ - और जो कोई हजार बार लगादे?

सूरदास - तो हम हजार बार बनाएँगे।

मिठुआ - और जो कोई सौ लाख बार लगा दे?

सूरदास - तो हम भी सौ लाख बनाएँगें।''

हम देखते हैं कि इस बातचीत में सूरदास का धैर्य, उसकी सहनशक्ति, उसका आशावाद और उसका सकारात्मक चिंतन प्रकट होता है। वह इसी मनोभाव से अपने सभी शत्रुओं से संघर्ष करता है और अंत तक संघर्ष करता ही रहता है।

सूरदास के जीवन में परीक्षा के कई क्षण आते हैं। सूरदास के रूपये भैरो चुरा लेता है। सूरदास उन रूपयों को नहीं रखता। यदि रख लेता, तो कोई अनैतिक कार्य नहीं होता। उसके रूपये थे और उसने रख लिये। व्यावहारिक नैतिकता की दृष्टि से सही है। परन्तु सूरदास का तर्क दूसरा है। वह कहता है - "यह मेरी चीज नहीं, भैरो की चीज है। इसी के लिए भैरो ने अपनी आत्मा बेची है, महँगा सौदा लिया है। मैं इसे कैसे ले लूँ?" रुपयों की थैली वह भैरो को लौटा देता है तथा सुभागी का नाम भी बता देता है।

सुभागी-सूरदास का यह प्रकरण काफी लम्बा चलता है। मोहल्ले के लोग सूरदास पर व्यंग्य करते हैं। सूरदास का मन उचट जाता है और वह पांडेपुर छोड़कर तीर्थयात्रा पर निकल जाना चाहता है। इतने में भैरो की मार खाकर सुभागी आती है और कहती है कि मैं कहाँ रहूँगी। इसमें बदनामी का भय है। सूरदास असमंजस में है। उसे बदनामी (अपनी) तथा आबरू (सुभागी) में से किसी एक की रक्षा करनी है। सूरदास ने आबरू की रक्षा करने का निर्णय किया। उसने निर्णय लिया कि सुभागी को "मझधार में छोड़ देने से बदनाम होना अच्छा है।" यह जीवट चरित्र सूरदास का ही हो सकता है। बस्ती के किसी अन्य पात्र में यह साहस नहीं है।

एक बार सोफिया की प्रेरणा से मि. क्लॉर्क सूरदास की जमीन वापिस लौटा देता है। सोफिया बहुत खुश है। उसके पिता मि. जॉनसेवक हालांकि उसे डांटते-डपटते हैं, तब भी वह अपने पिता और राजा महेन्द्र कुमार की पराजय में अत्यंत मगन है। मगन सूरदास भी है। वह भी नाचता-गाता है। परन्तु सोफिया सो नहीं पाती। वह एक हास्य-व्यंग्य प्रधान नाटक लिखती है और अंत में जगाकर प्रभुसेवक को सुनाती है। दोनों बहिन-भाई इस प्रहसन का मंचन करके मि. जॉनसेवक और राजा साहब को शहरभर में बदनाम करना चाहते हैं। दूसरे दिन वे दोनों सूरदास से मिलने जाते हैं और अपने प्रहसन की सूचना देते हैं। सूरदास कहता है - "नहीं मिस साहब, यह खिलाड़ियों की नीति नहीं है। खिलाड़ी जीतकर हारने वालों की हँसी नहीं उड़ाता, उससे गले मिलता है और..... ।" इस जीत के बाद सूरदास राजा साहब से मिलकर भी आ गया है। वही सोफिया को यह प्रहसन करने से रोकता है। सोफिया सूरदास के सामने छोटा महसूस करती है। सूरदास अपनी जीवन-दृष्टि समझाते हुए कहता है - "मेरा धर्म तो यही है कि जब कोई मेरी चीज पर हाथ बढ़ाये तो उसका हाथ पकड़ लूँ। वह लड़े तो लड़ूँ और उस चीज के लिए प्राण तक दे दूँ। चीज मेरे हाथ आयेगी इससे मुझे मतलब नहीं, मेरा काम तो लड़ना है और वह भी धरम की लड़ाई लड़ना। अगर राजा साहब दगा भी करें, तो मैं उनसे दगा न करूँगा।"

इसी तरह सुभागी-सूरदास प्रकरण में कोई भैरों की दुकान में आग लगा देता है। इन्द्रदत्त ने सूरदास की रिहाई के लिए चंदा किया था। उस चंदे में से 300/- रुपये बच गए। इसी प्रकरण में सूरदास का झोंपड़ा भी जला दिया गया था। सूरदास ने कहा कि मेरा घर बनने से पहले भैरों की दुकान बनेगी। क्यों? क्योंकि "यह बदनामी कौन ले कि सूरदास ने भैरो का घर जलवा दिया। मेरे मन में यह बात समा गयी है कि हमीं में से किसी ने उसकी दुकान जलायी।" और वह ये रूपये भैरों को दे देता है। इसी तरह जमीन के मुआवजे के 1000/- रुपये भी वह इन्द्रदत्त को सेवा समिति के लिए दान दे देता है। इस तरह से हम देखते हैं कि अपने जाने सूरदास कोई अनर्थ नहीं करता। यहाँ तक कि मृत्यु शैया पर पड़े हुए भी वह अपने परम विरोधी मि. जॉनसेवक को मिठुआ से सावधान रहने की सलाह देना नहीं भूलता।

सूरदास के व्यक्तित्व की इन विशेषताओं की तारीफ उपन्यास के सभी पात्र करते हैं। सूरदास भी प्रसन्न है कि उसने खेल में कोई बेईमानी नहीं की - "हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धांधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी।'' वह प्रसन्नतापूर्वक इस दुनिया से विदा लेना चाहता है। इससे पहले मिठुआ का प्रकरण सामने आता है। मिठुआ नये नरीके से सूरदास के व्यक्तित्व का विश्लेषण करता है। प्रेमचंद ने अद्‌भुत तटस्थता से इस पूरे प्रकरण को चित्रित किया है।

मृत्यु-शैया पर पड़े हुए सूरदास को उसका भतीजा मिठुआ कहता है - "दादा अब मुँह न खुलवाओ, परदा ढका रहने दो। मुझे चौपट करके मरे जाते हो, उस पर कहते हो, मेरा किरिया-करम कर देना, गया-पराग कर देना। हमारी दस बीघे मौरूसी जमीन थी कि नहीं, उसका मावजा दो पैसा, चार पैसा कुछ तुमको मिला कि नहीं, उसमें से मेरे हाथ क्या लगा? घर में मेरा कुछ हिस्सा होता है या नहीं? हाकिमों से बैर न ठानते, तो उस घर के सौ से कम न मिलते। पंडा जी ने कैसा पाँच हजार मार लिये? है उनका घर पाँच हजार का? दरवाजे पर मेरे हाथों के लगाये दो नीम के पेड़ थे। क्या वे पाँच-पाँच रुपये में भी महंगे थे। मुझे तो तुमने मटियामेट कर दिया, कहीं का न रखा। दुनिया भर के लिए अच्छे होगे, मेरी गरदन पर तो तुमने छुरी फेर दी, हलाल कर डाला।''

सूरदास के जीवन का यह भी पक्ष है, जिसे प्रेमचंद दिखाना नहीं भूले।

हालाँकि सूरदास ने अपनी तरफ से जान-बूझकर कभी कोई बेईमानी नहीं की, तब भी वह अन्यायपूर्वक मारा गया और उसे अंग्रेज कलेक्टर मि. क्लार्क ने स्वयं अपने हाथों से गोली मारी। दैहिक मृत्यु के बाद भी सूरदास जन-स्मृति में जीवित रहा और उसकी मृत्यु के पश्चात् जननेताओं की तरह उसकी मूर्ति बनायी गयी। हालाँकि सूरदास अपनी लड़ाई में असफल रहा, परन्तु उसने अपनी पराजय के बावजूद अपने शत्रुओं की महिमा को भी धो डाला। अंग्रेज समर्थक राजा महेन्द्र कुमार की सारी प्रतिष्ठा मिट्‌टी में मिला दी। अंग्रेज साम्राज्यवाद के प्रतीक मि. क्लार्क को उसने हत्यारा साबित कर दिया। यह उसके चरित्र की नैतिक विजय है। यहाँ डॉ. रामविलास शर्मा का कथन उल्लेखनीय है - "सूरदास की जीत क्यों नहीं हुई? इसलिए कि खिलाड़ी आपस में मिलकर न खेले थे, आपस में झगड़ते रहे थे। क्या उसकी बात सच है? किसान आपस में झगड़ते रहे थे; मज़दूरों में न आपसी एका था, न उन्होंने किसानों से एका किया था। फिर क्लार्क और जॉनसेवक की जीत क्यों न होती? इसके अलावा सूरदास मानो अपनी मृत्यु-शैया से संदेश देता है -'अपने उजड़े हुए घर बसाने हैं तो अपना एका मजबूत करो।''

15.5 सारांश

इस इकाई में हमने रंगभूमि के विशिष्ट चरित्र सूरदास पर चर्चा की। जो बिन्दु इस पूरी चर्चा में उभरकर हमारे समक्ष आए, वे हैं:

- प्रेमचंद ने असहाय अंधे भिखारी के रूप में सूरदास को उठाया और उसे उपन्यास का नायक तो बनाया ही जन नायक भी बना दिया।
- सूरदास प्रेमचंद के विचारों का वाहक नहीं है; हालाँकि प्रेमचंद उसके सभी कार्यों का समर्थन करते हैं।
- सूरदास दुनियादार आदमी नहीं है।

- सूरदास असहयोग आन्दोलन की देन है। चूँकि असहयोग आन्दोलन गांधीजी की देन है, अत: अप्रत्यक्ष रूप से वह भी गांधीजी से प्रभावित है। हालाँकि उपन्यास में एक बार भी गांधीजी का नाम नहीं आता।
- सूरदास जीवन को खेल समझता है। इसलिए निर्द्वन्द्व भाव से अपनी भूमिका निभाता है, तथा किसी प्रकार की कोई बेईमानी नहीं करता।

15.6 अभ्यास प्रश्न

1. सूरदास और गांधीजी के विचारों की समानताएँ एवं असमानताएँ स्पष्ट कीजिए।
2. क्या सूरदास जिद्दी पात्र है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
3. इतने आदर एवं सम्मान के बावजूद उपन्यास में सूरदास की कोई परंपरा नहीं बन पाती? इसके क्या कारण हो सकते हैं?
4. क्या सूरदास प्रेमचंद के विचारों का वाहक है? वह लेखक से कितना स्वतंत्र है?
5. टिप्पणी लिखिए :
    1. सूरदास एवं भैरो की तुलना।
    2. विनय एवं सोफिया की तुलना।
    3. नायकराम पंडा का चरित्र।
    4. राजा महेन्द्र कुमार और सूरदास का संघर्ष।
    5. क्या सूरदास आशावादी पात्र है?

खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1. प्रेमचंद और उनका युग : रामविलास शर्मा : राजकमल प्रकाशन
2. प्रेमचंद और भारतीय किसान : डां० रामबक्ष
3. कलस का सिपाही : अमृतराय
4. प्रेमचंद घर में : शिवरानी देवी

परिशिष्ट : रंगभूमि

रंगभूमि की रचना सन् 1925 ई. में हुई थी। इस उपन्यास के विन्यास में उस युग की ऐतिहासिक घटनाओं की बुनावट छिपी हुई है। प्रेमचंद ने अपने समय के इतिहास से उपन्यास में अर्थों का एक पैटर्न बुना है। इसलिए उपन्यास में रचनात्मक अर्थ के समानांतर उस युग के इतिहास और राजनीति का व्यापक परिदृश्य उपस्थित हुआ है। सूरदास उस युग के किसान आंदोलन के अपराजित मनोभाव का प्रतीक है तो, भरतसिंह और महेन्द्रप्रताप सिंह आदि मध्यवर्ग की अवसरवादी राजनीति के प्रतीक हैं। जॉनसेवक औपनिवेशिक शोषण के एक अंग हैं। विनय दिग्भ्रमित मध्यवर्ग का पात्र जैसा प्रतीत होता है। चंपारण और खेड़ा का सत्याग्रह तथा उत्तर प्रदेश में अवध किसान सभा का गठन कहीं न कहीं उपन्यास के भीतर तंतुजाल के रूप में उपस्थित है। कांग्रेस पार्टी के भीतर उभरता हुआ कांग्रेस खिलाफत स्वराज पार्टी अवसरावादी और सत्ता की आकांक्षा से पोषित हुआ था। भरतसिंह और महेन्द्रसिंह आदि इसी ऐतिहासिक सच्चाई की रचनात्मक उपज हैं। इस उपन्यास के अध्ययन एवं विवेचन में इतिहास की तमाम शक्तियों को ध्यान में रखना अनिवार्य होगा।

अंतर्वस्तु

रंगभूमि प्रेमचंद का महाकाव्यात्मक उपन्यास है। उपन्यास में पारंपरिक भारतीय समाज और नए पूँजीवाद समाज की मुठभेड़ को व्यापक संदर्भों में रचने की कोशिश की गई है। उपन्यास में तीन तरह का समाज चित्रित है, एक समाज सूरदास का सामुदायिक समाज, दूसरा भरतसिंह-महेन्द्रसिंह आदि सामंतों का परिवार और तीसरा पूँजीपति जॉनसेवक का परिवार। इन तीन बिंदुओं के बीच घटनाओं की शृंखला से उपन्यास का तानाबाना बुना गया है। अपने समुदाय अपने पुरखों और अपनी जमीन के प्रति सूरदास की अटूट निष्ठा है। जॉनसेवक सिगरेट का कारखाना खोलने के लिए पांडेपुर की जमीन उससे चाहता है। इसके लिए वह तमाम तरह के तिकड़म और प्रलोभन से सूरदास को लुभाने का प्रयत्न करता है। परंतु सूरदास अपने विचार पर अडिग है। पारंपरिक भारतीय समाज का प्रतिनिधि होने के बावजूद वह उन कुरीतियों और बुराइयों को पहले ही देख लेता है, जो औद्योगिक सभ्यता से उपज सकती थीं। इस रूप में उसके विचार आलोचनात्मक और आधुनिक हैं। सूरदास अपनी संघर्ष क्षमता साहस और संकल्प से जनता का समर्थन प्राप्त करता है। लेकिन अंततः वह तंत्र का शिकार होता है। अपनी जमीन से विस्थापित होने से पूर्व अपना आत्मबलिदान देता है। वह जिन नैतिक मूल्यों और विश्वासों में जीता है, उसके टूटने से पहले अपना दम तोड़ना पसंद करता है।

सामंत एक प्रकार से दोहरी नैतिकता में जीते हैं। राष्ट्र के लिए आत्मसमर्पण का दिखावा वे जनता के सामने रखते हैं और व्यक्तिगत लाभ की मानसिकता को पर्दे के पीछे यानी छिपाकर रखते हैं। अपना वर्गगत हित उनका सर्वोपरि उद्देश्य है इस मनोवृत्ति से कोई भी सामंत नहीं बचे हैं चाहे कुँवर विनय सिंह ही क्यों न हो? उनके चरित्र में और भी अधिक नाटकीय परिवर्तन होता है। प्रेमचंद यह प्रस्तावित करना चाहते हैं कि सामंतों का पूँजीपति से गठजोड़ के कारण उनका चरित्र और भी अधिक क्रूर और अमानवीय हो गया है। सामंतों के चरित्र के कन्ट्रास्ट में वे सूरदास जैसे पात्र को रचकर यह सांकेतित करना चाहते हैं कि इन तथाकथित बड़े लोगों की अपेक्षा निम्न वर्ग के लोग कितने निश्छल और निर्भीक हैं।

मिस्टर जॉनसेवक एक चतुर और कुशल पूँजीपति है। वह पैसे और लाभ के लिए अपनी नैतिकता को भी बेच सकता है। उसकी पुत्री सोफिया उसके लिए मिस्टर क्लार्क जैसे अफसर से संबंध साधने का उपादान है। पुत्र प्रभुसेवक उसके लिए निकम्मा है। जॉन सेवक का आदर्श योरोपीय सभ्यता है। वह अपना जीवन मूल्य उसी सभ्यता से निर्धारित करता

है। इसके लिए उसे कौन से मानवीय मूल्य चुकाने पड़े इनका उसे तनिक भी आभास नहीं है। जमीन से विस्थापितों के प्रति उसमें किसी प्रकार की आत्मीयता नहीं है। धन कमाने की सनक में उसे अपने पुत्र और पुत्री की भी चिंता नहीं है। प्रेमचंद इस प्रसंग के माध्यम से उस भौतिक संस्कृति की आलोचना करना चाहते हैं जिससे सामान्य मानवीय संवेदना का ह्रास होता है।

महत्व

रंगभूमि की महत्ता पर चर्चा करने से पूर्व सामंती व्यवस्था के संदर्भ में आइए, हम मुक्तिबोध के कथन को देखते हैं, "जो पुराना है, अब वह लौटकर आ नहीं सकता। लेकिन नये ने पुराने का स्थान नहीं लिया। धर्म भावना गयी, लेकिन वैज्ञानिक बुद्धि नहीं आयी। धर्म ने हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष को अनुशासित किया था। वैज्ञानिक मानवीय दर्शन ने, वैज्ञानिक मानवीय दृष्टि ने धर्म का स्थान नहीं लिया। इसलिए केवल हम अपनी अन्तःप्रवृत्तियों के यंत्र से चालित हो उठे। उस व्यापक उच्चतर सर्वतोमुखी मानवीय अनुशासन की हृदिक सिद्धि के बिना हम नया-नया चिल्ला तो उठे, लेकिन वह नया क्या है हम नहीं जान सके।'' नई और पुरानी जीवन दृष्टि का भयंकर द्वन्द्व रंगभूमि में उपस्थित हुआ है। पांडेपुर में कारखाने बन गए। इन सबसे उसके लिए एक बड़ा विस्थापन हुआ। विस्थापन में गहरी पीड़ा और वेदना है। यह मात्र स्थान से विस्थापित होने की समस्या नहीं थी। उन जीवन मूल्यों से विस्थापित होने की भी समस्या थी जिसमें सूरदास और उसका समुदाय जीता था। जिन प्रतीकों, मिथकों और विश्वासों में उसका संसार बसा हुआ था उसके नष्ट होने से आत्म निर्वासन की समस्या उसके सामने थी। यह विस्थापितों के जीवनयापन की समस्या से अधिक महत्वपूर्ण थी।

रंगभूमि में प्रेमचंद ने तत्कालीन भारतीय जीवन की आंतरिक और भीतरी गति को पहचानने का प्रयास किया है। इसलिए उनके पात्र सिद्धान्त और विचार के पुतले न होकर जीवन के पुतले हैं। और वे पात्र जीवन की प्रक्रिया में विचार तक पहुँचते हैं। जीवन और परिवेश की अनगढ़ वास्तविकता से उपन्यास का अर्थ निर्मित होता है। सूरदास की निर्धनता को बताने के लिए उसकी झोपड़ी और अत्यल्प समान का जिक्र होता है। ऐसे कठिन क्षणों में प्रेमचंद की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है। विकास के नाम पर आर्थिक शोषण का चक्र पुराना है, रंगभूमि का जनसंघर्ष इस शोषण के विरुद्ध है। यह जनसंघर्ष आज के समाज को भी सत्ता के शोषण के प्रतिरोध में खड़े होने का संदेश देता है।

भाषा शैली

रंगभूमि में जीवन की नाटकीयता के बीच उपन्यास की कथावस्तु निर्मित होती है। इसके बाद घटनाओं का सिलसिला शुरू होता है और ये घटनाएँ सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को परत-दर-परत उघारती चलती हैं। रंगभूमि उपन्यास के आरंभ में मंदिर पर रात्रि में गायन होता है। गायन के क्रम में पात्रों की आपसी बातचीत में सामाजिक जीवन के कई पहलू सामने आते हैं। पात्रों की निर्धनता, अछूत के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण, साधुओं के व्यभिचार आदि जैसे कई प्रसंग इस बातचीत में नियोजित हैं। सुभागी अपने पति से पीड़ित होने के कारण घर छोड़ देती है। इस घटना का एक सामाजिक सरोकार है। परंतु वह सरोकार जीवन की परिस्थितियों की टकराहट से निर्मित होता है। उपन्यास में जीवन और परिस्थितियों का कोई निश्चित संबंध नहीं है। वह अपने अंतर्विरोध से अंतहीन विविधता को रचती है। उपन्यास में घटनाओं के वास्तविक और सामाजिक प्रसंग हैं। वास्तविकता की यह अनुभूति उपन्यास को तथा जीवन और समाज के विविध प्रसंगों को विश्वसनीय बनाती है।

प्रसंग की विश्वसनीयता में प्रेमचंद की भाषा का बड़ा योगदान है। पात्रों की विविधता को

भाषा प्रयोग से आसानी से पहचाना जा सकता है। पात्रों की भाषा में सामाजिक अनुभव की गहरी परंपरा मौजूद है। किसान अधिकतर देहाती बोली से पुष्ट हिंदी बोलते हैं। उसमें मुहावरे और लोकोक्तियों के साथ भाषा के देशज शब्दो का गहरा पुट मिलता है। संभ्रांत मुस्लिम पात्रों की बातचीत उर्दू मिश्रित हिंदी में होती है। वस्तुतः अनुभव की सच्चाई उनकी भाषा की असली ताकत है। इतनी समर्थ भाषा रचने के लिए जीवन की गहराइयों में डुबकी लगाना अनिवार्य हो जाता है। जिस तरह के अनुभव संसार को प्रेमचंद ने समाज में पाया था लगभग उसी प्रकार का अनुभव उन्होंने उपन्यास में बसाया है। इसलिए उनकी भाषा संवेदना से अलग कृत्रिम भाषा नहीं है। सामाजिक यथार्थ के प्रति उनकी दृष्टि अलोचनात्मक थी इसलिए उनका व्यंग्य गहराई और आत्मीयता से हृदय को स्पर्श करता है।

उपन्यास को कैसे पढ़ें

कविता में शब्द का महत्व अधिक होता है। शब्द में ही अर्थ की विशिष्टता समायोजित होती है। कविता में एक शब्द संपूर्ण कविता में अर्थ की भंगिमा की दृष्टि से अलग हो सकता है। परंतु उपन्यास में शब्द जुड़कर एक व्यापक प्रसंग के रूप में अर्थ की रचना करते हैं। यह अर्थ समय की लय में कथ्यात्मकता की रचना करते हैं। उपन्यास में एक विशिष्ट समय के जीवन और समाज की छाप होती है। रचनाकार घटनाओं के माध्यम से पात्र का गठन करता है। इसमें हमारी परंपरा, संस्कृति, इतिहास के असंख्य उलझे हुए सूत्र अदृश्य रूप में उपन्यास के भीतर स्थित होते हैं पाठक को समग्रता में उन सूत्रों को समझना चाहिए। एक प्रसंग दूसरे प्रसंग के साथ जुड़कर किस प्रकार का संदर्भ निर्मित कर रहे हैं इस पर ध्यान देना चाहिए।

रंगभूमि में जीवन और समाज का विराट परिप्रेक्ष्य है। कथा दो तीन बिंदुओं पर सक्रिय होती है और फिर उसका फैलाव होता है। इस फैलाव में प्रसंग अन्तःसूत्र से जुड़कर विराटता में सूपंर्ण जीवन और संस्कृति का चलचित्र बनकर पाठक के सामने उपस्थित होता है उदाहरण के लिए सूरदास उपन्यास का मुख्य पात्र है परंतु घटना मात्र उसी तक सीमित नहीं रहती है। कथा में शहरी पात्रों के व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार हैं। इसी क्रम में औद्योगिकीकरण, स्वाधीनता आंदोलन, स्त्री यातना, दलित उपेक्षा, सत्ता की क्रूरता और आम आदमी की लाचारगी से संबंधित कई प्रकार के सामाजिक प्रश्न प्रसंग और अनुच्छेद में जुड़ते चलते हैं। ये विविध छवियाँ एक ही सूत्र में बँधे हुए हैं। यह आवश्यक है कि पाठ को समग्र अनुभूति का हिस्सा बनाया जाए।

शब्दावली

हुनर	-	कला
पासी	-	एक जाति विशेष का नाम
परात	-	प्रातःकाल
निरधिन	-	घृणा योग्य नहीं
बान*	-	व्यापार
रब्त जब्त	-	जान पहचान के अर्थ में
खैर खाही	-	शुभचिन्तक
सायबान	-	मकान के आगे का छज्जा
कलामपाक	-	खुदा के उत्तम प्रवचन
खब्त	-	बदमाश
गुलकारी	-	बेल बूटे का काम
तवज्जह	-	कृपादृष्टि

लुका	-	जलती हुई आग की लकड़ी
लठियाँव	-	लाठी लेकर मार पीट
मीजान	-	संख्याओं का कुलयोग
मसरूफ़	-	काम में लीन
अहमक	-	मूर्ख
अजाब	-	विपत्ति
बेमुरौवत	-	स्वाभिमानी
कुदूरतें	-	खरादना
इल्म	-	बुद्धि
जिन्नात	-	पवित्र आत्मा
नजर नियाज	-	उपहार
बाग	-	घोड़े की लगाम
गोशमाली	-	कड़ी चेतावनी देना
भमीखन	-	विभीषण
ताकीद	-	हिदायत
महशूर	-	वसूल करने वाला
लहालोट	-	भावमगन
सीनासिपर	-	कलेजा कांपना
नदामत	-	अप्रस्तुत
दरेग	-	कसर
कलीसा	-	ईसाइयों या यहूदियों की अराधना का स्थान
बसीकेदार	-	रहनेवाला
गपड़चौथ	-	बकवास
अगमजानी	-	भविष्य जानने वाला
बदगोई	-	निंदक। बुरी बात कहने वाला
हसद	-	मुताबिक
एहसान फरामोश	-	कृतघ्न
जाहिरदारी	-	वह बात या काम जो दिखावे के लिए हो
हातिम	-	एक प्राचीन अरब सौदागर जो बड़ा दानी ओर परोपकारी था।

व्याख्या के लिए अंश

1. सोफिया प्रभु सेवक के कमरे में बैठी हुई उनसे मसीह के इस कथन पर शंका कर रही थी कि गरीबों के लिए आसमान की बादशाहत है, और अमीरों का स्वर्ग में जाना उतना ही असम्भव है, जितना ऊँट का सुई की नोक में जाना। उसके मन में शंका हो रही थी, क्या दरिद्र होना स्वयं कोई गुण है, और धनी होना स्वयं कोई अवगुण? उसकी बुद्धि इस कथन की सार्थकता को ग्रहण न कर सकती थी। क्या मसीह ने केवल अपने भक्तों को खुश करने के लिए ही धन की इतनी निन्दा की है? इतिहास बतला रहा है कि पहले केवल दीन, दुखी, दरिद्र और समाज के पतित जनता ने ही मसीह के दामन में पनाह ली। इसीलिए तो उन्होंने धन की इतनी अवहेलना नहीं की? कितने ही गरीब ऐसे हैं, जो सिर से पांव तक अधर्म और अविचार में डुबे हुए हैं। शायद उनकी दुष्टता ही उनकी दरिद्रता का कारण है।

क्या केवल दरिद्रता उनके सब पापों का प्रायश्चित कर देगी? कितने ही धनी हैं, जिनके हृदय आइने की भाँति निर्मल हैं। क्या उनका वैभव उनके सारे सत्कर्मों को मिटा देगा?

2. संगीत में न लालित्य था, न माधुर्य; पर वह शक्ति, वह जागृति भरी हुई थी, जो सामूहिक संगीत का गुण है, आत्मसमर्पण और उत्कर्ष का पवित्र संदेश विराट आकाश में, नील गगन में और सोफिया के अशांत हृदय में गूँजने लगा। वह अब तक धार्मिक विवेचन ही में रत रहती थी। राष्ट्रीय संदेश सुनने का अवसर उसे कभी न मिला था। उसके रोम-रोम से वही ध्वनि, दीपक-से-ज्योति के समान निकलने लगी 'मातृभूमि के लिए जगत में जीना और मरना होगा।'

उसके मन में एक तरंग उठी कि मैं भी जाकर गानेवालों के साथ गाने लगती। भाँति-भाँति के उद्‌गार उठने लगे-मैं किसी दूसरे देश में जाकर भारत का आर्त्तनाद सुनाती। यहीं खड़ी होकर कह दूँ, मैं अपने को भारत-सेवा के लिए समर्पित करती हूँ। अपने जीवन के उद्देश्य पर एक व्याख्यान देती - हम भाग्य के दुखड़े रोने के लिए, अपनी अवनत दशा पर आँसू बहाने के लिए नहीं बनाए गए हैं।

3. लज्जा अत्यन्त निर्लज्ज होती है। अंतिम काल में भी जब हम समझते हैं कि उसकी उलटी साँसे चल रही हैं, वह सहसा चैतन्य हो जाती है, और पहले से भी अधिक कर्त्तव्यशील हो जाती है। हम दुरवस्था में पड़कर किसी मित्र से सहायता की याचना करने को घर से निकलते हैं, लेकिन मित्र से आँखें चार होते ही लज्जा हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती है और हम इधर-उधर की बातें करके लौट आते हैं। यहाँ तक कि हम एक शब्द भी ऐसा मुँह से नहीं निकलने देते, जिसका भाव हमारी अंतर्वेदना का द्योतक हो।

1. भैया, इसीलिए न लोग चाहते हैं कि हाकिम धरमात्मा हो, नहीं देखते नहीं है कि हाकिम लोग बिना डाम-फूल-सूअर के बात नहीं करते। सामने खड़े होने का तो हिसाब ही नहीं होता, बातें कौन करता। इसीलिए तो मानते हैं कि हमारे राजों-महाराजों का राज होता, जो हमारा दुख दर्द सुनते। सरकार बहुत ठीक कहते हैं, मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जायेगी, रोजगारी लोगों को फायदा भी खूब होगा। लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी-शराब का भी तो परचार बढ़ जायेगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायेंगी, परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधरम होगा! दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी के लालच से दौडेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरन अपने गाँव में फैलाएँगे। दिहातों की लड़कियाँ बहुएँ मजूरी करने आयेंगी और पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाडेंगी। यही रौनक शहरों में है। वही रौनक यहाँ हो जायेगी। भगवान न करे यहाँ वह रौनक हो। सरकार मुझे इस कुकरम और अधरम से बचाए। यह सारा पाप मेरे सिर पड़ेगा।

यह मेरा आशय कदापि नहीं कि संसार के समस्त प्राणियों को संन्यास धारण कर लेना चाहिए, मेरा आशय केवल यह था कि दाम्पत्य जीवन स्वार्थपरता का पोषक है। इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं, और इस अधोगति की दशा में, जब कि स्वार्थ हमारी नसों में कूट-कूटकर भरा हुआ है, जब कि हम बिना स्वार्थ के कोई काम या कोई बात नहीं करते, यहाँ तक कि माता-पुत्र-सम्बन्ध में गुरु-शिष्य-सम्बन्ध में -पत्नी-पुरुष-सम्बन्ध में स्वार्थ का प्राधान्य हो गया है, किसी उच्च कोटि के कवि के लिए दाम्पत्य जीवन की सराहना करना - उसकी तारीफों के पुल बाँधना-शोभा नहीं देता। हम दाम्पत्य सुख के दास हो रहे हैं। हमने इसी को अपने जीवन का लक्ष्य समझ रखा है। इस समय हमें ऐसे व्रतधारियों की, त्यागियों की, परमार्थ-सेवियों की आवश्यकता है, जो जाति के उद्धार के लिए अपने प्राण तक दे दें। हमारे

कविजनों को इन्हीं उच्च और पवित्र भावों को उत्तेजित करना चाहिए। हमारे देश में जनसंख्या जरूरत से ज्यादा हो गई है। हमारी जननी संतान-वृद्धि के भार को अब नहीं संभाल सकती। विद्यालयों में, सड़कों पर, गलियों में इतने बालक दिखायी देते हैं कि समझ में नहीं आता, ये क्या करेंगे। हमारे देश में इतनी उपज भी नहीं होती कि सबके लिए एक बार इच्छापूर्ण भोजन भी प्राप्त हो। भोजन का अभाव ही हमारे नैतिक और आर्थिक पतन का मुख्य कारण है। आपकी कविता सर्वथा असामयिक है। मेरे विचार में इससे समाज का उपकार नहीं हो सकता। इस समय हमारे कवियों का कर्त्तव्य है त्याग का महत्व दिखाना, ब्रह्मचर्य में अनुराग उत्पन्न करना, आत्मनिग्रह का उपदेश करना। दाम्पत्य तो दासत्व का मूल है और यह समय उसके गुण-गान के लिए अनुकूल नहीं है।

6. यह विचार उन लोगों के लिए हैं जिनके प्रेम वासनाओं से युक्त होते हैं। प्रेम और वासना में उतना ही अंतर है, जितना कंचन और कांच में। प्रेम की सीमा भक्ति से मिलती है, और उनमें केवल मात्रा का भेद है। भक्ति में सम्मान और प्रेम में सेवाभाव का आधिक्य होता है। प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता कोई बंधन नहीं है। ऐसी बाधाएँ उस मनोभाव के लिए हैं जिसका अंत विवाह है, उस प्रेम के लिए नहीं जिसका अंत बलिदान है।

7. सूरदास कहाँ तो नैराश्य ग्लानि चिंता और क्षोभ के अपार जल में गोते खा रहा था कहाँ यह चेतावनी सुनते ही उसे ऐसा मालूम हुआ, किसी ने उसका हाथ पकड़कर किनारे पर खड़ा कर दिया। वाह! मैं तो खेल में रोता हूँ। कितनी बुरी बात है। लड़के भी खेल में रोना बुरा समझते हैं, रोनेवाले को चिढ़ाते हैं, और मैं खेल में रोता हूँ। सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं, बाजी-पर-बाजी हारते हैं, चोट-पर-चोट खाते हैं, धक्के -पर-धक्के सहते हैं; पर मैदान में डटे रहते हैं, उनकी त्यौरियों पर बल नहीं पड़ते। हिम्मत उनका साथ नहीं छोड़ती, दिल पर मालिन्य के छींटे भी नहीं आते, न किसी से जलते हैं, न चिढ़ते हैं। खेल में रोना कैसा? खेल हँसने के लिए, दिल बहलाने के लिए है, रोने के लिए नहीं।

8. प्रभु सेवक, तुमने बड़ा गहन विषय छेड़ दिया। मेरे विचार में हमारा कल्याण अंगरेजों के साथ मेल-जोल करने में है। अंगरेज इस समय भारतवासियों की संयुक्त शक्ति से चिंतित हो रहे हैं। हम अंगरेजों से मैत्री करके उन पर अपनी राजभक्ति का सिक्का जमा सकते हैं, और मनमाने स्वत्व प्राप्त कर सकते हैं। खेद यहाँ है कि हमारी जाति ने अभी तक राजनीतिक क्षेत्र में पग ही नहीं रखा। यद्यपि देश में हम अन्य जातियों से शिक्षा में कहीं आगे बढ़े हुए हैं; पर अब तक राजनीति पर हमारा कोई प्रभाव नहीं है। हिन्दुस्तानियों में मिलकर हम गुम हो जाएँगे, खो जायेंगे। उनसे पृथक् पृथक् रहकर विशेष अधिकार और विशेष सम्मान प्राप्त कर सकते हैं।

9. हिंदू या मुसलमान, जिन्हें कुछ भी अपने जातीय गौरव का ख्याल है, अंगरेजों के साथ मिलना-जुलना अपने लिए सम्मान की बात नहीं समझते। यहाँ तक कि हिंदुओं में जो लोग अंगरेजों से खान-पान रखते हैं, उन्हें लोग अपमान की दृष्टि से देखते हैं, शादी-विवाह का तो कहना ही क्या! राजनीतिक प्रभुत्व की बात और है। डाकुओं का एक दल विद्वानों की एक सभा को बहुत आसानी से परास्त कर सकता है। लेकिन इससे विद्वानों का महत्व कुछ कम नहीं होता। प्रत्येक हिन्दू जानता है कि मसीह बौद्ध काल में यहीं आये थे, यहीं उनकी शिक्षा हुई थी और जो ज्ञान उन्होंने यहाँ प्राप्त किया, उसी का पश्चिम में प्रचार किया। फिर कैसे हो सकता है कि हिंदू अंगरेजों को श्रेष्ठ समझें?

10. शनैः शनैः उसके विचारों में परिवर्तन होने लगा - यह उनका कसूर नहीं है, मेरा कसूर है। मैं क्यों उन्हें अपने आदर्शों के अनुसार बनाना चाहती हूँ? आजकल प्रायः इसी स्वभाव के पुरुष होते हैं। उन्हें संसार चाहे कुछ कहे, चाहे कुछ समझे पर उनके घरों में तो कोई मीन-मेख नहीं निकालता। स्त्री का कर्त्तव्य है कि अपने पुरुष की सहगामिनी बने। पर प्रश्न यह है, क्या स्त्री का अपने पुरुष से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है? इसे तो बुद्धि स्वीकार नहीं करती। दोनों अपने कर्मानुसार पाप-पुण्य के अधिकारी होते हैं। वास्तव में यह हमारे भाग्य का दोष है, अन्यथा हमारे विचारों में क्यों इतना भेद होता? कितना चाहती हूँ कि आपस में कोई अंतर न होने पाए, कितना बचाती हूँ, पर आए दिन कोई-न-कोई विघ्न उपस्थित हो ही जाता है। अभी एक घाव नहीं भरने पाया था कि दूसरा चरका लगा। क्या मेरा सारा जीवन यों ही बीतेगा? हम जीवन में शांति की इच्छा रखते हैं, प्रेम और मैत्री के लिए जान देते हैं। जिसके सिर पर नित्य नंगी तलवार लटकती हो, उसे शांति कहाँ। अंधेर तो यह है कि मुझे चुप भी नहीं रहने दिया जाता। कितना कहती थी कि मुझे इस बहस में न घसीटिए, इन काँटों में न दौड़ाइए, पर न माना। अब जो मेरे पैरों में काँटे चुभ गए, दर्द से कराहती हूँ, तो कानों पर उंगली रखते हैं। मुझे रोने की स्वाधीनता भी नहीं। जबर मारे और रोने न दें। आठ दिन गुजर गए बात भी न पूछी कि मरती हो या जीती। बिल्कुल उसी तरह पड़ी हूँ जैसे कोई सराय हो। इससे तो कहीं अच्छा था कि मर जाती। सुख गया, आराम गया, पल्ले क्या पड़ा, रोना और झींकना। जब यही दशा है, तो कब तक निभेगी, बकरे की माँ कब तक खैर मनाएगी? दोनों के दिल एक दूसरे से फिर जायेंगे, कोई किसी की सूरत भी न देखना चाहेगा।

11. महाराज आप तो कई महीनों से इस इलाके में हैं, क्या आपको इन लोगों की करतूत मालूम नहीं है? ये लोग प्रजा को दोनों हाथों से लूट रहे हैं। इनमें न दया है, न धर्म है। हैं हमारे ही भाईबंद, पर हमारी ही गर्दन पर छुरी चलाते है। किसने जरा साफ कपड़े पहने, और ये लोग उसके सिर हुए। जिसे घूस न दीजिए, वही आपका दुश्मन है। चोरी कीजिए, डाके डालिए, घरों में आग लगाइए, गरीबों का गला काटिए, कोई आपसे न बोलेगा। बस, कर्मचारियों की मुट्ठियाँ गर्म करते रहिए। दिन-दहाड़े खून कीजिए, पर पुलिस की पूजा कर दीजिए, आप बेदाग छूट जाएँगे, आपके बदले कोई बेकसूर फाँसी पर लटका दिया जायेगा। कोई फरियाद नहीं सुनता। कौन सुने, सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। यही समझ लीजिए कि हिंसक जन्तुओं का एक गोल है। सब-के-सब मिलकर शिकार करते हैं और मिल-जुलकर खाते हैं।

12. ईसाई-जाति यहाँ केवल अपने धर्म के कारण इतनी बदनाम है कि उससे ज्यादा बदनाम होना असंभव है। जनता का वश चले तो आज हमारे सारे गिरिजाघर मिट्टी के ढेर हो जाएँ। अंगरेजों से लोगों को इतनी चिढ़ नहीं है। वे समझते हैं कि अंगरेजों का रहन-सहन और आचार-व्यवहार स्वजातीय है। उनके देश और जाति के अनुकूल है। लेकिन जब कोई हिन्दुस्तानी चाहे वह किसी मत का हो, अंगरेजी आचरण करने लगता है, तो जनता उसे बिल्कुल गया गुजरा समझ लेती है। वह भलाई या बुराई के बन्धनों से मुक्त हो जाता है; उससे किसी को सत्कार्य की आशा नहीं होती; उसके कुकर्मों पर किसी को आश्चर्य नहीं होता। मैं यह कभी न मानूँगा कि तुमने मेरी सम्मान रक्षा के लिए यह प्रयास किया है। तुम्हारा उद्देश्य केवल मेरे व्यापारिक लक्ष्यों का सर्वनाश करना है। धार्मिक विवेचनाओं ने तुम्हारी व्यावहारिक बुद्धि को डाँवाडोल कर दिया है। तुम्हें इतनी समझ भी नहीं है कि त्याग और परोपकार केवल एक आदर्श है-कवियों के लिए, भक्तों के मनोरंजन के लिए, उपदेशकों की वाणी को अलंकृत करने के लिए। मसीह, बुद्ध और मूसा के

जन्म लेने का समय अब नहीं रहा, धन-ऐश्वर्य निन्दित होने पर भी मानवीय इच्छाओं का स्वर्ग है और रहेगा। खुदा के लिए तुम मुझ पर अपने धर्म-सिद्धान्तों की परीक्षा मत करो। मैं तुमसे नीति और धर्म के पाठ नहीं पढ़ना चाहता।

13. तुम्हारा एक-एक छंद बलि जाने के योग्य है। वास्तव में क्षमा मानवीय भावों में सर्वोपरि है। दया का स्थान इतना ऊँचा नहीं। दया वह दाना है, जो पोली धरती पर उगता है। इसके प्रतिकूल क्षमा वह दाना है, जो काँटों में उगता है। दया वह धारा है, जो समतल भूमि पर बहती है, क्षमा कंकड़ों और चट्टानों में बहनेवाली धारा है। दया का मार्ग सीधा और सरल है। क्षमा का मार्ग टेढ़ा और कठिन है। तुम्हारा एक एक शब्द हृदय में चुभ जाता है। आश्चर्य है तुममें क्षमा का लेश भी नहीं है।

प्रभुसेवक-सोफी भावों के सामने आचरण का कोई महत्व नहीं है। कवि का कर्मक्षेत्र सीमित होता है, पर भावक्षेत्र अनंत और अपार है। उस प्राणी को तुच्छ मत समझो, जो त्याग और निवृत्ति का राग अलापता हो, पर स्वयं कौड़ियों पर जान देता हो। संभव है, उसकी वाणी किसी महान पापी के हृदय में जा पहुँचे।

14. देखते-देखते युगांतर हो गया। लोग उनके विषय में आलोचनाएँ करते हुए कहते-अब वह जमाना नहीं रहा, जब राजे-रईसों के नाम आदर से लिये जाते थे, जनता को स्वयं ही उनमें भक्ति होती थी। वे दिन बिदा हो गए। ऐश्वर्य भक्ति प्राचीन काल की राज्य-भक्ति ही का एक अंश थी। राजा जागीरदार, यहाँ तक कि अपने जमींदार पर प्रजा सिर कटा देती थी। यह सर्वमान्य नीति-सिद्धांत था कि राजा भोक्ता है, प्रजा भोग्य है। यही सृष्टि का नियम था, लेकिन आज राजा और प्रजा में भोक्ता और भोग्य का संबंध नहीं है, अब सेवक और सेव्य का संबंध है। अब अगर किसी राजा की इज्जत है, तो उसकी सेवा-प्रवृत्ति के कारण, अन्यथा उसकी दशा दाँतों तले दबी हुई जिह्वा की सी है। प्रजा को भी उस पर विश्वास नहीं आता। अब जनता उसी का सम्मान करती है, उसी पर न्योछावर होती है, जिसने अपना सर्वस्व प्रजा पर अर्पित कर दिया हो, जो त्याग-धन का धनी हो। जब तक कोई सेवा-मार्ग पर चलना नहीं सीखता, जनता के दिलों में घर नहीं कर पाता।

15. लेकिन उनमें वह त्याग कहाँ, वह सेवा का भाव कहाँ, वह जीवन का उच्चादर्श कहाँ, वह वीर-प्रतिज्ञा कहाँ, वह आत्मसमर्पण कहाँ? उसे अब प्रेमानुराग की कथाएँ और भक्ति-रस-प्रधान काव्य, जीव और आत्मा, आदि और अनादि, पुनर्जन्म और मोक्ष आदि गूढ़ विषयों की व्याख्या से कहीं आकर्षक मालूम होते थे। इसी बीच में उसे कृष्ण का जीवन-चरित्र पढ़ने का अवसर मिला और उसने उस भक्ति की जड़ हिला दी, जो उसे प्रभु मसीह से थी। वह मन में दोनों महान पुरुषों की तुलना किया करती। मसीह की दया की अपेक्षा उसे कृष्ण के प्रेम से अधिक शान्ति मिलती थी। उसने अब तक गीता ही के कृष्ण को देखा था, और मसीह की दयालुता, सेवाशीलता और पवित्रता के आगे उसे कृष्ण का रहस्यमय जीवन गीता की जटिल दार्शनिक व्याख्याओं से भी दुर्बोध जान पड़ता था। उसका मस्तिष्क गीता के विचारोत्कर्ष के सामने झुक जाता था, पर उससे मन में भक्ति का भाव न उत्पन्न होता था। कृष्ण के बाल-जीवन को उसने भक्तों की कपोल-कल्पना समझ रखा था और उस पर विचार करना ही व्यर्थ समझती थी। पर अब ईसा की दया इस बाल-क्रीड़ा के सामने नीरस थी। ईसा की दया में आध्यात्मिकता थी, कृष्ण के प्रेम में भावुकता; ईसा की दया आकाश की भाँति अनन्त थी, कृष्ण का प्रेम नवकुसुमित नवपल्लवित उद्यान की भाँति मनोहर; ईसा की दया जल-प्रवाह की मधुर ध्वनि थी, कृष्ण का प्रेम वंशी की व्याकुल टेर; एक देवता था, दूसरा मनुष्य; एक तपस्वी था, दूसरा कवि; एक में जागृति और आत्मज्ञान था, दूसरे में अनुराग और उन्माद; एक

व्यापारी था, हानि-लाभ पर निगाह रखनेवाला, दूसरा रसिया था, अपने सर्वस्व को दोनों हाथों लुटानेवाला; एक संयमी था, दूसरा भोगी।

16. राज्य के विरुद्ध आंदोलन करना राज्य को निर्बल बना देता है और प्रजा को उद्दण्ड। राज्य-प्रभुत्व का प्रत्येक दशा में अक्षुण्ण रहना आवश्यक है, अन्यथा उसका फल वही होगा, जो आज साम्यवाद का व्यापक रूप धारण कर रहा है। संसार ने तीन दशाब्दियों तक जनवाद की परीक्षा की और अंत में हताश हो गया। आज समस्त संसार जनवाद के आतंक से पीड़ित है। हमारा परम सौभाग्य है कि वह अग्नि-ज्वाला अभी तक हमारे देश में नहीं पहुँची, और हमें यत्न करना चाहिए कि उससे भविष्य में भी निश्शंक रहें।

17. शांत विचार के लिए एकाग्रता उतनी ही आवश्यक है, जितनी ध्यान के लिए वायु की गति तराजू के पलड़ों को बराबर नहीं होने देती। विनय को अब विचार हुआ अम्माजी को यह हाल मालूम हुआ, तो वह अपने मन में क्या कहेंगी। मुझसे उनकी कितनी मनोकामनाएँ संबद्ध हैं। सोफी के प्रेम-पाश से बचने के लिए उन्होंने मुझे निर्वासित किया, इसीलिए उन्होंने सोफी को कलंकित किया। उनका हृदय टूट जाएगा। दुख तो पिताजी को भी होगा; पर वह मुझे क्षमा कर देंगे, उन्हें मानवीय दुर्बलताओं से सहानुभूति है। अम्मांजी में बुद्धि-ही-बुद्धि है; पिताजी में हृदय और बुद्धि दोनों ही है। लेकिन मैं इसे दुर्बलता क्यों कहूँ? मैं कोई ऐसा काम नहीं कर रहा हूँ जो संसार में किसी ने न किया हो। संसार में ऐसे कितने प्राणी हैं जिन्होंने अपने को जाति पर होम कर दिया हो? स्वार्थ के साथ जाति का ध्यान रखनेवाले महानुभावों ही ने अब तक जो कुछ किया है किया है। जाति पर मर मिटनेवाले तो उंगलियों पर गिने जा सकते हैं। फिर जाति के अधिकारियों में न्याय और विवेक नहीं, प्रजा में उत्साह और चेष्टा नहीं, उसके लिए मर मिटना व्यर्थ है। अंधे के आगे रोकर अपना दीदा खोने के सिवा और क्या हाथ आता है?

18. हमारा साम्राज्य तभी तक अजेय रह सकता है, जब तक प्रजा पर हमारा आतंक छाया रहे, जब तक वह हमें अपना हितचिंतक, अपना रक्षक अपना आश्रय समझती रहे, जब तक हमारे न्याय पर उसका अटल विश्वास हो। जिस दिन प्रजा के दिल से हमारे प्रति विश्वास उठ जाएगा, उसी दिन हमारे साम्राज्य का अंत हो जाएगा। अगर साम्राज्य को रखना ही हमारे जीवन का उद्देश्य है तो व्यक्तिगत भावों और विचारों का यहाँ कोई महत्व नहीं। साम्राज्य के लिए हम बड़े-से-बड़े नुकसान उठा सकते हैं, बड़ी-से-बड़ी तपस्याएँ कर सकते हैं। हमें अपने राज्य प्राणों से भी प्रिय हैं, और जिस व्यक्ति से हमें क्षति की लेश-मात्र भी शंका हो, उसे हम कुचल डालना चाहते हैं, उसका नाश कर देना चाहते हैं, उसके साथ किसी भांति की रिआयत, सहानुभूति यहाँ तक कि न्याय का व्यवहार भी नहीं कर सकते।

9. जैसी तुम्हारी इच्छा। मैं तुम्हें जितना सरल हृदय समझती थी, तुम उससे कहीं बढ़कर कूटनीतिज्ञ हो। मैं तुम्हारा आशय समझती हूँ, और इसलिए कहती हूँ, जैसी तुम्हारी इच्छा। पर शायद तुम्हें मालूम नहीं कि युवती का हृदय बालक के समान होता है। उसे जिस बात के लिए मना करो, उसी तरफ लपकेगा। अगर तुम आत्मप्रशंसा करते, अपने कृत्यों की अप्रत्यक्ष रूप से डींग मारते, तो शायद मुझे तुमसे अरुचि हो जाती। अपनी त्रुटियों और दोषों का प्रदर्शन करके तुमने मुझे और भी वशीभूत कर लिया। तुम मुझसे डरते हो, इसलिए तुम्हारे सम्मुख न आऊँगी, पर रहूँगी तुम्हारे ही साथ। जहाँ-जहाँ तुम जाओगे, मैं परछाईं की भाँति तुम्हारे साथ रहूँगी। प्रेम एक भावनागत विषय है, भावना ही से उसका पोषण होता है, भावना

ही से वह जीवित रहता है और भावना ही से लुप्त हो जाता है। वह भौतिक वस्तु नहीं है। तुम मेरे हो, यह विश्वास मेरे प्रेम को सजीव और सतृष्ण रखने के लिए काफी है। जिस दिन इस विश्वास की जड़ हिल जाएगी, उसी दिन इस जीवन का अन्त हो जाएगा।

20. तुम मुझ पर यह मिथ्या दोषारोपण करते हो। मैं जनता के लिए सत्य से मुँह नहीं मोड़ सकता। सत्य मुझे देश और जाति, दोनों से प्रिय है। जब तक मैं समझता था कि प्रजा सत्य-पक्ष पर है, मैं उसकी रक्षा करता था। जब मुझे विदित हुआ कि उसने सत्य से मुँह मोड़ लिया, मैंने भी उससे मुँह मोड़ लिया। मुझे रियासत के अधिकारियों से कोई आंतरिक विरोध नहीं है। मैं वह आदमी नहीं हूँ कि हुक्काम के न्याय पर देखकर भी अनायास उनसे बैर करूँ और न मुझसे यही हो सकता है कि प्रजा को विद्रोह और दुराग्रह पर तत्पर देखकर भी उसकी हिमायत करूँ। अगर कोई आदमी मिस सोफिया की मोटर के नीचे दब गया, तो यह एक आकस्मिक घटना थी। सोफिया ने जान-बूझकर तो उस पर से मोटर को चला नहीं दिया। ऐसी दशा में जनता का उस भाँति उत्तेजित हो जाना, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण था कि वह अधिकारियों को बलपूर्वक अपने वश में करना चाहती है। आप सोफिया के प्रति मेरे आचरण पर आक्षेप करके मुझ पर ही अन्याय नहीं कर रहे हैं वरन् अपनी आत्मा को भी कलंकित कर रहे हैं।

21. इसका उद्देश्य केवल उस नीच निरकुंशता को तृप्त करना था, जो तुम्हारे अन्तस्तल में सेवा का रूप धारण किए हुए बैठी हुई है। मैने तुम्हारी प्रभुताशीलता पर अपने को समर्पित नहीं किया था, बल्कि तुम्हारी सेवा सहानुभूति और देशानुराग पर। इसलिए तुम्हें अपना उपास्य देव बनाया था कि तुम्हारे जीवन का आदर्श उच्च था, तुममें प्रभु मसीह की दया, भगवान बुद्ध के विराग और लूथर की सत्यनिष्ठा की झलक थी। क्या दुखियों को सतानेवाले, निर्दय, स्वार्थप्रिय अधिकारियों की संसार में कमी थी? तुम्हारे आदर्श ने मुझे तुम्हारे कदमों पर झुकाया। जब मैं प्राणिमात्र को स्वार्थ में लिप्त देखते-देखते संसार से घृणा करने लगी थी, तुम्हारी नि:स्वार्थता ने मुझे अनुरक्त कर लिया। लेकिन काल-गति से एक ही पलटे ने तुम्हारा यथार्थ रूप प्रकट कर दिया। मेरा पता लगाने के लिए तुमने धर्माधर्म का विचार भी त्याग दिया। जो प्राणी अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए इतना अत्याचार कर सकता है, वह घोर-से-घोर कुकर्म भी कर सकता है। तुम अपने आदर्श से उसी समय पतित हुए, जब तुमने उस विद्रोह को शांत करने के लिए शांत उपायों की अपेक्षा क्रूरता और दमन से काम लेना उचित समझा। शैतान ने पहली बार तुम पर वार किया और तुम फिर न संभले, गिरते ही चले गए। ठोकरों-पर-ठोकरें खाते-खाते अब तुम्हारा इतना पतन हो गया है कि तुममें सज्जनता, विवेक और पुरुषार्थ का लेशांश भी शेष नहीं रहा। तुम्हें देखकर मेरा मस्तक आप-ही-आप झुक जाता था। मेरे प्रेम का आधार भक्ति थी वह आधार जड़ से हिल गया। तुमने मेरे जीवन का सर्वनाश कर दिया।

22. संसार में कौन है, जो कहे कि मैं गंगाजल हूँ। जब बड़े-बड़े साधू-सन्यासी माया-मोह में फंसे हुए हैं तो हमारी तुम्हारी क्या बात है। हमारी बड़ी भूल यही है कि खेल को खेल की तरह नहीं खेलते। खेल में धाँधली करके कोई जीत ही जाए, तो क्या हाथ आएगा? खेलना तो इस तरह चाहिए कि निगाह जीत पर रहे; पर हार से घबराए नहीं, ईमान को न छोड़े। जीतकर इतना न इतराए कि अब कभी हार होगी ही नहीं। यह हार-जीत तो जिंदगानी के साथ है। हाँ, एक सलाह की बात कहता हूँ। तुम ताड़ी की दुकान छोड़कर कोई दूसरा रोजगार क्यों नहीं करते?

23. इसलिए कि यहाँ सफलता प्राप्त करने के लिए जितनी स्वार्थपरता और नर-हत्या की जरूरत है, वह मुझसे नहीं हो सकती। मुझमें इतना उत्साह ही नहीं है। मैं स्वभावत: एकांतप्रिय हूँ और जीवन-संग्राम में उससे अधिक नहीं पड़ना चाहता जितना मेरी कला के पूर्ण विकास और उसमें यथार्थता का समावेश करने के लिए काफी हो। कवि प्राय: एकान्तसेवी हुआ किए हैं पर इससे उनकी कवित्व-कला में कोई दूषण नहीं आने पाया। सम्भव था वे जीवन का विस्तृत और पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करके अपनी कविता को और भी मार्मिक बना सकते लेकिन साथ ही यह शंका भी थी कि जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होने से उनकी कवि-कल्पना शिथिल हो जाती। होमर अंधा था, सूर भी अंधा था मिल्टन भी अंधा था परन्तु सभी साहित्य-गगन के उज्ज्वल नक्षत्र हैं; तुलसी, वाल्मीकि आदि महाकवि संसार से अलग, कुटियों में बसनेवाले प्राणी थे; पर कौन कह सकता है कि उनकी एकान्तसेवा से उनकी कवित्व-कला दूषित हो गई! नहीं कह सकता कि भविष्य में मेरे विचार क्या होंगे; पर इस समय द्रव्योपासना से बेजार हो रहा हूँ।

24. वह जो कुछ कहना चाहती है, मैं स्वयं क्यों न बतला दूँ? अंगरेज-जाति भारत को अनंत काल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाए रखना चाहती है। कंजरवेटिव हो या लिबरल, रेडिकल हो या लेबर, नेशनलिस्ट हो या सोशलिस्ट, इस विषय में सभी एक ही आदर्श का पालन करते हैं। सोफी को पहले मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि रेडिकल और लेबर नेताओं के धोखे में न आओ। कंजरवेटिव दल में और चाहे कितनी बुराइयाँ हों, वह निर्भीक है तीक्ष्ण सत्य से नहीं डरता। रेडिकल और लेबर अपने पवित्र और उज्ज्वल सिद्धांतों का समर्थन करने के लिए ऐसी आशाप्रद बातें कह डालते हैं, जिनका व्यवहार में लाने का उन्हें साहस नहीं हो सकता। आधिपत्य त्याग करने की वस्तु नहीं है। संसार का इतिहास केवल इसी शब्द आधिपत्य-प्रेम पर समाप्त हो जाता है। मानव स्वाभाव अब भी वही है जो सृष्टि के आदि में था। अंगरेज-जाति कभी त्याग के लिए, उच्च सिद्धान्तों पर प्राण देने के लिए प्रसिद्ध नहीं रही। हम सब-के-सब-मैं लेबर हूँ -साम्राज्यवादी हैं। अंतर केवल उस नीति में है जो भिन्न भिन्न दल इस जाति पर आधिपत्य जमाए रखने के लिए ग्रहण करते हैं। कोई शासन का उपासक है, कोई सहानुभूति का, कोई चिकनी-चुपड़ी बातों से काम निकालने का। बस वास्तव में नीति कोई है ही नहीं, केवल उद्देश्य है और वह यह कि क्योंकर हमारा आधिपत्य उत्तरोत्तर सुदृढ़ हो।

25. मैं तुम्हारे तिरस्कार का नहीं, तुम्हारी सहानुभूति और दया का पात्र होने योग्य हूँ। मैं जानता हूँ केवल सामाजिक सेवा से हमार उद्धार नहीं हो सकता। यह भी जानता हूँ कि हम स्वच्छन्द होकर सामाजिक सेवा भी नहीं कर सकते। कोई आयोजना, जिससे देश में अपनी दशा को अनुभव करने की जागृति उत्पन्न हो, जो भ्रातृत्व और जातीयता के भावों को जगाए, संदेह से मुक्त नहीं रह सकती। यह सब जानते हुए मैंने सेवा-क्षेत्र में कदम रखे थे। पर यह न जानता था कि थोड़े ही समय में यह संस्था यह रूप धारण करेगी और इसका परिणाम यह होगा। मैंने सोचा था, मैं परोक्ष में इसका संचालन करता रहूँगा, यह न जानता था कि इसके बदले मुझे अपना सर्वस्व-और अपना ही नहीं, भावी संतान का सर्वस्व भी होम कर देना पड़ेगा। मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझमें इतने महान त्याग की सामर्थ्य नहीं।

26. आपसे हाथ जोड़कर कहता हूँ, घर चले जाएँ। यहाँ जमा होकर हाकिमों को चिढ़ाने से क्या फायदा? मेरी मौत आवेगी, तो आप लोग, खड़े रहेंगे, और मैं मर जाऊंगा। मौत न आवेगी तो मैं तोपों के मुँह से बचकर निकल आऊंगा। आप

लोग वास्तव में मेरी सहायता करने नहीं आये, मुझसे दुसमनी करने आये हैं। हाकिमों के मन में फौज के मन में, पुलिस के मन में जो दया और धरम का ख्याल आता, उसे आप लोगों ने जमा होकर क्रोध बना दिया है। मैं हाकिमों को दिखा देता कि एक अंधा आदमी एक फौज को कैसे पीछे हटा देता है, तोप का मुँह कैसे बंद कर देता है, तलवार की धार कैसे मोड़ देता है। मैं धरम के बल से लड़ना चाहता था.....।

27. नीति-चतुर प्राणी अवसर के अनुकूल काम करता है। जहाँ दबना चाहिए, वहाँ दब जाता है; जहाँ गरम होना चाहिए, वहाँ गरम होता है। उसे मानापमान का हर्ष या दुःख नहीं होता। उसकी दृष्टि निरंतर अपने लक्ष्य पर रहती है। वह अविरल गति से, अदम्य उत्साह से उसी ओर बढ़ता है; किन्तु सरल, लज्जाशील, निष्कपट आत्माएँ मेघों के समान होती हैं; जो अनुकूल वायु पाकर पृथ्वी को तृप्त कर देते हैं और प्रतिकूल वायु के वेग से छिन्न भिन्न हो जाते हैं। नीतिज्ञ के लिए अपना लक्ष्य ही सब कुछ है, आत्मा का उसके सामने कुछ मूल्य नहीं। गौरव-संपन्न प्राणियों के लिए अपना चरित्र-बल ही सर्वप्रधान है। वे अपने चरित्र पर किए गए आघातों को सह नहीं सकते। वे अपनी निर्दोषता सिद्ध करने को अपने लक्ष्य की प्राप्ति से कहीं अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं।

28. जीवन-सूत्र कितना कोमल है! वह क्या पुष्प से कोमल नहीं, जो वायु के झोंके सहता है और मुरझाता नहीं? क्या वह लताओं से कोमल नहीं, जो कठोर वृक्षों के झोंके सहती और लिपटी रहती हैं? वह क्या पानी के बबूलों से कोमल नहीं, जो जल की तरंगों पर तैरते हैं, और टूटते नहीं? संसार में और कौन-सी वस्तु इतनी कोमल इतनी अस्थिर, इतनी सारहीन है जिससे एक व्यंग्य, एक कठोर शब्द, एक अन्योक्ति भी दारुण, असह्य, घातक है! और इस भित्ति पर कितने विशाल कितने भव्य, कितने बृहदाकार भवनों का निर्माण किया जाता है।

29. मुझे उसके मरने का दुःख नहीं है। दुःख होता, अगर वह आज प्राण बचाकर भागता। यह तो मेरी चिर-संचत अभिलाषा थी, बहुत ही पुरानी। जब मैं युवती थी और वीर राजपूतों तथा राजपूतानियों के आत्मसमर्पण की कथाएँ पढ़ा करती थी, उसी समय मेरे मन में यह कामना अंकुरित हुई थी कि ईश्वर मुझे भी कोई ऐसा ही पुत्र देता, जो उन्हीं वीरों की भाँति मृत्यु से खेलता, जो अपना जीवन देश और जाति-हित के लिए हवन कर देता, जो अपने कुल का मुख उज्ज्वल करता। मेरी वह कामना पूरी हो गई। आज मैं एक वीर पुत्र की जननी हूँ। क्यों रोती हो? इससे उसकी आत्मा को क्लेश होगा। तुमने तो धर्म-ग्रंथ पढ़े हैं। मनुष्य कभी करता है? जीव तो अमर है। उसे तो परमात्मा भी नहीं मार सकता। मृत्यु तो केवल पुनर्जीवन की सूचना है, एक उच्चतर जीवन का मार्ग।

30. उसने आँखें खोल दीं, इधर-उधर अनिमेष दृष्टि से देखकर हँसा और ग्रामोफान की सी कृत्रिम बैठी हुई नीरस आवाज से बोला - बस-बस, अब मुझे क्यों मारते हो? तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मार-पीट करते हैं।, कोई किसी की नहीं मानता। तुम खेल में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं। बस, इतना ही फरक है। तालियाँ क्यों बजाते हो, यह तो जीतने वालों का धरम नहीं? तुम्हारा धरम तो है हमारी पीठ ठोकना। हम हारे, तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार-हारकर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।

व्याख्या के लिए निर्देश

"इसलिए कि यहाँ ..... द्रव्योपासना के बेजार हो रहा हूँ।"

संदर्भ

रंगभूमि युग प्रर्वतक कथाकर प्रेमचंद की विशिष्ट कृति है। विराट जीवनधारा के स्पर्श के कारण इस उपन्यास का ढाँचा महाकाव्यीय हो गया है। उपन्यास में लेखक ने दो भिन्न प्रकार के सामाजिक गठन की टकराहट के बीच उभरते सामाजिक परिदृश्य को रेखांकित किया है। इस अर्थ में रंगभूमि एक प्रकार से हिंदुस्तानी सभ्यता की अलोचनात्मक दृष्टि से समीक्षा करता है और औपनिवेशक भारत की त्रासदी को स्पष्ट रूप में चित्रित करता है।

इस अंश में रंगभूमि के पात्र प्रभुसेवक और कुँवर भरत सिंह की बातचीत का प्रसंग है। प्रभुसेवक अपने पिता जॉनसेवक से उलाहना सुनकर घर छोड़ भरत सिंह के पास आता है। प्रभुसेवक धन के लिए भिन्न-भिन्न प्राकर तिकड़म करना अपनी नैतिकता के विरुद्ध मानता है। वह भरत सिंह को आदर्श मानता है और अपने मन की आत्मीय बात उनसे कहता है।

प्रभुसेवक साहित्यकार और कवि बनना चाहता है इसलिए वह जीवन के संग्राम से तटस्थ होकर रचनाकर्म में प्रवृत्त होना चाहता है। दुनिया की जटिलता को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करने का साहस उसमें नहीं है। यथार्थ को वह उतनी दूर तक ही स्वीकार करता है जितनी दूर तक वह उसके कला के विकास में सहायक है। यथार्थ के प्रति संकृचित दृष्टि से कला विकास नहीं हो सकता। कला के विकास के लिए जीवन और समाज की प्रत्यक्ष वास्तविकता का सामना करना अनिवार्य है। प्रेमचंद कवि की एकांत प्रियता पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। एकांत प्रिय होकर कोई श्रेष्ठ रचनात्मक उपलब्धि संभव नहीं है। प्रेमचंद इस एकांतप्रिय मनोभाव की आलोचना कर अपने युग के छायावादी काव्य पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। यह काव्य आंदोलन जीवन की प्रत्यक्ष वास्तविकता को नजर अंदाज करके रहस्य और अध्यात्म की खोज में निकला था।

उपन्यास के पात्र प्रभुसेवक के आंतरिक मनोभाव में द्वंद्व है। उसकी धारणा है कि जीवन जगत की जटिलताओं और वास्तविकताओं को स्वीकार करने से अन्तर्दृष्टि प्रखर होती है, और मानवीय चेतना का विकास होता है। परंतु उसे यह भी अनुभूत होता है कि कहीं कल्पना ठंडी न पड़ जाए। उसकी मान्यता में अंतर्वस्तु और शिल्प दो अलग-अलग श्रेणी हैं। जबकि यथार्थ में अन्तर्वस्तु के मुताबिक शिल्प की संरचना उभरती है। इसलिए महत्व अन्तर्वस्तु का ही होना चाहिए। कविता और कला की मार्मिकता के लिए सामाजिक वास्तविकता और उसकी सहानुभूति का ही महत्वपूर्ण योगदान है। इसलिए जीवन संग्राम में प्रवृत होने पर कल्पना शिथिल नहीं उज्ज्वल होती है क्योंकि कल्पना की आधारभूमि भी सामाजिक यथार्थ पर टिकी हुई है।

यहाँ होमर, सूर और मिल्टन का उदाहरण दिया गया है। ये तीनों कवि अंधे थे। अंधा होने से उनकी कल्पना और चेतना अंधी नहीं हो गई थी। उनकी संवेदना ने उनके भाव को प्रखर और बोध को सक्षम बनाया। अंधे होने के बावजूद वे जीवन को विशाल परिप्रेक्ष्य में देखने में सक्षम थे। इसी प्रकार वाल्मीकि, तुलसी आदि विरागी होते हुए भी जीवन और समाज से अलग नहीं हुए थे। विरागी होना उनकी कला के लिए बाधक नहीं हुआ। वस्तुनिष्ठ भाव से जीवन को ग्रहण करने के बाद ये प्रश्न गौण हो जाते हैं। लेखक की दृष्टि में जीवन की गहराई और व्यापकता को ठोस वास्तविकता और समग्रता में अनुभव करना कवि कर्म का मूल भाव है।

विशेष

1. कला और जीवन की वास्तविकता को रेखांकित किया गया है।
2. छायावादी काव्यानुभव और सोच पर लेखक ने अपना मंतव्य प्रकट किया है।
3. विश्वकवि का संदर्भ देकर लेखकीय विचार को प्रमाणित किया गया है।
4. उद्धरण की भाषा में साहित्यिक शब्दावली का प्रयोग है।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-08
हिन्दी उपन्यास
I- प्रेमचन्द का विशेष अध्ययन

खंड

5

गबन

इकाई 16
'गबन' और राष्ट्रीय आंदोलन 5

इकाई 17
'गबन' और मध्यवर्गीय समाज 14

इकाई 18
'गबन' का औपन्यासिक शिल्प 32

परिशिष्ट 44

खंड परिचय

एम.ए. हिन्दी के पाठ्यक्रम एम. एच. डी.-14 हिन्दी उपन्यास-1 (प्रेमचंद का विशेष अध्ययन) का पाँचवाँ खण्ड आपके समक्ष अध्ययन के लिए प्रस्तुत है। यह खंड प्रेमचंद के उपन्यास 'गबन' पर आधारित है। 'गबन' सन् 1931 में प्रकाशित हुई। गबन उपन्यास में मध्यवर्ग की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं को एक साथ देखने का प्रयास किया गया है। 'गबन' में प्रेमचंद ने मध्यवर्ग के दिखावे की प्रवृत्ति और उसके अंतर्विरोधों को प्रस्तुत किया है। इस खंड में हमने 'गबन' के कुछ प्रमुख विषयों पर चर्चा की है। प्रस्तुत खंड में इन विषयों से संबधित तीन इकाइयाँ हैं।

इकाई 16 'गबन' और राष्ट्रीय आंदोलन' है। जब प्रेमचंद उपन्यास लेखन कर रहे थे तब राष्ट्रीय आंदोलन कई स्तरों पर सक्रिय था। समाज का प्रत्येक वर्ग इस आंदोलन में अपने स्तर पर सहयोग दे रहा था। भला तब प्रेमचंद के उपन्यास का मध्यवर्ग कैसे पीछे रहता। इस इकाई में हमने राष्ट्रीय आंदोलन में विभिन्न वर्गों की भूमिका के संदर्भ में प्रेमचंद की दृष्टि का विवेचन किया है।।

इकाई 17 'गबन और मध्यवर्गीय समाज' है। 'गबन' एक मध्यवर्गीय परिवार की कथा है, जिसके अपने आडंबर और अंतर्विरोध हैं। इस उपन्यास में प्रेमचंद ने मध्यवर्ग को व्यापक परिदृश्य में देखने का प्रयास किया है। इस इकाई में हमने गबन में रचनात्मक उद्देश्य और उसके पात्रों पर भी चर्चा की है।

इकाई 18 'गबन का औपन्यासिक शिल्प' है। इस इकाई में गबन की कथावस्तु, भाषा, शिल्प आदि का विश्लेषण किया गया है।

इन इकाइयों में हमने गबन के कुछ विशिष्ट पक्षों पर चर्चा की है। इकाइयों के साथ ही 'परिशिष्ट' के अन्तर्गत भी उपन्यास के कुछ अन्य बिन्दुओं पर विचार किया गया है। खंड के अंत में 'गबन' से संबद्ध कुछ संदर्भ ग्रंथों की सूची दी गई है जो उपन्यास के विशेष अध्ययन में आपकी सहायक होंगी। इन्हें आप किसी भी पुस्तकालय से प्राप्त कर सकते हैं।

इन सभी का अध्ययन करने से पूर्व यह ज़रूरी है कि आप 'गबन' उपन्यास को पढ़ें। उपन्यास पढ़ते समय जहाँ शब्दों के अर्थ समझ में न आएँ उन पर निशान लगा लें। 'परिशिष्ट' में हमने ऐसे ही कुछ कठिन शब्दों के अर्थ दिए हैं। इकाइयों के अंत में अभ्यास के लिए दिए गए प्रश्नों के भी उत्तर लिखने का प्रयास करें। इनके बावजूद यदि समझने में दिक्कत आ रही हो तो आप अपने परामर्शदाता (काउंसलर) की सहायता ले सकते हैं।

इकाई 16 'गबन' और राष्ट्रीय आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 प्रेमचंद की रचना का उद्देश्य और 'गबन'

16.3 'गबन' में राष्ट्रीय आंदोलन के चित्रण का ऐतिहासिक संदर्भ

16.4 'गबन' और राष्ट्रीय आंदोलन में मध्यवर्ग की भूमिका

16.5 'गबन' और राष्ट्रीय आंदोलन में निम्नवर्ग की दृष्टि

16.6 'गबन' में चित्रित राष्ट्रीय आंदोलन और महिलाएँ

16.7 राष्ट्रीय आंदोलन में पुलिस तथा नौकरशाही की भूमिका का चित्रण

16.8 सारांश

16.9 अभ्यास प्रश्न

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- 'गबन' की रचना के उद्देश्य और रचना की सोद्देश्यता के संबंध में प्रेमचंद के विचारों पर चर्चा कर सकेंगे;
- उन ऐतिहासिक घटनाओं, जिससे प्रभावित होकर प्रेमचंद ने इस उपन्यास के कथानक में राष्ट्रीय आंदोलन का चित्रण किया है, का परिचय दे सकेंगे;
- 'गबन' में चित्रित राष्ट्रीय आंदोलन में मध्यवर्ग की भूमिका का विवेचन कर सकेंगे;
- राष्ट्रीय आंदोलन में विभिन्न वर्गों की भूमिका के संदर्भ में प्रेमचंद की दृष्टि का विश्लेषण कर सकेंगे; और
- राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं से संबंधित उठ रहे सामाजिक-राजनीतिक मुद्दों का 'गबन' में किए गए चित्रण की चर्चा कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

प्रेमचंद देश-काल-बद्ध रचनाकार हैं। उनके उपन्यास एवं उनकी कहानियाँ अपने समय का दस्तावेज हैं। जब पूरा देश स्वाधीनता पाने के लिए आंदोलित हो रहा था, तब प्रेमचंद जैसा सजग और सचेत कलाकार इससे अलग कैसे रह सकता था? राष्ट्रीय आंदोलन कई स्तरों पर अपनी गतिशील भूमिका निभा रहा था। इस आंदोलन का एक पक्ष अंगरेजों के शासन से मुक्ति का था। यहीं से यह प्रश्न भी जुड़ा हुआ था कि अंगरेजी शासन की समाप्ति के बाद फिर कैसा शासन होगा? हमारे स्वाधीन राष्ट्र का स्वरूप कैसा होगा? स्त्रियों एवं गरीबों का, किसानों एवं मजदूरों का, दलितों एवं पिछड़ों का, पुलिस और नौकरशाही का, अमीरों और जमींदारों का, स्वाधीन राष्ट्र में कौन सा स्थान होगा? सत्ता और शक्ति में किसकी हिस्सेदारी होगी? ऐसे कई प्रश्न उस समय के बौद्धिक जगत को मथ रहे थे। राष्ट्रीय आंदोलन का दूसरा पक्ष इन्हीं प्रश्नों से संबंधित है। ये प्रश्न सिर्फ राजनैतिक प्रश्न नहीं थे, अपितु एक साथ सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक प्रश्न भी थे। प्रेमचंद इन प्रश्नों को दरकिनार नहीं कर सकते थे। वे अपनी

रचनाओं में इन प्रश्नों से मात्र टकराते ही नहीं हैं, बल्कि उसका उत्तर पाने की भी कोशिश करते हैं। 'गबन' में प्रेमचंद ने राष्ट्रीय आंदोलन में इस दूसरे पक्ष को सशक्त रूप में सामने लाने की कोशिश की है।

16.2 प्रेमचंद की रचना का उद्देश्य और 'गबन'

'गबन' की रचना का उद्देश्य क्या है? 'गबन' पर अभी तक जितनी भी आलोचना हुई है उसके अनुसार इस उपन्यास में एक साथ दो उद्देश्यों की पहचान की गई है। पहला उद्देश्य मध्यवर्गीय जीवन की कथा है, और दूसरा उद्देश्य तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन तथा उससे उत्पन्न राजनीतिक प्रश्न। इसी कारण इस उपन्यास को दो हिस्सों में देखा गया है। पहला हिस्सा मध्यवर्गीय जीवन से संबंधित है और दूसरा हिस्सा राष्ट्रीय आंदोलन से। इसी कारण से इसमें रचनात्मक दोष भी देखा गया, क्योंकि दो उद्देश्य होने के कारण रचना में जोड़ दिखायी देता है। सवाल यह है कि क्या सही में प्रेमचंद की इस रचना में दो उद्देश्य एक साथ हैं? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए पहले हम उपन्यास के उद्देश्य के संदर्भ में प्रेमचंद के विचारों को जान लें। 'साहित्य का उद्देश्य' नामक पुस्तक में संकलित 'उपन्यास-रचना' नामक लेख में प्रेमचंद ने लिखा है :

"यह विवादास्पद विषय है कि उपन्यास किसी उद्देश्य से लिखना चाहिए या नहीं। प्रवीण समालोचकगण की राय में साहित्य का उद्देश्य केवल भाव-चित्रण ही होना चाहिए। उद्देश्य से लिखी हुई कहानियों में बहुधा लेखक को विवश होकर असंगत बातें कहलानी पड़ती हैं, अनावश्यक घटनाओं की आयोजना करनी पड़ती है, और सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसे उपदेशक का स्थान ग्रहण करना पड़ता है। मगर रसिक समाज किसी से उपदेश लेना नहीं चाहता, उसे उपदेशों से अरुचि है और उपदेशकों से घृणा। वह केवल मनोरंजन और मनोदर्शन चाहता है। पर इसके साथ यह भी मानना पड़ेगा कि गत शताब्दी में पाश्चात्य देशों में जितने सुधार हुए हैं, उनमें अधिकांश का बीजारोपण उपन्यासों के ही द्वारा किया गया था। डिकेंस के प्राय: सभी उपन्यास टाल्सटाय के कई उत्तम उपन्यास, मैक्सिम गोर्की, तुर्गनेव, बालजाक, ह्यूगो, मेरी करेली, ज़ोला आदि प्रधान उपन्यासकारों ने सुधारों के ही उद्देश्य से अपने ग्रंथ रचे हैं। हाँ, कुशल लेखक का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह सुधार के जोश में कथा की रोचकता को कम न होने दे। वह उपन्यास और अपने चरित्रों को उन्हीं परिस्थितियों में रखे जिनको वह सुधारना चाहता है। यह भी परमावश्यक है कि वह सुधार के विषय को खूब सोच ले, और अत्युक्ति से काम न ले, नहीं तो उसका प्रयास कभी सफल न हो सकेगा। लेखक वृन्द प्राय: अपने काल के विधाता होते हैं। उनमें अपने देश को, अपने समाज को दुख, अन्याय तथा मिथ्यावाद से मुक्त करने की प्रबल आकांक्षा होती है। ऐसी दशा में असम्भव है कि वह समाज को अपने मनमाने मार्ग पर चलने दे और स्वयं हाथ पर हाथ रखे देखता रहे। वह अगर और कुछ नहीं कर सकता, तो कलम तो चला ही सकता है। शेक्सपियर और कालिदास के समय में सुधार की आवश्यकता आज से कम न थी, लेकिन उस समय राजनीतिक ज्ञान का इतना प्रसार न था। रईस लोग भोग-विलास करते थे, कवि और लेखक उनकी विलास-वृत्तियों को और उत्तेजित करते थे। प्रजा पर क्या गुजरती है, इधर किसी का ध्यान न था। यह समय जीवन-संग्राम का है। आज हम जो शिक्षित कहलाते हैं, तटस्थ होकर अन्याय होते नहीं देख सकते।"

प्रेमचंद ने लेखक को काल का विधाता माना है। ऐसा लेखक स्वयं को जनता के सुख-दुख से तटस्थ नहीं रख सकता। जनता पर क्या गुजरती है, उसका ध्यान उस ओर जाएगा। अपने राजनीतिक ज्ञान के आधार पर वह अपने देश और काल को देखेगा, उस देश और काल में हो रहे वर्चस्व की पहचान करेगा, उस वर्चस्व को तोड़ने के लिए और कुछ नहीं कर सकने की स्थिति में वह कम से कम लिखेगा। वह लिखना मात्र अपने समय का दस्तावेज ही नहीं होगा, अपितु उसमें भविष्य का मार्ग भी होगा। प्रेमचंद का समय स्वाधीनता-संग्राम का है। इसे ही उन्होंने जीवन-संग्राम कहा है। प्रेमचंद 'गबन' में जिस मध्यवर्गीय जीवन की कथा कह रहे हैं,

वह मध्यवर्ग इस जीवन-संग्राम (स्वाधीनता-संग्राम) में किस तरह की भूमिका निभा रहा है, यह भी इस उपन्यास का उद्देश्य है। इसलिए मध्यवर्गीय जीवन की कथा और तत्कालीन राजनीति की कथा- दोनों अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि कथानक की संरचना में घुले-मिले हुए हैं।

प्रेमचंद के इस उपन्यास में राष्ट्रीय आंदोलन के आ जाने से गहराई के साथ व्यापकता भी आ गई है। अगर प्रेमचंद ने राष्ट्रीय आंदोलन की कथा को शामिल न किया होता तो 'गबन' मध्यवर्गीय जीवन का एकांगी और अधूरा चित्र प्रस्तुत करने वाला उपन्यास होकर रह जाता। जिसे आलोचकों ने उपन्यास की कमजोरी कहा है, वास्तव में वही इस उपन्यास का सशक्त पहलू है। उन्होंने कथा की रोचकता को बिना कम किये रमानाथ और जालपा जैसे चरित्रों को ऐसी परिस्थितियों में रखा है कि उनमें सुधार अस्वाभाविक नहीं लगता। प्रेमचंद जानते हैं कि यह वर्ग जब तक स्वाधीनता आंदोलन में सक्रिय हिस्सेदारी नहीं निभाएगा, तब तक सत्ता में परिवर्तन संभव नहीं है। प्रेमचंद इसी सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्य से संचालित होकर रमा और जालपा जैसे चरित्रों की सृष्टि करते हैं। जालपा मध्यवर्ग की महिला का प्रतिनिधि चरित्र है, ऐसी महिलाओं का जीवन गहनों की आकांक्षा और परिवार तथा पति की सेवा में ही बीत जाना सामान्य घटना है। प्रेमचंद ने इस चरित्र को जिन परिस्थितियों में रखकर उसमें परिवर्तन दिखाया है, वह बिल्कुल स्वाभाविक लगता है। इस परिवर्तन के माध्यम से प्रेमचंद ने देश के भविष्य की संभावना को सचेत रूप में तलाशने की कोशिश की है। देश की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा जब राष्ट्रीय आंदोलन की चिंता से बाहर होगा तब उसकी सफलता तो संदिग्ध है ही, इससे उसकी एकांगिता भी सामने आती है। 'गबन' के कथानक की इस व्यापकता को ध्यान में रखकर ही इस उपन्यास का सही मूल्यांकन संभव है।

16.3 'गबन' में राष्ट्रीय आंदोलन के चित्रण का ऐतिहासिक संदर्भ

'गबन' 1931 ई. में प्रकाशित हुई। प्रेमचंद ने 'उपन्यास' शीर्षक लेख में लिखा है-"लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उससे आन्दोलित न हो।" प्रेमचंद ने अपने समय के इतिहास में घटित हो रही घटनाओं को आधार बनाकर उससे अपने उपन्यास का कथानक बुना है। इसकी पुष्टि के लिए अमृतराय का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है- "उपन्यास जिस रंग में शुरू हुआ था, शायद उसी रंग में खत्म भी हो जाता। लेकिन हो नहीं सका। उन्हीं दिनों मेरठ षडयंत्र केस चल पड़ा। 'गबन' का उत्तरार्द्ध पूरे का पूरा क्रांतिकारियों के खिलाफ पुलिस के झूठे केस की दास्तान है।" विभिन्न आलोचकों ने इस ऐतिहासिक राजनीतिक संदर्भ को महत्वपूर्ण माना है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरोध में क्रांतिकारी चेतना को उभरने से रोकने के लिए मेरठ षड्यंत्र केस चलाया गया था। 20 मार्च 1929 को पूरे देश में गिरफ्तारियाँ हुई थीं और मेरठ में मुकदमा चला। इसके परिणामस्वरूप समूचे देश में सनसनी फैल गयी। प्रेमचंद का इस घटना से प्रभावित होना स्वाभाविक था। यह प्रभाव कलकत्ता के झूठे मुकदमे के रूप में देखा जा सकता है।

डॉ. रामविलास शर्मा का गबन में राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में कहना है- "प्रेमचंद ने उसे नारी-समस्या का व्यापक चित्र बनाने के साथ-साथ इस समस्या को हिन्दी साहित्य में पहली बार देश की स्वाधीनता की समस्या से जोड़ दिया है।"

16.4 'गबन' और राष्ट्रीय आंदोलन में मध्यवर्ग की भूमिका

'गबन' उपन्यास में राष्ट्रीय आंदोलन और उसमें मध्यवर्ग की भूमिका पर विचार करने से पूर्व भारत में मध्यवर्ग के स्वरूप को संक्षेप में समझ लें। भारत में मध्यवर्ग का उदय औपनिवेशक काल में हुआ। इस मध्यवर्ग का संबंध औपनिवेशक पूँजीवाद से था। प्रेमचंद उसी

दौर के लेखक हैं। यह मध्यवर्ग शहर में अवस्थित था और आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर मुख्य रूप से सरकारी नौकरियों एवं सरकार की कृपा पर निर्भर था। यही कारण था कि यह वर्ग अधिकांशत: अंग्रेजों के सहायक की भूमिका निभाता था। उसकी भूमिका राष्ट्रीय आंदोलन में न्यूनतम थी। असहयोग आंदोलन में गांधीजी ने इसी कारण लोगों से स्कूल, कॉलेज, वकालत, सरकारी नौकरी छोड़ने की अपील की थी। प्रेमचंद ने स्वयं भी सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दिया था। इसके पीछे का उद्देश्य सरकारी तंत्र को कमजोर करना था। क्योंकि औपनिवेशक सत्ता भारत में उच्च वर्ग और मध्यवर्ग (दोनों वर्गों को मिलाकर भद्र समाज कह सकते हैं) को साथ मिलाकर देश के संसाधनों पर कब्जा जमाए हुए थी और यहाँ के उत्पादन को नष्ट कर उसके बाजार का एकतरफा लाभ उठा रही थी। औपनिवेशक सत्ता का हिस्सेदार होने के साथ ही यह मध्यवर्ग आत्मकेन्द्रित और व्यक्तिवादी था। इसके कारणों की पहचान लोगों ने आधुनिक शिक्षा और पूँजीवादी व्यवस्था में की है। 'गबन' प्रेमचंद का एकमात्र ऐसा उपन्यास है जो नगर से शुरू होकर महानगर तक की यात्रा करता है। यह उपन्यास पूरी तरह से शहर केन्द्रित है और इसमें कथा का आधार मध्यवर्ग को बनाया गया है। यही कारण है कि उपन्यास में उपर्युक्त मध्यवर्ग का चारित्रिक लक्षण उभरकर सामने आया है। इस उपन्यास में एक ओर प्रेमचंद ने मध्यवर्ग की सीमाओं को रेखांकित किया है तो दूसरी ओर उन्होंने उसी मध्यवर्ग की संभावनाओं को भी दिशा देने की भी कोशिश की है।

इस उपन्यास में मध्यवर्ग का प्रतिनिधि पुरुष पात्र रमानाथ है। रमानाथ आधुनिक शिक्षा प्राप्त फैशनेबल युवक है। रमानाथ के चरित्र पर विचार करते हुए हम इकाई-17 में देखेंगे कि वह दिखावा और नुमाइश को आवश्यक मानता है। वह इतना स्व-केंद्रित और व्यक्तिवादी है कि अपनी पत्नी तक से न सिर्फ अपनी वास्तविक स्थिति को छिपाता है, अपितु उसके सामने बढ़-चढ़कर डींग हांकता है। अपनी कमजोरियों को वह सबसे छिपाता है। यही उसकी परेशानी का कारण बनता है। जब उसे सरकारी नौकरी मिलती है, तब भी वह सबसे अपनी वास्तविक आमदनी को छिपाता है जो वह है और जो वह होना चाहता है, उसके बीच की खाई को दिखावा और नुमाइश से ढँकने की कोशिश करता रहता है। इसके कारण वह रिश्वत लेता है और अंतत: गबन के आरोप में फँस जाता है। कलकत्ता में पुलिस के चंगुल में फँस जाने पर अपने लाभ के लिए झूठी गवाही देने को तैयार हो जाता है। व्यक्तिगत लाभ-लोभ के लिए रमानाथ स्वाधीनता आंदोलन के नायकों के खिलाफ डकैती और देशद्रोह की झूठी गवाही तक दे देता है। उसकी सारी क्रियाशीलता स्व- केन्द्रित है। लेकिन ऐसा नहीं है कि उसके अंदर द्वंद्व का अभाव है। वह सुविधाजीवी है। खतरों से उसे डर लगता है। उसके अंदर सुविधाजीवी और नैतिक मन का द्वंद्व चलता रहता है, लेकिन जीत हर बार सुविधाजीवी मन की ही होती है। नैतिक मन बार-बार हारता है, क्योंकि नैतिक रास्ते पर चलने से खतरों और असुविधाओं का सामना करना होगा, यह सोचकर वह हर बार नैतिकता को दबा देता है। तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन नैतिक होते हुए भी खतरनाक और असुविधाजनक था और इसके खिलाफ अंग्रेजों का साथ देने से व्यक्तिगत लाभ और सुविधाओं की प्राप्ति संभव थी। रमानाथ ही नहीं उसके जैसे कई मध्यवर्गीय लोग इस लाभ के लिए अंग्रेजों का साथ दे रहे थे। पुलिस से लेकर नौकरशाह तक सब अपनी तरक्की पाने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर बनाने का काम कर रहे थे। 'गबन' उपन्यास में कलकत्ता की घटना के माध्यम से प्रेमचंद ने बहुत ही बारीकी के साथ मध्यवर्ग की इस समस्या को दिखाया है।

इन सीमाओं को दिखाने के साथ ही प्रेमचंद ने रमानाथ और जालपा के माध्यम से मध्यवर्ग की संभावनाओं की तलाश भी की है। रमानाथ की स्व-केन्द्रिकता और सुविधाजीविता से जालपा और देवीदीन का व्यक्तित्व बार-बार टकराता है। उनकी प्रेरणा से अंतत: रमानाथ खतरों और असुविधाओं को उठाने के लिए तैयार हो जाता है तथा कचहरी में सच बयान करता है। इसे प्रेमचंद की आदर्शवादिता कह सकते हैं, लेकिन इस आदर्श के पीछे उनकी दृष्टि

है, जो राष्ट्रीय आंदोलन में मध्यवर्ग की भूमिका और उसमें संभावनाओं की तलाश कर रही है। क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलन की सफलता बहुत दूर तक इस मध्यवर्ग पर टिकी हुई थी। इसके अतिरिक्त हम देखें तो सामाजिक मुद्दे पर रमानाथ परम्परा को तोड़ता है। वह अपनी पत्नी को घर की चारदीवारी से बाहर ले जाता है। भले ही इसका कारण जालपा का सुंदर होना है। भले ही वह पूँजीवादी पुरुषवादी मानसिकता से संचालित है, जो औरतों को नुमाइश की वस्तु समझता है। यह मध्यवर्गीय पूँजीवादी पुरुषवादी मानसिकता पुराने सामंती पुरुषवादी मानसिकता को तोड़ने वाला है। इस रूप में उसकी प्रगतिशील भूमिका को पहचाना जा सकता है और उसे आगे की ओर बढ़ा हुआ एक कदम माना जा सकता है। इसी मध्यवर्ग का प्रतिनिधि महिला चरित्र जालपा है। प्रेमचंद जालपा के माध्यम से मध्यवर्ग के नए राजनीतिक संदर्भ का मानो उद्घाटन करते हैं। इस संदर्भ पर हम आगे विचार करेंगे।

16.5 'गबन' और राष्ट्रीय आंदोलन में निम्नवर्ग की दृष्टि

'गबन' उपन्यास में उस समय चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन का प्रतिबिम्ब उभरकर सामने आया है। इसमें सीधे-सीधे स्वाधीनता आंदोलन की कोई घटना नहीं है। लेकिन इस आंदोलन की छाया हमें 'गबन' में साफ दिखाई देती है, जिसमें हम देख सकते हैं कि कौन कहाँ स्थित है, और किसकी क्या भूमिका है। प्रेमचंद ने देवीदीन की आँखों से उस समय चल रहे स्वाधीनता आंदोलन की वास्तविकता को दिखाया है। देवीदीन छोटी जाति का निम्नवर्गीय देशभक्त है। उसकी देशभक्ति 'स्वदेशी' आंदोलन में सक्रिय हिस्सेदारी और अपने दोनों बेटों की शहादत से सिद्ध होती है। वह आजीवन स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग का संकल्प लेता है। वह अपने संकल्प पर अडिग भी है। प्रेमचंद ने इस चरित्र के माध्यम से भद्र समाज की असलियत को उजागर कर दिया है। भद्र वर्ग की वास्तविकता देवीदीन के शब्दों में-

"इन बड़े-बड़े आदमियों के किये कुछ न होगा। इन्हें बस रोना आता है, छोकरियों की भाँति बिसुरने के सिवा कुछ नहीं हो सकता। बड़े-बड़े देस-भगतों को बिना बिलायती सराब के चैन नहीं आता। उनके घर में जाकर देखो, तो एक भी देसी चीज न मिलेगी। दिखाने को दस-बीस कुरते गाढ़े के बनवा लिये, घर का और सब समान बिलायती है। सब-के-सब भोग-विलास में अन्धे हो रहे हैं, छोटे भी और बड़े भी। उस पर दावा यह कि देस का उद्धार करेंगे। अरे तुम क्या देस का उद्धार करोगे! पहले अपना तो उद्धार कर लो। गरीबों को लूटकर बिलायत का घर भरना तुम्हारा काम है। इसलिए तुम्हारा इस देस में जनम हुआ है।.. ...अभी तुम्हारा राज नहीं है, तब तो तुम भोग-विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जाएगा, तब तो तुम गरीबों को पीसकर पी जाओगे।"

प्रेमचंद की वास्तविक चिंता भविष्य को लेकर है। स्वाधीनता आंदोलन में कांग्रेस पार्टी की भूमिका महत्वपूर्ण थी। प्रेमचंद कांग्रेस पार्टी के स्वरूप और उसके प्रतिनिधित्व को लेकर आश्वस्त नहीं थे। उनके अधिकांश उपन्यासों में यह संदेश उभरकर सामने आया है। प्रेमचंद देख रहे थे कि कांग्रेस का प्रतिनिधित्व पुराने जमींदारों के हाथ में चला गया है। 'गोदान' हो या 'सेवासदन' सबमें सामंती शोषक जमींदार कांग्रेस के नेता के रूप में दिखाए गए हैं। इन जमींदार के प्रतिनिधित्व में देश के भविष्य को लेकर प्रेमचंद के मन में संदेह है। इसके साथ ही प्रेमचंद देख रहे थे कि जो पढ़ा-लिखा वर्ग है, वह भी सिर्फ अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगा हुआ है। ऐसे में इस आंदोलन से प्रेमचंद को बहुत उम्मीद न थी। उनका विश्वास था कि जब तक सत्ता आम जनता, किसानों और मजदूरों के हाथ में नहीं आयेगी तब तक देश का भला न होगा। क्योंकि प्रेमचंद का 'देश' इन्हीं किसानों और मजदूरों का देश है। यही कारण है कि प्रेमचंद देवीदीन से कहलाते हैं- "साहब, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, तो उसका कौन सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है?" स्वार्थ में लिप्त भद्र समाज इतना आत्मकेन्द्रित हो गया है कि उसके लिए 'देश' का मतलब भी 'आत्म' होकर रह गया है। प्रेमचंद

का यह संदेश आज की वास्तविकता है। पाँचवें वेतन आयोग के लागू होने के बाद, खुली अर्थव्यवस्था, और विभिन्न राजनीतिक भ्रष्टाचार के बाद देवीदीन का संदेह मात्र संदेह नहीं रह जाता है। आज नौकरशाही, पुलिस तथा कचहरी में व्याप्त लूट से जो सबसे बदहाल हैं वह किसान और मजदूर ही हैं। देशभक्ति और ईमानदारी जैसे शब्द आज अर्थहीन होकर रह गए हैं। यहाँ प्रेमचंद एक भविष्यद्रष्टा लेखक के रूप में दिखाई देते हैं।

भद्र वर्ग के बारे में प्रेमचंद की दृष्टि पर प्रकाश डालने के लिए 1931 में प्रकाशित उनके 'नवीन और प्राचीन' शीर्षक लेख को देखा जा सकता है। इसमें उन्होंने कहा है कि प्राचीन संस्कृति में मानवीय गुणों और नैतिक मूल्यों (अतिथि सम्मान, परस्पर सहयोग आदि) के लिए जितना आदर था, उतना नये कहे जानेवाले समाज में संभव नहीं रहा। संकीर्णता और अलगाव की प्रवृत्ति देहातियों में, मजूरों में उतनी तीव्र नहीं है जितनी शिक्षित और सभ्य समाज में। देवीदीन से रमानाथ की तुलना करने पर यह बात प्रमाणित हो जाती है। 'गबन' में जालपा अपने देवर गोपी को फटकार कर कहती है- "खटिक हों या चमार हों, लेकिन हमसे और तुमसे सौगुने अच्छे हैं। एक परदेशी आदमी को छः महीने तक अपने घर में ठहराया, खिलाया-पिलाया। हममें है इतनी हिम्मत! यहाँ तो मेहमान आ जाता है, तो वह भी भारी हो जाता है। अगर वह नीचे है, तो हम उनसे कहीं नीचे हैं।" संकीर्णता और अलगाव के कारण ही पढ़ा लिखा भद्र समाज स्वाधीनता आंदोलन में भी सक्रिय हिस्सेदारी नहीं निभा पाता है। इसके विपरीत देहाती और मजदूर परस्पर सहयोग की भावना के कारण सकारात्मक भूमिका निभाने में सक्षम हैं। परमानंद श्रीवास्तव ने लिखा है- "यह भी देखने की चीज है कि रमानाथ की नियति से जितना गहरा लगाव देवीदीन खटिक और उसकी पत्नी ने प्रमाणित किया, उतना बहुत अधिक अपने लोगों ने भी नहीं। रमानाथ के प्रति देवीदीन का लगाव रमानाथ के सुधार की चिन्ता से भी जुड़ा है और व्यापक स्तर पर देशहित की चिंता से सम्बद्ध भी है।"

16.6 'गबन' में चित्रित राष्ट्रीय आंदोलन और महिलाएँ

'गबन' उपन्यास में प्रेमचंद ने पाँच महिला पात्रों-जालपा, रतन, जोहरा, जग्गो और रामेश्वरी का चित्रण किया है। इन पाँचों में मात्र रामेश्वरी परम्परागत महिला चरित्र है। रामेश्वरी को छोड़कर सभी महिला चरित्रों के माध्यम से प्रेमचंद ने राष्ट्रीय आंदोलन को सामाजिक प्रश्न से जोड़ा है। आरम्भ में जब जालपा का कार्यक्षेत्र घर की चारदीवारी होती है, तब वह विलासिनी नायिका होती है। सर्राफ के द्वारा तकाजा करने के बाद उसके व्यक्तित्व का विस्तार होता है और तब वह विचारशील नायिका के रूप में सामने आती है। रमानाथ की खोज में कलकत्ता पहुँचकर वह राष्ट्रीय समस्या के सम्मुख खड़ी होती है। यहाँ उसके व्यक्तित्व का विकास अपने चरम पर पहुँच जाता है। अब वह सेवा, त्याग और सहिष्णुता की मूर्ति नजर आती है। कुल मिलाकर जालपा आभूषण-प्रेम से शुरू होकर देश-प्रेम तक की विकास-यात्रा तय करती है। आखिर इस चरित्र के सृजन के पीछे रचनाकार का उद्देश्य क्या है? दूसरा प्रश्न इसी से जुड़ा हुआ है कि क्या इसके माध्यम से प्रेमचंद ने कोई सामाजिक-राजनीतिक प्रश्न उठाया है?

हम इकाई 17 में जालपा, रतन और जग्गो के चरित्र पर विस्तार से चर्चा करेंगे। आइए हम कुछ बिन्दुओं पर अलग से प्रकाश डालें। अभी हमने जालपा के चरित्र-विकास की चर्चा की है। सवाल यह है कि आखिर जालपा की सास रामेश्वरी का चरित्र क्यों नहीं विकसित होता है? इसका सीधा सा उत्तर है कि रामेश्वरी परम्परागत चरित्र है, जिसकी सीमा घर की चारदीवारी है, जो परम्परा से तय अपनी भूमिका (माता और पत्नी के रूप में) निभाती है। सत्ता (चाहे वह परिवार के अंदर हो या फिर सामाजिक या राजनीतिक) में वह निर्णय ले पाने की भूमिका नहीं निभाती है। यही कारण है कि उसका अपना व्यक्तित्व नहीं बन पाता है। जालपा भी जब तक घर की चारदीवारी में रहती है, तब तक उसकी भूमिका भी घर की बहू और पत्नी की ही होती है। लेकिन रमा के जाते ही वह अपनी जिम्मेदारियों का विस्तार करती है। यहीं से वह सत्ता में हिस्सेदारी करने लगती है और इसके साथ ही उसका व्यक्तित्व निखरकर सामने

आता है। प्रेमचंद जिस समय के रचनाकार हैं, उस समय औरतों को न तो परिवार के अंदर और न ही सामाजिक या राजनीतिक स्तर पर किसी भी तरह के निर्णय का अधिकार था। स्त्री शिक्षा का सवाल, बाल विवाह, अनमेल विवाह, विधवा विवाह, स्त्रियों की आर्थिक सुरक्षा का सवाल-इन सभी मुद्दों पर उस समय का हिन्दी समाज चिन्तन के दौर से गुजर रहा था। इन सवालों का उद्देश्य महिलाओं के सशक्तीकरण और उनकी सत्ता में हिस्सेदारी का था। इन सवालों का संबंध हिन्दी समाज के नवजागरण से था। ये सभी सवाल प्रेमचंद के अंदर भी हलचल पैदा कर रहे थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में महिलाओं का गंभीरता से चित्रण किया है। 'गबन' भी इसका अपवाद नहीं है।

यह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण सवाल था कि जिस स्वाधीनता आंदोलन को अखिल भारतीय आंदोलन कहा जा रहा था, उसमें हिन्दी प्रदेश की आधी आबादी की कोई हिस्सेदारी नहीं थी। प्रेमचंद इसका कारण पितृसत्तात्मक समाज को मानते हैं। जालपा का आचरण पितृसत्तात्मक समाज का हिस्सा होने के कारण उस समाज के अनुकूल था। इसलिए गहनों से उसका लगाव बहुत ही स्वाभाविक था। प्रेमचंद जालपा को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उसमें सकारात्मक परिवर्तन दिखाते हुए उसके 'स्व' का विस्तार करते हैं। इसके पीछे उनका उद्देश्य यह बताना है कि स्त्रियाँ मात्र सज-सँवर ही नहीं सकतीं अपितु वे बृहत्तर सामाजिक और राजनीतिक भूमिका भी निभा सकती हैं। परिवार और समाज राजनीति से अलग नहीं है। स्त्रियों के सशक्तीकरण के लिए उनका राजनीति में आना जरूरी है, प्रेमचंद इस सत्य को समझ रहे थे।

'गबन' की एक महिला पात्र है रतन, जो उच्च वर्ग में होने के बावजूद पितृसत्तात्मक समाज के वर्चस्व का शिकार है। वह भी मध्यवर्ग की औरतों की ही तरह असुरक्षित है, और इस असुरक्षा का कारण है उनका रक्षा पालन के लिए परिवार और समाज पर निर्भर होना। जब तक वकील साहब जीवित हैं तब तक वह सुखी है, लेकिन उनके मरते ही समाज और राज्य-दोनों ही सत्ता उसके विरुद्ध हो जाते हैं। प्रेमचंद ने लिखा है- "उसने निश्चय किया, जो कुछ मेरा नहीं है, उसे लेने के लिए मैं झूठ का आश्रय न लूँगी। किसी तरह नहीं। मगर ऐसा कानून बनाया किसने? क्या स्त्री इतनी नीच, इतनी तुच्छ, इतनी नगण्य है? क्यों? रतन के माध्यम से प्रेमचंद अपने समय की इस अमानवीय विषमता को पूरे जोर से उठाते हुए लिखते हैं- "अगर मेरी जबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुँचती, तो मैं सब स्त्रियों से कहती-बहनों, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना और अगर करना तो जब तक अपना घर अलग न कर लो, चैन की नींद मत सोना। यह मत समझो कि तुम्हारे पति के पीछे उस घर में तुम्हारा मान के साथ पालन होगा। अगर तुम्हारे पुरुष ने कोई तरका नहीं छोड़ा, तो तुम अकेली रहो चाहे परिवार में, एक बात है। तुम अपमान और मजूरी से नहीं बच सकती। अगर तुम्हारे पुरुष ने कुछ छोड़ा है, तो अकेली रहकर तुम उसे भोग सकती हो, परिवार में रहकर तुम्हें उससे हाथ धोना पड़ेगा। परिवार तुम्हारे लिए फूलों की सेज नहीं, काँटों की सैया है; तुम्हारा पार लगाने वाली नौका नहीं, तुम्हें निगल जानेवाला जन्तु।''

प्रेमचंद ने स्त्रियों के साथ हो रहे इस भेद-भाव को आर्थिक नजरिये से पहचानने की कोशिश की है। उनका विश्वास है कि जब तक स्त्रियाँ आर्थिक रूप से स्वाधीन नहीं होंगी, रक्षा और पालन के लिए खुद पर निर्भर न होंगी, तब तक उन पर वर्चस्व कायम रहेगा। इसलिए प्रेमचंद ने स्त्रियों की आर्थिक स्वाधीनता के प्रश्न को राजनीतिक प्रश्न बनाया है। स्वाधीन भारत में स्त्रियों की स्थिति क्या होगी? 'गबन' उपन्यास इस प्रश्न से जूझता हुआ दिखाई देता है।

इस उपन्यास में प्रेमचंद स्त्री-पुरुष-संबंध जैसे सामाजिक प्रश्न पर भी विचार करते हुए दिखाई देते है। उनके अनुसार विलासिनी होकर स्त्री सच्चा प्रेम नहीं पा सकती है, वह असुरक्षित और वर्चस्व का शिकार ही होगी। सच्चा प्रेम त्यागिनी होकर ही पाया जा सकता है, तभी वह सहभागिनी बन सकेगी। वहीं पुरुष को भी अपने 'स्व' का विस्तार करना पड़ेगा अपने आगे

परदा डालकर वह स्त्री का प्यार नहीं पा सकता। इस तरह प्रेमचंद 'गबन' के कथानक में स्त्री-पुरुष संबंध को नए रूप में परिभाषित करते हैं।

इसके साथ ही इस उपन्यास में स्त्री-शिक्षा के संदर्भ में भी प्रेमचंद के विचार उल्लेखनीय हैं। वकील साहब जो यूरोप की आधुनिकता से इतने प्रभावित हैं कि उसे स्वर्ग मानते हैं। वकील साहब रमा से कहते हैं - "आप तो योरप न गये होंगे? ओह! क्या आजादी है, क्या दौलत है, क्या जीवन है, क्या उत्साह है! बस मालूम होता है, यही स्वर्ग है।" यूरोप को स्वर्ग मानने का कारण आजादी और दौलत तो है ही, साथ ही स्त्री-शिक्षा भी है। स्त्री-शिक्षा के कारण ही वे स्वच्छंद और हँसमुख हैं। वकील साहब इसीलिए भारत में भी स्त्री-शिक्षा की जरूरत महसूस करते हैं। रमा से कहता है - "वहाँ स्त्रियों का आचरण तो बहुत अच्छा नहीं है।" स्त्री-शिक्षा के प्रति चिन्तन का दो छोर यहाँ दिखाई देता है। वकील साहब का कहना है - "यह समझ लीजिए कि जिस देश में स्त्रियों की जितनी अधिक स्वाधीनता है, वह देश उतना ही सभ्य है। स्त्रियों को कैद में, परदे में, या पुरुषों से कोसों दूर रखने का तात्पर्य यही निकलता है कि आपके यहाँ जनता इतनी आचार-भ्रष्ट है कि स्त्रियों का अपमान करने में जरा भी संकोच नहीं करती। युवकों के लिए राजनीति, धर्म, ललित-कला, साहित्य, दर्शन, इतिहास, विज्ञान और हजारों ही ऐसे विषय हैं, जिनके आधार पर वे युवतियों से गहरी दोस्ती पैदा कर सकते हैं। कामलिप्सा उन देशों के लिए आकर्षण का प्रधान विषय है, जहाँ लोगों की मनोवृत्तियाँ संकुचित रहती हैं।"

ऐसे समय में जब या तो स्त्री-शिक्षा को जरूरी ही नहीं समझा जाता था, या फिर उन्हें घर को अच्छे तरीके से चलाने के लिए शिक्षा दी जाती थी, प्रेमचंद यूरोप से तुलना करते हुए उन्हें राजनीति, धर्म, ललित-कला, साहित्य, दर्शन, इतिहास, विज्ञान, आदि विषयों की शिक्षा देने की बात करते हैं। स्त्री-शिक्षा की इतने जोरदार तरीके से वकालत करने के पीछे प्रेमचंद का उद्देश्य स्त्रियों को देश की मुख्यधारा में लाना है। शिक्षित होकर ही स्त्रियाँ अर्थिक रूप से स्वाधीन हो सकती हैं, और तभी राष्ट्र की मुख्यधारा में शामिल होकर नवनिर्माण कर सकती हैं। 'गबन' के माध्यम से प्रेमचंद यह संदेश अपने समाज को देते जान पड़ते हैं।

16.7 राष्ट्रीय आंदोलन में पुलिस तथा नौकरशाही की भूमिका का चित्रण

कलकत्ता पहुँचने के बाद 'गबन' का बड़ा हिस्सा पुलिस और नौकरशाही के द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े नवयुवकों पर दमन की कार्यवाही की कहानी है। डकैती का झूठा आरोप लगाकर उन नवयुवकों को फाँसी की सजा दिलवाने के लिए वे साम, दाम, दंड और भेद-सब नीति अख्तियार करते हैं। "दारोगा - मुआमला बिल्कुल सच्चा है। आप बेगुनाहों को न फँसाएँगे। वही लोग जेल जाएँगे जिन्हें जाना चाहिए। फिर झूठ कहाँ रहा? डाकुओं के डर से यहाँ के लोग शहादत देने पर राज़ी नहीं होते। बस और कोई बात नहीं है। यह मैं मानता हूँ कि आपको कुछ झूठ बोलना पड़ेगा, लेकिन आपकी ज़िन्दगी बनी जा रही है, इसके लिहाज़ से इतना झूठ तो कोई चीज़ नहीं।" पुलिस की इस कुटिल चाल का रमानाथ शिकार हो जाता है। अंततः पुलिस की इस कुटिल चाल से रमानाथ को जालपा अपने कठोर निर्णय से बचा लेती है। प्रेमचंद ने इस कथा के माध्यम से पुलिस के फरेब पर से पर्दा उठा दिया है। पर्दा उठते ही पुलिस अपने नंगे रूप में सामने दिखाई देती है। वहाँ हमें अपने ही भारतीय लोग दिखाई देते हैं, जो अपने लाभ-लोभ के लिए अपने ही लोगों का गला काटने से नहीं चूकते। तरक्की पाने के लिए, अपनी गलतियों से बचने के लिए, झूठी गवाही दिलवाने के लिए वे किसी भी स्तर तक गिर सकते हैं। पुलिस और प्रशासन में पढ़ा लिखा वही वर्ग है, जिस पर देवीदीन संदेह व्यक्त करता है। स्वाधीनता के बाद भी अपने [illegible] के लिए ये लोग आम जनता का

शोषण नहीं करेंगे, प्रेमचंद को इसमें संदेह है। शोषण के इस कुचक्र को प्रेमचंद ने 'गबन' में बहुत ही विस्तार के साथ चित्रित किया है। उपन्यास में सरकारी वकील द्वारा की गई बहस में लेखक ने शोषण के इस कुचक्र का झूठी गवाही का, झूठे मुकदमे आदि का भंडाफोड़ किया है।

16.8 सारांश

इस इकाई में हमने 'गबन' में चित्रित राष्ट्रीय आंदोलन के बारे में अध्ययन किया। हमने देखा कि यहाँ राष्ट्रीय आंदोलन में दो स्वर प्रमुख हैं- एक स्वाधीनता का और दूसरा नवजागरण का। स्वाधीनता का संबंध अंगरेजों को भारत से भगाकर उसके स्थान पर हिन्दुस्तानियों का अपना स्वराज लाने से है। यह राष्ट्रीयता की भावना से संबद्ध है। राष्ट्रीयता की भावना आधुनिक, वैज्ञानिक और तार्किक ज्ञान से पैदा हुई। इसी आधुनिक, वैज्ञानिक और तार्किक ज्ञान के कारण समाज में जो परिवर्तन हुआ उसे नवजागरण कहा जाता है। हमने आधुनिक, वैज्ञानिक और तार्किक ज्ञान के माध्यम से अपनी परम्परा, अपने इतिहास, अपने समाज, अपने धर्म आदि को फिर से परिभाषित किया। अंग्रेजों के जाने के बाद हमारे स्वराज का स्वरूप कैसा होगा, इस सवाल का जवाब उस समय के बौद्धिक जगत् में ढूंढ़ने की कोशिश हो रही थी। प्रेमचंद भी इस सवाल से जूझ रहे थे। 'गबन' उपन्यास में प्रेमचंद ने इन सवालों का जवाब रचनात्मक धरातल पर ढूंढ़ने की कोशिश की है। इस उपन्यास में राष्ट्रीय आंदोलन के इन दोनों स्वरों को प्रेमचंद ने वर्गीय दृष्टि से भी देखने का काम किया है। कुल मिलाकर इस उपन्यास पर तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन की छाया बहुत साफ-साफ दिखाई देती है।

16.9 अभ्यास प्रश्न

1. 'गबन में राष्ट्रीय आंदोलन का चित्रण किस तरह हुआ है? संक्षेप में उत्तर दीजिए।
2. 'गबन' उपन्यास पर नवजागरण का प्रभाव किस रूप में चित्रित किया गया है?
3. राष्ट्रीय आंदोलन में भूमिका को लेकर प्रेमचंद की वर्गीय दृष्टि क्या थी? सविस्तार बताइए।
4. कथानक में झूठे मुकदमे की कथा को जोड़ने के पीछे प्रेमचंद का उद्देश्य क्या है?

इकाई 17 'गबन' और मध्यवर्गीय समाज

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 'गबन' का रचनात्मक उद्देश्य

17.3 मध्यवर्गीय परिवार की कथा

17.4 'गबन' के पात्र

- 17.4.1 दयानाथ
- 17.4.2 रमानाथ
- 17.4.3 जालपा
- 17.4.4 अन्य स्त्री पात्र
- 17.4.5 अन्य वर्गों के पात्र

17.5 सारांश

17.6 अभ्यास प्रश्न

17.0 उद्देश्य

यह इकाई प्रेमचंद के उपन्यास 'गबन' में चित्रित मध्यवर्गीय समाज के विविध पक्षों पर आधारित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- 'गबन' के रचनात्मक उद्देश्य की चर्चा कर सकेंगे;
- अभी तक 'गबन' पर हुए आलोचनात्मक विमर्श का परिचय दे सकेंगे;
- 'गबन' में चित्रित मध्यवर्गीय परिवार की कथा के विविध पक्षों का विवेचन कर सकेंगे; और
- 'गबन' के विभिन्न चरित्रों पर प्रकाश डाल सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में हमने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि 'गबन' का रचनात्मक - उद्देश्य क्या है। इस रचनात्मक - उद्देश्य तक पहुँचने के लिए 'गबन' को कैसे पढ़ा जाये? - इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए अभी तक विभिन्न विद्वानों द्वारा 'गबन' को लेकर हुए आलोचनात्मक - विमर्श पर हम एक नजर डालेंगे। इसके उपरांत ही हम 'गबन' के पाठ की प्रविधि को जान सकेंगे। तब हमें पता चलेगा कि 'गबन' उपन्यास में एक मध्यवर्गीय परिवार की कहानी कही गयी है। उपन्यास विधा का आरम्भ यूरोप में मध्यवर्ग को केन्द्र में रखकर हुआ। हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक उपन्यासों में भी मध्यवर्ग की कहानी कही गयी है, किन्तु प्रेमचंद ने पहली बार 'गबन' उपन्यास में मध्यवर्ग को इतने व्यापक परिदृश्य में देखने का प्रयास किया है। विभिन्न चरित्रों के माध्यम से प्रेमचंद ने मध्यवर्ग के यथार्थ को उसकी समग्रता में प्रस्तुत किया है। इसलिए इस इकाई में उपन्यास के चरित्रों पर भी विस्तार से चर्चा की गई है।

17.2 गबन का रचनात्मक उद्देश्य

प्रेमचंद का कथन है कि "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूं। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल-तत्व है।"

'गबन' को समझने के लिए प्रेमचंद का उर्पयुक्त कथन बहुत ही महत्वपूर्ण है। प्रेमचंद ने लिखा है - 'बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।" तब प्रश्न उठता है कि 'गबन' की रचना का उद्देश्य क्या है और इसे कैसे समझा जाय? यहीं से इस उपन्यास को पढ़ने की प्रविधि का प्रश्न भी उठता है। प्रेमचंद की आरम्भ में ही उद्धृत पंक्तियाँ 'गबन' को पढ़ने की प्रविधि प्रदान करती है। इन पंक्तियों का महत्व यहाँ इसी अर्थ में बताया गया है।

'गबन' के पाठ की प्रविधि

अभी तक 'गबन' उपन्यास पर कई लेख लिखे गए। इन लेखों में रचना का उद्देश्य भी खोजा गया है। इनमें कुछ लेख महत्वपूर्ण भी हैं। लेकिन 'गबन' को एक सम्पूर्ण संरचना में पढ़ने का प्रयास किसी भी लेख में नहीं हुआ है'। जब-जब प्रयास किया गया, तब-तब उसमें रचना के उद्देश्य की एकतानता टूटी हुई दिखाई दी है। इसका कारण अमृतराय और नन्ददुलारे वाजपेयी का लेख है, जिसमें 'गबन' उपन्यास की कथा को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो खण्डों में विभाजित करके देखा गया है। पूर्वार्द्ध का संबंध इलाहाबाद की कथा से है, जबकि उत्तरार्द्ध का संबंध कलकत्ता की कथा से है। उपन्यास के रचनात्मक-उद्देश्य तक पहुँचने की इस प्रविधि में यह बताया गया है कि पूर्वार्द्ध की कथा एक पारिवारिक-सामाजिक समस्या को केन्द्र में रखकर चलती है। इसमें उपन्यास के आरंभ में म्यूनिसिपैलिटी के दफ्तर में गबन करने तक की कथा है। जालपा का आभूषण-प्रेम, रमानाथ की प्रदर्शन-भावना तथा मिथ्या-गौरव की प्रवृत्ति, कर्जखोरी और गबन - ये इस समाज के ऐसे रोग हैं जो उसे निरन्तर खोखला और प्राणहीन कर रहे हैं। यह मध्यवर्गीय देवीदीन के साथ कलकत्ता चला आता है, तब उपन्यास की कथा एक नया मोड़ ले लेती है। रमानाथ एक दिन कलकत्ता में पुलिस के द्वारा संदेह में पकड़ लिया जाता है। बाद में पुलिस द्वारा उसे क्रांतिकारियों के खिलाफ गवाही देने के लिए मजबूर किया जाता है। यहीं से उपन्यास की कथा राजनीतिक रंग ले लेती है। अमृतराय का मानना है कि प्रेमचंद जब यह उपन्यास लिख रहे थे उस समय एक महत्वपूर्ण घटना हुई। 20 मार्च 1929 के आस-पास देश में जो तलाशियाँ और लोगों की धर-पकड़ हुई, लोगों पर झूठे मुकदमें चलाए गए, क्रांतिकारियों की सरगर्मियाँ बढ़ीं - इन सबने प्रेमचंद को प्रभावित किया। अत: एक जागरूक साहित्यकार होने के नाते प्रेमचंद ने उस युग चैतना और स्थिति को जो कि उस समय एक ज्वलन्त प्रश्न के रूप में उपस्थित थी, उपन्यास की उत्तरार्द्धवाली कथा का केन्द्र बिन्दु बना लिया। अमृतराय ने लिखा है - "ताज्जुब की बात होती अगर मुंशीजी का लिखना इस जबरदस्त हलचल का असर न लेता और उसने लिया, आनन-फानन लिया। एक अच्छे शिल्पी के सधे हाथों का काम है, इसलिए जोड़ का पता नहीं चलता, मगर गौर से देखो तो 'गबन' के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में जोड़ है। दोनों का रंग, दोनों की हवा, दोनों की बू-बास सब कुछ अलग-अलग हैं।" नंददुलारे वाजपेयी ने दोनों कथाओं के इस जोड़ के बारे में लिखा है - "यद्यपि इन दोनों कहानियों को प्रेमचंद जी ने एक स्वाभाविक क्रम से जोड़ने की चेष्टा की है, परन्तु उद्देश्य और प्रभाव की दृष्टि से वे कथा की एकात्मकता की रक्षा नहीं कर सके हैं। यदि पूरा उपन्यास प्रयोग की घटनाओं से ही सम्बद्ध रहता तो उसमें रचना संबंधी पूर्णता आ जाती। उसका प्रभाव भी तीव्र होता और कदाचित मध्यवर्ग की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं पर तीव्र प्रकाश पड़ता।"

अमृतराय और नंददुलारे वाजपेयी की उपर्युक्त चर्चा 'गबन' के उद्देश्य को समझने के लिए की गई है। अमृतराय और नंददुलारे वाजपेयी की दृष्टि एक समान है। उनके अनुसार 'गबन' के पूर्वार्द्ध का उद्देश्य पारिवारिक एवं सामाजिक यथार्थ को व्यंजित करना है, जबकि उत्तरार्द्ध का उद्देश्य राजनीतिक यथार्थ को व्यंजित करना। वास्तव में ऐसा विभाजन उस आलोचना पद्धति का उदाहरण है, जिसमें उपन्यास को सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, मनोविज्ञान आदि कोटियों में बाँटकर देखा जाता है। अगर 'गबन' की संरचना में टूट कोई दोष है तो उसके दोषी प्रेमचंद नहीं, बल्कि वह आलोचना-पद्धति है, जो अपनी सुविधा के लिए उपन्यास को कोटियों में विभाजित कर उसका विश्लेषण करती है। इस विश्लेषण का अन्याय उपन्यास क्यों झेले? अमृतराय और नंददुलारे वाजपेयी की आलोचना-पद्धति के माध्यम से 'गबन' के रचनात्मक-उद्देश्य तक नहीं पहुँचा जा सकता है। यही कारण है कि अमृतराय और नंददुलारे वाजपेयी को 'गबन' में रचनात्मक-उद्देश्य की एकतानता टूटी हुई दिखाई दी है। 'गबन' में मध्यवर्ग की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को देखने का प्रयास एक साथ हुआ है। मध्यवर्ग मात्र आर्थिक और सामाजिक इकाई नहीं है, बल्कि वह एक राजनीतिक इकाई भी है। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक इकाई के संदर्भ में प्रेमचंद ने इस उपन्यास में मध्यवर्ग की भूमिका को पहचानने की कोशिश की है।

इस इकाई के आरम्भ में ही हमने प्रेमचंद के वक्तव्य को पढ़ा, जिसमें उन्होंने उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र माना है। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलने को प्रेमचंद ने उपन्यास का मूल-तत्व माना है। प्रेमचंद की इस धारणा के अनुसार अगर 'गबन' को पढ़ा जाय तो उपन्यास की संरचना में टूट दिखाई नहीं देगी। उपन्यास के रचनात्मक-उद्देश्य की एकतानता भी बनी रहेगी। तब हमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के विभाजन की भी जरूरत नहीं होगी। आगे हम प्रेमचंद के उपर्युक्त कथन के आधार पर 'गबन' का विश्लेषण करेंगे।

17.3 मध्यवर्गीय परिवार की कथा

'गबन' में एक मध्यवर्गीय परिवार की कथा है। यह मध्यवर्गीय परिवार इलाहाबाद का है। दयानाथ, उसका बेटा रमानाथ, रमानाथ की पत्नी जालपा इस परिवार के मुख्य सदस्य हैं। 'गबन' में प्रेमचंद ने इन तीनों मानव-चरित्रों का चित्र-मात्र प्रस्तुत किया है। इन मानव-चरित्रों पर प्रकाश डालने और उनके रहस्यों को खोलने के लिए प्रेमचंद ने विभिन्न वर्ग के पात्रों, विभिन्न घटनाओं, विभिन्न स्थितियों और भिन्न देश की परिकल्पना की है। विज्ञान की भाषा में कहें, तो प्रेमचंद इस मध्यवर्गीय परिवार नामक तत्व की रासायनिक प्रतिक्रिया अन्य पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक तत्वों से कराते हैं। इस प्रतिक्रिया के माध्यम से वे मध्यवर्गीय परिवार के मानव-चरित्र पर प्रकाश डालते हैं और उसके रहस्यों को खोलते हैं। इन प्रतिक्रियाओं को समझकर और प्रतिक्रिया के परिणाम को समझकर ही रचना के उद्देश्य को समझा जा सकता है। आगे हम इसे और विस्तार से समझने का प्रयास करेंगे।

जालपा का गहनों के पति अनुराग, रमानाथ के विवाह का आयोजन, कर्ज, जालपा के गहनों की चोरी - इन स्थितियों एवं घटनाओं के माध्यम से प्रेमचंद ने दयानाथ के परिवार के आन्तरिक संबंधों को दिखाया है। इन स्थितियों एवं घटनाओं के माध्यम से उन्होंने रमानाथ, जालपा और दयानाथ के अन्तर्जगत में प्रवेश कर इन चरित्रों के आन्तरिक सत्य (रहस्य) को खोला है। परिवार के वृत्त में इन चरित्रों का अवलोकन करने के बाद प्रेमचंद ने इससे बड़े वृत्त में इन चरित्रों को रखा है। यह बड़ा वृत्त उनका 'कार्यक्षेत्र' है, जहाँ वे काम करते हैं। परिवार का आन्तरिक वृत्त यहाँ छूटता नहीं है। इसके साथ ही एक 'सामाजिक वृत्त' भी साथ-साथ चलता है। इस 'सामाजिक वृत्त' में वकील साहब और उनकी पत्नी जालपा है। दयानाथ कथा-यात्रा में बहुत दूर तक नहीं चलते। सिर्फ बीच-बीच में अपनी उपस्थिति

जताते चलते हैं। कथा के इस बिन्दु पर यह मध्यवर्गीय परिवार दिखावा, फिजूलखर्ची के कारण दफ्तर में गबन की घटना तक पहुँचता है। कुल मिलाकर देखें तो 'कार्यक्षेत्र' और 'सामाजिक' वृत्त को रेखांकित करने का उद्देश्य रमानाथ और जालपा के चरित्र पर प्रकाश डालना है। इसके माध्यम से प्रेमचंद ने रमा और जालपा के चरित्र के आन्तरिक लोक का साक्षात्कार कराया है, उसे उसकी समग्रता एवं जटिलता में पकड़ने की कोशिश की है। इसके बाद कलकत्ता की कथा है। जिसे कई लोगों ने उत्तरार्द्ध की कथा कहा है। वास्तव में यहाँ भी प्रेमचंद ने इसी मध्यवर्गीय परिवार के चरित्र को केन्द्र में रखकर एक वृहत्तर वृत्त खींचा है। परिवार, कार्यक्षेत्र और सामाजिक वृत्त से बड़ा 'राष्ट्रीय वृत्त'। यहाँ अमृतराय से पूरी तरह सहमत हुआ जा सकता है कि ताज्जुब की बात होती अगर मुंशीजी का लिखना इस जबरदस्त हलचल का असर न लेता। प्रेमचंद युग-बोध से प्रभावित रचनाकार हैं। इसलिए तत्कालीन घटनाओं का उन पर प्रभाव न हो यह नहीं कहा जा सकता है। 1929 ई. की जिस घटना का जिक्र अमृतराय ने किया है उसका प्रेमचंद के इस उपन्यास पर सीधा प्रभाव माना जा सकता है। सवाल यह है कि यह प्रभाव कितना सृजन-प्रक्रिया में घुलकर सर्जनात्मक रूप में सामने आया है और कितना थोपा हुआ, उपन्यास की संरचना को तोड़ता हुआ आया है? क्या इस प्रभाव से रचना के उद्देश्य में टूट पैदा हुई है? कलकत्ता की घटना मध्यवर्गीय चरित्र को उसकी समग्रता में दिखाने के उद्देश्य से सृजित की गई है। क्या यह वर्ग स्वाधीनता संग्राम से अलग था? अगर नहीं, तो फिर स्वाधीनता-संग्राम में उसकी भूमिका क्या थी? कथा के इस विकास से उन्होंने मध्यवर्गीय चरित्र के एक और पहलू (जो समसामयिक भी है और ऐतिहासिक भी) को पकड़ने की कोशिश की है इस उपन्यास का अंत एक 'आदर्श ग्राम' के वृत्त में होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि पूरा उपन्यास एक संरचना में है। इसके केन्द्र में एक मध्यवर्गीय परिवार है। इस मध्यवर्गीय परिवार के चरित्रों को भिन्न-भिन्न स्थितियों और घटनाओं में डालकर उसकी प्रतिक्रिया को दर्शाना ही इस उपन्यास का उद्देश्य है। इसी अर्थ में यह उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र-मात्र है। प्रेमचंद ने इस उपन्यास में मध्यवर्गीय परिवार के मानव-चरित्र पर प्रकाश डालकर उसे दिखाने का प्रयास किया है। ये मध्यवर्गीय मानव-चरित्र अपने अन्तर्विरोधों, मूल्यों और अपनी सीमा एवं संभावनाओं के साथ उभरकर सामने आए हैं। प्रेमचंद ने अपने युग के मध्यवर्ग के रहस्यों को उसकी जटिलता एवं समग्रता में खोलकर हमारे सामने उपस्थित कर दिया है।

17.4 'गबन' के पात्र

उपर्युक्त विश्लेषण से यह साफ है कि इस उपन्यास के उद्देश्य को समझने के लिए हमें इसके पात्रों को समझना होगा। आगे हम 'गबन' के पात्रों पर प्रकाश डालते हुए उसके रहस्यों को समझने की कोशिश करेंगे।

17.4.1 दयानाथ

सबसे पहले हम दयानाथ के चरित्र पर विचार करेंगे। प्रेमचंद अपने चरित्र का पहले रेखाचित्र उकेरते हैं, फिर उसमें रंग भरते हैं। यह कला उनके किसी भी उपन्यास में देखी जा सकती है। इस उपन्यास में भी प्रेमचंद ने ऐसा किया है। दयानाथ के चरित्र का रेखाचित्र प्रेमचंद ने इस प्रकार उकेरा है - "मुंशी दीनदयाल की जान-पहचान के आदमियों में एक महाशय दयानाथ थे, बड़े ही सज्जन और सहृदय। कचहरी में नौकर थे और पचास रुपये वेतन पाते थे। दीनदयाल अदालत के कीड़े थे। दयानाथ को उनसे सैंकड़ों ही बार काम पड़ चुका था। चाहते, तो हजारों वसूल करते, पर कभी एक पैसे के भी रवादार नहीं हुए थे। कुछ दीनदयाल के साथ ही उनका यह सलूक न था - यह उनका स्वभाव था। यह बात भी न थी कि वह बहुत ऊँचे आदर्श के आदमी हों, पर रिश्वत को हराम

समझते थे। शायद इसलिए कि वह अपनी आँखों से इसके कुफल देख चुके थे। किसी को जेल जाते देखा था, किसी को संतान से हाथ धोते, किसी को कुव्यसनों के पंजे में फँसते। ऐसी उन्हें कोई मिसाल न मिलती थी, जिसने रिश्वत लेकर चैन किया हो। उनकी यह दृढ़ धारणा हो गयी थी कि हराम की कमाई हराम ही में जाती है यह बात वह कभी न भूलते।''

दयानाथ के उपर्युक्त रेखांकन से उसके चरित्र का जो पहलू उभरकर सामने आता है वह सज्जन और सहृदय व्यक्ति का है। सरकारी नौकर होकर भी वह रिश्वत को हराम समझता है। उसकी ईमानदारी का कारण उसका आदर्शवादी होना नहीं है। वास्तव में यह एक व्यवहारवादी चरित्र है। इस चरित्र का व्यक्तित्व आदर्श और यथार्थ में विभाजित नहीं है। बल्कि हम इसे व्यवहारिक चरित्र वाला व्यक्तित्व कह सकते हैं । इस चरित्र का व्यवहार जिस बोध से निर्मित हुआ है वह है - "हराम की कमाई हराम ही में जाती है।'' इसे और साफ करते हुए कहें तो यह धर्म-अधर्म के विचार से चालित पारम्परिक चरित्र का प्रतिनिधित्व करता है। अत: उसका रिश्वत न लेना आधुनिक बौद्धिक प्रक्रिया का परिणाम नहीं है, अपितु धर्म-अधर्म का पारम्परिक भाव है। इसलिए प्रेमचंद बहुत सतर्क होकर लिखते हैं-'यह बात भी न थी कि वह बहुत ऊँचे आदर्श के आदमी हों, पर रिश्वत को हराम समझते थे।'

दयानाथ के चरित्र को विभिन्न स्थितियों और घटनाओं में रखकर प्रेमचंद ने उपर्युक्त रेखाचित्र में रंग भरने का कार्य किया है। पहली स्थिति दयानाथ के पुत्र रमानाथ के विवाह का प्रस्ताव आने पर उत्पन्न हुई। मुंशी दीनदयाल दयानाथ की ईमानदारी से प्रभावित होकर अपनी पुत्री जालपा का विवाह रमानाथ से करना चाहते है।। दयानाथ इस शादी के लिए इच्छुक नहीं हैं। इसका कारण है - "उनके पास न रूपये थे और न नये परिवार का भार उठाने की हिम्मत''। इसलिए दयानाथ ने अपनी पत्नी रामेश्वरी से कहा -"भाई, तुम जानो तुम्हारा काम जाने। मुझमें समाई नहीं है। जो आदमी अपने पेट की फिक्र नहीं कर सकता, उसका विवाह करना मुझे तो अधर्म-सा मालूम होता है।'' धर्म-अधर्म की भावना यहाँ साफ देखी जा सकती है। 'धर्म-अधर्म' की यह भावना वस्तुनिष्ठ (ग्रन्थ या नियमावली पर आधारित नहीं) है। यह पूरी तरह आत्मनिष्ठ दृष्टि है। गाँधीजी भी जिसे 'आत्मा की आवाज' कहते हैं, वह आत्मनिष्ठ दृश्य है, धर्म-अधर्म के निर्धारण का विश्वास है वे उसी पर अडिग रहते हैं, जबकि दयानाथ तर्क के आगे हार स्वीकार कर लेता है। परिस्थिति से अंतत: समझौता कर लेता है, भले ही यह निर्णय 'आत्मा की आवाज' के अनुसार अधर्म ही क्यों न हो। वह विवाह के लिए मान जाता है। परन्तु उसकी व्यावहारिक चिन्ता शुरू हो जाती है। विवाह का खर्च व्यावहारिक समस्या है। उसका समाधान रामेश्वरी सुझाती है - दहेज। दयानाथ की आत्मा से फिर चीख सुनाई देती है। रामेश्वरी का तर्क पुन: उसके आगे आता है और दयानाथ इन शब्दों में समझौता करता है - "मैं न कहूँगा कि दो, न कहूँगा कि मत दो। कर्ज मैं लेना नहीं चाहता। और लूँ तो दूँगा किसके घर से।'' रामेश्वरी का तर्क जब इस व्यावहारिक समस्या का भी समाधान प्रस्तुत कर देता है तब दयानाथ परास्त होकर अखबार पढ़ने लगता है। प्रेमचंद के शब्दों में "अपनी हार को छिपाने का उनके पास यही साधन था।''

सवाल यह है कि दयानाथ बार-बार परास्त क्यों होता है? उसका आदर्श और उसकी ईमानदारी टिकती क्यों नहीं? वास्तव में उसका आदर्श तार्किक और बौद्धिक प्रक्रिया से नहीं उपजा है। वह व्यावहारिक परेशानी से ज्यादा चालित है। तब यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि व्यावहारिक परेशानी से आक्रांत होकर भी वह रिश्वत क्यों नहीं लेता? इसका उत्तर प्रेमचंद आरंभ में ही दे देते हैं। दयानाथ के अनुभव संसार में ऐसी कोई मिसाल नहीं, जिसने रिश्वत लेकर चैन किया हो। फिर एक बेचैनी को दूर करने के लिए दूसरी बेचैनी वह क्यों मोल ले? इस कारण रिश्वत न लेना उनका 'स्वभाव' बन चुका है। इस 'स्वभाव'

पर तर्क भी विजय नहीं प्राप्त नहीं कर सकता है। कर्ज होने पर परिवार में बहस होती है। रामेश्वरी और रमानाथ तर्क पर तर्क देकर रिश्वत लेने को प्रेरित करते हैं। रामेश्वरी कहती है - "तुम्हारे ही दर्जे पर सत्यदेव है, पक्का मकान खड़ा कर दिया, जमींदारी खरीद ली, बेटी के ब्याह में कुछ नहीं तो पाँच हजार तो खर्च किए ही होंगे।'' इस पर दयानाथ जवाब देता है - "जभी दोनों लड़के भी तो चल दिये।'' इस उत्तर से बिना विचलित हुए रामेश्वरी कहती है - "मरना जीना तो संसार की गति है, लेते हैं वह भी मरते हैं, नहीं लेते वह भी मरते हैं। अगर तुम चाहो तो छः महीने में सब रूपये चुका सकते हो।' इस तर्क के बाद दयानाथ ने त्योरी चढ़ाकर कहा - "जो बात जिन्दगी भर नहीं की, वह अब आखिरी वक्त नहीं कर सकता।''

दयानाथ ने सिर्फ रिश्वत के मामले में तर्क के सामने लाचार होकर त्योरी चढ़ाई है। नहीं तो वे अन्य मामलों में समझौता कर चुप लगा बैठे। अगर उनकी आदर्शवादिता और ईमानदारी बौद्धिक प्रक्रिया से आती तो उनका चरित्र बिल्कुल दूसरा होता। इसी अर्थ में वे धर्म-अधर्म के विचार से चालित पारम्परिक और व्यावहारिक चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं।

विवाह आयोजन में दयानाथ के चरित्र का एक और पहलू उभरकर सामने आता है। इसका संबंध सामंतीय मूल्य से है, नाक और मूँछ से है, मर्यादा और प्रतिष्ठा से है। मुंशी दीनदयाल का संबंध सामंती समाज से है। इसलिए उनका व्यवहार सीधों के साथ सीधा, पर टेढ़ों के साथ टेढ़ा ही नहीं शैतान वाला हो जाता है। दयानाथ की सज्जनता ने उन्हें वशीभूत कर लिया। उनका विचार दहेज में एक हजार देने का था, पर एक हजार टीके में ही दे आये। प्रेमचंद ने लिखा है - "दीनदयाल एक हजार तो दे आये, पर दयानाथ का बोझ हल्का करने के बदले और भारी कर दिया। वह कर्ज से कोसों दूर भागते थे। इस शादी में उन्होंने मियाँ की जूती मियाँ की चाँद वाली नीति निभाने की ठानी थी, पर दीनदयाल की सहृदयता ने उनका संयम तोड़ लिया। वे सारे टीमटाम, नाच-तमाशे, जिनकी कल्पना का उन्होंने गला घोंट दिया था, वृहद् रूप धारण करके उनके सामने आ गये। बंधा हुआ घोड़ा थान से खुल गया, उसे कौन रोक सकता है। धूमधाम से विवाह करने की ठन गयी। पहले जोड़े-गहने को उन्होंने गौण समझ रखा था, अब वही सबसे मुख्य हो गया। ऐसा चढ़ावा हो कि मड़वेवाले देखकर फड़क उठें। सबकी आँखे खुल जायें। कोई तीन हजार का सामान बनवा डाला।....फिर भी चन्द्रहार की कसर रह गयी। जड़ाऊ चन्द्रहार एक हजार से नीचे अच्छा नहीं मिल सकता था। दयानाथ का जी तो लहराया कि लगे हाथ उसे भी ले लो, किसी को नाक सिकोड़ने की जगह तो न रहेगी, पर रामेश्वरी इस पर राजी न हुई। बाजी पलट चुकी थी।

दयानाथ ने गर्म होकर कहा - तुम्हें क्या तुम तो घर में बैठी रहोगी। मौत तो मेरी होगी, जब उधर के लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगेंगे।''

सज्जन, सहृदय, व्यावहारिक, संयमी, ईमानदार दयानाथ बदल गए। दीनदयाल के अंदर सोये सामंत ने उनका संयम तोड़ डाला। पुरुषार्थ जाग गया। यह पुरुषार्थ सामंती पुरुषार्थ है। पौरुष का बँधा घोड़ा खुल गया। फिर तो धूमधाम से विवाह करने की ठन गई। प्रेमचंद ने जान बूझकर ठन गई का प्रयोग किया है। यहाँ ठन गई मुहावरा सामंती मूल्य का वाहक है। आगे जब प्रेमचंद ने लिखा कि ऐसा चढ़ावा हो कि मड़वेवाले देखकर फड़क उठें, तो लगता है कि यह विवाह का आयोजन न होकर दो सामंतों के बीच युद्ध हो। मूँछ और नाक की बात अब सामने आ गई। वहीं दयानाथ जो पहले बेकार पुत्र का विवाह करना अधर्म मानते थे। आज तीन हजार का जेवर बनवाकर भी संतुष्ट नहीं है। कर्ज के बाद भी चन्द्रहार की कसक बनी रही। प्रेमचंद ने यहाँ लिखा है कि 'बाजी पलट चुकी थी।' जिस व्यावहारिक भूमि पर पहले दयानाथ थे वहाँ अब रामेश्वरी है। मर्यादा तथा प्रतिष्ठा की रक्षा के नाम पर आत्मघात करने को तत्पर दयानाथ अब रामेश्वरी की भूमि पर आ गए। दयानाथ घर के भीतर पर्दा हो न हो बाहर से पर्दा रखने में विश्वास करते

हैं। बाहर तन नंगा न दिखे यही उनकी चिंता है। इसलिए वे कर्ज और तकाजे से डरते हैं। उनकी चिंता है कि उधर के लोग नाक-भौं न सिकोड़ें। इसलिए वे कर्ज लेकर भी गहने बनवाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि ऊपर से सरल दिखने वाला दयानाथ का मध्यवर्गीय चरित्र कई पर्तों से बना एक जटिल चरित्र है।

दयानाथ का सामंती व्यवहार ज्यादा देर तक नहीं टिक पाता है। विवाह का आयोजन खत्म होते ही वे फिर से व्यवहार की भूमि पर आ खड़े होते हैं। जितने उत्साह के साथ वे विवाह के आयोजन में सम्मिलित हुए थे, उतना ही वे हतोत्साहित होकर लौटे। व्यवहार की भूमि पर आते ही उन्हें पछतावा होने लगा। प्रेमचंद ने उस मनस्थिति को इन शब्दों में बाँधा है - "बार-बार अपनी भूल पर पछताते, क्यों दिखावे और तमाशे में इतने रूपये खर्च किये। इसकी जरूरत ही क्या थी, ज्यादा से ज्यादा लोग यही तो कहते - महाशय बड़े कृपण हैं। उतना सुन लेने में क्या हानि थी? मैंने गाँव वालों को तमाशा दिखाने का ठीका तो नहीं लिया था। यह सब रमा का दुस्साहस है। उसी ने सारे खर्च बढ़ा-बढ़ाकर मेरा दिवाला निकाल दिया।" सर्राफ का कर्ज कैसे दें? यह दयानाथ की समस्या थी। इसी कारण उनका पछतावा है। सर्राफ के तकाजे से वे घर के बाहर नंगे हो जाएँगे। घर के अंदर उन्हें पर्दे की जरूरत उतनी महसूस नहीं होती है। बाहर अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के लिए दयानाथ रामेश्वरी से कहते हैं - "बहू से साफ-साफ कह दो, उससे पर्दा रखने की जरूरत ही क्या है, और पर्दा रह ही कै दिन सकता है। आज नहीं तो कल सारा हाल मालूम हो जाएगा। बस तीन-चार चीजें लौटा दें, तो काम बन जाये।"

बहू से दयानाथ अपनी स्थिति नहीं छिपाना चाहता है। लेकिन रमानाथ की स्थिति अलग है। वह घर में भी पर्दे की जरूरत महसूस करता है। वह चोरी तो कर सकता है लेकिन पत्नी से गहने माँग नहीं सकता। दयानाथ के लिए चोरी भी अधर्म है। जब रमानाथ गहने की सन्दूकची चुरा लाया तब पहले तो दयानाथ को रमा के इस व्यवहार का विश्वास नहीं हुआ। वह इस चाल को कमीनी चाल मानकर अपने को अलग रखना चाहता है। प्रेमचंद ने लिखा है -

'ऐसे कुत्सित कार्य में पुत्र से साँठ-गाँठ करना उनकी अन्तरात्मा को किसी तरह स्वीकार न था। पूछा - इसे क्यों उठा लाये?

रमा ने धृष्टता से कहा - आप ही का तो हुक्म था?

दया - झूठ कहते हो।

रमा - तो क्या फिर रख आऊँ?

रमा के इस प्रश्न ने दयानाथ को घोर संकट में डाल दिया। झेंपते हुए बोले - अब क्या रख आओगे, कहीं देख ले, तो गजब ही हो जाये। वही काम करोगे जिसमें जगहँसाई हो। खड़े क्या हो, सन्दूकची मेरे बड़े सन्दूक में रख आओ और जाकर लेट रहो।"

एक बार फिर दयानाथ घोर संकट में पड़ जाता है। वह संकट में रिश्वत न लेने की तरह का दृढ़ विरोध नही कर पाता। जो उसकी अन्तरात्मा को किसी तरह स्वीकार न था, वह भी करता है। कुत्सित कार्य में भी शामिल होता है, क्योंकि व्यावहारिक रूप से यह सुविधाजनक है। उसे बाहर नंगा न होना पड़ेगा। उसकी मर्यादा बाहरी दुनिया में बनी रहेगी।

दयानाथ का औरतों के प्रति गहरा अविश्वास है। उसका अविश्वास भारतीय परम्परा के नाम पर सामंती-मूल्यों का अनुमोदन करता है। यही कारण है कि स्त्री की स्वाधीनता उसे अंगरेजियत मालूम होती है। साथ ही स्त्री की आजादी पतियों के प्रति दगाबाजी के रूप में दिखाई देती है। वह स्त्रियों की आजादी के मामले में पूरी तरह मर्दवादी सामंती पात्र है, जो औरतों की सीमा घर की देहरी है - पर विश्वास रखता है।

अंत में हम दयानाथ के चरित्र के एक और पहलू पर विचार करेंगे। रमा और जालपा ने वकील साहब और रतन को अपने घर आमंत्रित किया। घर को सजाते समय आईने को रखने के सवाल पर दयानाथ और रमेश में जो वाद विवाद हुआ, उससे दयानाथ की मानसिकता का औपनिवेशिक पहलू उजागर होता है। इस विवाद से मध्यवर्गीय समाज की औपनिवेशिक मानसिकता का भी पता चलता है। इसे समझने के लिए यहाँ हम उस उद्धरण को रखकर विचार करेंगे।

दया - मैने सैंकड़ों अंगरेजों के ड्रांइग रूंम देखे हैं, कहीं आईना नहीं देखा। आईना शृंगार के कमरे में रहना चाहिए। यहाँ आईना रखना बेतुकी सी बात है।

रमेश - मुझे सैकड़ों अंगरेजों के कमरों को देखने का अवसर तो नहीं मिला है, लेकिन दो चार जरूर देखे हैं और उनमें आईना लगा हुआ देखा। फिर क्या यह जरूरी बात है कि जरा-जरा सी बातों में हम अंगरेजों की नकल करें? हम अंगरेज नहीं हिन्दुस्तानी हैं। हिन्दुस्तानी रईसों के कमरे में बड़े-बड़े आदमकद आईने रखे जाते हैं। यह तो आपने बिगड़े हुए बाबुओं की सी बात कही, जो पहनावे में, कमरे की सजावट में, बोली में, चाय और शराब में, चीनी की प्यालियों में गरज दिखावे की सभी बातों में तो अंगरेजों को मुँह चिढ़ाते हैं, लेकिन जिन बातों ने अंगरेजों को अंगरेज बना दिया है, और जिनकी बदौलत वे दुनिया पर राज्य करते हैं, उनकी हवा तक नहीं छू जाती। क्या आपको भी बुढ़ापे में अंगरेज बनने का शौक चर्राया है?

दयानाथ अंगरेजों की नकल को बहुत बुरा समझते थे। यह चाय-पार्टी भी उन्हें बुरी मालूम हो रही थी। अगर कुछ सन्तोष था, तो यही कि दो-चार बड़े आदमियों से परिचय हो जायेगा। उन्होंने अपनी जिन्दगी में कभी कोट नहीं पहना था। चाय पीते थे, मगर चीनी के सेट की कैद न थी। कटोरा-कटोरी, गिलास, लोटा-तसला किसी से भी उन्हें आपत्ति न थी, लेकिन इस वक्त उन्हें अपना पक्ष निभाने की पड़ी थी। बोले - हिन्दुस्तानी रईसों के कमरे में मेजें - कुरसियाँ नहीं होतीं, फर्श होता है। आपने कुरसी-मेज लगाकर इसे अंगरेजी ढंग पर तो बना दिया, अब आईने के लिए हिन्दुस्तानियों की मिसाल दे रहे हैं। या तो हिन्दुस्तानी रखिए या अंगरेजी। यह क्या कि आधा तीतर आधा बटेर। कोट-पतलून पर चौगोशिया टोपी नहीं अच्छी मालूम होती।''

ऊपरी तौर पर देखें तो दयानाथ का विचार बहुत साफ है कि आईना को शृंगार के कमरे में रखना चाहिए, ड्राइंग रूम में नहीं। इसकी वैधता वह अंगरेजों से पाता है। उसके अनुभव में किसी अंगरेज के ड्राइंग-रूम में आईना नहीं रहता है, इसलिए अपने ड्राइंग-रूम की सजावट में आईना रखना बेतुकी बात है। रमेश ड्राइंग-रूम में आईना रखने के पक्ष में है। वह भी इसकी वैधता अंगरेजों से ही पाता है, लेकिन अगले ही पल वह हिन्दुस्तानी जमीन पर खड़ा हो जाता है। वहाँ से वह अंगरेजों की (बाह्याडंबर) की आलोचना करता है। उसका लक्ष्य अंगरेजों का बायाडंबर नहीं बल्कि औपनिवेशिक सत्ता वाला अंगरेज बनना है। उस सत्ता को प्राप्त करने के लिए जिस शक्ति की जरूरत है, उसे अर्जित करना है, जिससे कि दुनिया पर राज्य किया जा सके। दयानाथ अंगरेजों की नकल को बुरा समझता है। उसके जीवन की पद्धति हिन्दुस्तानी रही है। उस पर जब अंगरेजों की नकल का आरोप लगता है, तब वह बोल उठता है कि या तो हिन्दुस्तानी रहिये या अंगरेजी। आधा तीतर आधा बटेर नहीं चलेगा। अंत में दयानाथ अपने हेड क्लर्क की आलोचना के बाद कहता है कि रंग को छोड़कर वह किसी बात में अंगरेजों से कम नहीं और उसके पहले तो योरोपियन था।

कुल मिलाकर देखें तो तत्कालीन मध्यवर्ग पूरी तरह यूरोप और अंगरेज की श्रेष्ठता का कायल है। दयानाथ हो या फिर रमेश दोनों चाहे दो भूमि पर खड़े दिखाई देते हों, लेकिन ऐसा है नहीं। दोनों ही अंगरेजों की श्रेष्ठता और उसकी शक्ति से अभिभूत हैं, इसलिए -

अपने को पिछड़ा हुआ मानते हैं। लक्ष्य बाह्याडंबर की नकल का हो या फिर औपनिवेशिक सत्ता जैसी शक्ति अर्जित करने का - आगे अंगरेज है। हिन्दुस्तानी पीछे। हिन्दुस्तानी होकर गर्व महसूस करना तार्किक खेल लगता है और हिन्दुस्तानी जीवन पद्धति को अपनाना उनकी मजबूरी। प्रेमचंद ने बहुत सूझ-बूझ के साथ इस विवाद को यहाँ रखा है। यह विवाद न सिर्फ दयानाथ की मानसिक संरचना के औपनिवेशिक संदर्भ को दिखाता है, बल्कि रमेश और उन जैसे तमाम मध्यवर्गीय समाज के एक बड़े सत्य का उद्‌घाटन करता है।

इस विश्लेषण से एक बात उभरकर सामने आयी कि दयानाथ का आन्तरिक व्यक्तित्व अविभाजित है। इसलिए वह आन्तरिक द्वन्द्व से मुक्त है। उसके अविभाजित व्यक्तित्व होने का कारण उसकी सोच है जो अन्तरात्मा की आवाज सुनता है। इसमें कोई शक नहीं कि उसकी सोच और क्रिया के बीच अंतर है। लेकिन ऐसा नहीं है कि उसकी सोच बँटी हुई है। उसका आन्तरिक व्यक्तित्व या उसकी मानसिकता अविभाजित है। जबकि मध्यवर्ग का ही एक और चरित्र रमानाथ (दयानाथ का पुत्र) का आन्तरिक व्यक्तित्व वैसा ही नहीं है। रमानाथ का व्यक्तित्व विभाजित है। इसका विस्तार से विश्लेषण आगे किया जाएगा।

17.4.2 रमानाथ

'गबन' का दूसरा महत्वपूर्ण पात्र रमानाथ है। यह दयानाथ का सबसे बड़ा लड़का है। उपन्यास के आरम्भ में ही प्रेमचंद ने इसका परिचय देते हुए लिखा है - "बड़ा लड़का दो ही महीने तक कॉलेज में रहने के बाद पढ़ना छोड़ बैठा। पिता ने साफ कह दिया - मैं तुम्हारी डिगरी के लिए सबको भूखा और नंगा नहीं रख सकता। पढ़ता चाहते हो तो अपने पुरुषार्थ से पढ़ो। बहुतों ने किया है, तुम भी कर सकते हो, लेकिन रमानाथ में इतनी लगन न थी। इधर दो साल से वह बिल्कुल बेकार था। शतरंज खेलता, सैर सपाटा करता और माँ और छोटे भाइयों पर रोब जमाता। दोस्तों की बदौलत शौक पूरा होता रहता था। किसी का चेस्टर मांग लिया और शाम की हवा खाने निकल गये। किसी का पंप-शू पहन लिया, किसी की घड़ी कलाई पर बाँध ली। कभी बनारसी फैशन में निकले, कभी लखनवी फैशन में। दस मित्रों ने एक-एक कपड़ा बनवा दिया, तो दस सूट बदलने का साधन हो गया। सहकारिता का यह बिल्कुल नया उपयोग था। इसी युवक को दीनदयाल ने जालपा के लिए पसंद किया।''

रमानाथ तत्कालीन मध्यवर्ग की अगली पीढ़ी है। दयानाथ मध्यवर्ग का भूत है, तो रमानाथ उसका भविष्य। दोनों के बीच में न सिर्फ दो पीढ़ियों का अन्तर है, बल्कि दोनों की मानसिकता में भी अन्तर है। दयानाथ के चरित्र पर विचार करते हुए हमने देखा कि वह परम्परा से चालित धर्म-अधर्म का विचार करता है, आत्मा की आवाज सुनता है, साथ ही उसकी आत्मा अविभाजित है। रमानाथ का चरित्र इसके विपरीत जाता है। वह आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति है। इसे ही प्रेमचंद अंग्रेजी-शिक्षा भी कहते हैं। इसी कारण रमा धर्म-अधर्म से संचालित न होकर तर्क-बुद्धि से काम लेता है। उसका 'स्व' भी दयानाथ से अलग है। रमानाथ के 'स्व' में सिर्फ और सिर्फ रमानाथ आता है, जालपा भी नहीं आती। यही कारण है कि जहाँ दयानाथ परिवार के अंदर किसी पर्दे की जरूरत महसूस नहीं करता वहीं रमानाथ पत्नी से भी पर्दा रखता है। दयानाथ के विपरीत रमानाथ पूँजीवादी मूल्यों में विश्वास रखता है। खुद की सुविधा-असुविधा के अनुसार उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। प्रेमचंद ने रमानाथ के माध्यम से मध्यवर्ग के आन्तरिक विभाजन को भी दिखाया है। रमानाथ का आन्तरिक जगत आदर्श और यथार्थ में विभाजित है। उसका पश्चाताप इसी विभाजन के परिणामस्वरूप होता है।

दिखावा और नुमाइश रमानाथ के लिए परमावश्यक है। प्रेमचंद ने रमानाथ का परिचय देते हुए बहुत साफ लिखा है - "मगर दयानाथ दिखावे और नुमाइश को चाहे अनावश्यक समझे, रमानाथ उसे परमावश्यक समझता था।'' धूम-धाम से बारात निकाली जाये ताकि गाँव में

धूम मच जाये, पालकी के स्थान पर दूल्हे के लिए मोटर, आतिशबाजियाँ, अव्वल दर्जे का नाच और बाजे गाजे - इन सबसे पीछे की मनोवृत्ति दिखावा और नुमाइश ही है। इसका कारण रमानाथ की वर्गीय स्थिति है। जो वह है और जो उसे होना चाहिए के बीच एक बड़ी खाई है। इस खाई को वह दिखावा, नुमाइश, बढ़-चढ़कर बातें कर पाटने की कोशिश करता है। इस कोशिश में वह उलझता ही जाता है। 'गबन' में रमानाथ की कहानी इसी उलझन की कहानी है। रमानाथ अपने यथार्थ (जो वह है) से डरता है और संकोच करता है। प्रेमचंद ने उसके डर और संकोच का कारण इस प्रकार बताया है।

"एक दिन वह शाम तक नौकरी की तलाश में मारा-मारा फिरता रहा। शतरंज की बदौलत उसका कितने ही अच्छे-अच्छे आदमियों से परिचय था, लेकिन यह संकोच और डर के कारण किसी से अपनी स्थिति प्रकट न कर सकता था। वह भी जानता था कि मान-सम्मान उसी वक्त तक है, जब तक किसी के सामने मदद के लिए हाथ नहीं फैलाता। यह आन टूटी, फिर कोई बात भी न पूछेगा।"

अपनी नि:सहायता के लिए वह खुद को ही जिम्मेवार मानता है। उसे ज्ञात होता है कि कोई ऐसा मित्र नहीं जिससे उसने बढ़ चढ़कर बातें न की हों। दिखावा और बढ़ चढ़कर बातें करना उसकी आदत बन गई थी। प्रेमचंद ने लिखा है -

"घर की असली दशा को वह सदैव बदनामी की तरह छिपाता रहा। और यह उसी का फल था कि इतने मित्रों के होते हुए भी वह बेकार था।"

रमानाथ घर की असली दशा को बाहर वालों से ही नहीं छिपाना चाहता है, बल्कि अपनी पत्नी से भी पर्दा रखना चाहता है। विवाह के सम्पन्न हो जाने पर सर्राफ का कर्ज सबसे बड़ी समस्या के रूप में सामने आया। दयानाथ चाहते हैं कि बहू से कुछ गहने माँगकर सर्राफ को लौटा दिया जाए। लेकिन रमानाथ कहता है - "रोना-धोना मच जाएगा और इसके साथ घर का पर्दा भी खुल जाएगा।" दयानाथ कहता है कि आखिर जालपा से पर्दा रखने की जरूरत ही क्या है। अपनी यथार्थ स्थिति को जितनी ही जल्दी समझ ले उतना ही अच्छा है। लेकिन रमानाथ की समस्या दयानाथ से अलग है। प्रेमचंद ने रमानाथ के बहाने तत्कालीन युवा-पीढ़ी पर टिप्पणी करते हुए लिखा है -

"रमानाथ ने जवानों के स्वभाव के अनुसार जालपा से खूब जीट उड़ायी थी। खूब बढ़-चढ़कर बातें की थी। जमींदारी है, उससे कई हजार का नफा है। बैंक में रूपये हैं, उनका सूद आता है। जालपा से अब अगर गहने की बात कही गयी, तो रमानाथ को वह पूरा लबाड़िया समझेगी।"

मचंद ने उपर्युक्त उद्धरण में रमानाथ के बढ़-चढ़कर बातें करने और अपनी यथार्थ स्थिति पर पर्दा डालने को जवानों का स्वभाव कहा है। 'जवानों का स्वभाव' अर्थात् भविष्य ग मध्यवर्गीय स्वभाव। यह दयानाथ जैसे मध्यवर्ग का स्वभाव नहीं है। रमानाथ आधुनिक ोक्षा प्राप्त नवयुवक है। रमा के 'स्व' का वृत्त दयानाथ के 'स्व' से छोटा है। दयानाथ के व' में उसका पूरा परिवार है, जबकि रमा के 'स्व' के वृत्त में सिर्फ रमा है। रमा अपने लावा हर किसी से अपने यथार्थ को छिपाता है, अपनी पत्नी, पिता, माँ, समाज हर किसी वह पर्दा रखता है।

बन' में प्रेमचंद ने इस मध्यवर्गीय चरित्र के विभाजित व्यक्तित्व को भी दिखाया है। यह रित्र आदर्श और यथार्थ में बँटा हुआ है। आदर्श और यथार्थ के बीच द्वंद्व भी है। लेकिन विधाजीवी होने के कारण रमानाथ आदर्श को नहीं अपनाता है और उलझता चला जाता । उपन्यास के आरम्भ में जालपा के सामने बढ़-चढ़कर बातें करने के कारण रमानाथ नों की चोरी करने को तैयार हो जाता है, लेकिन वहीं उसका मन अपनी नीचता, धूर्तता

और निर्दयता पर धिक्कार उठता है। रमा के इस विभाजित व्यक्तित्व का द्वंद्व कलकत्ता पहुँचकर और बढ़ जाता है। कभी उसके मन का आदर्श जागता है तो कभी वह अपनी सुविधाजीविता के कारण यथार्थ के साथ समझौता करता है। इसी द्वंद्व से कथा का विस्तार होता चलता है। प्रेमचंद ने लिखा है - "रमा के मन में ऐसा उद्वेग उठा कि इसी दम थाने में जाकर अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाये। यही न होगा, दो तीन साल की सजा हो जाएगी, फिर तो यों प्राण सूली पर न टँगे रहेंगे। कहीं डूब ही क्यों न मरूँ। इस तरह जीने का फायदा ही क्या। न घर का हूँ न घाट का"। एक तरफ तो उसके मन का उद्वेग उसे आदर्श की ओर प्रेरित करता है, लेकिन दूसरी ओर उसे जेल से डर लगता है। इसलिए वह थाने में जाकर अपना सारा वृत्तांत नहीं सुनाता, बल्कि सुविधा पाने के लिए झूठी गवाही देने के लिए तैयार हो जाता है। रमा की इस मनोदशा को प्रेमचंद ने बहुत ही बारीकी से पकड़ा है। जालपा का पत्र पढ़कर रमा आत्मविश्वास से भर जाता है। प्रेमचंद ने लिखा है - "उसने एक ही साँस में पत्र पढ़ डाला और तब एक लंबी साँस ली। उसी साँस के साथ चिन्ता का वह भीषण भार जिसने छः महीने से उसकी आत्मा को दबाकर रखा था, वह सारी मनोव्यथा जो उसका जीवन-रक्त चूस रही थी, वह सारी दुर्बलता, लज्जा, ग्लानि मानो उड़ गयी, छूमंतर हो गयी। इतनी स्फूर्ति, इतना गर्व ज्ञाना आत्मविश्वास उसे कभी न हुआ था। पहले सनक यह सवार हुई, अभी चलकर दारोगा से कह दूँ, मुझे इस मुकदमें से कोई सरोकार नहीं है, लेकिन फिर ख्याल आया, बयान तो अब हो ही चुका, जितना अपयश मिलना था, मिल ही चुका, अब उसके फल से क्यों हाथ धोऊँ।"

मानसिक द्वंद्व के बावजूद रमा का आकर्षण सुविधा के प्रति ही है। जालपा जब रमा की इस मनोवृत्ति का विरोध करती है, तब रमा कह उठता है - "जालपा, तुम मुझे जितना नीच समझ रही हो, मैं उतना नीच नहीं हूँ। बुरी बात सभी को बुरी लगती है। इसका दुख मुझे भी है कि मेरे हाथों इतने आदमियों का खून हो रहा है, लेकिन परिस्थिति ने मुझे लाचार कर दिया है। मुझमें अब ठोकरें खाने की शक्ति नहीं है। न मैं पुलिस से रार मोल से सकता हूँ। दुनिया में सभी थोड़े ही आदर्श पर चलते हैं। मुझे क्यों उस ऊँचाई पर चढ़ाना चाहती हो, जहाँ पहुँचने की शक्ति मुझमें नही है।"

यहाँ आदर्श और सुविधाजीविता का द्वंद्व 'अंधेरे में' की याद दिलाता है। 'गबन' के वर्षों बाद 'अंधेरे में' कविता की रचना मुक्तिबोध ने की। 'अंधेरे में' मुक्तिबोध की मध्यवर्गीय आदर्शवादी मन और सुविधाजीवी मन के बीच द्वंद्व की कविता है। यहाँ भी सुविधाजीवी मन कहता है कि ऊँचाइयों से मुझे डर लगता है। वास्तव में मध्यवर्ग के आत्मविभाजन को सबसे पहले प्रेमचंद ने पहचाना है। आत्म-विभाजित मध्यवर्ग परिवर्तन में कोई भूमिका नहीं निभा सकता। अपनी सुविधा के लिए वह सत्ता के साथ समझौता कर लेता है। रमानाथ के चरित्र के माध्यम से प्रेमचंद यही दिखा रहे हैं। मुक्तिबोध भी यही मानते हैं। मुक्तिबोध की समस्या इस विभाजन को पाटने की है। इस विभाजन को पाटकर ही क्रांति या परिवर्तन संभव है।

17.4.3 जालपा

जालपा का चरित्र परिवर्तनशील है। कार्यक्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ उसका चरित्र विकसित होता चलता है। जब उसका कार्यक्षेत्र घर की चहारदीवारी होती है, तब वह विलासिनी नायिका है। सर्राफ के द्वारा घर पर तकाजा करने के बाद उसके व्यक्तित्व का विस्तार होता है, तब वह विचारशील नायिका के रूप में सामने आती है। रमा की खोज में कलकत्ता पहुँचकर वह राष्ट्रीय समस्या के सम्मुख खड़ी होती है। यहाँ उसके व्यक्तित्व का विकास अपने चरम पर पहुँच जाता है। अब वह सेवा, त्याग और सहिष्णुता की मूर्ति नजर आती है। प्रेमचंद ने जालपा के चरित्र का विकास विभिन्न परिस्थितियों में रखकर किया है। आभूषण-प्रेम से शुरू होकर देश-प्रेम तक की यात्रा इस चरित्र में दिखाई देती है।

कुछ आलोचकों ने 'गबन' का विश्लेषण स्त्री के आभूषण-प्रेम की ग्रंथि से जोड़कर किया है। जालपा का आभूषण प्रेम 'गबन' की कथा का आरम्भिक स्तर है। प्रेमचंद ने जालपा के चरित्र का यह पक्ष इन शब्दों में दिखाया है - "इस आभूषण-मंडित संसार में पली हुई जालपा का यह आभूषण-प्रेम स्वाभाविक है।" यहाँ आभूषण-मंडित संसार और 'स्वाभाविक' को समझने की जरूरत है। 'आभूषण-मंडित संसार को रमेश के वक्तव्य में देखा जा सकता है - "गहनों का मरज न जाने इस दरिद्र देश में कैसे फैल गया। जिन लोगों को भोजन का ठिकाना नहीं, वे भी गहनों के पीछे प्राण देते हैं। हर साल अरबों रूपये केवल सोना-चाँदी खरीदने में व्यय हो जाते हैं। संसार के किसी भी देश में इन धातुओं की इतनी खपत नहीं। तो बात क्या है? उन देशों में धन व्यापार में लगता है जिससे लोगों की परवरिश होती है, और धन बढ़ता है। यहाँ धन शृंगार में खर्च होता है, उसमें उन्नति और उपकार की जो दो महान शक्तियाँ हैं, उन दोनों ही का अन्त हो जाता है। बस यही समझ लो कि जिस देश में लोग जितने ही मूर्ख होंगे वहाँ जेवरों का प्रचार भी उतना ही अधिक होगा।" प्रेमचंद गहनों की सनक से इतने चिंतित हैं कि रमेश आगे कहता है - "इस प्रथा से हमारा सर्वनाश होता जा रहा है। मैं तो कहता हूँ, यह गुलामी पराधीनता से कहीं बढ़कर है। इसके कारण हमारा कितना आत्मिक, नैतिक, दैहिक, आर्थिक और धार्मिक पतन हो रहा है, इसका अनुमान ब्रह्म भी नहीं कर सकते।

जिस संसार में पुरुषों की आसक्ति का कारण स्त्री का रूप-लावण्य मात्र हो उस संसार की स्त्रियाँ किस हद तक असुरक्षित होंगी, इसका प्रमाण जालपा का यह कथन है - "मुझे तो ऐसी कोई स्त्री न मिली, जिसने अपने पति की निष्ठुरता का दुखड़ा न रोया हो। साल दो साल तो वह खूब प्रेम करते हैं, फिर न जाने क्यों रुचि से अरुचि सी हो जाती है। मन चंचल होने लगता है। औरत के लिए इससे कड़ी विपत्ति नहीं। "जालपा पुरुषों की अरुचि का कारण समझती है। तभी तो उसी स्त्री-समाज में, रूप लावण्य को बनाये रखने के साधनों पर जोर है। स्त्रियाँ सिर्फ भोग की वस्तु हैं। जिसमें स्त्रियों का जीवन-उद्देश्य पति को आकर्षित करना मात्र है। पति की उसमें अरुचि स्त्रियों के लिए सबसे बड़ी विपत्ति है। यहीं रामचंद्र शुक्ल की पंक्ति याद आती है कि ज्ञानप्रसार के भीतर भाव प्रसार होता है। जालपा के स्वभाव का निर्माण जिस ज्ञान-लोक में होता है, वह पुरुषवादी सामन्ती लोक है। जब जालपा के ज्ञान का लोक विस्तृत होता है, वह घर से बाहर की दुनिया में कदम रखती है तब उसके 'स्वभाव' में भी परिवर्तन आता है। गहनों को गंगा में डुबाकर उसे जितना गर्व और आनंद प्राप्त होता है उतना उन्हें पाकर भी न हुआ था। इस बिन्दु पर आगे विचार किया जाएगा।

जालपा जब-तक घर के अंदर रहती है तब-तक उसका चरित्र विलासिनी नायिका का है। ड्राफ के तकाजे के साथ ही वह बाहरी दुनिया के यथार्थ से टकराती है। इस टकराहट के बाद जालपा का विचारशील चरित्र उभरकर सामने आता है। वह रमा से कहती है कि 'अगर मैं जानती, तुम्हारी आमदनी इतनी थोड़ी है तो मुझे क्या शौक चर्राया था कि मुहल्ले भर की स्त्रियों को ताँगे पर बैठा-बैठाकर सैर कराने ले जाती।" और वह रमा पर आरोप भी लगाती है - "मुझसे प्रेम होता तो मुझ पर विश्वास भी होता। बिना विश्वास के प्रेम हो ही कैसे सकता है। जिससे तुम अपनी बुरी से बुरी बात न कह सको, उससे तुम प्रेम नहीं कर सकते। हाँ उसके साथ विहार कर सकते हो, विलास कर सकते हो। उसी तरह जैसे कोई वेश्या के पास जाता है।" तब रमा को लगता है "वह इतनी विचारशील है, उसने अनुमान ही न किया था। वह उसे वास्तव में रमणी ही समझता था।" इतना कुछ समझकर भी रमा अपने संकोच के कारण जुबान नहीं खोल पाता और गबन के भय के कारण कलकत्ता भाग जाता है। रमा को गबन के अपराध से बचाने के लिए जालपा विचारशील नायिका की भाँति अपना हार बेच देती है। प्रेमचंद ने लिखा है - "जिस हार को उसने इतने चाव से खरीदा था, जिसकी लालसा उसे बाल्यकाल ही में उत्पन्न हो गई

थी, उसे आधे दामों में बेचकर उसे ज़रा भी दुख नहीं हुआ, बल्कि गर्वमय हर्ष का अनुभव हो रहा था।'' अपने पति को बचा लेना उसके अंदर स्फूर्ति पैदा कर रहा था। उसे लग रहा था जैसे वह कुछ ऊँची हो गयी है।

पति के भाग जाने के बाद जालपा का व्यक्तित्वांतरण होता है। उसे लगता है ईश्वर उसी के पापों का यह दण्ड दे रहा है। वह सोचती है - "आखिर रमानाथ किसी का गला दबाकर ही तो रोज रूपये लाते थे, कोई खुशी से तो न दे देता था। यह रुपये देखकर वह कितनी खुश होती थी। इन्हीं रुपयों से तो नित्य शौक-शृंगार की चीजें आती रहती थीं। उन वस्तुओं को देखकर अब उसका जी जलता था। यही सारे दुखों की मूल हैं। इन्हीं के लिए तो उसके पति को विदेश जाना पड़ा।'' आधी रात तक वह शृंगार की सभी चीजों को बैग में भरती रही और सवेरे गंगा में फेंक दिया। प्रेमचंद ने लिखा है - "अपनी निर्बलता पर यह विजय पाकर उसका मुख प्रदीप्त हो गया। आज उसे जितना गर्व और आनन्द हुआ, उतना इन चीजों को पाकर भी न हुआ था।'' कथा के इसी बिन्दु पर प्रेमचंद ने जालपा और रतन के वार्तालाप के माध्यम से स्त्री-पुरुष संबंधों की तत्कालीन समस्या को रखा है। जालपा कहती है कि रमा ने उसके साथ बड़ा अन्याय किया है। अपनी स्त्री से परदा रखने वाला पुरुष अपनी पत्नी से प्रेम नहीं कर सकता। अगर मैं उनकी जगह होती तो अपने मन की सारी व्यथा कह सुनाती और जो कुछ करती, उनकी सलाह से करती। इसके जवाब में रतन कहती है - "ऐसे पुरुष तो बहुत कम होंगे, जो स्त्री से अपना दिल खोलते हों जब तुम स्वयं दिल में चोर रखती हो, तो उनसे क्यों आशा रखती हो कि वे तुमसे कोई परदा न रखें। इसका उत्तर जालपा नहीं दे सकी। वास्तव में पति-पत्नी के बीच परदा उस समय एक बड़ी समस्या थी। संवाद की जरूरत प्रेमचंद बहुत गहराई से महसूस करते हैं। यह मध्यवर्गीय मानसिकता स्त्री और पुरुष के बीच प्रेम का सबसे बाधक तत्व है, प्रेमचंद 'गबन' में इसकी पहचान करते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि बृहत्तर ज्ञान से टकराकर जालपा के स्वभाव में परिवर्तन होता चलता है।

रमा की तलाश में जालपा कलकत्ता पहुँच जाती है। यहाँ आकर उसके ज्ञान-वृत्त का और भी विस्तार होता है। उसे पता चलता है कि रमा खुद को बचाने के लिए देश के लिए लड़ने वालों के खिलाफ झूठी गवाही दे रहा है। यह जानकर आभूषण-प्रेम की ग्रंथि वाली जालपा देश-प्रेम की भाषा बोलने लगती है। वह कहती है - "अगर वह सचमुच डकैतियों में शरीक होते, तब भी मैं यही चाहती कि वह अन्त तक अपने साथियों के साथ रहें और जो सिर पर पड़े उसे खुशी से झेलें। मैं यह कभी न पसन्द करती कि वह दूसरों को दगा देकर मुखबिर बन जायें; लेकिन यह मामला तो बिल्कुल झूठ है। मैं यह किसी तरह नहीं बरदाश्त कर सकती कि वह अपने स्वार्थ के लिए झूठी गवाही दें। अगर उन्होंने खुद अपना बयान न बदला तो मैं अदालत में जाकर सारा कच्चा चिट्ठा खोल दूँगी, चाहे नतीजा कुछ भी हो। वह हमेशा के लिए मुझे त्याग दें, मेरी सूरत न देखें, यह मुझे मंजूर है; पर यह नहीं हो सकता कि वह इतना बड़ा कलंक माथे पर लगावें''।

यहाँ पहुँचकर जालपा के 'स्व' का विस्तार होता है। जब वह घर के दायरे में सिमटी हुई थी तब उसका 'स्व' पति पर अवलम्बित था। उसके 'स्व' का भाव पति को खुश करने वाली विलासिनी नायिका का था। घर से बाहर निकलने के बाद उसके 'स्व' का विस्तार होता है। उसका 'स्व' देश पर अवलम्बित हो देश-रक्षा से जुड़ जाता है, भले ही इसके लिए रमा उसका त्याग ही क्यों न कर दे। इस बिन्दु पर पहुँचकर रमा का 'स्व' जालपा के 'स्व' से बहुत तुच्छ, स्वार्थ की हद तक नीचा दिखाई देने लगता है। जालपा भी उसी मध्यवर्गीय परिवार से आती है, फिर भी उसके चरित्र में औदात्य है। क्यों? इस प्रश्न पर हम आगे विचार करेंगे। इससे पहले हम जालपा के चरित्र के इस नये रूप में जो सेवा, त्याग, सहिष्णुता है उस पर विचार करेंगे।

रमा के स्वार्थ का जालपा के मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अब उसकी मानसिक संरचना वही नहीं रही जो घर के अंदर रहने वाली जालपा का था। जालपा की मानसिक संरचना के पुनर्गठन को प्रेमचंद ने बहुत सूक्ष्मता से दिखाया है। जालपा सोचती है - "तुम्हारा मन और वैभव तुम्हें मुबारक हो, जालपा उसे पैरों से ठुकराती है। तुम्हारे खून से रंगे हुए हाथों के स्पर्श से मेरी देह में छाले पड़ जायेंगे। जिसने धन और पद के लिए अपनी आत्मा बेच दी, उसे मैं मनुष्य नहीं समझती। तुम मनुष्य नहीं, तुम पशु भी नहीं, तुम कायर हो। कायर।.....ओह, तुम इतने धन-लोलुप हो, इतने लोभी! कोई हरज नहीं। जालपा अपने पालन और रक्षा के लिए तुम्हारी मुहताज नहीं।'' रमा के बारे में यह धारणा लोभी और कायर की है, उसमें पौरुष नहीं बचा। पौरुष का संबंध प्रेमचंद पालन और रक्षा में मानते हैं। विलासिनी जालपा के अंदर असुरक्षा का भाव इसी पौरुष के अभाव के कारण है। पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में रक्षा और पालन पुरुषों की जिम्मेदारी है। अब जालपा की मानसिक संरचना में असुरक्षा का भाव खत्म हो गया है और वह पौरुष से युक्त हो गयी है। इसी नयी मानसिक संरचना में रमा के पति जालपा के मन में प्रेम नहीं उदासीनता है।

रमा की गवाही से जब कई लोगों को फाँसी की सजा सुनायी गयी, तब जालपा की रमा के प्रति उदासीनता उत्तेजनापूर्ण घृणा में बदल गयी। उसने दिनेश के परिवार की जिम्मेदारी उठाकर देश-रक्षा से अपने को जोड़ लिया। उसके जीवन का मूल्य अब सेवा और त्याग हो गया। वह जालपा जिसकी चिन्ता के वृत्त का केन्द्र चन्द्रहार था यहाँ पहुँचकर वह वृत्त विस्तृत हो गया और देश उसके केन्द्र में आ गया। देश-रक्षा के लिए लड़ने वालों को फाँसी की सजा हो गयी और दुनिया अपने सामान्य रूप में ही चल रही है, कुछ क्यों नहीं घटित हो रहा है? जालपा की चिन्ता के इस विस्तार को प्रेमचंद ने इन शब्दों में व्यक्त किया है - "जालपा ने सोचा, दुनिया कैसी अपनी राग-रंग में मस्त है। जिसे उसके लिए मरना हो मरे, वह अपनी टेक न छोड़ेगी। हर एक छोटा सा मिट्टी का घरौंदा बनाये बैठा है, देश बह जाये, उसे परवाह नहीं। उसका घरौंदा बचा रहे। उसके स्वार्थ में बाधा न पड़े।'' उसका भोला-भाला हृदय बाजार को बन्द देखकर खुश होता। सभी आदमी शौक से सिर झुकाये, त्यौरियाँ बदले उन्मत्त से नजर आते। सभी के चेहरे भीतर की जलन से लाल होते। वह न जानती थी कि इस जन-सागर में ऐसी छोटी-छोटी कंकड़ियों के गिरने से एक हिल्कोरा भी नहीं उठता, आवाज तक नहीं आती।'' प्रेमचंद की इस धारणा के विपरीत एक हिल्कोरा उठा और धीमी आवाज भी आयी। यह हिल्कोर और आवाज जालपा की मानसिकता में देखा जा सकता है।

जालपा की मनोदशा के बहाने उपन्यास के अंत में प्रेमचंद ने 'गबन' के उद्देश्य को भी पाठकों के सामने रखा है। यहाँ आकर उपन्यास की संरचना में कोई टूट दिखाई नहीं देती। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध का विभाजन कर देने से रचना का उद्देश्य ही खंडित हो जाएगा। फिर जालपा के चरित्र के विकास को यथार्थ और आदर्श में बाँट दिया जाएगा। तब यह मान लिया जायेगा कि मध्यवर्गीय औरतों का यथार्थ आभूषण-प्रेम है और उन औरतों का राष्ट्र-प्रेम एक आदर्श है। प्रश्न यह है कि आखिर तत्कालीन स्त्रियों के चिन्तन में 'राष्ट्र-प्रेम' क्यों नहीं था, यह आदर्श क्यों है? प्रेमचंद को ये प्रश्न मथ रहे थे। तभी वे अपने अधिकांश उपन्यास में पितृसत्तात्मक सामन्ती व्यवस्था में घुटती स्त्रियों का चरित्र उठाते हैं और उसे संघर्ष करते हुए दिखलाते हैं। जालपा के चरित्र को भी इसी रूप में समझने की जरूरत है। परिवार और समाज राजनीति से अलग नहीं है। स्त्रियों के सशक्तिकरण के लिए उसका राजनीति में आना जरूरी है। प्रेमचंद इस सत्य को समझ रहे थे। इसलिए 'गबन' को पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनीतिक उपन्यास के खानों में विभाजित कर नहीं देखा जा सकता। इसके साथ ही यहाँ पर प्रेमचंद स्त्री-पुरुष संबंध का आदर्श भी प्रस्तुत करते हैं। विलासिनी होकर स्त्री सच्चा प्रेम नहीं पा सकती है, वह

असुरक्षित और वर्चस्व का शिकार ही होगी। सच्चा प्रेम त्यागिनी होकर ही पाया जा सकता है, तभी वह सहभागिनी बन सकेगी। वहीं पुरुष को भी अपने 'स्व' का विस्तार करना पड़ेगा। अपने आगे परदा डालकर वह स्त्री का प्यार नहीं पा सकता। इस तरह प्रेमचंद ने 'गबन' में स्त्री-पुरुष संबंध को नए रूप में परिभाषित किया है।

17.4.4 अन्य स्त्री पात्र

अभी तक हमने 'गबन' के तीन महत्त्वपूर्ण चरित्रों पर विचार किया है। ये तीनों एक ही परिवार के सदस्य हैं। कथा के विकास में इन पात्रों की टकराहट कुछ अन्य पात्रों से होती है। इनमें प्रमुख हैं-वकील साहब और उनकी पत्नी रतन, देवीदीन और उसकी पत्नी जग्गो तथा जोहरा, जो एक वेश्या है। वकील साहब उच्चवर्ग से आते हैं, जबकि देवीदीन का परिवार कामगार वर्ग (working class) से है।

मध्यवर्ग की मानसिक संरचना को समझने के लिए प्रेमचंद ने इन दो वर्गों से उसकी टकराहट का चित्र प्रस्तुत किया है। वर्ग की पहचान के साथ-साथ प्रेमचंद लिंग की पहचान में भी सचेत हैं। लिंग की पहचान के प्रति सचेष्ट प्रयत्न जालपा के अतिरिक्त अन्य स्त्री-पात्रों में भी दिखाई देता है। सबसे पहले यहाँ हम जालपा के अतिरिक्त अन्य स्त्री-पात्रों को समझने का प्रयत्न करेंगे।

इस उपन्यास में जालपा के अलावा चार स्त्री-पात्र हैं - रतन, जोहरा, जग्गो और रामेश्वरी।

रामेश्वरी

इनमें रामेश्वरी, जो दयानाथ की पत्नी है, अपना कोई भी व्यक्तित्व नहीं पा सकी है। वह या तो पत्नी है, या फिर माँ। उसकी पहचान पति और बेटे से है। यही तत्कालीन मध्यवर्ग की स्त्रियों की सीमा है। जालपा इसे तोड़ती है। वह अपना व्यक्तित्व पाती है, अपनी अलग पहचान बनाती है। इसलिए रामेश्वरी पर चर्चा करने की गुंजाइश नहीं है। रामेश्वरी को छोड़ दें तब जो तीन स्त्री-पात्र बचते हैं, वे तीन वर्गों का प्रतिनिधित्व करती हैं। रतन उच्चवर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्री है, तो जग्गो कामगार स्त्री है, जबकि जोहरा स्त्री पहचान के वेश्या वर्ग से आती है।

इन सभी स्त्री-पात्रों में अगर कोई सबसे संतुष्ट है तो वह है जग्गो, क्योंकि जग्गो उत्पादक है। वह स्वयं कमाती है। इसलिए वह असुरक्षित नहीं है। अपनी रक्षा, पालन और शृंगार के लिए वह दूसरे पर निर्भर नहीं है। इसलिए वह स्वाधीन है, सुखी है। वर्चस्व का शिकार वह नहीं है। उसका दुख है तो बस इतना कि उसका पुत्र अब जीवित नहीं है। इसका समाधान वह रमा और जालपा में पाती है। इसके विपरीत रतन की स्थिति है।

रतन

रतन उच्चवर्ग की स्त्री है, इसके बावजूद वह मध्यवर्ग की जालपा के समान ही असुरक्षित है। उसकी असुरक्षा का कारण अपनी रक्षा और पालन के लिए परनिर्भरता है। रतन तभी तक सुखी रहती है, जब-तक उसके ऊपर वकील साहब की छत्र-छाया है। इस छत्र-छाया के उठते ही समाज और राज्य दोनों ही सत्ताएँ उसके विरुद्ध दिखाई देती हैं। वकील साहब की मृत्यु के बाद उनका भतीजा मणिभूषण रतन से कहता है कि इस घर पर रतन का कोई अधिकार नहीं है। यह घर अब उसकी सम्पत्ति है। ऐसा इसलिए क्योंकि सम्मिलित परिवार में विधवा का अपने पुरुष की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता है। कानून इसकी इजाजत नहीं देता है। प्रेमचंद ने लिखा है - "उसने निश्चय किया, जो कुछ मेरा नहीं है, उसे लेने के लिए मैं झूठ का आश्रय न लूँगी। किसी तरह नहीं। मगर ऐसा कानून बनाया किसने? क्या स्त्री इतनी नीच, इतनी तुच्छ, इतनी नगण्य है? क्यों?''

रतन के माध्यम से प्रेमचंद अपने समय की इस अमानवीय विषमता को पूरे जोर से उठाते हुए लिखते हैं- "न जाने किस पापी ने यह कानून बनाया था। अगर ईश्वर कहीं है और उसके यहाँ कोई न्याय होता है, तो एक दिन उसी के सामने उस पापी से पूछूँगी, क्या तेरे घर में माँ-बहनें न थीं? तुझे उनका अपमान करते लज्जा न आयी? अगर मेरी जबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुँचती, तो मैं सब स्त्रियों से कहती - बहनो, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना और अगर करना तो जब तक अपना घर अलग न कर लो, चैन की नींद मत सोना। यह मत समझो कि तुम्हारे पति के पीछे उस घर में तुम्हारा मान के साथ पालन होगा।"

इस उद्धरण से यह साफ है कि मुख्य कथा के भीतर कथा की यह अन्तर्धारा स्त्री-जाति की पहचान को रेखांकित करने के लिए की गयी है। स्त्री-जाति की पहचान को प्रेमचंद आज के नारीवादियों की तरह नहीं देखते हैं। प्रेमचंद ने स्त्रियों की सांस्कृतिक विषमता का कारण आर्थिक-पक्ष में ढूँढने की कोशिश की है। आज का स्त्रीवादी विमर्श भी इस आर्थिक पक्ष को नकार नहीं सकता। प्रेमचंद पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने इतने ऊँचे स्वर में स्त्री-पहचान की वकालत की है। स्वाधीन भारत में स्त्रियों की स्थिति क्या होगी? - यह उस समय का ज्वलंत प्रश्न था। 'गबन' उपन्यास इस प्रश्न से जूझता हुआ दिखाई देता है।

'स्त्री' की सामान्य भूमि पर पहुँचकर जालपा और रतन का वर्ग भेद खत्म हो जाता है। दोनों जाँत पर बैठी जाँत का गीत गाती हैं -

"मोहि जोगिन बनाके कहाँ गये रे जोगिया"

प्रेमचंद लिखते हैं - "दोनों के हृदय इस समय जीवन के स्वाभाविक आनन्द से पूर्ण थे न शोक का भार था, न वियोग का दुःख। जैसे दो चिड़ियाँ प्रभात की अपूर्व शोभा से मग्न होकर चहक रही हों।"

जोहरा

स्त्री की समस्या पर विचार करते हुए प्रेमचंद को बराबर वेश्याएँ याद आती हैं। वेश्याओं को जितनी सहानुभूति प्रेमचंद ने दी है उतनी शायद किसी अन्य उपन्यासकार ने नहीं। इस उपन्यास में भी जोहरा आई है। जोहरा भी उच्च एवं मध्यवर्गीय स्त्रियों की ही भाँति असुरक्षित है। लेकिन उसकी असुरक्षा की प्रकृति थोड़ी भिन्न हैं। जोहरा स्वाबलम्बी है, परन्तु देह-व्यापार यौवन में ही संभव है। ढलती उम्र के साथ जोहरा असुरक्षित महसूस करने लगती है। जोहरा के माध्यम से प्रेमचंद मानो पूछना चाहते हैं कि भविष्य के स्वाधीन भारत में ये स्त्रियाँ अपने को कहाँ पाएँगीं ?

17.4.5 अन्य वर्गों के पात्र

प्रेमचंद ने इस उपन्यास में मध्यवर्ग की मानसिक संरचना और उसकी स्थिति को समझने के लिए उसका सामना अन्य वर्गों के पात्रों से कराया है।

वकील साहब

उपन्यास के पहले हिस्से में रमा का सामना वकील साहब से होता है। वकील साहब उच्च वर्ग के हैं। अपने वर्गीय स्थिति के अनुरूप वे यूरोप से बहुत प्रभावित हैं वकील साहब रमा से कहते हैं - "आप तो योरप न गये होंगे ? ओह ! क्या आजादी है, क्या दौलत है, क्या जीवन है, क्या उत्साह है। बस मालूम होता है, यही स्वर्ग है।" यूरोप को स्वर्ग मानने का कारण आजादी और दौलत तो है ही, साथ ही स्त्री-शिक्षा भी है। स्त्री-शिक्षा के कारण ही वे स्वच्छंद और हँसमुख हैं। वकील साहब इसीलिए भारत में स्त्री-शिक्षा की जरूरत महसूस करते हैं। वकील साहब का स्त्री-शिक्षा के मामले में रमा से विवाद रमा के चरित्र को कांट्रास्ट में दिखाने की कला का नमूना है। रमा कहता है - "वहाँ स्त्रियों का आचरण तो

बहुत अच्छा नहीं है।'' स्त्री-शिक्षा के प्रति चिन्तन के दो छोर यहाँ दिखाई देते हैं। चिन्तन का यह विरोध उनकी वर्गीय स्थिति के कारण है। वकील साहब का कहना है - "यह समझ लीजिए कि जिस देश में स्त्रियों की जितनी अधिक स्वाधीनता है, वह देश उतना ही सभ्य है। स्त्रियों को कैद में, परदे में, या पुरुषों से कोसों दूर रखने का तात्पर्य यही निकलता है कि आपके यहाँ जनता इतनी आचार-भ्रष्ट है कि स्त्रियों का अपमान करने में जरा भी संकोच नहीं करती। युवकों के लिए राजनीति, धर्म, ललित-कला, साहित्य, दर्शन, इतिहास, विज्ञान और हजारों ही ऐसे विषय हैं, जिनके आधार पर वे युवतियों से गहरी दोस्ती पैदा कर सकते हैं। कामलिप्सा उन देशों के लिए आकर्षण का प्रधान विषय है, जहाँ लोगों की मनोवृत्तियाँ, संकुचित रहती हैं।'' यहाँ बहुत साफ-साफ रमा की संकुचित मनोवृत्तियों की ओर इशारा है।

देवीदीन

उपन्यास के दूसरे हिस्से में मध्यवर्गीय रमा का सामना कामगार वर्ग के देवीदीन से होता है। देवीदीन अशिक्षित है, लेकिन इस उपन्यास का सबसे उदार, उदात्त, नैतिकता वाला पुरुष पात्र है। यह ऐसा उदात्त चरित्र है जिसका सामना होते ही उच्चवर्गीय और मध्यवर्गीय सच्चाई अपने नग्न रूप में उपस्थित हो जाती है। सेठ करोड़ीमल से कम्बल दान में पाकर जब रमा उसे धर्मात्मा कहता है, जब देवीदीन मुस्कुराकर कहता है - " उसे पापी कहना चाहिए, महापापी। दया तो उसके पास से होकर भी नहीं निकली। उसकी जूट की मिल है। मजदूरों के साथ जितनी निर्दयता इसकी मिल में होती है, और कहीं नहीं होती। आदमियों को हंटरों से पिटवाता है, हंटरों से। चरबी मिला घी बेचकर इसने लाखों कमा लिये। अगर साल में दो-चार हजार दान न कर दे, तो पाप का धन पचे कैसे।'' और तब देवीदीन धरम को परिभाषित करता है - "आदमी चाहे और कुछ न करे, मन में दया बनाये रखे यही सौ धरम का एक धरम है।''

देवीदीन के चरित्र का उदात्त पक्ष देश-भक्ति और स्वदेशी की चर्चा में उभरकर सामने आया है। रमा देवीदीन से पूछता है कि तुम विलायती कपड़े नहीं पहनते? तब देवीदीन का उत्तर है - "इधर बीस साल से तो नहीं लिये, उधर की बात नहीं कहता। कुछ बेसी दाम लग जाता है, पर रूपया तो देश ही में रह जाता है।'' देवीदीन अशिक्षित है, परन्तु स्वदेशी की उसकी इतनी साफ समझ पढ़े-लिखे मध्यवर्ग को नंगा कर देती है। स्वेदशी को उसने सिर्फ समझा ही नहीं है, उसके लिए उसने संघर्ष भी किया है, दो जवान बेटों का बलिदान भी दिया है, उसे जीवन में उतार लिया है। इसी कारण वह शान से कहता है - "इन बड़े-बड़े आदमियों के किये कुछ न होगा। इन्हें बस रोना आता है, छोकरियों की भाँति बिसूरने के सिवा इनसे और कुछ नहीं हो सकता। बड़े-बड़े देस-भगतों को बिना बिलायती सराब के चैन नहीं आता। उनके घर में जाकर देखो, तो एक भी देसी चीज न मिलेगी। दिखाने का दस-बीस कुरते गाढ़े के बनवा लिये, घर का और सब सामान बिलायती है। उस पर दावा यह है कि देस का उद्धार करेंगे। अरे तुम क्या देस का उद्धार करोगे। पहले अपना उद्धार कर लो।'' हाथी के दाँत की तरह खाने के और दिखाने के और - पढ़े लिखे मध्यवर्गीय समाज की यह सच्चाई देवीदीन जैसे उदात्त चरित्र के सम्मुख उभर आती है।

देवीदीन के माध्यम से प्रेमचंद 'स्वाधीन भारत कैसा हो' पर विचार कर रहे हैं। जब वर्तमान इतने अन्तर्विरोधों से भरा है, तब भविष्य कैसा होगा? प्रेमचंद को भविष्य के भारत पर संदेह है। देवीदीन रमा से कहता है - "एक साहब बहादुर खड़े होकर खूब उछले-कूदे, जब वह नीचे आये, तब मैंने उनसे पूछा - साहब, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, तो उसका कौन-सा-रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है? तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे, तुम भी अंगरेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंगरेजी ठाठ बनाये घूमोगे, इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा। तुम्हारी

और भाई-बन्दों की जिन्दगी भले आराम और ठाठ से गुजरे पर देस का तो कोई भला न होगा।'' जिस भद्र समाज पर देवीदीन आरोप लगाता है, रमा भी उसी समाज का एक अंग है। रमा इस आक्षेप को नहीं सुन सका, उसने प्रतिवाद किया। देवीदीन ने पूछा - "तो सुराज मिलने पर दस-दस, पाँच-पाँच हजार के अफ़सर नहीं रहेंगे? वकीलों की लूट नहीं रहेगी? पुलिस की लूट बन्द हो जायेगी?'' रमा का उत्तर है - "दादा, तब तो सभी काम बहुमत से होगा।'' और देवीदीन संदेह के साथ कहता है - "भगवान करे, कुछ दिन और जीऊँ। मेरा पहला सवाल यह होगा कि बिलायती चीजों पर दुगुना महसूल लगाया जाय और मोटरों पर चौगुना।'' आज जब स्वाधीनता के पचास वर्ष की अवधि पूरी हो गई है, पाँचवा वेतन आयोग लागू हो गया है तथा खुली अर्थव्यवस्था अपने अंतिम चरण में है तब देवीदीन का संदेह संदेह न होकर वास्तविकता में बदलता दिखाई देता है।

17.5 सारांश

इस इकाई में हमने 'गबन' के रचनात्मक उद्देश्य को समझने का प्रयत्न किया है। हमने जाना कि 'गबन' एक मध्यवर्गीय परिवार की कथा है। इसमें प्रेमचंद ने दयानाथ, रमानाथ और जालपा के माध्यम के मध्यवर्ग से चरित्र को समझाने का प्रयत्न किया है। दयानाथ, रमानाथ और जालपा के चरित्रे में उनकी सीमा एवं संभावना तथा उनके अंतर्विरोधों पर हमने विस्तार से चर्चा की है। दयानाथ, रमानाथ और जालपा के मध्यवर्गीय चरित्र को उसकी सूक्ष्मता में पकड़ने के लिए प्रेमचंद ने उसे अन्य वर्गों के चरित्र के कान्ट्रास्ट में दिखाया है। वकील साहब और उनकी पत्नी जालपा उच्चवर्गीय पात्र हैं, देवीदीन और जग्गो कामगार वर्ग से आते हैं, जबकि जोहरा वेश्या है। इन विभिन्न पात्रों के चित्रण के पीछे का रचनात्मक उद्देश्य दयानाथ, रमानाथ और जालपा के मध्यवर्गीय चरित्र को उसकी सूक्ष्मता में पकड़ना है। हमने देखा कि इस उपन्यास में प्रेमचंद का रचनात्मक उद्देश्य मध्यवर्गीय मानव-चरित्रों पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रेमचंद ने इन चरित्रों को विभिन्न स्थितियों एवं घटनाओं के बीच रखकर उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया का निरीक्षण-परीक्षण किया है। अपने रचानात्मक-उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रेमचंद ने परिवार से लेकर स्वाधीनता आंदोलन तक की यात्रा की है। इसी उद्देश्य के लिए प्रेमचंद ने शहर से लेकर महानगर तक और फिर महानगर से आदर्श गाँव तक कथा का विस्तार किया है। कथा-यात्रा के इस विस्तार में मध्यवर्ग को उसकी समग्रता और सूक्ष्मता में दिखाना ही गबन की रचना का उद्देश्य है।

17.6 अभ्यास प्रश्न

1. "गबन' में, प्रेमचंद ने तत्कालीन मध्यवर्ग को जीवन की व्यापकता में चित्रित किया है'' - इस कथन के आलोक में 'गबन' उपन्यास का विश्लेषण कीजिए।
2. "रमानाथ का चरित्र स्थिर चरित्र का उदाहरण है।'' - क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?
3. "जालपा का चरित्र नाटकीय है।'' - घटनाओं और परिस्थितियों में परिवर्तन के अनुकूल उसके चरित्र में परिवर्तन होता है।'' - इस कथन के आलोक में जालपा के चरित्र की विशेषता बताइये।
4. "गबन'' उपन्यास में विभिन्न महिला चरित्रों के माध्यम से प्रेमचंद ने स्त्री समस्याओं को किस प्रकार उठाया है? विवेचन कीजिए।
5. 'गबन' उपन्यास में प्रेमचंद का रचनात्मक उद्देश्य क्या है? विस्तार के साथ बताइये।

इकाई 18 'गबन' का औपन्यासिक शिल्प

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 उपन्यास का ढाँचा : कथानक

18.3 'गबन' का कथानक : घटना प्रधान, चरित्र प्रधान या नाटकीय

18.4 शिल्प की प्रविधियाँ

- 18.4.1 उपन्यास के वर्णन की शैली
- 18.4.2 पाठक की अवस्थिति
- 18.4.3 लेखक का पाठक के साथ संबंध
- 18.4.4 दृश्य का नाटकीय रूप में प्रस्तुतीकरण

18.5 आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

18.6 'गबन' की भाषा

18.7 सारांश

18.8 अभ्यास प्रश्न

खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

18.0 उद्देश्य

यह इकाई गबन के औचन्यासिक शिल्प पर आधारित है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- कहानी और कथानक में अंतर को बता सकेंगे तथा 'गबन' के कथानक के ढाँचे का परिचय दे सकेंगे;
- 'गबन' की कथा-वस्तु एवं शिल्प के संबंध की चर्चा कर सकेंगे;
- 'गबन' में प्रयुक्त शिल्प की प्रविधियों पर प्रकाश डाल सकेंगे;
- 'गबन' में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की चर्चा कर सकेंगे; और
- 'गबन' की भाषा का विवेचन कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

किसी भी रचना की आलोचना का अभिप्राय है उस रचना को क्या, क्यों और कैसे में विश्लेषित करना। 'क्या है' का संबंध रचना की विषय-वस्तु से है, 'क्यों है' का संबंध उस रचना को सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भों से जोड़कर देखने से है, 'कैसे है' का संबंध रचना के शिल्प से है। इस खंड की पहली और दूसरी इकाई में हमने 'गबन' उपन्यास को 'क्या है' और 'क्यों है' के संदर्भ में देख लिया है। प्रस्तुत इकाई में हम 'गबन' के शिल्प पक्ष पर विचार करेंगे। किसी भी रचना में वस्तु-पक्ष और शिल्प पक्ष एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। तुलसीदास के शब्दों में यह 'कहियत भिन्न न भिन्न' जैसा होता है। विश्लेषण की सुविधा

के लिए हम वस्तु-पक्ष और शिल्प-पक्ष का विभाजन करते हैं। एक उदाहरण से हम वस्तु-पक्ष और शिल्प-पक्ष के संबंध को समझ सकते हैं। जैसे मकान के निर्माण में ईंट, पत्थर, सीमेंट, बालू, लोहा, इत्यादि की ज़रूरत होती है। इन सभी वस्तुओं को एक ढाँचे में जोड़ा जाता है, तभी मकान अपना स्वरूप ग्रहण करता है। किसी खास ढाँचे को फ्लैट कहा जाता है तो किसी ढाँचे को कोठी। इसमें कोई शक नहीं कि दोनों के निर्माण में जिन वस्तुओं का प्रयोग हुआ है वे एक ही हैं। इसके बावजूद ढाँचे के कारण मकान अपना वैशिष्ट्य पाता है। वैसे ही किसी रचना का वैशिष्ट्य उसके शिल्प पर निर्भर करता है। इसके साथ ही मकान की ही तरह रचना में भी वस्तु और ढाँचा - दोनों ही का समान महत्त्व है। इस इकाई में 'गबन' का अध्ययन उसके शिल्प के संदर्भ में किया जाएगा। एक उपन्यास के रूप में 'गबन' कैसा है, इस उपन्यास का ढाँचा कैसा है - इसे समझने की कोशिश की जाएगी।

18.2 उपन्यास का ढाँचा : कथानक

सबसे पहले हम 'कहानी' और 'कथानक' में अंतर को समझें। उपन्यास में एक कहानी होती है। 'कहानी' से ही उपन्यास का मूल ढाँचा निर्मित होता है जैसे शरीर में कंकाल। इ० एम० फ़ोर्स्टर मानते हैं कि 'कहानी' उपन्यास का सबसे कुरूप और जुगुप्साजनक पक्ष होने पर भी उसका अपरिहार्य अंग है। वह सभी उपन्यासों में महत्तम समापवर्त्य (Highest Common Factor) है। अलग-अलग उपन्यासों में उसका स्वरूप बदल जाता है, वह स्थूल या कृश, प्रमुख या गौण, गठित या ढीली हो सकती है, पर वह रहेगी जरूर। सवाल यह है कि 'कहानी' कहते किसे हैं? 'कहानी' अपने शुद्ध और मूल रूप में समयानुक्रम में नियोजित घटनाओं का विवरण मात्र है। 'समयानुक्रम' का अर्थ है-भूत, वर्तमान और भविष्य का अनुक्रम। 'घटना' में वह कार्य व्यापार आता है जिसमें आकस्मिकता और असाधारणता का तत्व मिला होता है। समयानुक्रम और घटना के संयोग से ही कहानी का निर्माण होता है। 'कहानी' का एक मात्र गुण होता है कि उसकी घटनाएँ हमारी आदिम कौतूहल वृत्ति को जागृत करती चलें। उपन्यासकार कहानी के इस मूल और सरल रूप से उपन्यास का ढाँचा तैयार करता है। उपन्यास के इस ढाँचे को ही कथानक कहते हैं। इसे ही कथा-विन्यास भी कहा जाता है। अंग्रेजी में इसे प्लॉट कहा जाता है। फोर्स्टर के अनुसार कथानक भी कहानी की ही तरह समयानुक्रम में नियोजित घटनाओं का वर्णन ही है, पर उसमें बल कारणत्व या कार्य-कारण-सम्बन्ध पर होता है। कहानी में फिर क्या हुआ?- पर बल होता है, जबकि कथानक में ऐसा क्यों हुआ?- पर बल रहता है। इस अंतर को हम एक उदाहरण से समझने की कोशिश करेंगे। 'गबन' में एक मध्यवर्गीय परिवार की कहानी कही गई है। अगर कोई कथाकार 'गबन' की कहानी को कहेगा तो वह मात्र तथ्य या घटना को सामने लाएगा। वह मात्र सूचित करेगा कि जालपा नामक एक महिला जिसे गहनों से काफी लगाव है, अपने प्रति रमा पर दबाव बनाती है जिसके परिणामस्वरूप वह गबन की मुसीबत में फंस जाता है। उसकी चिंता सिर्फ 'क्या हुआ' होगी न कि ऐसा 'क्यों हुआ'। प्रेमचंद को इस कहानी से अपना कथानक बुनना है। इसलिए उनकी चिंता तथ्यों और घटनाओं को सूचित कर देने मात्र की नहीं है, बल्कि उसके पीछे के कारणों की पहचान कराने में है। इसलिए उन्होंने उपन्यास का आरम्भ जालपा का गहनों के प्रति लगाव के कारणों की पहचान से किया है। उन्होंने जालपा के बचपन की कुछ घटनाओं का वर्णन इसी कारण से किया है। उन्होंने घटना को कार्य-कारण-संबंध में पहचाना और उससे कथा का विन्यास किया है।

यहाँ हम दोनों में एक और अंतर को समझने की कोशिश करें। जिज्ञासा का तत्व कहानी और कथानक दोनों में है, लेकिन कहानी में समय की रफ्तार तेज होती है, जबकि कथानक में 'क्यों' के कारण समय का निलम्बन होता है। समय का निलम्बन कथानक की विशेषता है। कई बार उपन्यासकार समय के प्रवाह को स्थगित कर स्थान, काल और पात्रों के वर्णन

में रम जाता है। 'गबन' उपन्यास का आरम्भ एक दृश्य से होता है, जहाँ सावन का महीना है, आकाश में बादल छाये हुए हैं, झूले पर महिलाएँ झूल रही हैं। उसी समय बिसाती आता है और अपनी संदूक खोल देता है। सभी महिलाएँ उसे घेर लेती हैं। एक बड़ी–बड़ी आँखों वाली बालिका जिसका नाम जालपा है, एक हार को देखकर उसे लेने के लिए मचल जाती है और उसे पहनकर आनन्द की सीमा तक खुश होती है। इसके बाद दूसरा दृश्य आता है, जिसमें महाशय दीनदयाल अपनी पत्नी के लिए असली चन्द्रहार लाते हैं। जालपा को अब अपना नकली हार अच्छा नहीं लगता है, वह अपने लिए भी वैसे ही हार की मांग करती है। तब माँ उसे कहती है कि तेरे लिए तेरी ससुराल से आएगा। प्रेमचंद लिखते हैं- "जालपा लजाकर भाग गई; पर यह शब्द उसके हृदय में अंकित हो गये।" इस उपन्यास की कहानी का आरम्भ इसके बाद ही शुरू होता है। कहानी कहने वाला अतीत के इन दृश्यों में नहीं जाएगा। इन दृश्यों की जरूरत उपन्यासकार को है, क्योंकि उसे जालपा का चन्द्रहार के प्रति लगाव की ग्रंथि को उसके कारण में दिखाना है। इसलिए प्रेमचंद थोड़ी देर के लिए कथा के प्रवाह को स्थापित कर देते हैं।

नाटकीय दृश्यों की योजना भी कथानक का अंग है। कहानी में सिर्फ सुनाया जा सकता है दिखाया नहीं जा सकता। नाटकीय दृश्यों की योजना के कारण भी कथानक में समय का निलम्बन होता है। ऊपर के उदाहरण से ही इसे भी समझा जा सकता है। कहानी कहने वाले को उपर्युक्त दोनों दृश्यों का वर्णन करने की कोई जरूरत नहीं है। वह मात्र जालपा के अंदर की ग्रंथि की सूचना देकर आगे बढ़ जाएगा। जबकि प्रेमचंद इन दो नाटकीय दृश्यों की योजना करते हैं। क्योंकि उपन्यासकार सिर्फ सुनाता ही नहीं है, बल्कि वह दिखाता भी चलता है। इन योजनाओं के कारण प्रेमचंद समय को निलम्बित कर देते हैं।

कई बार उपन्यासकार कथा के समयानुक्रम को निलम्बित कर ठीक उसी समय या उससे कुछ पहले किसी अन्य स्थान पर आरंभ होने वाली कथा प्रस्तुत करने लगता है। भले ही बाद में चलकर यह कथा पहले वाली कथा से मिल जाती है। 'गबन' के 21, 22, 23, 24 और 25वें अंक को ध्यान से देखने पर इसे समझा जा सकता है। 21वें अंक में उपन्यासकार की आँख रमा पर टिकी हुई है। गबन के आरोप में जेल के भय से वह भागता चला जाता है और कलकत्ता जानेवाली ट्रेन में चढ़ जाता है। 22वें अंक में उपन्यासकार की आँख रतन पर जा टिकती है जो रमा को खोजती हुई उसके दफ्तर पहुँचती है और समय रहते रमा को गबन के आरोप से बचा लेती है। 23वें और 24वें अंक में भी उसी कथा का विस्तार है। 24वें अंक में अचानक कथा की शुरुआत प्रेमचंद इस प्रकार करते हैं- " रमानाथ को कलकत्ते आये हुए दो महीने के ऊपर हो गऐ हैं। " आगे की कहानी कलकत्ते में रमा की कहानी है। यहाँ हम ध्यान से देखें तो प्रेमचंद ने कथा के समयानुक्रम को भूत, वर्तमान और भविष्य के क्रम में नहीं रखा है। वे समयानुक्रम को निलम्बित करते हैं। इस तरह प्रेमचंद समयानुक्रम के निलम्बन द्वारा घटनाओं का विन्यास नये ढंग से करते हैं।

उपन्यासकार की जरूरत कथानक को सम्बद्ध और सुगठित बनाए रखने की होती है। सम्बद्ध और सुगठित होना कई बार कथानक की बहुत बड़ी सीमा बन जाती है। कथानक की सीमाओं में पात्रों के चरित्र का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो जाता है। उपन्यास के अंत में जब कथानक को समेटने का समय आता है तब तक सारे के सारे पात्र निर्जीव हो चुके होते हैं, क्योंकि पहले पात्रों और घटनाओं का विकास उनके स्वाभाविक रूप में होता है और अंत में कथानक के उपसंहार के अनुसार उन्हें घटित कराया जाता है। कथानक उपन्यासकार के द्वारा पूर्वनिर्धारित होता है। इसके विपरीत पात्र अपने मनोविज्ञान और समाज शास्त्र आदि के अनुसार अपना विकास पाता है, वह कथानक के निर्देश में जीना नहीं चाहता है। जब उपन्यासकार उन्हें अपने कथानक के अनुसार चलने के लिए बाध्य करता है तब वे पात्र निर्जीव और कृत्रिम से हो जाते हैं। यह सीमा हम 'गबन' में भी देख

सकते हैं। 'गबन' का अंत आते-आते रमानाथ का अपराध अदालत के द्वारा माफ कर दिया जाता है। देवीदीन और रमा का परिवार प्रयाग के पास गंगा और यमुना के किनारे जमीन लेकर बस जाता है। किसान की जिंदगी बिताते हुए ये सब सुख, संतोष और शांति का अनुभव करते हैं। रतन और जोहरा भी इस परिवार के सदस्य हो जाते हैं। अब किसी पात्र में कोई द्वंद्व नहीं बच जाता है। यह द्वंद्वहीनता इन पात्रों को निर्जीव बना देती है। जालपा जैसा शक्तिशाली चरित्र यहाँ पहुँचकर निष्प्राण हो गया है। अंतत: रतन और जोहरा की अस्वाभाविक मृत्यु ही प्रेमचन्द के इस कथानक में स्वाभाविक हो जाती है। शहरी मध्यवर्ग की कथा अंतत: गाँव के किसानी जिंदगी के आदर्श में समाप्त हो जाती है। आदर्श की स्थापना के कारण भी प्रेमचंद के कथानक में शिथिलता आ जाती है।

18.3 'गबन' का कथानक : घटना प्रधान, चरित्र प्रधान या नाटकीय

अब हम यह देखेंगे कि इस उपन्यास का कथानक घटना प्रधान है या चरित्र प्रधान या फ़िर नाटकीय। इसलिए पहले हम यह समझें कि घटना प्रधान और चरित्र प्रधान उपन्यास के कथानक की क्या विशेषता होती है। घटना प्रधान उपन्यास में घटनाओं का जाल होता है। घटनाओं के जाल का उद्देश्य पाठक की उत्कंठा को जगाने मात्र का होता है। अद्‌भुत घटनाओं के द्वारा आनन्द की सृष्टि घटना प्रधान उपन्यास की विशेषता होती है। इसमें एक जटिल घटनाजाल निर्मित किया जाता है और अंत में सुखद तथा चमत्कारपूर्ण ढंग से समाधान उपस्थित किया जाता है। घटना प्रधान उपन्यास के बारे में कहा जाता है कि यह जीवन का चित्र नहीं, अभिलाषाओं की मन:कल्पना (फैंटेसी) होता है।

घटना प्रधान उपन्यास में जहाँ सुनिश्चित परिणामयुक्त, विशिष्ट घटनाएँ होती हैं वहीं चरित्र प्रधान उपन्यास में खास ढंग की स्थितियों की योजना रहती है, जो पात्रों के चरित्र के स्पष्टीकरण के लिए कल्पित की जाती हैं। इसमें कार्यव्यापार के लिए मात्र इतना ही आवश्यक है कि वह पात्रों की विभिन्न चारित्रिक विशेषताओं को, जो आरम्भ से ही उनमें मौजूद होती हैं, व्यक्त करे। यही कारण है कि इस तरह के उपन्यास के पात्र प्राय: स्थिर (Static) होते हैं। इ० एम० फोर्स्टर इस प्रकार के पात्रों को 'समतल' (फ्लैट) की संज्ञा देते हैं। सवाल उठता है कि समतल पात्रों को ले लेने के बाद कथानक का कार्य क्या होगा? डॉ० गोपाल राय ने लिखा है- "यह स्पष्ट है कि उसका कार्य पात्रों के विकास का अनुरेखण नहीं, क्योंकि समतल होने के कारण उनका विकास हो ही नहीं सकता। अत: कथानक का कार्य पात्रों को नयी परिस्थितियों में स्थापित करना, उनके पारस्परिक सम्बन्धों को बदलना और प्रदत्त स्थितियों में उनसे एक खास ढंग से (tipically) आचरण कराना है। चरित्र प्रधान उपन्यास के लेखक के कार्य की तुलना नाटककार से उतनी नहीं की जा सकती जितनी नृत्यसंगीत लिपिक (choreographer) से। उसे अपने पात्रों को अभिनयशील नहीं, गतिमान बनाये रखना होता है।" कुल मिलाकर चरित्र प्रधान उपन्यास में कथानक पात्रों की व्याख्या और स्पष्टीकरण के निमित्त निर्मित होता चलता है।

हमने देखा कि सैद्धांतिक तौर पर घटना प्रधान और चरित्र प्रधान उपन्यास में क्या अंतर होता है। परन्तु व्यवहार रूप में उपन्यास के इन दोनों रूपों को अलग करना मुश्किल है। प्रेमचंद के अधिकांश उपन्यास की तरह ही 'गबन' में भी इन दोनों रूपों का मिश्रण है। 'गबन' में हम घटनाओं की भीड़ देखते हैं। एक घटना से दूसरी घटना का जन्म होता है और अंतत: समस्या का एक सुखद समाधान प्रस्तुत कर दिया जाता है। इसमें उत्सुकता जागृत करने का गुण, आश्वासनपूर्ण समाप्ति आदि घटना प्रधान उपन्यासों की सब विशेषताएँ हैं। दूसरी तरफ इसमें ऐसे पात्र भी हैं, जो घटनाओं का न तो अनुगमन करते और न ही उनका निर्देशन। उनकी अनुक्रियाएँ प्रारूपिक (tipical) हैं। रमानाथ ऐसा ही पात्र है। इसलिए यह उपन्यास अंशत: घटना प्रधान और अंशत: चरित्र प्रधान है।

नाटकीय उपन्यास इन दोनों से भिन्न होता है। इसमें कथानक और चरित्र के बीच पार्थक्य बिल्कुल समाप्त हो जाता है। परिस्थितियों के परिवर्तन में पात्रों का परिवर्तन निहित होता है। जालपा के चरित्र में हम विशेषता को देख सकते हैं। बचपन से लेकर कलकत्ता तक की उसकी जीवन यात्रा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन की यात्रा है। रमानाथ जहाँ सपाट चरित्र है वहीं जालपा के चरित्र में नाटकीयता देखी जा सकती है। 'गबन' में जालपा का चरित्र नाटकीय उपन्यास के कथानक की विशेषता है।

इसलिए हम कह सकते हैं कि 'गबन' के कथानक में घटना प्रधान, चरित्र प्रधान और नाटकीय - तीनों का मिश्रण है।

18.4 शिल्प की प्रविधियाँ

अब हम 'गबन' में प्रयुक्त शिल्प की उन प्रविधियों के बारे में समझने की कोशिश करेंगे जिनसे इस उपन्यास का रूप निर्मित हुआ है। प्रेमचंद की समस्या मात्र कहानी कह भर देना नहीं है, उनकी समस्या उपन्यास में कथा को उपस्थित कर देना है। वह उपस्थिति भी ऐसी कि उपन्यास खुद बोलने लगे। सवाल उठता है कि इसके लिए प्रेमचंद ने शिल्प की कौन सी प्रविधि का प्रयोग किया है? सबसे पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि मात्र सरल कथन या वर्णन द्वारा उपन्यास में प्रस्तुत वस्तु को सत्य **दिखाना** ही पर्याप्त नहीं होता, अपितु प्रस्तुत वस्तु को सत्य **दीखना** भी होता है। इसके बावजूद उपन्यासकार वर्णन करने के लिए विवश होता है। उपन्यास निश्चित कथनों की शृंखला मात्र होती है। महत्त्वपूर्ण है कथनों की शृंखला के प्रस्तुतीकरण के लिए प्रयुक्त प्रविधियाँ, जिसके द्वारा उपन्यासकार एक मनःप्रभाव की सृष्टि करता है।

18.4.1 उपन्यास के वर्णन की शैली

प्रेमचंद ने 'गबन' में सरल कथन या वर्णन की शैली अपनायी है। वे सरल कथन के द्वारा नरेटिव (कथावाचक) से तथ्यों का सिलसिलेवार वर्णन करते हैं। इसके साथ ही उन्होंने चित्र और नाटक के रूप में वस्तु को प्रस्तुत किया है। हम कह सकते हैं कि चित्र और नाटक की प्रविधि से उन्होंने अपने को वर्णन मात्र से बचाया है।

उपन्यास के आरंभ में ही हम पाते हैं कि कभी तो लेखक ऐसी बातों का वर्णन कर रहा होता है, मानो उसने उन्हें देखा हो। स्थानों और व्यक्तियों का चित्रण करते हुए ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह उन्हें जानता हो। पात्रों के वार्तालाप से हमें ऐसा लगता है, मानो लेखक ने उन्हें छिप कर सुना हो। यह प्रेमचंद की शैली है, जो उन्होंने इस उपन्यास में अपनायी है। इस शैली से पाठक को ऐसा लगता है जैसे यह लेखक का अपना अनुभव है और अगर उस क्षण वह वहाँ होता तो वह भी उन्हें इसी रूप में देखता। 'गबन' उपन्यास में प्रेमचंद ने मुख्य रूप से सरल कथन, चित्र और नाटकीय- इन तीन प्रविधियों का उपयोग किया है। आइए, देखें कि किस तरह प्रेमचंद प्रविधि में परिवर्तन करते हैं। इकाई के प्रारंभ में हमने उपन्यास के जिस आरंभिक दृश्य की चर्चा की थी, उसे फिर से देखते हैं सावन के महीने में झूले पर महिलाएँ झूल रही है और बिसाती के आते ही सब उसे घेर लेती हैं। एक छोटी सी बालिका फिरोजी रंग के चन्द्रहार के लिए मचलने लगती है। अंत में माँ उसे वह नकली हार खरीद देती है और बालिका जिसका नाम जालपा है, उसे पहनकर आनंद से नाचती हुई चली जाती है। इस दृश्य के बाद प्रेमचंद महाशय दीनदयाल का परिचय देते हैं। परिचय के तुरंत बाद फिर एक दृश्य उपस्थित होता है जिसमें दीनदयाल अपनी पत्नी मानकी के लिए असली चन्द्रहार लाते हैं। इस हार को देखकर अब जालपा को अपना हार अच्छा नहीं लगता है। वह अपने लिए भी वैसा ही हार लाने की जिद करती है। माँ और पिता दोनों उसे समझाते हैं कि उसके लिए ससुराल से हार आएगा।

यहाँ ध्यान से देखें तो पाएँगे कि सबसे पहले हम बिल्कुल दृश्य के सामने होते हैं। पर इसके तुरंत बाद प्रविधि बदल जाती है। हमारे लिए यह जरूरी हो जाता है कि देख और सुनकर हम जितना जान सकते हैं उससे अधिक जानें। तब उपन्यासकार अपने विशिष्ट ज्ञान के साथ हमारे सामने उपस्थित होता है। वह उन पात्रों के अतीत जीवन के बारे में बताता है जिन्हें हम अब तक उपन्यास में गीतशील एवं वार्तालाप करते हुए पाते हैं। दृश्य में प्रस्तुत कार्यव्यापार एवं वार्तालाप को हम तब तक पूरी तरह से ग्रहण नहीं कर सकते जब तक लेखक की बात को हम ठीक से सुन न लें। इसे और ठीक से समझने के लिए उस अंश को देखें जहाँ सर्राफ के तकाजे से परेशान होकर दयानाथ अपने बेटे रमानाथ और अपनी पत्नी से गहनों को लौटाने की बात करता है। यहाँ देखा जा सकता है कि प्रेमचंद प्रदर्शित नाटक पर नया प्रकाश डालने के लिन उन परिस्थितियों को सामने रखते हैं, जिन्हें हम दृश्य के द्वारा प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते। हम देखते हैं कि उपन्यासकार सर्वज्ञाता के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। यहाँ तक कि वह पात्रों के अनभिव्यक्त विचारों को भी जानता है और चाहता है कि पाठक भी उन पात्रों के मन का हाल जान सकें। इसके लिए वह पात्रों की चेतना के अंदर प्रवेश करता है और वहाँ उपज रहे भावों का वर्णन करता है। प्रेमचंद इस तरह प्रविधि परिवर्तन के माध्यम से कथा को आगे बढ़ाते जाते हैं। प्रेमचंद पाठक को कभी दृश्य के सामने रख देते हैं, तो कभी उसे नाटक का रूप दे देते हैं, तो कभी सरल कथन के माध्यम से कथा को विस्तार देते हैं। कथा का यह विस्तार नरेटर के द्वारा सम्पन्न कराया गया है।

18.4.2 पाठक की अवस्थिति

'गबन' के शिल्प पर विचार करते हुए यह देखने की जरूरत है कि कथा को पाठक कहाँ पर अवस्थित होकर देखता है। कभी तो पाठक रमानाथ, जालपा, देवीदीन आदि के जीवन के किसी विशेष काल-खंड के सामने अपने आपको खड़ा हुआ पाता है, तो कभी वह उन पात्रों के जीवन का सर्वेक्षण ऊँचाई से, उनके इतिहास पर व्यापक दृष्टि-परिसर से देखते हुए एवं सामान्य प्रभाव ग्रहण करते हुए करता है। उपन्यास के आरंभ में हम जालपा के बचपन के दृश्य के सम्मुख होते हैं और ठीक उसके बाद ऊँचाई पर स्थित होकर मुंशी दीनदयाल के जीवन, उनकी सोच, उनकी आर्थिक सामाजिक स्थिति आदि को देखने लगते हैं। प्रविधि की यह विशिष्टता (एक आरंभिक दृश्य, प्रत्यग्दर्शन और सारांश कथन) प्रेमचंद के सभी उपन्यासों में हम देख सकते हैं। इस प्रविधि में पाठक का अवलोकन बिन्दु बदलता रहता है।

18.4.3 लेखक का पाठक के साथ संबंध

अब हम विचार करें कि 'गबन' में लेखक का पाठक के साथ कैसा रिश्ता है? क्या लेखक पाठक के साथ अवैयक्तिक संबंध बनाता है, या फिर निजी टिप्पणी के माध्यम से वह पाठक से वैयक्तिक संबंध जोड़ता है। आलोचकों के अनुसार उच्च कोटि के लेखक उपन्यास में अपने विचार प्रत्यक्ष रूप में बिल्कुल नहीं प्रकट करते हैं। विषय के प्रत्येक स्पर्श के साथ उसके विचार व्यंजित होते हैं। उसका विषय विशुद्धत: उसके दृष्टिकोण, निष्कर्ष और विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। उच्च कोटि के लेखक होने के बावजूद प्रेमचंद में हम यह नहीं देखते हैं। 'गबन' उपन्यास इसका उदाहरण है। प्रेमचंद बार-बार निजी टिप्पणी के माध्यम से अपनी उपस्थिति जताते रहते हैं। डॉ० गोपाल राय ने लिखा है – "अपने गोदान पूर्व उपन्यासों में तो वे अपनी अदृश्य पर मुखर उपस्थिति से पाठकों के मन में खीज पैदा करते हैं।''

'गबन' में हम प्रेमचंद को कभी अपनी आवाज में बातें करते हुए देखते हैं, और कभी पात्र के माध्यम से। यही कारण है कि उपन्यास में हम पात्रों और उनके कार्यव्यापार को अधिकतर या तो अपनी आँखों से देखते हैं या लेखक की आँखों से। कहीं-कहीं हम

रमानाथ और जालपा को स्वगतचिंतन करते हुए पाते हैं। स्वगतचिंतन में रमा और जालपा के माध्यम से अन्य पात्रों या फिर उनकी अपनी स्थिति में अवगत होते है। कभी-कभी अन्य पात्रों को भी प्रेमचंद ने ऐसी स्थिति में डाला है, परन्तु वह उनकी प्रमुख प्रविधि नहीं है।

18.4.4 दृश्य का नाटकीय रूप में प्रस्तुतीकरण

'गबन' में हम इस प्रविधि को बहुत साफ-साफ देख सकते हैं। इस उपन्यास में बहुत सारे दृश्य ऐसे हैं। जिन्हें नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के लिए छठे खंड में जब सर्राफ के बार-बार के तकाजे के बाद अंततः दयानाथ तीन दिन के बाद का समय दे देते हैं। तीसरे दिन दयानाथ की व्यग्रता और फिर रामेश्वरी तथा रमानाथ के साथ वार्तालाप का पूरा दृश्य नाटकीय प्रस्तुती की संभावना लिए हुए है। इन विशिष्ट प्रसंगों के संवादों, वर्णित वस्तुओं, पात्रों एवं कार्यव्यापारों को नाटकीय रूप में रंगमंच पर प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत किया जा सकता है।

18.5 आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

प्रेमचंद के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को समझने से पहले इस संदर्भ में उनके विचारों को समझें। उन्होंने लिखा है - "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खेलना ही उपन्यास का मूल तत्व है। ..... अब प्रश्न उठता है, उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए, उसमें अपनी तरफ से काट-छाँट कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए?

यहीं से उपन्यासों के दो गिरोह हो गए हैं। एक आदर्शवादी, दूसरा यथार्थवादी।

प्रेमचंद जब यथार्थवाद कहते हैं तब उसका अर्थ प्रकृतवाद या यथातथ्यवाद है। क्योंकि उनका मानना है कि यथार्थवादी उपन्यासकार पाठक के सामने चरित्रों को उनके यथार्थ नग्न रूप में रख भर देता है। यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है - यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्रों में भी कुछ न कुछ दाग रहते ही हैं। इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। इसी कारण प्रेमचंद कहते हैं कि यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है। यह सारा का सारा लक्षण प्रकृतवाद या यथातथ्यवाद का है। जबकि यथार्थवाद साहित्य को देखने और समझने की एक समग्र दृष्टि है। ऐसा नहीं है कि प्रेमचंद यथार्थवाद को पूरी तरह से खारिज़ कर देते हैं बल्कि वे मानते हैं कि समाज की कुप्रथा की ओर ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है। लेकिन इस यथार्थवादी चित्रण का उपयोग अगर शिष्टता की सीमा के आगे बढ़ जाए तब यह आपत्तिजनक है। उनके अनुसार यथार्थ अगर अंधेरी गर्म कोठरी है तो आदर्श निर्मल स्वच्छ वायु का आनंद । यथार्थवाद की कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। आदर्शवाद ऐसे चरित्रों की रचना करता है जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं। प्रेमचंद उसी उपन्यास को उच्चकोटि का मानते हैं जिसमें यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। इस तरह के उपन्यास को ही वे "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार यथार्थ का उपयोग आदर्श को सजीव बनाने के लिए होना चाहिए। क्योंकि चरित्र अगर निर्दोष होगा तो वह मनुष्य न होकर देवता हो जाएगा। आदर्श से आदर्श चरित्र में भी कोई न कोई कमजोरी होती है। यही कमजोरी उस चरित्र को मनुष्य बनाता है। इसी से चरित्र में जीवंतता आती है। इसलिए प्रेमचंद यथार्थ का उपयोग चरित्र को जीवंत बनाने के लिए करते हैं। प्रेमचंद का मानना है कि उपन्यासकार की सबसे बड़ी

विभूति ऐसे ही जीवंत चरित्रों की सृष्टि है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले।

महत्वपूर्ण यह है कि प्रेमचंद के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के पीछे आखिर कौन सी दृष्टि है? प्रेमचंद का विश्वास साहित्य की सोद्देश्यता में था। साहित्य का उद्देश्य प्रेमचंद के अनुसार पाठक के पथ प्रदर्शन करने, उनमें मनुष्यत्व जगाने, उनके अंदर सद्भाव जगाने, उनकी दृष्टि का विस्तार करने से है। वे साहित्यकार के पद को भाटों, मदारियों, विदूषकों और मसखरों से ऊँचा मानते हैं तो इसका कारण यही है। उनका साफ कहना है कि बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती। वे 'कला के लिए कला' के सिद्धांत का भी विरोध करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार - "कला के लिए कला'' का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनाई देता है, तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे? हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाये, अन्यथा नीरस हो जायगा।'' इस उद्धरण में हम देख सकते हैं कि प्रेमचंद कला को नजरअंदाज नहीं करते। लेकिन अपनी ऐतिहासिक परिस्थिति में प्रेमचंद जैसा सजग साहित्यकार कला मात्र को अंतिम मूल्य नहीं मान सकता था। यही कारण है कि उनके लिए "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' सबसे अधिक मूल्यवान है और इस मूल्य को उन्होंने अपने इतिहास से अर्जित किया है।

'गबन' की पूरी संरचना प्रेमचंद के उपरोक्त दृष्टिकोण से ही निर्मित हुई है। जालपा और देवीदीन इस उपन्यास के दो आदर्श पात्र हैं। इन दोनों ही पात्रों के आरम्भिक जीवन को ध्यान से देखें तो हम पाएँगे कि ये कई कमजोरियों से युक्त सामान्य लगने वाले यथार्थ पात्र हैं। आदर्श इन दोनों ने अर्जित किया है। यही कारण है कि ये जीवंत पात्र हैं और हिन्दी उपन्यास में इन पात्रों को कभी भुलाया नहीं जा सकता है। इसके साथ ही रमानाथ इस उपन्यास का एक महत्वपूर्ण पात्र है जो आरंभ से लेकर अंत तक अपनी कमजोरियों के साथ ही जीता है लेकिन उपसंहार तक आते ही प्रेमचंद उसमें अचानक हृदय-परिवर्तन करा देते हैं वह एकदम बदल जाता है। प्रेमचंद इसकी सूचना मात्र देते हैं। यही हाल जोहरा का भी है वह भी वेश्या की जिंदगी छोड़ देती है। उसका भी हृदय-परिवर्तन हो जाता है 'गोदान' को छोड़कर प्रेमचंद के सभी उपन्यास एवं अधिकांश कहानियों में हम हृदय-परिवर्तन और सुखांत देख सकते हैं। इसका एक कारण आलोचकों ने गांधी-युग को माना है। जब गांधी की एक अपील पर लोग स्कूल, कॉलेज, कोर्ट, सरकारी नौकरी छोड़ रहे थे, तब उनके उपन्यास में चित्रित हृदय-परिवर्तन अस्वाभाविक नहीं लगता है।

इसके साथ ही एक और दृष्टि से विचार करने की जरूरत है जिस पर आलोचकों का ध्यान नहीं गया है। प्रेमचंद इसका संकेत अपने लेख में देते हैं - "हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्श की छाप लगी हुई है। वह केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्मपरिष्कार भी था।'' प्रेमचंद न सिर्फ अपने वर्तमान से अपितु अपने अतीत की परम्परा से वर्तमान को जोड़कर मूल्य निर्मित कर रहे थे। हमारे यहाँ सुखांत नाटकों की परम्परा रही है। इसके साथ ही कथा-साहित्य में भी सुखांत की परम्परा रही है। प्रेमचंद ने सुखांत और आदर्श की स्थापना करने की इस परम्परा से वर्तमान के यथार्थ को जोड़कर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का निर्माण किया।

इस मूल्य का निर्वाह करने के कारण प्रेमचंद ने 'गबन' के अंत में कथानक को एक आदर्श अंत प्रदान किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उपन्यास का अंत होते-होते सभी पात्र अपनी जीवतंता खो देते हैं और वे मृतप्राय हो जाते हैं। सभी पात्र शहर से दूर यमुना के किनारे किसानी जिंदगी व्यतीत करने लगते हैं। रतन की मृत्यु होती है और जोहरा दूसरे

की जिंदगी बचाने के लिए अपने प्राण का बलिदान कर देती है। जालपा जैसे जीवंत और सशक्त चरित्र को हम कमजोर और मृतप्राय पाते हैं। प्रेमचंद का आदर्श गाँव और किसानी जिंदगी है। यही कारण है कि यह उपन्यास इलाहाबाद जैसे नगर से शुरू होकर कलकत्ता महानगर होते हुए अंत में गाँव तक पहुँच जाता है। यह गाँव वैसा ही है जैसे प्रेमचंद के कई उपन्यासों में 'सदन' और 'आश्रम' की स्थापना करना। अंत की इन कमजोरियों को अगर छोड़ दिया जाय तो यह एक सशक्त उपन्यास है।

18.6 'गबन' की भाषा

उपन्यास भाषा के माध्यम से निर्मित एक काल्पनिक संसार है। उपन्यासकार का उद्देश्य अपने इस काल्पनिक संसार को उसकी समग्रता में पाठकों के मस्तिष्क में पुनरुत्पादित करना होता है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उपन्यासकार भाषा में कई तरह से प्रयोग करता है। यहाँ हम प्रेमचंद के द्वारा 'गबन' में भाषा के प्रयोग को समझने की कोशिश करेंगे।

'गबन' को पढ़ते हुए हम कभी तो लेखक की आवाज में सुनते हैं, तो कभी लेखक के द्वारा कल्पित पात्र की आवाज में। इसी तकनीक के आधार पर गबन की कथा बुनी गयी है। जहाँ उपन्यास में लेखक की अपनी आवाज में कथा सुनायी जाती है उसे प्रत्यक्ष भाषा-शैली कहते हैं 'गबन' में हम प्रेमचंद को कहीं कहानी सुनाते, कहीं स्थानों और पात्रों की बाह्य रूप-रेखा का चित्रण करते, कहीं पात्रों की मन:स्थिति का वर्णन करते, कहीं उनकी मानसिक दशा का विश्लेषण करते, कहीं उनके चरित्र पर टिप्पणी करते, कहीं समस्याओं का विवचेन करते हुए पाते हैं। हम प्रेमचंद के किस्सागो रूप में उनकी भाषा को देखें। कहानी सुनाते समय प्रेमचंद तत्सम शब्दों का प्रयोग कम करते हैं। अधिकांश प्रयोग तद्भव शब्दों का होता है और उसके साथ ही उन्होंने संस्कृत तथा अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है। कुल मिलाकर यह भाषा बोलचाल की भाषा होती है। प्रेमचंद ने छोटे-छोटे वाक्यों की रचना की है। अधिकतर वे सरल वाक्यों की ही रचना करते हैं, कहीं-कहीं ही उन्होंने संयुक्त वाक्यों की रचना भी की है। आरम्भ से लेकर अंत तक पूरे उपन्यास में इसका उदाहरण देखा जा सकता है।

इसके साथ ही इस उपन्यास में अनेक पात्रों की आवाज भी सुनायी देती है। कहीं तो वे आपस में वार्तालाप करते हुए तो कहीं स्वगत-चिंतन करते हुए दिखाई देते हैं। प्रेमचंद ने पात्रों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अवस्थाओं एवं उनकी मन:स्थिति के अनुसार भाषा को विविधता प्रदान की है।

प्रेमचंद ने अपने इस उपन्यास में स्थान और काल को यथार्थ और विश्वसनीय बनाया है। क्योंकि इसी स्थान और काल के आयाम में पात्र को अपने भाग्य का नाटक खेलना है। यही कारण है कि प्रेमचंद जब किसी स्थान का वर्णन करते हैं तो उसकी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ प्रस्तुत कर देते हैं। उस स्थल की छोटी से छोटी वस्तु का भी उल्लेख करते हैं। जैसा स्थान होता है, वैसा ही भाषा होती है। उदाहरण -

"सन्ध्या हो गयी थी, म्युनिसिपैलिटी के अहाते में सन्नाटा छा गया था। कर्मचारी एक-एक करके जा रहे थे। मेहतर कमरों में झाड़ू लगा रहा था। चपरासी ने भी जूते पहनना शुरू कर दिया था। खोंचेवाले दिन-भर की बिक्री के पैसे गिन रहे थे। पर रमानाथ अपनी कुरसी पर बैठा रजिस्टर लिख रहा था।"

इसके साथ ही प्रेमचंद जब पहली बार किसी पात्र को सामने लाते हैं तब उसका ऐसा जीता जागता शब्द-चित्र खींचते हैं कि वह पात्र पाठकों के सामने एकदम से मूर्त हो जाता है। वे उन पात्रों की रूप-रेखा, वेश-भूषा, आयु, आदि का वर्णन बहुत ही सूक्ष्मता के साथ करते

हैं। इसके माध्यम से प्रेमचंद पात्रों को ठोस शरीर और विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। प्रेमचंद की यह विशेषता उनके सभी उपन्यास में देखी जा सकती है।

अब हम देखें कि प्रेमचंद अपने पात्रों के वार्तालाप एवं स्वगत-कथन में किस तरह की भाषा का प्रयोग करते हैं। 'गबन' में प्रेमचंद के अपने पात्रों को उनकी शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन, परिस्थिति और मानसिक स्थिति के अनुरूप भाषा प्रदान की है। यही कारण है कि उनके पात्रों की भाषा में हम वैविध्य को साफ-साफ देख सकते हैं। वकील साहब उच्चवर्गीय पात्र हैं इसलिए उनकी भाषा में तत्सम के शब्दों के साथ-साथ अंगरेजी के शब्द आते हैं। वाक्य की संरचना भी बदल जाती है। सरल के साथ-साथ संयुक्त एवं मिश्र वाक्यों को हम देख सकते हैं। उनके वाक्यों की लंबाई भी बढ़ जाती है। उदाहरण -

"नान्सेंस ! आप एक युवती को किसी युवक के साथ एकान्त में विचरते देखकर दाँतों तले उँगली दबाते हैं। आपका अंत:करण इतना मलिन हो गया है कि स्त्री-पुरुष को एक जगह देखकर आप संदेह किये बिना रह ही नहीं सकते हैं। पर जहाँ लड़के और लड़कियाँ एक जगह शिक्षा पाते हैं, वहाँ यह जाति-भेद बहुत महत्व की वस्तु नहीं रह जाती - आपस में स्नेह और सहानुभूति की इतनी बातें पैदा हो जाती हैं कि कामुकता का अंश बहुत थोड़ा रह जाता है।'' देवीदीन निम्नवर्गीय चरित्र है। उसकी भाषा का एक उदाहरण हम देखें -

"एक साहब बहादुर खड़े होकर खूब उछले-कूदे, जब वह नीचे आये, तब मैंने उनसे पूछा - साहब, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, तो उसका कौन सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है? तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे; तुम भी अंगरेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाठ बनाये घूमोगे, इस सुराज से देस का क्या कल्यान होगा।''

देवीदीन की भाषा में तद्भव का प्रयोग हुआ है। 'स्वराज' सुराज हो गया है, 'देश' देस हो गया है, 'कल्याण कल्यान हो गया है। यहाँ तत्सम की ध्वनि का अपभ्रंश रूप उसके चरित्र को स्वाभाविक बनाने के लिए किया गया है।

प्रेमचंद के पात्रों की भाषा की विशेषता यह है कि प्रत्येक की भाषा एक-दूसरे से भिन्न है। उच्चवर्गीय पात्रों की भाषा निम्नवर्गीय पात्रों से, स्त्रियों की भाषा पुरुष पात्रों से, किसी विशेष भाव-दशा की भाषा दूसरी भाव-दशा की भाषा से बिल्कुल भिन्न है। 'उपन्यास का विषय' नामक निबंध में प्रेमचंद ने लिखा है - "उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना कम लिखा जाय, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वार्तालाप केवल रश्मि नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य को - जो किसी चरित्र के मुँह से निकले - उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है। हमारे उपन्यासों में अक्सर बातचीत भी उस शैली में करायी जाती है मानो लेखक खुद लिख रहा हो। शिक्षित समाज की भाषा तो सर्वत्र एक है, हाँ भिन्न-भिन्न जातियों की जबान पर उसका रूप कुछ न कुछ बदल जाता है। बंगाली, मारवाड़ी और ऐंग्लो-इंडियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिन्दी बोलते पाये जाते हैं। लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं। पर ग्रामीण बातचीत हमें दुविधा में डाल देती हैं बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आस-पास का आदमी समझ ही न सकेगा।'' इस उपन्यास में प्रेमचंद को इस समस्या का सामना नहीं करना पड़ा है, क्योंकि यह उपन्यास शहर की कथा पर आधारित है। और इसके अधिकांश पात्र शहरी जीवन में आते हैं।

प्रेमचंद वार्तालाप पर अधिक जोर देते हैं, इसके बावजूद वे बीच-बीच में टिप्पणी करने से चूकते नहीं है। हाँ, बातचीत को स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकूल; सरल और सूक्ष्म रूप से व्यक्त करने में प्रेमचंद को महारत है। कुल मिलाकर देखें तो 'गबन' की भाषा सरल है। इसमें सरल वाक्यों का प्रयोग अधिक हुआ है। मिश्र और जटिल वाक्यों का

प्रयोग विशेष स्थलों पर ही हुआ है। सरलता के होने के बावजूद इसमें सर्जनात्मकता एवं विविधता है।

18.7 सारांश

इस इकाई में आपने 'गबन' उपन्यास के शिल्प-पक्ष का अध्ययन किया। आपने पढ़ा कि 'गबन' का कथानक कैसा है। इस उपन्यास का कथानक एक साथ घटना प्रधान, चरित्र प्रधान और नाटकीय कथानक का मिश्रण है। प्रेमचंद ने कथानक के इन तीनों प्रकार को मिलाकर 'गबन' के कथानक की सृष्टि की है। इसके साथ ही हमने इस इकाई में 'गबन' में प्रयुक्त शिल्प की प्रविधियों को समझने की कोशिश की। प्रेमचंद ने 'गबन' में सरल कथन या वर्णन की शैली अपनायी है। वे सरल कथन के द्वारा नरेटिव (कथावाचक) से तथ्यों का सिलसिलेवार वर्णन करते हैं। इसके साथ ही उन्होंने चित्र और नाटक के रूप में वस्तु को प्रस्तुत किया है। हम कह सकते हैं कि चित्र और नाटक की प्रविधि से उन्होंने अपने को वर्णन मात्र से बचाया है। इस उपन्यास में प्रेमचंद पाठक के अवलोकन बिन्दु को बदलते रहते हैं। कभी तो वह अपने-आपको किसी पात्र के ठीक सामने पाता है तो कभी ऊँचाई से पात्र को उसके अतीत और वर्तमान के संदर्भ में व्यापक दृष्टि से देखता हुआ पाता है। कभी तो वह आँख मूंदकर कथावाचक की आवाज में सुनता रहता है और कभी वह किसी दृश्य के ठीक सामने अपने आपको पाता है। कभी प्रेमचंद सर्वव्यापी की भूमिका में पात्रों के अंत:करण में प्रवेश कर जाते हैं और वहाँ चल रहे मानसिक द्वंद्व को पाठकों के सामने ला देते हैं। इस उपन्यास में हम पात्रों और उसके कार्यव्यापार को या तो अपनी आँखों से देखते हैं या फिर लेखक की आँख से। इसमें कोई शक नहीं कि 'गबन' में प्रेमचंद अपने विचारों की अभिव्यक्ति पात्रों के माध्यम से करते हैं लेकिन कई बार विचारों की अभिव्यक्ति सीधे-सीधे उन्हीं के द्वारा होती है। प्रेमचंद ने इस उपन्यास में कई स्थान पर नाटकीय दृश्य की योजना की है। ये दृश्य ऐसे हैं जिन्हें रंगमंच पर मंचित किया जा सकता है। इसके साथ ही हम इस उपन्यास में संयोग-तत्व के माध्यम से कथानक की निर्मिति भी देख सकते हैं। प्रेमचंद ने 'गबन' में शिल्प की इन विभिन्न प्रविधियों का प्रयोग किया है। शिल्प की इन प्रविधियों के अलावा हमने इस इकाई में 'गबन' के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और उसकी भाषा का अध्ययन भी विस्तार से किया।

18.8 अभ्यास प्रश्न

1. उपन्यास के रूप में 'गबन' का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।
2. 'गबन' में प्रेमचंद ने शिल्प की जिन प्रविधियों का प्रयोग किया है उसका विस्तार से वर्णन कीजिए।
3. 'गबन' में कथानक की संरचना कैसी है? यह घटना प्रधान उपन्यास है या चरित्र प्रधान या नाटकीय? चर्चा कीजिए।
4. 'गबन' एक चरित्र प्रधान उपन्यास है।'' क्या आप इससे सहमत हैं? युक्ति युक्त उत्तर दीजिए।
5. "आदर्श की स्थापना करने के कारण अंत तक पहुँचते-पहुँचते 'गबन' के सभी पात्र मृतप्राय हो जाते हैं।'' प्रेमचंद के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के आलोक में अपनी स्थापना दीजिए।
6. 'गबन' की भाषा में प्रेमचंद ने किस तरह का प्रयोग किया है? उदाहरण के साथ लिखिए।

खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1. प्रेमचंद और उनका युग : डॉ० रामविलास शर्मा
2. प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्पविधान : डॉ० कमलकिशोर गोयनका
3. प्रेमचंद : चिन्तन और कला : डॉ० इन्द्रनाथ मदान
4. विविध प्रसंग : प्रेमचंद : संकलन-अमृतराय

परिशिष्ट : गबन

'गबन' उपन्यास का रचनाकाल 1931 ई. है। वस्तुत: यह दौर राजनीति में एक नए अध्याय का सूत्रपात करता है। इस काल में स्त्री की भूमिका राजनीति में प्रमुखता से उभरी। स्त्री ने घर की चहारदीवारी से निकलकर स्वतंत्रता आंदोलन और अन्य संस्थाओं के आंदोलनों में बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया। इसकी छाया प्रेमचंद के उपन्यास 'गबन' में भी दिखाई पड़ती है। दूसरी ओर इस दौर में राजनीति में मध्यवर्ग की स्वार्थी मनोवृत्ति का परिचय भी मिलता है, जो अपने सुविधावाद और उपभोग के-लिए किसी प्रकार का समझौता करने के लिए आतुर था। यह समझौता उन ताकतों से किया जा रहा था, जो जनाक्रोश को दबाने के लिए प्रयत्नशील थे।

अंतर्वस्तु

'गबन' उपन्यास मध्यवर्ग के आडंबर और अहंकार का पर्दाफाश करता प्रतीत होता है और उसके अंतर्विरोधों को विलक्षण रूप में पाठक के सामने रखता है। दो-तीन परिवारों के पात्रों के माध्यम से प्रेमचंद ने सभ्यता और संस्कृति के उन मूल्यों को समझाने का प्रयत्न किया है जो विकृत हो रहे थे। उपन्यास के आरंभ में जालपा में गहने की उत्कट अभिलाषा और आकांक्षा को दिखाया गया है। एक युवती में आभूषण के प्रति यह लगाव सहज और स्वाभाविक है। जालपा की मनोकांक्षा चंद्रहार को पाने को है। चंद्रहार का उपहार उसे विवाह में अपने पति के तरफ से नहीं मिलता है। इससे वह अत्यंत दु:खी होती है। वास्तव में प्रेमचंद जालपा और रमानाथ के विवाह के प्रसंग के बहाने फिजूलखर्ची को परिवार और समाज के लिए हानिकारक सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। इस प्रसंग में विचित्रता तो यह है कि मुंशी दयानाथ जैसे ईमानदार आदमी भी शान शौकत को दिखाने में पीछे नहीं रहते हैं। इस झूठी शान शौकत के कारण परिवार की आर्थिक दशा इतनी खराब होती है कि रमानाथ को अपनी पत्नी के गहने तक चुराने पड़ते हैं। प्रेमचंद इस प्रसंग में विवाह के उद्देश्य पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं। उनके अनुसार विवाह मात्र परिवार के ऐश्वर्य प्रदर्शन के लिए नहीं होता है, वह चिर विश्वास पर टिका हुआ संबंध है। लेकिन विडम्बना यह है कि झूठे प्रदर्शन की अभिलाषा में मनुष्य को अपने मूल और वास्तविक उद्देश्य के प्रति विश्वासघात करना पड़ता है।

आत्म प्रदर्शन का यह सिलसिला विवाह में नहीं है, अपितु मध्यवर्ग की पूरी जीवन शैली में व्याप्त है। अविवेक के कारण एक बहुत बड़ा भ्रम है कि आभूषण से ही स्त्री को खुश रखा जा सकता हैं इसके लिए रमानाथ ने अनेक प्रयत्न किए। वह जालपा को प्रसन्न रखने के लिए तरह-तरह के गहने को लाता है। उधार लाये हुए गहनों का रहस्य भी छिपने नहीं पाता। वस्तुत: प्रेमचंद का विश्वास आडंबरहीन मौलिकता में है। वे मौलिक मानवीय भाव और विश्वास को जीवन के लिए श्रेष्ठ मानते हैं। किसी भी प्रकार का दिखावा अथवा प्रदर्शन अन्तत: मनुष्य के व्यक्तित्व को कुंठित और बाधित करता है। जालपा को यह अहसास तब होता है, जब रमानाथ गबन को छिपाने के लिये घर से पलायन कर जाता है।

जालपा के आत्मप्रदर्शन को भी ठेस लगती है। वह विलास की सभी वस्तुओं को गंगा में बहा देती है। और जीवन की सहज स्वाभाविक सादगी को अपनाती है। भौतिकता का आग्रह और भौतिक वस्तुओं की आकांक्षा से कितना नैतिक पतन हो सकता है, इसे गबन में भलीभाँति समझाया गया है। रचनाकार केवल नैतिक पतन का उपदेश देने के लिए गबन की रचना नहीं करते हैं। वे तत्कालीन समाज की जीवन पद्धति और जीवन मूल्यों को मध्यवर्ग की अंतर्विरोधी मानसिकता के संदर्भ में रचने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए मध्यवर्ग के पात्रों के कन्ट्रास्ट में देवीदीन को खड़ा करते हैं। देवीदीन का विश्वास अखंड

मानवता में है। वह मानवता के नाते ही रमा को नहीं चाहने पर भी कलकता ले जाता है ओर अपने घर में आश्रय देता है। स्वाधीनता संग्राम में उसके दो पुत्र शहीद हो चुके हैं फिर भी वह अपने विश्वास और नैतिक आस्था में अडिग है। वह पुलिस और सरकार के विरुद्ध उन क्रांतिकारियों के साथ है, जिन पर झूठा आरोप लगाया जा रहा है। इसके विपरीत रमा थोड़े प्रलोभन और सुविधा को पाकर सरकारी गवाह बनने के लिए तैयार हो जाता है। रमा के लिए यह कार्य सीधा और आसान नहीं है। क्योंकि वह भी सामान्य मनुष्य है। परिस्थिति ने उसकी नैतिकता को संकटपूर्ण बनाया था, लेकिन उसमें विवेक अभी मरा नहीं है। इस अंतर्द्वन्द्व के कारण उसका चरित्र अधिक नाटकीय हो गया है। तमाम तरह की बुराइयों से घिरने के बावजूद उसकी आत्मा कहीं न कहीं जीवित थी। इसलिए वह इन कठिनाइयों को पार कर जाता है। वह आत्मालोचना और पश्चाताप के क्षणों में अपनी गलती, धोखा और विश्वासघात को स्वीकार करता है। अंत में वह पद, मर्यादा, सुविधा और उपभोग के बंधन को तोड़कर सच्चे मानवीय साहस का परिचय देता है। प्रेमचंद के लिए अपराधी मनुष्य नहीं है, अपराधी वह परिस्थितियाँ है जिसके चंगुल में फँसकर मनुष्य अपना विवेक भूल जाता है।

प्रेमचंद ने जिस बिन्दु से उपन्यास को प्रारंभ किया है और जिस बिन्दु पर वे इसे समाप्त करते हैं उसमें विराट अंतर है। आकर्षण, लोभ, लालच और प्रदर्शन जैसे भाव से उपन्यास का आरंभ होता है लेकिन अंत, सेवा, त्याग, सादगी और अन्याय के प्रतिकार जैसे श्रेष्ठ और उदात्त मानवीय भाव में होता है। लेकिन भाव के परिवर्तन का रास्ता सपाट और सीधा नहीं है। उसकी गति और मोड़ में जीवन की बहुआयामी विविधता है। उपन्यास में सामाजिक रूढ़ि के झूठ को स्थान-स्थान पर उभारने का प्रयत्न किया गया है। रतन, जोहरा और जालपा के माध्यम से स्त्रियों के उपेक्षित पक्ष को लेखक सामने रखने का प्रयत्न करते हैं। रतन का विवाह बूढ़े वकील साहब से होता है। लेखक ने रतन के बहाने सामूहिक परिवार में स्त्रियों की दुर्दशा को भी दिखाया है। स्त्रियों को सामूहिक परिवार में संपत्ति पर अधिकार नहीं था। ये ऐसे संवेदनशील मुद्दे हैं जिनको तोड़ने की जरूरत है। इस ओर लेखक ने पाठक का ध्यान आकर्षित किया है। इसी के साथ जोहरा के जीवन के माध्यम से उसके जीवन में स्नेह के अभाव को भी दिखाया गया है।

महत्व

'गबन' उपन्यास का परिप्रेक्ष्य प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों से अलग और भिन्न है। अपने अन्य उपन्यासों में प्रेमचंद ने किसी न किसी रूप में स्वाधीनता आंदोलन की घटना को उपन्यास की पृष्ठभूमि में रखा है। परंतु 'गबन' की सीधी चोट मध्यवर्ग की अभिलाषा पर है। प्रेमचंद इस उपन्यास में मध्यवर्ग के जिन पात्रों को केंद्र में रखते हैं, वे बड़े और ऊँचे बनने के प्रयत्न में निरंतर ह्रास की स्थिति में होते हैं। यह ह्रास उसके व्यक्तित्व और नैतिकता दोनों धरातलों पर घटित होता है। प्रेमचंद का महत्व इस बात में है कि वे इसके लिए जिम्मेदार परिस्थिति की भूमिका को भी उद्घाटित करते हुए उपन्यास में आगे बढ़ते हैं।

प्रेमचंद रमा के गबन के बहाने आभूषण और अलंकार के बीच दबी हुई मानवीय आत्मा की चीख सुनने का भी प्रयत्न करते हैं इसके लिए केवल गबन करने वाला ही दोषी नहीं है। कुछ हद तक जालपा का आभूषण के प्रति आकर्षण भी उसके लिए दोषी है। प्रेमचंद इससे भी बढ़कर समाज में आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति की आलोचना करते हैं। वस्तुत: प्रेमचंद उन भौतिक आकर्षणों के खिलाफ खड़े होते हैं जो मानवीय मूल्यों के बुनियाद पर खड़ी की जाती हैं। इसके लिए सामाजिक परंपरा, समाज और व्यक्ति; जो कोई भी दोषी ठहरता है, उसकी आलोचना करने से वे चूकते नहीं है।

उपन्यास में कुछ पात्रों को छोड़कर सभी में भौतिकता के प्रति तीव्र आकर्षण है। लेकिन परिस्थिति के आधार पर इसका मूल्यांकन करने पर पात्रों में इस आकर्षण के प्रति वितृष्णा

का बोध उत्पन्न होता है। रतन, जालपा और जोहरा ही नहीं रमा में भी इसके प्रति घृणा होती है। वस्तुत: भौतिक सुख सुविधा के जाल को देखने के बाद उसके पीछे की वास्तविकता से साक्षात्कार होने पर सारे मोह और आकर्षण खोखले जान पड़ते हैं। इसके बाद उन पात्रों को पता चलता है कि भाव के कारण ही आभूषण भी सुंदर लगते हैं। उसके बिना दे आभूषण निर्जीव और निष्प्राण वस्तु से अधिक कुछ नहीं है। प्रेमचंद इस निर्जीव वस्तु के मुकाबले दांपत्य जीवन के स्नेह और प्रेम के पक्षधर हैं।

आज जब हम बाजारवादी व्यवस्था के संदर्भ में इस उपन्यास का मूल्यांकन करते हैं तब प्रेमचंद की महत्ता अधिक कारगर ढंग से स्थापित होती है। बाजार वस्तुओं का मायाजाल फैलाकर मानवीय स्वाभाविकता को सोखने का प्रयत्न कर रहा है। परिवार और समाज में मानवीय और नैतिक मूल्यों का ह्रास हुआ है। इस बदली हुई परिस्थिति में मनुष्य उत्पाद बनकर रह गया है। मूल्यों के लिए मानवीय संघर्ष की जिजीविषा की आँच धीमी हुई है। ऐसे कठिन समय में प्रेमचंद की यह रचना उच्चतर मानवीय मूल्यों को रचना के लिए हर प्रकार की सुविधा और भोग को छोड़कर मानवता के प्रति समर्पित होने के लिए ललकारती है। इसके साथ साथ यह रचना स्त्रियों के प्रति हमारे मन में बनी हुई रूढ़िवादी मानसिकता को भी चुनौती देने का प्रयत्न करती है।

भाषा शैली

प्रेमचंद एक किस्सागो की तरह घटना पर नजर रखते हैं और उससे सूत्र निकालते हुए कथाक्रम का विकास करते हैं। 'गबन' उपन्यास की कथावस्तु अपने परिप्रेक्ष्य में सीमित है। इसलिए औपन्यासिक शिल्प भी बिखरा हुआ नहीं है। उपन्यास की घटना और गति में बेहद आकर्षक तालमेल है। उपन्यास की कथावस्तु में कस्बाई जीवन का चित्र है। इसी के अनुसार उपन्यास की वास्तविकता को रचा गया है। वस्तुत: प्रेमचंद भाषा की वास्तविकता से उपन्यास की संवेदना को निर्मित करते हैं। इसलिए उनकी भाषा मानवीय कार्य व्यवहार के कई स्तरों पर सक्रिय रहती है। उदाहरण के लिए जालपा और रामेश्वरी के मन में आभूषण के लिए क्या मनोभाव हैं, इसे अभिव्यक्त करने में वे सक्षम हैं। भाव के द्वंद्व और संकोच से पैदा हुए नाटकीय मनोभाव की अभिव्यंजना में भी प्रेमचंद ने व्यापक सफलता प्राप्त की है। रमा की मन:स्थिति बताने के लिए प्रेमचंद लिखते हैं – "सारे दिन रमा उद्वेग के जंगल में भटकता रहा। कभी निराशा की अंधकारमय घाटियाँ सामने आ जातीं, कभी आशा की लहराती हुई हरियाली। जोहरा गयी भी होगी? यहाँ से तो बड़े लंबे चौड़े वादे करके गयी थी। उसे क्या गरज है? जाकर डिप्टी साहब से सारी कथा कह सुनाये।''

प्रेमचंद इस उपन्यास में मानवीय मनोविज्ञान को प्रत्यक्ष रूप से रचने के लिए भाषा की गहराई में गए हैं। परिस्थितियों के अनुरूप स्त्री की मन:स्थिति, पति की मन:स्थिति, माता और पिता की मन:स्थिति किस प्रकार के आवेग और प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं, इसकी विश्वसनीयता प्रेमचंद से अधिक कहीं नहीं मिलती। प्रेमचंद ने अपराधी के मनोविज्ञान के संशय और आतंक को भी विश्वसनीय ढंग से रचा है। रमानाथ पुलिस के द्वारा इसलिए पकड़ा जाता है कि उसके मन में अपराध बोध है। यह अपराध उसकी भाषा में प्रकट होता है। रमानाथ के इस अपराध बोध को देखकर सहसा महान रूसी रचनाकार दास्ताव्यस्की के 'अपराध और दंड' के नायक रस्कोलनिकोव का स्मरण हो जाता है। अपराध में पकड़े जाने की डर और यातना दंड से कहीं पीड़ादायक होती है। प्रेमचंद ने इस यातना को भाषा के माध्यम से साकार कर दिया है। इसी प्रकार सर्राफ द्वारा ग्राहक को फँसाने वाली भाषा की नाजुकता को भी रचनाकार ने गबन में यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुत: यथार्थ की स्वीकृति गबन की भाषा को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करने में सक्षम है।

गबन उपन्यास को पढ़ते हुए कथा के उन सूत्रों को पहचानने की कोशिश करें जिस से घटना का विन्यास बनता है। सामाजिक संदर्भों के बीच उपन्यास की घटनाओं का क्या महत्व है? इसको भी ध्यान में रखें। इसके साथ-साथ उपन्यासकार ने जिस मध्यवर्गीय समाज के पात्र और परिवेश को रचने का प्रयत्न किया है, उसकी यथार्थता को भी समझें। लेखक ने पात्र के अंतर्द्वन्द्व का बड़ा प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत किया है। इस द्वंद्व में पात्र के मनोभाव ही नहीं, उनके नैतिक संकट और दुविधाओं से भी पाठक का साक्षात्कार होता है। दयानाथ, रमानाथ और जालपा आदि पात्रों के इस मनोविज्ञान को भी समझें। सामाजिक प्रतिष्ठा को पाने के लिए निरंतर आत्म प्रदर्शन के अतिरिक्त दबाव के बीच पात्र की विवशता को जानना जरूरी है। उस समय और समाज के गतिशील बिंदुओं को परखें जो उपन्यास की पृष्ठभूमि है, लेकिन जिसकी अनिवार्यता के कारण जालपा और रमा आदि पात्रों के मनोभाव में नाटकीय परिवर्तन होता है। नारी के प्रति प्रेमचंद की क्या सोच थी, उसे भी गबन के संदर्भ से समझें।

शब्दावली

मकदूर	–	सामर्थ्य
लवाड़िया	–	झूठा
दौंगड़े	–	वर्षा
भम्भड़	–	अव्यवस्थित जन समुदाय
तावान	–	दंड
मुलाहजे	–	निरीक्षण
सबब	–	कारण
हिमाकत	–	साहस
मुखबिर	–	गवाह
खटका	–	आशंका
नगीच	–	नजदीक
तकल्लुफ	–	औपचारिक व्यवहार।
इश्तिहारी मुलाजिम	–	जिसकी फोटो अखबार में निकली हो, ऐसा मुजरिम।
फाकेमस्त	–	फक्कड़
हकतलफी	–	किसी का हक न मारना। अन्याय।
फना	–	विनाश
अलहदगी	–	अलग
महरूम	–	वंचित
तदबीर	–	उपाय
इसरार	–	जिद, हट।

व्याख्या के लिए अंश

1. नाटक उस वक्त 'पास' होता है, जब रसिक-समाज उसे पसंद कर लेता है। बरात का नाटक उस वक्त पास होता है, जब राह चलते आदमी उसे पसंद कर लेते हैं। नाटक की परीक्षा चार-पांच घंटे तक होती रहती है, बरात की परीक्षा के लिए केवल इतने ही मिनटों का समय होता है। सारी सजावट, सारी दौड़-धूप और तैयारी का निबटारा पांच मिनटों में हो जाता है। अगर सबके मुंह से 'वाह-वाह'

निकल गया तो तमाशा पास नहीं फेल। रुपया, मेहनत, फिक्र, सब अकारथ। दयानाथ का तमाशा पास हो गया। शहर में वह तीसरे दर्जे में आता, गाँव में अव्वल दर्जे में आया। कोई बाजों की धों-धों, पों-पों सुनकर मस्त हो रहा था, कोई मोटर को आंखें फाड़-फाड़कर देख रहा था। कुछ लोग फुलवारियों के तख्त देखकर लोट-लोट जाते थे। आतिशबाजी ही मनोरंजन का केंद्र थी। हवाइयां जब सन्न से ऊपर जातीं और आकाश में लाल, हरे, नीले, पीले, कुमकुमे-से बिखर जाते, जब चर्खियां छूटतीं और उनमें नाचते हुए मोर निकल आते, तो लोग मंत्रमुग्ध-से हो जाते थे। वाह, क्या कारीगरी है!

2. वह उन्माद की-सी दशा में अपने कमरे में आई और फूट-फूटकर रोने लगी। वह लालसा जो आज सात वर्ष हुए, इसके हृदय में अंकुरित हुई थी, जो इस समय पुष्प और पल्लव से लदी खड़ी थी, उस पर वज्रपात हो गया। वह हरा-भरा लहलहाता हुआ पौधा जल गया-केवल उसकी राख रह गई। आज ही के दिन पर तो उसकी समस्त आशाएं अवलंबित थीं। दुर्दैव ने आज वह अवलंब भी छीन लिया। उस निराशा के आवेश में उसका ऐसा जी चाहने लगा कि अपना मुंह नोच डाले। उसका वश चलता, तो वह चढ़ाव को उठाकर आग में फेंक देती। कमरे में एक आले पर शिव की मूर्ति रक्खी हुई थी। उसने उसे उठाकर ऐसा पटका कि उसकी आशाओं की भांति वह भी चूर-चूर हो गई। उसने निश्चय किया, मैं कोई आभूषण न पहनूँगी। आभूषण पहनने में होता ही क्या है। जो रूप-विहीन हों, वे अपने को गहने से सजाएं, मुझे तो ईश्वर ने यों ही सुंदरी बनाया है, मैं गहने न पहनकर भी बुरी न लगूंगी। सस्ती चीजें उठा लाए, जिसमें रुपये खर्च होते थे, उसका नाम ही न लिया। अगर गिनती ही गिनानी थी, तो इतने ही दामों में इसके दूने गहने आ जाते!

3. मैं उन बहू-बेटियों में नहीं हूँ। मेरा जिस वक्त जी चाहेगा, जाऊंगी, जिस वक्त जी चाहेगा, आऊंगी। मुझे किसी का डर नहीं है। जब यहां कोई मेरी बात नहीं पूछता, तो मैं भी किसी को अपना नहीं समझती। सारे दिन अनाथों की तरह पड़ी रहती हूँ। कोई झांकता तक नहीं। मैं चिड़िया नहीं हूं, जिसका पिंजड़ा, दाना-पानी रखकर बंद कर दिया जाय। मैं भी आदमी हूँ। अब इस घर में मैं क्षण-भर न रुकूंगी। अगर कोई मुझे भेजने न जायगा, तो अकेली चली जाऊंगी। राह में कोई भेड़िया नहीं बैठा है, जो मुझे उठा ले जाएगा और उठा भी ले जाए, तो क्या गम। यहाँ कौन-सा सुख भोग रही हूँ।

4. बरफी खाने के बाद गुड़ खाने का किसका जी चाहता है? महल का सुख भोगने के बाद झोंपड़ा किसे अच्छा लगता है? प्रेम आत्मा को तृप्त कर देता है। तुम तो मुझे जानते हो, अब तो बूढ़ा हो गया हूँ, लेकिन मैं तुमसे सच कहता हूँ, इस विधुर-जीवन में मैंने किसी स्त्री की ओर आँख तक नहीं उठाई। कितनीं ही सुंदरियां देखीं, कई बार लोगों ने विवाह के लिए घेरा भी, लेकिन कभी इच्छा ही न हुई। उस प्रेम की मधुर स्मृतियों में मेरे प्रेम का सजीव आनंद भरा हुआ है।

5. जालपा रुंधे हुए स्वर में बोली-कारण यही है कि अम्माजी इसे खुशी से नहीं दे रही हैं, बहुत संभव है कि इसे भेजते समय वह रोई भी हों और इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि इसे वापस पाकर उन्हें सच्चा आनंद होगा। देने वाले का हृदय देखना चाहिए। प्रेम से यदि वह मुझे एक छल्ला भी दे दें, तो मैं दोनों हाथों से ले लूं। जब दिल पर जब्र करके दुनिया की लाज से या किसी के धिक्कारने से दिया, तो क्या दिया। दान भिखारिनियों को दिया जाता है। मैं किसी का दान न लूँगी, चाहे वह माता ही क्यों न हों।

माता के प्रति जालपा का यह द्वेष देखकर रमा और कुछ न कह सका। द्वेष तर्क और प्रमाण नहीं सुनता। रमा ने हार ले लिया और चारपाई से उठता हुआ

बोला-जरा अम्मां और बाबू जी को तो दिखा दूँ। कम-से-कम उनसे पूछ तो लेना ही चाहिए।

6. कर्ज से बड़ा पाप दूसरा नहीं। न इससे बड़ी विपत्ति दूसरी है। जहां एक बार धड़का खुला कि तुम आए दिन सर्राफ की दुकान पर खड़े नजर आओगे। बुरा न मानना। मैं जानता हूँ, तुम्हारी आमदनी अच्छी है, पर भविष्य के भरोसे पर और चाहे जो काम करो, लेकिन कर्ज कभी मत लो। गहनों का मरज न जाने इस दरिद्र देश में कैसे फैल गया। जिन लोगों के भोजन का ठिकाना नहीं, वे भी गहनों के पीछे प्राण देते हैं। हर साल अरबों रुपये केवल सोना-चाँदी खरीदने में व्यय हो जाते हैं। संसार के और किसी देश में इन धातुओं की इतनी खपत नहीं। तो बात क्या है? उन्नत देशों में धन व्यापार में लगता है, जिससे लोगों की परवरिश होती है, और धन बढ़ता है। यहां धन! शृंगार में खर्च होता है, उसमें उन्नति और उपकार की जो दो महान शक्तियाँ हैं, उन दोनों ही का अंत हो जाता है। बस यही समझ लो कि जिस देश के लोग जितने ही मूर्ख होंगे, वहां जेवरों का प्रचार भी उतना ही अधिक होगा। यहां तो खैर नाक-कान छिदाकर ही रह जाते हैं, मगर कई ऐसे देश भी हैं, जहां होंठ छेदकर गहने पहनते हैं।

7. आप एक युवती को किसी युवक के साथ एकांत में विचरते देखकर दांतों तले उंगली दबाते हैं। आपका अंत:करण इतना मलिन हो गया है कि स्त्री-पुरुष को एक जगह देखकर आप संदेह किए बिना रह ही नहीं सकते, पर जहां लड़के और लड़कियां एक साथ शिक्षा पाते हैं, वहां यह जाति-भेद बहुत महत्व की वस्तु नहीं रह जाती-आपस में स्नेह और सहानुभूति की इतनी बातें पैदा हो जाती हैं कि कामुकता का अंश बहुत थोड़ा रह जाता है। यह समझ लीजिए कि जिस देश में स्त्रियों की जितनी अधिक स्वाधीनता है, वह देश उतना ही सभ्य है। स्त्रियों को कैद में, परदे में, या पुरुषों से कोसों दूर रखने का तात्पर्य यही निकलता है कि आपके यहां जनता इतनी आचार-भ्रष्ट है कि स्त्रियों का अपमान करने में जरा भी संकोच नहीं करती। युवकों के लिए राजनीति, धर्म, ललित-कला, साहित्य, दर्शन, इतिहास, विज्ञान और हजारों ही ऐसे विषय हैं, जिनके आधार पर वे युवतियों से गहरी दोस्ती पैदा कर सकते हैं। कामलिप्सा उन देशों के लिए आकर्षण का प्रधान विषय है, जहां लोगों की मनोवृत्तियां संकुचित रहती हैं। मैं साल भर योरप और अमेरीका में रह चुका हूँ। कितनी ही सुंदरियों के साथ मेरी दोस्ती थी। उनके साथ खेला हूँ, नाचा भी हूँ, पर कभी मुंह से ऐसा शब्द न निकलता था, जिसे सुनकर किसी युवती को लज्जा से सिर झुकाना पड़े, और फिर अच्छे बुरे कहां नहीं हैं?

8. जब तक हम स्त्री-पुरुषों को अबाध रूप से अपना-अपना मानसिक विकास न करने देंगे, हम अवनति की ओर खिसकते चले जाएंगे। बंधनों से समाज का पैर न बांधिए, उसके गले में कैदी की जंजीर न डालिए। विधवा-विवाह का प्रचार कीजिए, खूब जोरों से कीजिए, लेकिन यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि जब कोई अधेड़ आदमी किसी युवती से ब्याह कर लेता है तो क्यों अखबारों में इतना कुहराम मच जाता है। योरप में अस्सी बरस के बूढ़े युवतियों से ब्याह करते हैं, सत्तर वर्ष की वृद्धाएं युवकों से विवाह करती हैं, कोई कुछ नहीं कहता। किसी को कानोंकान खबर भी नहीं होती। हम बूढ़ों को मरने के पहले ही मार डालना चाहते हैं। हालांकि मनुष्य को कभी किसी सहगामिनी की जरूरत होती है तो वह बुढ़ापे में, जब उसे हरदम किसी अवलंब की इच्छा होती है, जब वह परमुखापेक्षी हो जाता है।

9. आंखों से देखती हूँ और कैसे जान पड़ा। तुमने मेरे पास बैठने की कसम खा ली है। जब देखो तुम गुमसुम रहते हो। मुझसे प्रेम होता, तो मुझ पर विश्वास भी होता।

बिना विश्वास के प्रेम हो ही कैसे सकता है? जिससे तुम अपनी बुरी-से-बुरी बात न कह सको, उससे तुम प्रेम नहीं कर सकते। हाँ, उसके साथ विहार कर सकते हो, विलास कर सकते हो। उसी तरह जैसे कोई वेश्या के पास जाता है। वेश्या के पास लोग आनंद उठाने ही जाते हैं, कोई उससे मन की बात कहने नहीं जाता। तुम्हारी भी वही दशा है। बोलो है या नहीं? आंखें क्यों छिपाते हो? क्या मैं देखती नहीं, तुम बाहर से कुछ घबड़ाए हुए आते हो? बातें करते समय देखती हूँ, तुम्हारा मन किसी और तरफ रहता है। भोजन में भी देखती हूँ, तुम्हें कोई आनंद नहीं आता। दाल गाढ़ी है या पतली, शाक कम है या ज्यादा, चावल में कनी है या पक गए हैं, इस तरफ तुम्हारी निगाह नहीं जाती। बेगार की तरह भोजन करते हो और जल्दी से भागते हो। मैं यह सब क्या नहीं देखती? मुझे देखना न चाहिए! मैं विलासिनी हूँ, इसी रूप में तो तुम मुझे देखते हो। मेरा काम है-विहार करना, विलास करना, आनंद करना। मुझे तुम्हारी चिंताओं से मतलब! मगर ईश्वर ने वैसा हृदय नहीं दिया। क्या करूं? मैं समझती हूँ, जब मुझे जीवन ही व्यतीत करना है, जब मैं केवल तुम्हारे मनोरंजन की ही वस्तु हूँ, तो क्यों अपनी जान विपत्ति में डालूं?

10. जालपा ने रमा से कभी दिल खोलकर बात न की थी। वह इतनी विचारशील है, उसने अनुमान ही न किया था। वह उसे वास्तव में रमणी ही समझता था। अन्य पुरुषों की भांति वह भी पत्नी को इसी रूप में देखता था। वह उसके यौवन पर मुग्ध था। उसकी आत्मा का स्वरूप देखने की कभी चेष्टा ही न की। शायद वह समझता था, इसमें आत्मा है ही नहीं। अगर वह रूप-लावण्य की राशि न होती, तो कदाचित् वह उससे बोलना भी पसंद न करता। उसका सारा आकर्षण, उसकी सारी आसक्ति केवल उसके रूप पर थी। वह समझता था, जालपा इसी में प्रसन्न है। अपनी चिंताओं के बोझ से वह उसे दबाना नहीं चाहता था, पर आज उसे ज्ञात हुआ जालपा उतनी ही चिंतनशील है, जितना वह खुद था। इस वक्त उसे अपनी मनोव्यथा कह डालने का बहुत अच्छा अवसर मिला था, पर हाय संकोच! इसने फिर उसकी जबान बंद कर दी। जो बातें वह इतने दिनों तक छिपाए रहा, वह अब कैसे कहे? क्या ऐसा करना जालपा के आरोपित आक्षेपों को स्वीकार करना न होगा? हां, उसकी आंखों से आज भ्रम का परदा उठ गया। उसे ज्ञात हुआ कि विलास पर प्रेम का निर्माण करने की चेष्टा करना उसका अज्ञान था।

11. क्वार का महीना लग चुका था। मेघ के जल-शून्य टुकड़े कभी-कभी आकाश में दौड़ते नजर आ जाते थे। जालपा छत पर लेटी हुई उन मेघ-खंडों की किलोलें देखा करती। चिंता-व्यथित प्राणियों के लिए इस अधिक मनोरंजन की और वस्तु ही कौन है? बादल के टुकड़े भांति-भांति के रंग बदलते, भांति-भांति के रूप भरते, कभी आपस में प्रेम से मिल जाते, कभी रूठकर अलग-अलग हो जाते, कभी दौड़ने लगते, कभी ठिठक जाते। जालपा सोचती, रमानाथ भी कहीं बैठे यही मेघ-क्रीड़ा देखते होंगे। इस कल्पना में उसे विचित्र आनंद मिलता। किसी माली को अपने लगाए पौधों से, किसी बालक को अपने बनाए हुए घरौंदों से जितनी आत्मीयता होती है, कुछ वैसा ही अनुराग उसे उन आकाशगामी जीवों से होता था। विपत्ति में हमारा मन अंतर्मुखी हो जाता है। जालपा को अब यही शंका होती थी कि ईश्वर ने मेरे पापों का यह दंड दिया है। आखिर रमानाथ किसी का गला दबाकर ही तो रोज रुपये लाते थे। कोई खुशी से तो न दे देता। यह रुपये देखकर वह कितनी खुश होती थी। इन्हीं रुपयों से तो नित्य शौक-शृंगार की चीजें आती रहती थीं। उन वस्तुओं को देखकर अब उसका जी जलता था। यही सारे दुःखों की मूल हैं। इन्हीं के लिए तो उसके पति को विदेश जाना पड़ा। वे चीजें उसकी आंखों में अब कांटों की तरह गड़ती थीं, उसके हृदय में शूल की तरह चुभती थीं।

12. आखिर एक दिन उसने इन चीजों को जमा किया-मखमली स्लीपर, रेशमी मोजे, तरह-तरह की बेलें, फीते, पिने, कंघियां, आईने, कोई कहां तक गिनाए। अच्छा-खासा एक ढेर हो गया। वह इस ढेर को गंगा में डुबा देगी, और अब से एक नए जीवन का सूत्रपात करेगी। इन्हीं वस्तुओं के पीछे, आज उसकी यह गति हो रही है। आज वह इस मायाजाल को नष्ट कर डालेगी। उनमें कितनी ही चीजें तो ऐसी सुंदर थीं कि उन्हें फेंकते मोह आता था, मगर ग्लानि की उस प्रचंड ज्वाला को पानी के ये छींटे क्या बुझाते। आधी रात तक वह इन चीजों को उठा-उठाकर अलग रखती रही, मानो किसी यात्रा की तैयारी कर रही हो। हाँ, यह वास्तव में यात्रा ही थी-अंधेरे से उजाले की, मिथ्या से सत्य की। मन में सोच रही थी, अब यदि ईश्वर की दया हुई और वह फिर लौटकर घर आए, तो वह इस तरह रहेगी कि थोड़े-से-थोड़े में निर्वाह हो जाय। एक पैसा भी व्यर्थ न खर्च करेगी। अपनी मजदूरी के ऊपर एक कौड़ी भी घर में न आने देगी। आज से उसके नए जीवन का आरंभ होगा।

13. देवीदीन ने इस भाव से देखा मानो इस बड़ाई को वह बिल्कुल अतिशयोक्ति नहीं समझता। शहीदों की शान से बोला-इन बड़े-बड़े आदमियों के किए कुछ न होगा। इन्हें बस रोना आता है, छोकरियों की भांति बिसूरने के सिवा इनसे और कुछ नहीं हो सकता। बड़े-बड़े देस-भगतों को बिना बिलायती सराब के चैन नहीं आता। उनके घर में जाकर देखो, तो एक भी ऐसी चीज न मिलेगी। दिखाने को दस-बीस कुरते गाढ़े के बनवा लिए, घर का और सब समान बिलायती है। सब-के-सब भोग-बिलास में अंधे हो रहे हैं, छोटे भी और बड़े भी। उस पर दावा यह है कि देस का उद्धार करेंगे। अरे तुम क्या देस का उद्धार करोगे। पहले अपना उद्धार तो कर लो। गरीबों को लूटकर बिलायत का घर भरना तुम्हारा काम है। इसीलिए तुम्हारा इस देस में जनम हुआ है। हाँ, रोए जाव, बिलायती सराबें उड़ाओ, बिलायती मोटरें दौड़ाओं बिलायती मुरब्बे और अचार चक्खो, बिलायती बरतनों में खाओ, बिलायती दवाइयां पियो, पर देस के नाम को रोये जाव। मुदा इस रोने से कुछ न होगा। रोने से माँ दूध पिलाती है, सेर अपना सिकार नहीं छोड़ता। रोओ उसके सामने, जिसमें दया और धरम हो। तुम धमकाकर ही क्या कर लोगे? जिस धमकी में कुछ दम नहीं है, उस धमकी की परवाह कौन करता है।

14. रतन ने दृढ़ता से कहा-मुझे उस दशा में भी तुमसे मांगने में संकोच न होगा। मैत्री परिस्थितियों का विचार नहीं करती। अगर यह विचार बना रहे, तो समझ लो मैत्री नहीं है। ऐसी बातें करके तुम मेरा द्वार बंद कर रही हो। मैंने मन में समझा था, तुम्हारे साथ जीवन के दिन काट दूंगी, लेकिन तुम अभी से चेतावनी दिए देती हो। अभागों को प्रेम की भिक्षा भी नहीं मिलती।

यह कहते-कहते रतन की आंखें सजल हो गईं। जालपा अपने को दुःखिनी समझ रही थी और दुखी जनों को निर्मम सत्य कहने की स्वाधीनता होती है। लेकिन रतन की मनोव्यथा उसकी व्यथा में कहीं विदारक थी। जालपा के पति के लौट आने की अब भी आशा थी। वह जवान है, उसके आते ही जालपा को ये बुरे दिन भूल जाएंगे। उसकी आशाओं का सूर्य फिर उदय होगा। उसकी इच्छाएं फिर फूले-फलेंगी। भविष्य अपनी सारी आशाओं और आकांक्षाओं के साथ उसके सामने था-विशाल, उज्ज्वल, रमणीक। रतन का भविष्य क्या था? कुछ नहीं, शून्य, अंधकार!

15. जीवन क्या, एक दीर्घ तपस्या थी, जिसका मुख्य उद्देश्य कर्त्तव्य का पालन था? क्या रतन उनका जीवन सुखी न बना सकती थी? क्या एक क्षण के लिए कठोर कर्त्तव्य की चिंताओं से उन्हें मुक्त न कर सकती थी? कौन कह सकता है कि विराम और विश्राम से यह बुझने वाला दीपक कुछ दिन और न प्रकाशमान रहता। लेकिन उसने

कभी अपने पति के प्रति अपना कर्त्तव्य ही न समझा। उसकी अंतरात्मा सदैव विद्रोह करती रही, केवल इसलिए कि इनसे मेरा संबंध क्यों हुआ? क्या उस विषय में सारा अपराध इन्हीं का था! कौन कह सकता है कि दरिद्र माता-पिता ने मेरी और भी दुर्गति न की होती-जवान आदमी भी सब-के-सब क्या आदर्श ही होते हैं? उनमें भी तो व्यभिचारी, क्रोधी, शराबी सभी तरह के होते हैं। कौन कह सकता है, इस समय मैं किस दशा में होती। रतन का एक-एक रोआं इस समय उसका तिरस्कार कर रहा था। उसने पति के शीतल चरणों पर सिर झुका लिया और बिलख-बिलखकर रोने लगी। वह सारे कठोर भाव जो बराबर उसके मन में उठते रहते थे, वह सारे कटु वचन जो उसने जल-जलकर उन्हें कहे थे, इस समय सैकड़ों बिच्छुओं के समान उसे डंक मार रहे थे। हाय! मेरा यह व्यवहार उस प्राणी के साथ था, जो सागर की भांति गंभीर था।

16. मानव-जीवन की सबसे महान् घटना कितनी शांति के साथ घटित हो जाती है। वह विश्व का एक महान् अंग, वह महत्वाकांक्षाओं का प्रचंड सागर, वह उद्योग का अनंत भांडार, वह प्रेम और द्वेष, सुख और दुःख का लीला-क्षेत्र, वह बुद्धि और बल की रंगभूमि न जाने कब और कहां लीन हो जाती है, किसी को खबर नहीं होती। एक हिचकी भी नहीं, एक उच्छ्वास भी नहीं, एक आह भी नहीं निकलती! सागर की हिलोरों का कहां अंत होता है, कौन बता सकता है। ध्वनि कहां वायु-मग्न हो जाती है, कौन जानता है। मानवीय जीवन उस हिलोर के सिवा, उस ध्वनि के सिवा और क्या है। भूतों के भक्त पूछते हैं, क्या वस्तु निकल गई? कोई विज्ञान का उपासक कहता है, एक क्षीण ज्योति निकल जाती है। कपोल-विज्ञान के पुजारी कहते हैं, आंखों से प्राण निकले, मुंह से निकले, ब्राह्मांड से निकले। कोई उनसे पूछे, हिलोर लय होते समय चमक उठती है? ध्वनि लीन होते समय क्या मूर्तिमान हो जाती है? यह उस अनंत यात्रा का एक विश्राम मात्र है, जहां यात्रा का अंत नहीं, उत्थान होता है।

17. 'सरकारी गवाह' का आशय जालपा से छिपा न था। समाज में उनकी जो निंदा और अपकीर्ति होती है, यह भी उससे छिपी न थी। सरकारी गवाह क्यों बनाए जाते हैं, किस तरह प्रलोभन दिया जाता है, किस भांति वह पुलिस के पुतले बनकर अपने ही मित्रों का गला घोंटते हैं, यह उसे मालूम था। मगर कोई आदमी अपने बुरे आचरण पर लज्जित होकर भी सत्य का उद्‌घाटन करे, छल और कपट का आवरण हटा दे, तो वह सज्जन है, उसके साहस की जितनी प्रशंसा की जाए, कम है। मगर शर्त यही है कि वह अपनी गोष्ठी के साथ किए का फल भोगने को तैयार रहे। हंसता-खेलता फाँसी पर चढ़ जाए तो वह सच्चा वीर है, लेकिन अपने प्राणों की रक्षा के लिए स्वार्थ के नीच विचार से, दंड की कठोरता से भयभीत होकर अपने साथियों से दगा करे, आस्तीन का साँप बन जाए तो वह कायर है, पतित है, बेहया है। विश्वासघात डाकुओं और समाज के शत्रुओं में भी उतना ही हेय है जितना किसी अन्य क्षेत्र में। ऐसे प्राणी को समाज कभी क्षमा नहीं करता, कभी नहीं-जालपा इसे खूब समझती थी।

18. पति के जीवन में जो लोग उसका मुँह ताकते थे, वे आज उसके भाग्य के विधाता हो गए! यह घोर अपमान रतन-जैसी मानिनी स्त्री के लिए असह्य था। माना, कमाई पंडितजी की थी, पर यह गाँव तो उसी ने खरीदा था, इनमें से कई मकान तो उसके सामने ही बने। उसने यह एक क्षण के लिए भी न खयाल किया था कि एक दिन यह जायदाद मेरी जीविका का आधार होगी। इतनी भविष्य-चिंता वह कर ही न सकती थी। उसे इस जायदाद के खरीदने में, उसके संवारने और सजाने में वही आनंद आता था, जो माता अपनी संतान को फलते-फूलते देखकर पाती है। उसमें स्वार्थ का भाव न था, केवल अपनेपन का गर्व था, वही ममता थी, पर पति की

आंखे बंद होते ही उसके पाले और गोद के खेलाए बालक भी उसकी गोद से छीन लिए गए। उसका उन पर कोई अधिकार नहीं! अगर वह जानती कि एक दिन यह कठिन समस्या उसके सामने आएगी, तो वह चाहे रुपये को लुटा देती या दान कर देती, पर संपत्ति की कील अपनी छाती पर न गाड़ती। पंडितजी की ऐसी कौन बहुत बड़ी आमदनी थी। क्या गर्मियों में वह शिमले न जा सकती थी? क्या दो-चार और नौकर न रक्खे जा सकते थे? अगर वह गहने ही बनवाती, तो एक-एक मकान के मूल्य का एक-एक गहना बनवा सकती थी, पर उसने इन बातों को कभी उचित सीमा से आगे न बढ़ने दिया। केवल यही स्वप्न देखने के लिए! यही स्वप्न! इसके सिवा और था ही क्या! जो कल उसका था उसकी ओर आज आंखें उठाकर वह देख भी नहीं सकती! कितना महंगा था वह स्वप्न! हाँ, वह अब अनाथिनी थी। कल तक दूसरों को भीख देती थी, आज उसे खुद भीख माँगनी पड़ेगी। और कोई आश्रय नहीं! पहले भी वह अनाथिनी थी, केवल भ्रम-वश अपने को स्वामिनी समझ रही थी। अब उस भ्रम का सहारा भी नहीं रहा!

19. मैं कुछ नहीं चाहती। मैं इस घर का एक तिनका भी अपने साथ न ले जाऊँगी। जिस चीज पर मेरा कोई अधिकार नहीं, वह मेरे लिए वैसी ही है जैसी किसी गैर आदमी की चीज। मैं दया की भिखिरिणी न बनूंगी। तुम इन चीजों के अधिकारी हो, ले जाओ। मैं जरा भी बुरा नहीं मानती! दया की चीज न जबरदस्ती दी जा सकती है। न जबरदस्ती ली जा सकती है। संसार में हजारों विधवाएं हैं, जो मेहनत-मजूरी करके अपना निर्वाह कर रही हैं। मैं भी वैसे ही हूँ। मैं भी उसी तरह मजूरी करूंगी और अगर न कर सकूंगी, तो किसी गड्ढे में डूब मरूंगी। जो अपना पेट भी न पाल सके, उसे जीते रहने का, दूसरों का बोझ बनने का कोई हक नहीं है।

20. न जाने किस पापी ने यह कानून बनाया था। अगर ईश्वर कहीं है और उसके यहां कोई न्याय होता है, तो एक दिन उसी के सामने उस पापी से पूछूंगी, क्या तेरे घर में मां-बहनें न थीं? तुझे उनका अपमान करते लज्जा न आई? अगर मेरी जबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुंचती, तो मैं सब स्त्रियों से कहती-बहनों, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना और अगर करना तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नींद मत सोना। यह मत समझो कि तुम्हारे पति के पीछे उस घर में तुम्हारा मान के साथ पालन होगा। अंगर तुम्हारे पुरुष ने कोई तरका नहीं छोड़ा, तो तुम अकेली रहो चाहे परिवार में, एक ही बात है। तुम अपमान और मजदूरी से नहीं बच सकतीं। अगर तुम्हारे पुरुष ने कुछ छोड़ा है तो अकेली रहकर तुम उसे भोग सकती हो, परिवार में रहकर तुम्हें उससे हाथ धोना पड़ेगा। परिवार तुम्हारे लिए फूलों की सेज नहीं, काटों की शय्या है, तुम्हारा पार लगाने वाली नौका नहीं, तुम्हें निगल जाने वाला जंतु।

21. आठ बज गए थे। सड़क पर मोटरों का तांता बंधा हुआ था। सड़क की दोनों पटरियों पर हजारों स्त्री-पुरुष बने-ठने, हंसते-बोलते चले जाते थे। जालपा ने सोचा, दुनिया कैसी अपने राग-रंग में मस्त है। जिसे उसके लिए मरना हो मरे, वह अपनी टेव न छोड़ेगी। हर एक अपना छोटा-सा मिट्टी का घरौंदा बनाए बैठा है। देश बह जाए, उसे परवाह नहीं। उसका घरौंदा बचा रहे! उसके स्वार्थ में बाधा न पड़े। उसका भोला-भाला हृदय बाजार को बंद देखकर खुश होता। सभी आदमी शोक से सिर झुकाए, त्योरियां बदले उन्मत-से नजर आते। सभी के चेहरे भीतर की जलन से लाल होते। वह न जानती थी कि इस जन-सागर में ऐसी छोटी-छोटी कंकड़ियों के गिरने से एक हल्कोरा भी नहीं उठता, आवाज तक नहीं आती।

22. यही मनसूबे मन में बांधकर वह जालपा के पास गया था, जैसे कोई भक्त फूल और नैवेद्य लेकर देवता की उपासना करने जाय, पर देवता ने वरदान देने के बदले उसके

थाल को ठुकरा दिया, उसके नैवेद्य को पैरों से कुचल डाला! उसे कुछ कहने का अवसर ही न मिला। आज पुलिस के विषैले वातावरण से निकलकर उसने स्वच्छ वायु पाई थी और उसकी सुबुद्धि सचेत हो गई थी। अब उसे अपनी पशुता अपने यथार्थ रूप में दिखाई दी-कितनी विकराल, कितनी दानवी मूर्ति थी। वह स्वयं उसकी ओर ताकने का साहस न कर सकता था। उसने सोचा, इसी वक्त जज के पास चलूं और सारी कथा कह सुनाऊं। पुलिस मेरी दुश्मन हो जाय, मुझे जेल में सड़ा डाले, कोई परवा नहीं। सारी कलई खोल दूंगा। क्या जज अपना फैसला नहीं बदल सकता? अभी तो सभी मुल्जिम हवालात में हैं। पुलिस वाले खूब दांत पीसेंगे, खूब नाचे-कूदेंगे, शायद मुझे कच्चा ही खा जायं। खा जायं। इसी दुर्बलता ने तो मेरे मुँह में कालिख लगा दी।

23. जालपा ने यह बात इतने जोर से कही थी कि नीचे रमा ने भी सुन ली। कितनी निर्ममता थी! उसकी सारी मिलन-लालसा मानो उड़ गई। नीचे ही से खड़े-खड़े बोला-वह अगर मुझसे नहीं बोलना चाहतीं, तो कोई जबरदस्ती नहीं। मैंने जज साहब से सारा कच्चा चिट्ठा कह सुनाने का निश्चय कर लिया है। इसी इरादे से इस वक्त चला हूँ। मेरी वजह से इनको इतने कष्ट हुए, इसका मुझे खेद है। मेरी अक्ल पर परदा पड़ा हुआ था। स्वार्थ ने मुझे अंधा कर रक्खा था। प्राणों के मोह ने, कष्टों के भय ने बुद्धि हर ली थी। कोई ग्रह सिर पर सवार था। इनके अनुष्ठानों ने उस ग्रह को शांत कर दिया। शायद दो-चार साल के लिए सरकार की मेहमानी खानी पड़े। इसका भय नहीं। जीता रहा तो फिर भेंट होगी। नहीं मेरी बुराइयों को माफ करना और मुझे भूल जाना। तुम भी देवी दादा और दादी, मेरे अपराध क्षमा करना। तुम लोगों ने मेरे ऊपर जो दया की है, वह मरते दम तक न भूलूंगा। अगर जीता लौटा, तो शायद तुम लोगों की कुछ सेवा कर सकूं। मेरी तो जिंदगी सत्यानाश हो गई। न दीन का हुआ न दुनिया का।

24. विवाहित जीवन के इन दो-ढाई सालों में कभी उसका हृदय अनुराग से इतना प्रकंपित न हुआ था। विलासिनी रूप में वह केवल प्रेम आवरण के दर्शन कर सकती थी। आज त्यागिनी बनकर उसने उसका असली रूप देखा, कितना मनोहर, कितना विशुद्ध, कितना विशाल, कितना तेजोमय। विलासिनी ने प्रेमोद्यान की दीवारों को देखा था, वह उसी में खुश थी। त्यागिनी बनकर वह उस उद्यान के भीतर पहुँच गई थी- कितना रम्य दृश्य था, कितनी सुगंध, कितना वैचित्र्य, कितना विकास। इसकी सुगंध में, इसकी रम्यता का देवत्व भरा हुआ था। प्रेम अपने उच्चतर स्थान पर पहुँचकर देवत्व से मिल जाता है। जालपा को अब कोई शंका नहीं है, इस प्रेम को पाकर वह जन्म-जन्मांतरों तक सौभाग्यवती बनी रहेगी। इस प्रेम ने उसे वियोग, परिस्थिति और मृत्यु के भय से मुक्त कर दिया- उसे अभय प्रदान कर दिया। इस प्रेम के सामने अब संसार और उसका अखंड वैभव तुच्छ है।

व्याख्या के लिए निर्देश

"न जाने किस ..... निगल जाने वाला जन्तु।"

मानवतावादी रचनाकार प्रेमचंद की रचना में उपेक्षितों के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति मिलती है। शायद यही कारण है कि स्त्री को भी उन्होंने अपने उपन्यास के फोकस में रखा है। प्रेमचंद जिस समाज में लिख रहे थे, उसमें स्त्रियों की स्वतंत्रता और अधिकार का प्रश्न ही गौण था। तमाम समाज सुधार आंदोलन होने के बावजूद भी परिवार में स्त्रियों की भागीदारी नहीं थी। माता, पत्नी और बेटी के अतिरिक्त उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व और उससे बनने वाली पहचान नहीं के बराबर थी। प्रस्तुत प्रसंग रतन और मणिभूषण के झगड़े से संबंधित है। मणिभूषण अपने चाचा की संपत्ति पर एकाधिकार

प्राप्त करना चाहता है। वह अपनी चाची रतन से साफ और स्पष्ट शब्दों में कह देता है कि साझा परिवार में स्त्रियों को संपत्ति का स्वामित्व प्राप्त नहीं हो सकता।

स्वतंत्रता पूर्व के अधिनियम में स्त्रियों को घर की संपत्ति में अधिकार नहीं था। सम्मिलित परिवार में स्वामित्व का अधिकार पुरुष के पास था। वास्तव में सामंती जीवन शैली में स्त्रियों को भोग्या माना जाता था। पत्नी का अस्तित्व भी घर की सीमाओं तक ही सीमित था। स्त्री को स्वतंत्र जीने का अधिकार नहीं था। वह कभी पिता, कभी पति और कभी अपने पुत्र पर आश्रित होती थी। इसलिए उसके संरक्षण का भार भी इन्हीं पर होता था। रतन मणिभूषण के षड्यंत्र से परिचित होने पर बड़े कठोर शब्दों में उस कानून की आलोचना करती है जिसमें स्त्री के अधिकार को अस्वीकार किया गया था।

रतन स्त्री के अधिकार की लड़ाई अकेली नहीं लड़ना चाहती है। वह संपूर्ण भारत की नारियों को एकजुट करके अपनी आवाज को बुलंद करना चाहती है। संयुक्त परिवार रतन के लिए जनतांत्रिक मूल्यों से विहीन संस्था है। वह परिवार में जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना करना चाहती है। संयुक्त परिवार टूटने पर ही नारी के अधिकार मिलने की उम्मीद की जा सकती है। रतन अपने भोगे हुए यथार्थ के आधार पर इस बात को समझाने का प्रयत्न करती है कि पति की मृत्यु के बाद नारी का स्वाभिमान और अधिकार क्षीण हो जाता है। रतन को यह भी आशंका है कि हो सकता है कि पति की मृत्यु के बाद उसे नौकरानी की हैसियत से घर में रहना पड़े। वास्तव में रतन का आक्रोश उस व्यवस्था से है जिसमें नारी के शोषण के लिए ऐसे कठोर कानून प्रस्तावित हैं। उसके लिए पति का परिवार फूलों की सेज नहीं काँटों की शैया है। परिवार का संगठन सनुष्य ने असुरक्षा से बचने के लिए किया था। लेकिन जब परिवार ही शोषण की मशीन हो जाय तो, ऐसी संस्था का टूटना ही अच्छा है।

प्रेमचंद साझे परिवार के टूटने की बात करते हैं। यह प्रेमचंद के गत्यात्मक चिंतन का प्रमाण है। 'बड़े घर की बेटी' आदि कहानी और कई उपन्यासों में उन्होंने साझे परिवार को विकास के लिए सही माना था। लेकिन जब वे नारी की पीड़ा को स्वायत्त रूप में देखते हैं, तो उनके विचार वही नहीं रह जाते। स्वायत्त कहने का अर्थ है कि नारी जब पति, पिता और अन्य संबंधों से अलग स्वयं अपने सामर्थ्य को जब तलाशती है तो वह अपने को कहाँ पाती है। जाहिर सी बात है कि जब पिता और पति की निर्भरता को छोड़ती है तो अपने को निर्बल और असहाय पाती है। प्रेमचंद उसके स्वतंत्र वजूद को स्वीकार करते हैं। स्वतंत्र वजूद का विकास साझे परिवार अथवा किसी पर निर्भर होकर प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसलिए लेखक स्त्री के स्वतंत्र विकास लिए साझे परिवार का टूटना अनिवार्य मानता है।

विशेष

1. नारी के परिवारिक शोषण के मुद्दे को व्याख्यांश के केंद्र में रखा गया है।
2. इस व्याख्यांश में यह भी पता चलता है कि 1956 में हिंदू कोड बिल अधिनियम पास होने से पूर्व नारी का साझे परिवार में हक नहीं था। विवाहिता पुत्री को पिता की संपत्ति में भी अधिकार नहीं दिया गया था।
3. यहाँ सामाजिक व्यवस्था के विरोध में खड़ी होकर प्रेमचंद की नारी अपने अधिकार के लिए संगठित होकर लड़ना चाहती है।

Notes

Notes

Notes